सम्भवामि

कन्हैयालाल ओझा

द्वितीय पर्व



सम्भवामि

भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत अतीत के गहरे गर्त में गड़े हुए हैं, वैदिक–युग से भी परे ! संस्कृति का मूल रूप किसी जाति के लोकाचार में ही प्रकट होता है. और हमारा आज का लोकाचार स्पष्टत : अवैदिक है, प्राग्वैदिक है। भारतीय संस्कृति की नि:श्रेयस की भावना भी प्राग्वैदिक ही है। आत्मा की अमरता का सिद्धान्त वेद–पूर्व युग का है। कैसी थी वह संस्कृति और कैसी थी तब की समाज व्यवस्था ? स्त्रियों की सच्ची स्वतन्त्रता का क्या अर्थ और स्वरूप होता है ? आदर्श शासन व्यवस्था के मौलिक तत्व क्या हैं ? प्रस्तुत है हृदयग्राही औपन्यासिक विधा में इन प्रश्नों का उत्तर इस उपन्यास में, जिसमें हमारे समाज की तथा विश्व की आज की कई समस्याओं का स्वरूप, उनका विश्लेषण और समाधान भी प्रस्तुत है। इसी प्रसंग में पाठक को अन्य देशों की प्राचीनतम सभ्यताओं और संस्कृतियों की झलक भी मिलेगी। बीसवीं शती के वर्तमान इतिहास में पचास शती पूर्व का इतिहास किस तरह रूपान्तरित हुआ है यह देखिए प्रस्तुत उपन्यास की वैश्विक—पट भूमि में।

हमें विश्वास है, हिन्दी साहित्य की ही नहीं, समस्त भारतीय–साहित्य की यह एक अन्यतम उपलब्धि होगी। और विश्व-साहित्य में इसे उच्चतम स्थान मिलेगा। इस शती की अन्यतम कृतियों में तो इसे निश्चय ही स्थान मिलेगा !

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

১৩·২·৫৫

लेखक की अन्य रचनाएँ

तुलसीदास	(खण्ड काव्य)
पाप की प्यास	(नाटक)
संघर्ष और समर्पण	(उपन्यास)
मनुष्य का मूल्य	,,
अर्थान्तर	,,
मकड़ी का जाला	,,
धर्म के नाम पर	,,
सिन्धु-सीमान्त	,,
सर्वनाम	,,
तृतीय पुरुष	,,
मासूम चांदनी : क्षितिज के स्वर	,,

SAMBHAVAMI

(A Cultural Novel)

by

SANHAIYALAL OJHA

1983

PRICE : Rs. 50.00 Only

प्रथम संस्करण : १९८३

मूल्य : पचास रुपए मात्र

Published by

VIJAY PRAKASH BERI

HINDI PRACHARAK SANSTHAN

P.B. No. 106, PISHACHMOCHAN

VARANASI-221 001

मुद्रक :

शिवशंकर प्रसाद

दीपक प्रेस

एस 17/272, नदेसर

वाराणसी कैण्ट ।

सम्भवामि

(द्वितीय पर्व)

सन्हैयालाल ओझा

कुछ भ्रामक अशुद्धियाँ :

पृष्ठ ९४ पंक्ति २५ में 'शिशु' के स्थान पर 'शिष्य'

" १३४ " २१ में 'सिफाइड' के स्थान पर 'सिझॉइड'

" १७७ " २७-२८ में 'भृगुकुल' के स्थान पर 'मृगकुल' और 'मगकुल',

" २१८-२२०-२२१ में सर्वत्र 'पथ' के स्थान पर 'पक्थ' और

" २९० पंक्ति ९ में 'सँरीधन' के स्थान पर 'संरोधन' पढ़ें !

अन्य अशुद्धियों और समुचित विराम-चिह्नों की व्यवस्था सुधी पाठक स्वय् कर सकेंगे !

आत्मने पद

इस तरह का एक उपन्यास मैं बहुत दिनों से लिखना चाह रहा था—जिसे हम कहते हैं ऋषि-ऋण ! किन्तु वह होना था ऋष्यश्रृङ्ग का आख्यान, जिनका वंशज होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है। हमलोग 'ऋष्यश्रृंगपौत्रा: कहलाते हैं। यों भी ऋष्यश्रृङ्ग की कथा अपने आप में बड़ी अद्भुत, अति-प्राकृतिक और चमत्कारपूर्ण है। प्रत्येक तथ्य को वैज्ञानिक-दृष्टि से परखने की प्रवृत्ति के कारण मैंने इस कथा के अति-प्राकृतिक तथ्यों का भी वैज्ञानिक-विवेचन करना चाहा था। वेद, पुराण, इतिहास, पुरातत्त्व आदि की साक्ष्य से कई संगतियाँ प्राप्त कीं और उन्हें अपने कथा-नायक पर आरोपित किया। इन आरोपित तथ्यों की कसौटी के लिए मैंने तब एक लम्बे पत्र में पूज्यपाद स्व० आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी को अपनी प्रस्थापनाएँ लिखकर उनका अभिमत चाहा था। उनका उत्तर बड़ा उत्साहजनक रहा। उन्होंने कुछ नए सुझाव भी दिए। मुझे बड़ा बल मिला और मैंने वह उपन्यास प्रारम्भ भी कर दिया था 'तरुण तपस्वी' के नाम से, यद्यपि कुछ ही समय बाद उसे प्रस्तुत उपन्यास के पक्ष में स्थगित हो जाना पड़ा। किन्तु पूज्य द्विवेदी जी द्वारा समर्थित मेरी प्रस्थापनाएँ तथा उनके सुझाव इस उपन्यास में भी विद्यमान हैं और मैं उनके इस आभार को बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण करता हूँ। आगे जाकर तो मैंने उनके 'अनामदास का पोथा' की तकनीक से भी प्रेरणा ली। वे मेरे पितृतुल्य थे। अत: इसे मैंने अपना उत्तराधिकार मान लिया है। अवश्य ही उनकी जैसी अगाध विद्या-बुद्धि, गहन अधीति और प्रतिभा मुझ में नहीं है, हो भी कैसे सकती है ?

बँगला के ख्यातनामा कथा-शिल्पी विमल मित्र मुझपर अनुजवत अपार स्नेह रखते हैं। इस उपन्यास की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने कुछ बड़े कटीले प्रश्न पूछ डाले। सम-सामयिक समस्याओं पर लिखा मेरा उपन्यास 'सर्वनाम' वे पसन्द कर चुके थे। उनका एक प्रश्न तो यही था कि पाँच हजार वर्ष पूर्व के कथानक की आज के युग में क्या प्रासंगिकता है ? अपनी रचना-प्रक्रिया की व्याख्या में वे स्पष्ट करते हैं कि सोद्देश्य होते हुए भी, वे ध्यान रखते हैं, उसमें मनोरंजन के लिए कथा-तत्त्व ७५ प्रतिशत से कम न हो। मैं केवल मनोरंजन के लिए नहीं लिखता, लिखता हूँ, तो तभी जब लिखने के लिए मेरे पास कुछ हो। और यह तो चाहता ही हूँ कि पाठक उसे पढ़े। इसलिए कथा-तत्त्व, मेरे प्रयत्न से तो शत-प्रतिशत रहता है, फल श्रुतियाँ यदि स्पष्ट कहीं हों, तो वे कथा से ही संश्लिष्ट हों। कथा की आधुनिक

प्रासंगिकता पर मैं पहले से ही आश्वस्त था, किन्तु विमल दा की चुनौती ने मुझे और गहराई से इस पर विचार करने के लिए प्रेरित किया है।

क्या यह तथाकथित 'आधुनिक प्रासंगिकता' सामान्यतः सतत-प्रवाह से कटा हुआ कोई विशिष्ट तथ्य है ? अपने देखते-देखते मैं साहित्य को नए-नए शब्दों-पदों की ही नहीं, गूढ़ दार्शनिक लक्ष्यों-उपलक्ष्यों की दुर्लंघ्य किलेबन्दियों में भी घिरते जाता पा रहा हूँ और लिखना प्रारम्भ करते समय इनका ध्यान आते ही आतंकित हो उठता हूँ। पाँच दशक पूर्व जब लिखने का शौक चर्राया था और उससे भी पूर्व जब साहित्य में रुचि जागृत हुई थी, तब कहाँ थे ? ये यथार्थवाद-आदर्शवाद रोमान्सवाद, सन्त्रास-आक्रोश-भूख, पलायन-प्रयोग-प्रगति, प्रतिश्रुति-प्रतिबद्धत्व-प्रतिक्रिया, आधुनिक ऐतिहासिक-पौराणिक-मिथकिक या अकविता-अकथा आदि के कुलिश कंटक भरे दुर्गम जंगल ? आचार्यों के मन-मस्तिष्क में रहे हों; किन्तु, मुझे नहीं मालूम, आदि कवि वाल्मीकि से लगाकर कालिदास, भवभूति, माघ या जायसी, सूर, तुलसी, आदि, महान कविर्मनीषियों को भी क्या सृजन पूर्व इन गुत्थियों को सुलझाना पड़ा है ? ये गुत्थियाँ कब नहीं थीं, कि इन्हें आधुनिक कह कर साहित्य को कालीन-कठघरों में बाँटा जाए ? कालीन-कठघरों की समस्या शायद तब अन्य प्रकार की थीं, वे तत्कालीन ही रही होंगी ! जायसी या सूर की बात जाने दें, वे लोक कवि अधिक थे, किन्तु तुलसी के सामने तो काव्य भाषा की प्रासंगिक समस्या थी ही ! केशवदास ने भी इस चुनौती का सामना किया था, उनके द्वारा व्यवहृत भाषा तब शिष्ट समुदाय की भाषा नहीं मानी जाती थी। आज वह समस्या उस रूप में प्रासंगिक नहीं है ! गत पचास वर्षों में मनुष्य के बाहरी वातावरण में बहुत बड़ा बदलाव आया है और इसी बदलाव तथा उथल-पुथल का प्रतिबिम्बन आज के साहित्य का उपजीव्य है। यदि देखा जाए, तो आज का साहित्य जिसे हम आज के लिए प्रासंगिक कह कर सम्बोधित करते हैं, अधिकांशतः उत्तेजक और आक्रामक भावों को उभाड़ने वाला या उपशामक शब्दावली द्वारा सुला देने वाला साहित्य है।

किन्तु मानव जो आज है, पाँच हजार वर्ष पूर्व भी वही मानव था और उससे भी पूर्व पचास हजार वर्ष पहले का गुहा-मानव भी आज के इस मानव में सोया छिपा हुआ है। गुहा-मानव ही क्यों, सृजन के आदि से जो कुछ भी सृष्ट होता आ रहा है, वह सब जड़-चेतन, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में इसमें समाया हुआ है। सच तो, यह सृष्टि और इसका स्रष्टा भी तो यही है ! कभी लिखता है, तो कभी लिखा जाता है और इसीलिए तो 'सम्भवामि' है। तब क्या तो यहाँ है पौराणिक और क्या है आधुनिक ? रूप और पट-परिवर्तन के बावजूद सभी कुछ तो शाश्वत है। पुरातन की नींव पर ही नूतन का निर्माण होता है, चाहे हम एकाएक

पहचान न पाएँ ! और तभी ये प्रश्न, चिन्ताएँ, सन्देह, भ्रम, छल, दुःखादि के साथ-ही-साथ आस्था, आनन्द और विश्वास की सम्भावनाएँ सृजन में पैदा होती हैं।

स्पष्ट है कि मनुष्य में परिवर्तन तो हुआ है, तब से आज तक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है, किन्तु वह उसकी बाहरी बुनावट में नहीं। परिवर्तन हुआ है, केवल उसकी आन्तरिक बुनावट में। उस युग के मनुष्य का अन्तःकरण धर्म और विश्वास के दृढ़ दुर्ग में सुरक्षित था चाहे इससे उसकी प्रगति निर्बाध न रही हो। उसके ज्ञान का क्षेत्र भी तो सीमित था ! आत्मा की अमरता और ईश्वर की क्षमा तथा दयाभावना के प्रति आश्वस्ति, परलोक में स्वर्ग की आशा और नर्क का भय, गुरुजनों-अग्रजों और शास्त्रों में पूज्यभाव तथा श्रद्धा, सामाजिक-नैतिक-पारिवारिक सम्बन्धों में धार्मिक, नैतिक प्रतिबद्धता आदि संयमों को स्वीकार किए हुए, पाप-भावना से बचता हुआ वह अपने जीवन में एक जीवोपम समृद्धि, मानवोपम संतृप्ति और देवोपम परिपूर्णता अनुभव करता था—चाहे वे वायवीय और काल्पनिक ही क्यों न हो ? किन्तु गई तीन शताब्दियों में विज्ञान और प्रविधि की प्रगति के बावजूद, धर्म और विश्वास का उसका दृढ़ दुर्ग ढह गया है। सुरक्षा-पंक्ति के ढह जाने से उसकी गति नियंत्रण-मुक्त और निर्बाध हुई है, किन्तु इस निर्बन्धता में वह एकदम उच्छृंखल और उत्क्षिप्त होकर वीराने ही में नहीं, कुपथ में भी भटक गया है ! स्वाभाविक है कि वह अपने को नितान्त अकेला और भय-ग्रस्त पाए। इसका यह तात्पर्य नहीं कि विज्ञान पाँच हजार वर्ष पूर्व था ही नहीं। वस्तुतः जैसा कि पुरातत्त्वविद् मानते हैं, आज की सम्पूर्ण वैज्ञानिक और भौतिक-उपलब्धियों के बीच उसी युग में बोए जा चुके थे और अंकुरित भी हो गए थे—प्रस्तुत उपन्यास में उनके प्रमाण विद्यमान हैं। वस्तुस्थिति यह है कि पश्चिम में मनुष्य इस बीच खो गया था, जिसे इतिहासकार अन्धकार-युग के नाम से अभिहित करते हैं। उस निद्रा से जब वह जागा, तो नए विज्ञान के प्रकाश में उसकी आँखें चौंधिया गईं और अपने मूल स्वरूप को भूल कर वह बाह्य-प्रकाश में ही अपना मार्ग खोजने में प्रवृत्त हो गया।

नव-जागरण की यह स्थिति भारतवर्ष में अभी सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व तक नहीं थी, यहाँ विज्ञान का भौतिक-पक्ष विकसित नहीं हुआ था। पाश्चात्य-शिक्षा और सम्पर्क के द्वारा हम पर नव-जागरण का प्रभाव भी अपनी सदियों की राजनैतिक पराधीनता के बोध की गहराई को लेकर ही हुआ, जिसके प्रस्तोता लोकमान्य तिलक, आगरकर, महामना मालवीय जैसे तपोनिष्ठ नेता थे। उन्होंने जहाँ रूढ़ि, जातिवाद, सामाजिक-शोषण, पाखंड आदि से मानव-मन को मुक्त करके उसे देश की स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर प्रवृत्त किया, वही इसके साथ ईश्वर, आत्मा और धर्म के प्रति उसकी निष्ठा को भी बराबर बनाए रखा। उनके बाद महात्मा गांधी

ने देशभक्ति को धर्म और आध्यात्म का स्वरूप देने की प्राणपण से चेष्टा की। इतिहास गवाह है कि स्वाधीनता-प्राप्ति तक भारतवर्ष की प्रासंगिकता अपने आध्यात्मिक-मूल्यों के प्रति गहरी निष्ठा की ही रही है। एक अर्थ में महात्मा गाँधी आर्ष-भारतवर्ष की इसी चिरन्तर और अस्मिता के सम्मूर्त्त प्रतिनिधि थे। विश्व यदि आज भी भारतवर्ष को पहचानता है, तो वह महात्मा गाँधी के नाम से और उनके इसी रूप से पहचानता है।

दुर्भाग्य से भारत की आज यह स्थिति नहीं है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हम भी उसी निर्बन्धता की स्थिति का उपभोग करने लगे हैं। जिसका पाश्चात्य-मानव वैज्ञानिक और प्राविधिक-प्रगति के साथ-ही-साथ करने लग गया था। इस प्रगति का लक्ष्य प्रारंभ से ही मानव की आंतरिक आध्यात्मिक-समृद्धि के स्थान पर बाह्य भौतिक-समृद्धि रहा, जिसके फलस्वरूप किसी संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रमाण मानवता की गुणात्मक गहराई नहीं, अपितु गणनात्मक भौतिक-उपकरणों की संख्या हो गई! मनुष्य ऊपर उठने के लिए नहीं, बल्कि अधिक-से-अधिक पाने के लिए संघर्षशील हो गया। मनुष्य के अंतःकरण को समृद्ध करने वाले ज्ञान का स्थान, उसे सुख-सहजता के ही नहीं, गुदगुदाने वाले उपकरणों से सज्जित करने वाले विज्ञान ने ले लिया। वैषयिक-पदार्थों के लिए उसकी भूख और उनकी माँग बढ़ने लग गई, जिसे जितना तृप्त करने का प्रयत्न किया जाए, उतनी ही वह बढ़ती जाती है। हमारी आज की बुनियादी आवश्यकताएँ रोटी-कपड़ा-मकान से बहुत आगे बढ़ गई हैं। जहाँ ये उपलब्ध नहीं हैं वहाँ तो संत्रास-आक्रोश-संघर्ष आदि तत्त्व स्वाभाविक हैं, किन्तु प्रचुरता के बीच भी मनकी तृप्ति कहाँ संभव है? पश्चिम के विकसित, समृद्ध और उन्नत देश इसके प्रमाण हैं। धर्मप्राण भारतवर्ष में भी अब धर्म-ईश्वर-आध्यात्म आदि का दृढ़ कवच तभी से उतर गया और गाँधी के नाम की शुभ्रधवल खादी की चादर की ओट लेकर हमने निर्लज्जता से सारे वस्त्र उतार फेंके। जीवन के धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के चतुर्वर्ग में अब केवल अर्थ और काम ही की व्याप्ति रह गई है। महात्मा गाँधी के उदय और उनके द्वारा भारतीय संस्कृति के मूल-उपादान अहिंसा की भारतीय स्वाधीनता-प्राप्ति में अभूतपूर्व सफलता से यह आशा की जानी उचित थी कि भारत, भय-घृणा-सन्देह और हिंसा की भावना से ग्रस्त-त्रस्त सारे विश्व की मानवता के सम्मुख अपना उदाहरण प्रस्तुत करके स्वाधीनता-समता और बन्धुत्व के सच्चे आदर्श की प्रतीति देगा। दुःख तो यह है, कि आज भी भारत के बाहर लोग पलट कर भारत की प्राचीन संस्कृति को टटोलने में लगे हैं कि उन्हें मन की शान्ति और आत्मा का आनन्द प्राप्त हो, किन्तु हम अपनी आंखें और भी दृढ़ता से मूंद कर अधिकाधिक पश्चिम की भौतिकता और व्यावसायिकता की अन्धी दौड़ में

वेलगाम भागे जा रहे हैं। स्वाधीनता के बाद की एक पीढ़ी के अन्तराल में ही हमने अपनी भारतीयता की पहचान कैसी बेहयाई से खो दी है, इसका ज्वलंत प्रमाण हमारा आज का लक्ष्यहीन, भयग्रस्त शिश्नोदर जीवन-क्रम और उसको अनुरेखित करने वाला साहित्य है ! और शायद इसी साहित्य की साक्ष्य पर हम 'आधुनिक' प्रासंगिकता का राग अलापते थकते नहीं।

मैं जानता हूँ सामान्यत: हमारे साहित्य का पाठक एक मध्यवित्त व्यक्ति है। स्वाधीनता के लिए सबसे अधिक आशा, उत्साह, संघर्ष और बलिदान उसी ने किया था और आज सबसे अधिक निराशा उसे ही है। दुख यह है कि सब कुछ समझ कर भी वह नितान्त असहाय, निरुपाय है। उसकी प्राचीन पवित्र आस्थाएँ नष्ट हो गईं, किन्तु नई निष्ठाओं के लिए वह उत्सुक नहीं है। वह करे भी तो क्या ? वह तो प्रवाह-पतित है, प्रवाह के साथ बहते जाना उसकी विवशता है, नियति है। अपने भौतिक दैन्य और सामाजिक असमता तथा शोषण को तब तो वह पूर्वज़न्म के कर्मफल की पृष्ठभूमि में, प्रतिकार का प्रयत्न किए बिना, सहन करता आया था और भविष्य या अगले जन्म में सुख की आशा में तथा नर्क और पाप की भीति से वह नीति और धर्म का मार्ग छोड़ने के लिए सहसा तत्पर नहीं होता था। रूढ़ियों और अन्धविश्वास के पतन के बाद भी, देश-प्रेम जैसे नए आदर्शों के लिए जिन नेताओं का उसे नेतृत्व मिला था, वे स्वयम् बलिदान, त्याग, सेवा, परहित और अहिंसा के सच्चे पुजारी थे। किन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के बाद अपने प्रति ईमानदार कई नेता काल-कवलित हो गये, उनमें से जो बच रहे हैं वे ही स्वयम् आज धोखा, छल प्रपंच, स्वार्थ और सत्ता का वीभत्स नंगी नाच नाच रहे हैं या भय और आतंक के मारे मौन बैठे हैं। जब केन्द्र ही भ्रष्ट हो जाए, तो सामान्य जन की बात ही क्या हो सकती है ? उसे तो किसी-न-किसी मूल्य पर जीवित रहना है। तब प्रश्न यह है कि क्या भौतिक उपलब्धियों के इसी संघर्ष को अनिवार्य मानकर हम समकालीन प्रासंगिकता का ढोल पीटते रहें ?

यह बात नहीं कि ये समस्याएँ पाँच हजार वर्ष पूर्व या सौ साल पूर्व भारत या अन्यत्र कहीं प्रस्तुत नहीं थीं। मनुष्य तो तबसे वही है, अन्तर है, तो केवल इतना-सा ही, कि तब इन समस्याओं के समाधान उसे अपने अन्तर की समृद्धि से ही सरलता से मिल जाते थे और वह संसार के नानाविध द्वन्द्वों में सहजता से अपना सन्तुलन बनाये रख सकता था। मानव-मन की यह आन्तरिक समृद्धि ही भारतीयता की चरम उपलब्धि है, जो जीवन के कैसे भी प्रवाह के साथ कभी अप्रासंगिक नहीं होती। इस उपन्यास में पाँच हजार वर्ष पीछे तक जाकर मैंने भारतीयता के मूल-तत्त्वों को चिरन्तन और तात्कालिक-मूल्यों को खोजने का और आधुनिकता के

परिप्रेक्ष्य में उनकी पहचान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। हमारा आज का परिवेश बहुत कुछ इसी बीसवीं सदी की उपज है, जिसमें दो-दो विश्व युद्ध लड़े गए, राज्यतन्त्र का पराभव और लोकतन्त्र की स्थापना हुई, आण्विक-ऊर्जा का नया स्रोत प्राप्त हुआ और मनुष्य ने एक नए तत्त्व, अन्तरिक्ष में प्रवेश किया। किन्तु इसके साथ-ही-साथ मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कभी इतनी लम्बी नहीं हुई थी? इस अमृत-पुत्र मानव ने अपनी ही नहीं, समस्त मानवता की मृत्यु कभी इतनी निकट नहीं पाई थी, अपने इतिहास-काल में वह कभी पशुता के इतने निकट नहीं पहुँचा था। आवश्यकता आज इन अभिशापों पर बल देने की उतनी नहीं हैं, जितनी इनसे मुक्ति पाने के उपायों की खोज की है। प्रस्तुत उपन्यास का फलक इसी वीसवीं सदी का है, रूप-रंग-रेखाएँ यद्यपि पांच हजार वर्ष पूर्व के हैं, किन्तु उनकी चमक और आभा आज भी वैसी ही चटक है, निरविच्छिन्न है और उस रूपाकार में जो सातत्य और गत्यात्मकता है, वही भारतीयता की प्रतीक है। अपने मूल-अर्थ में 'सम्भवामि' बीजमन्त्र है भारतीय-संस्कृति का, आर्ष-भारतीयता का।

इस आधुनिकता को रेखांकित करने के लिए मुझे प्रो० मुरारीलाल के निर्माण की आवश्यकता हुई, जो न केवल इस आख्यान का प्रस्तोता और भोक्ता ही है, प्रत्युत् इसकी तात्कालिकता का भाष्यकार भी है। श्री विमल दा के प्रसिद्ध उपन्यास 'वेगम मेरी विश्वास' के प्रसिद्ध पात्र ऊधवदास ने मुझे बहुत प्रभावित किया था। मुरारीलाल शायद उसी प्रेरणा का फल है। और इसीलिए अब यह ऋष्य श्रृंग की नहीं, उनके पिता महर्षि विभांडक की कथा है, जिन्हें मैंने इस उपन्यास में विभांडक वृबु कह कर अभिहित किया है। आधुनिकता को रेखांकित करने के लिए ही मैंने इसके कथानक को तीन समान्तर स्तरों पर प्रस्तुत करने का कुछ अजीब-सा प्रयोग किया है। यदि यह प्रयोग पाठकों को पसन्द न आए, तो इसका सारा दायित्व मेरा है, किसी ने इसे सुझाया नहीं है। कथा-वस्तु की प्रस्तुति के लिए मुझे यह अधिक प्रामाणिक, प्रभावकारी तथा कुछ-कुछ अनिवार्य भी लगा।

महागाथात्मक वृहत् उपन्यास 'अनुत्तर योगी' के यशस्वी लेखक भाई वीरेन्द्र कुमार जैन का मुझ पर बड़ा आभार है। बल्कि उनके उपन्यास से मैंने न केवल श्रमण संस्कृति के मर्म को समझने का प्रयत्न किया है, उनके चरित्र-नायक से शिक्षा भी ली है। उनका नायक एक लोकोत्तर सिद्ध पुरुष है, स्वयं उनकी अधीति और ज्ञान-गरिमा भी अगाध है। मैं एक निपट अज्ञ! निरे हाड़-मांस का मनुष्य ही नायक के रूप में मेरा ध्येत और अध्येत हो सकता था और शायद इन्हीं सीमाओं में वह आस्वाद्य भी है। वीरेन्द्र भाई मुझे बराबर उत्साहित करते रहे हैं। वे मेरे इतने आत्मीय हैं कि इस तुच्छ-प्रयत्न से सन्तुष्ट चाहे न हों, सुखी अवश्य होंगे।

कृतज्ञता जता कर मैं उनकी आत्मीयता का गौरव कम नहीं करूँगा। बम्बई पहुँच कर भी बन्धुवर पृथ्वीनाथ शास्त्री बराबर मुझे अपना स्नेह और उत्साह दे रहे हैं। राँची के प्रसिद्ध उपन्यासकार डॉ० द्वारका प्रसाद, जो एक मानस-चिकित्सक भी हैं, मुझमें गहरी रुचि लेकर न केवल उत्साहित ही बल्कि प्रोवोक भी करते (उकसाते) रहे हैं। दिल्ली में सर्वश्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, भाई जगदीश अग्रवाल, उज्जैन के डॉ० छैलबिहारी गुप्त आदि का भी आभारी हूँ, जिनके सुझाव और उत्साह का मैंने लाभ उठाया है। यहीं यदि कविवर और सुहृदवर श्री कन्हैयालाल सेठिया, स्व० पशुपतिराय शर्मा, श्री कन्हैयालाल सिखवाल आदि का उत्साह न होता, तो इसकी प्रगति और भी मन्द रहती। हिन्दी प्रचारक संस्थान के श्री कृष्णचन्द्र बेरी, न केवल प्रकाशक के नाते, बल्कि भारतीय-संस्कृति में रुचि तथा पाठकों में हिन्दी के सत्साहित्य की सतत-संवर्धना के लिए उसे सुलभ मूल्य में उपलब्ध करने की पहल और इन सबसे बढ़ कर मुझ पर अकृत्रिम स्नेह के लिए विशेष आशंसा के पात्र हैं। इसके प्रकाशन में चाहे जितना निवार्य या अनिवार्य विलम्ब हुआ हो, इसके सृजन में उनकी प्रेरणा ने पर्याप्त त्वरा पहुँचाई है। यदि काफी पहले ही, उनसे एक अग्रिम-राशि का तकाजा न मिला होता, तो इसके समापन में और भी विलम्ब हो सकता था। इसके प्रकाशन का दायित्व लेकर तो लेखक के साथ वे भी पाठकों की अदालत में आलोचना-आशंसा के अंशीदार हो लिए हैं। धन्यवाद या कृतज्ञता के द्वारा मैं उनके स्नेह और दायित्व को क्यों कम करूँ?

पाठकों से एक निवेदन आवश्यक प्रतीत होता है। हम भारतीय परम्परा से ही अपने-आपको आर्य मानते हैं, अतः स्वाभाविक है कि इन्द्र-वरुण-अग्नि आदि वैदिक देवता हमारे लिए पूज्य हों। हमने उनको भौतिक सीमा से हटा कर आदर्श के आध्यात्मिक-स्वरूप में प्रतिष्ठित कर रखा है। सम्पूर्ण देवगण हमारे लिए आदर्श और पूज्यभाव की कोटि में हैं और उनकी अपेक्षा में दैत्य-दानव-असुर आदि अनायास आसुरी-प्रवृत्तियों के प्रतीक बन गए हैं। इस उपन्यास में मैंने उनकी भौतिक और मानवीय भूमिका को ही लिया है और इतिहास के रंगमंच पर उनके चरित्रों को आज के मूल्यों की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया है। इससे कई मताग्रही पाठक मुझ पर रुष्ट हो सकते हैं। मेरा उनसे नम्र निवेदन है कि वेद और पुराणों में जगह-जगह और कहीं-कहीं उनकी स्वयम् की स्वीकारोक्ति में, ऐसे चित्रण के प्रमाण मिल जाते हैं। वैदिक-साहित्य के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत अर्थ-भेद का यदि मैंने यत्र-तत्र लाभ उठाया है, तो यह मेरी विकृत-रुचि का नहीं औपन्यासिकता का तकाजा रहा है। मैं उन्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि आदर्श रूप में ये वैदिक देव मेरे लिए भी उतने ही पूज्य और आराध्य हैं। प्रस्तुत

उपन्यास में देव-ऋषि-मुनि आदि शब्दों का प्रयोग यद्यपि मैंने उनके विशिष्ट अर्थ में ही किया है तथापि उनके व्यापक-अर्थ की व्यंजना के प्रयोग भी कम नहीं हैं। उन्हें पहचान कर तथा अस्पष्टता का खतरा उठाकर भी मैंने उन्हें इसीलिए उसी रूप में रहने दिया है। आर्येतरों को मैंने 'पणिक' 'दास' 'सैन्धव' तथा 'दस्स' आदि नामों से अभिहित किया है। अन्य व्यक्ति या स्थानवाचक नाम सुधी पाठक सहज ही पहचान लेंगे, ऐसी आशा है।

पुस्तक को विवश होकर दो पर्वों में प्रकाशित करना पड़ा है यद्यपि समग्र कथा एक है और तीन स्तरों पर चलते हुए भी पूरी तरह संगठित एवम् समन्वित है। दीर्घ आकार तो है ही, पाठकों का आग्रह भी इसका कारण है! आधुनिक युग में व्यस्तता की दुहाई देकर पुस्तकों के आकार को कोसने का रिवाज ही हो गया है, जिसे मैं एक फैशन और न पढ़ने का एक अच्छा-सा बहाना ही मानता हूँ। दिनों-दिन बढ़ती जा रही बेकारी के इस युग में भी सस्ते किस्म की मँहगी, फिल्मी पत्रिकाओं और सेक्स-क्राइम तथा ऐसे ही बचकाने साहित्य की खपत बढ़ती जा रही हो, तो इसे केवल पाठक की क्रयशक्ति के ह्रास की समस्या भी नहीं कहा जा सकता! साहित्य केवल मनोरंजन का ही तो साधन नहीं है—मनोरंजन के नाम पर यों ही अन्य कई हलके, विवादास्पद और सस्ते-महँगे प्रचार-साधन बेरोक फैलते ही जा रहे हैं—साहित्य स्वस्थ-मनोरंजन के साथ चरित्र-निर्माण का भी एकमात्र साधन है, जो अपने आपमें एक लम्बी जीवन-व्यापी प्रक्रिया है। सत्साहित्य केवल पठन-वाचन पर ही समाप्त नहीं हो जाता, उसका अचेतन-प्रभाव तो उसके बाद ही प्रारम्भ होता है गहरे हृद्देश में, अनुभावन-चिन्तन-मनन और फिर अनजाने ही अनुसरण द्वारा। ऐसी रचनाओं को व्यापक होना ही पड़ता है। वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, इलियड, ओडेसी आदि प्राचीन महाकाव्य और आधुनिक युग के श्रेष्ठ ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए ऐसा कोई दावा नहीं कर सकता, किन्तु एक भारतीय लेखक होने के नाते ऐसी आकांक्षा तो कर ही सकता हूँ। यों, अनन्त प्रवाही 'सम्भवामि' के कथा-तत्त्व में आदि और अन्त का प्रश्न उठना भी नहीं चाहिए। एक चक्राकार कृति में उसे कहीं से भी पकड़ा जा सकता है।

प्रस्तुत उपन्यास की पटभूमि, पात्र, स्थान-काल, मूल-उद्देश्य, प्रतिपाद्य-तथ्यों आदि के बारे में पाठकों की शंकाएँ लेखक ने स्वयम् उपन्यास के कलेवर में ही उठाई हैं, पाठकों का प्रतिनिधि बन कर वह स्वयम् कथा-वस्तु के अन्तर्क्षेत्र में

उपस्थित है, किन्तु अस्वाभाविक नहीं कि पात्रों की सक्रिय रंगभूमि में सदा सजग और निष्पक्ष रहना उसके लिए सम्भव न रहा हो। इसलिए अलग से कैफियत देना आवश्यक हो गया है। वह पाठकों को अन्त में 'परस्मैपद' के शीर्षक से एक परिशिष्ट में उपलब्ध होगी। इसके उपरान्त भी यदि पाठक की कोई शिकायत रह जाए तो लेखक उसका सम्यक् समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगा।

उपन्यास में अन्तर्निहित विभिन्न आख्यान विश्व के विश्रुत ग्रन्थों में इतनी प्रचुरता से मिलते हैं कि मुझे भय है, कोई इसे पुराण या इतिहास का आधार न मान ले। हिन्दी, संस्कृत, मराठी या अंग्रेजी, जर्मन आदि कुछ भाषाओं के कई ग्रन्थों का मैंने लाभ उठाया है। मैं तो यहाँ उन सर्वत्र फैले-बिखरे प्रसंगों का एक द्रष्टा-भर रहा हूँ। 'नवनीत' में इसके एक अंश के प्रकाशन के अवसर पर मैंने जो स्वीकृति दी थी, उसे फिर यहाँ दुहरा देना उचित होगा। मैंने वहाँ लिखा था, 'कौन है इस कथा का लेखक? पुष्पदन्त ने कहा है: 'सुर-तरुवर-शाखा लेखनी पत्रमूर्वी / लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्/तदपि तवगुणानाम् ईश पारम् न याति।'— मैं महाकाश के तारकांकित इस नील-पत्र को देखता हूँ और भय, विस्मय तथा आतंक से सम्मोहित हो अपनी आँखें बन्द कर लेता हूँ।—बस, इस उपन्यास के प्रणयन में मेरी इतनी ही भूमिका है!

संस्कृति-दर्शन-इतिहास-विज्ञान, ये ही कुछ साधन हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य सदियों से वस्तु-सत्ता का अन्वेषण करता आ रहा है, और इनके पारस्परिक घात-प्रतिघात से जो सम्भूत है, हम आज वही हैं। इन्हीं हम में एक 'मैं' भी हूँ। यह 'मैं' यों तो चिरन्तन सम्भूत है—गए पाँच सहस्र वर्षों से मैं इसे देख रहा हूँ—किन्तु चूँकि यह तो निरन्तर 'हो भी रहा है, होता जा रहा है' इसलिए 'सम्भवामि' है। इस उपन्यास में मैंने अपने इसी 'मैं' को—और वह पुरुष है तो स्त्री भी है—पहचानने का प्रयत्न किया है। यही मेरी उपलब्धि है और सीमा भी!

८/ए, नन्दन रोड, भवानीपुर,
कलकत्ता—७०००२५

विनयावनत
कन्हैयालाल ओझा

१५

देख रहा हूँ अखबार। सामने फैला हुआ है। हमेशा बाइँ ओर हाशिए में एक पूरे कॉलम में देश और विदेश की लेटेस्ट प्रमुख घटनाएँ टेढ़े टाइप की सुर्खियों और गहरी स्याही के बोल्ड टाइप के विवरणों में प्रकाशित होती हैं। देखता हूँ, आज तो सारा पृष्ठ ही हाशिया बन गया है। ठीक बीच में चार कॉलम का एक भीड़ का चित्र किसी राजनैतिक-दल की आम सभा का, और ठीक उसके नीचे लम्बाई में उतना ही बड़ा तीन कॉलम का दूसरा चित्र, ठीक राजभवन के सिंह-द्वार के सामने फैले पड़े दो मृत मानव-शरीरों की ओर हिंसक दृष्टि से घूरते हुए डंडाधारी सिपाहियों का! सुर्खियों में है, 'गोलियों से तीन व्यक्ति मृत, तीन ट्रामें और बस का अग्नि-दाह; दो सौ गिरफ्तार!' एक अन्य कॉलम में है, 'अमरीकी राष्ट्रपति रीगन गोली का शिकार।' ऐसी ही सुर्खियाँ और भी हैं: जैसे, 'बड़ौदा में पुनः उपद्रव!' उत्तर-पूर्व में 'तैमूरा मंत्री-मंडल का अस्तित्व-संकट', तो दक्षिण-पूर्व में 'बैंकाक में गरुड़-विमान के अपहरणकर्ताओं पर तूफानी आक्रमण!'—नहीं, ये पाँच हजार वर्ष पूर्व की उत्कीर्ण किरचियों के लेखांश नहीं हैं, जिनमें दुर्योण में घटे अग्निकांड या भांडव्य की हत्या का विवरण पढ़ता रहा हूँ। यह है आज का अखबार, लाखों की संख्या में छप कर सवेरे इस समय सभ्य-समाज के प्रत्येक नागरिक की चाय की टेबल पर प्रस्तुत हो जाता है। यह बीसवीं सदी है। विगत इन पचास सदियों में हम कितना आगे बढ़े हैं? बेचारा भांडव्य बैलों से जुती एक बहली में सवार मृत पाया गया था—उसे रथ कहा जाता हो, तब भी क्या फर्क पड़ जाता है? सच तो, वह मारा भी गया था आवसथ के कक्ष में ही। राष्ट्रपति रीगन वाशिंगटन के हिल्टन होटल से निकल रहे थे। और आज इन तीन व्यक्तियों में एक मृत पाया गया था ट्राम में। सचमुच पाँच हजार वर्ष की अवधि कुछ नहीं है क्या?

प्रो० मुरारीलाल इस समय अमेरिका में ही हैं। वाशिंगटन और बोस्टन में बहुत अधिक दूरी तो नहीं है। और जेट-युग के अमेरिका में तो दूरी का मतलब ही क्या है? क्या उनके दिमाग में दुर्योण का यह घटना-चक्र नहीं कौंध गया होगा? पाँच हजार वर्ष पूर्व की मृगम्मदा की नियति को आधुनिक युग की मार्गरेट ने चुनौती देना चाही थी। यदि काल को चुनौती दी जा सकती तो क्या कभी इतिहास बन पाता? मार्गरेट के सामने मृगम्मदा का आर्किटाइप, आद्यरूप विद्यमान था। आज

की खबर के घटकों के दिमाग में भी क्या पचास सदियों पूर्व के वे आर्किटाइप मौजूद थे ? ट्राम में जो व्यक्ति मृत पाया गया, उसकी अभी तक शिनाख्त नहीं हो पाई है। पर इससे क्या हुआ, मनुष्य तो वह था ही। एक वह रमेश, जो किसी चायघर में वेटर था, क्या इतिहास की इस चक्राकार गति को पहचानता था ? तीसरा व्यक्ति सुदेव भी किसी कार्यालय में नौकरी करके अपना और अपने परिवार का पेट पालता था। दोनों किसी राजनैतिक दल के सदस्य बताए जाते हैं। क्या यह, मात्र पेट भर कर जीवित रहने की पशु-प्रवृत्ति से ऊपर उठकर, किसी सार्थक अस्तित्व की पहचान प्रस्थापित करने की उनकी चेतना नहीं थी ? क्यों उनका मानव-जीवन निरर्थक होता ? मनुष्य तो किसी भगवान के घर दस्तक देने नहीं जाता कि उसे मनुष्य बना कर इस विषमतापूर्ण जगत में जन्म दे दिया जाए ! फेंक ही तो दिए गए हैं हम इस जगत में अभिशप्त। और अपने इस आदिम-भय से मुक्ति पाने के लिए अपना व्यक्तित्व बनाने की चेष्टा भी उन्हें करनी पड़ती है, चाहे वह इस राजनैतिक दल की सदस्यता हो, या उस दल की। यह भय किसी विशिष्ट वस्तु का नहीं है, बल्कि उस चरम-निरर्थकता का है जिसे आज का युवक पद-पद पर अनुभव करता जा रहा है, चाहे वह उच्च शिक्षाप्राप्त कॉलेज का छात्र हो, या पेट तक न भरपाने की समस्या से जूझता हुआ किसी चायघर का वेटर। कल से उसे समाज का अपराधी भी करार दिया जा सकता है। वस्तुतः वह वैसा हो भी, क्योंकि जीवित रहने की उसकी मौलिक आवश्यकता जो है।

इस चक्र को पाँच हजार वर्ष पूर्व लम्बे अरे तक ले जाने की भी क्या जरूरत है ? आजादी के बाद के इन साढ़े तीन दशकों को ही ले लें, बल्कि हाल के ही इन दो दर्शकों को ले लिया जाए। राज्यशक्ति का प्रतीक यह राजभवन बराबर ही तो जनता का रक्त चूसता आ रहा है। राज्यशक्ति चाहे इस दल की हो या उस दल की, रक्त चूसे बिना शायद वह टिकी नहीं रह सकती। एक दल कुर्सी पर आ बैठता है, तो दूसरे दल को सड़क पर आने के सिवा उपाय ही क्या है ?—सड़क वाला दल जब कुर्सी हासिल कर ले तो कुर्सी से उतर कर पहला दल सड़क पर वही सब कुछ करता है जिसकी वह तब बरावर भर्त्सना करता आया था।—नाटक वही, पात्र भी वही, स्टेज भी वही ! केवल भूमिकाएँ बदल जाती हैं। चलता रहता है निर्बाध चक्र हिंसा का, और वह भी बड़े मजे से महात्मा गाँधी की अहिंसा के नाम पर ! कुछ ही वर्ष पूर्व इसी पार्क में एक मुख्य मंत्री ने अपने ही शासन को बर्बरों का शासन बता कर अपने ही मंत्रीमण्डल के विरुद्ध सत्याग्रह किया था।—स्वाभाविक है कि विरोधी दल न्यायिक जाँच की माँग करे, और फिर बन्द का भी आह्वान हो। मानो इन सब बीमारियों की एक मात्र औषधि जाँच और बन्द ही तो है। क्या आश्चर्य कि बन्द

में उससे कई अधिक हत्याएँ हों, जिनके प्रतिविधान में बन्द का आह्वान किया जाए ? और इस बंगभूमि का तो इतिहास है कि यहाँ सरकार स्वयं ही बन्द का आह्वान करती है। यह प्रजातन्त्र भी क्या खूब है कि प्रजा-राजा, किसान-मजदूर, सर्वहारा-सर्वधारा, वध्य-वधिक, ट्रेजरीबेंच और ऑपोजीशन, राजनीति के तमाम मोहरे एक ही रूप के विविध नाम मात्र हैं। 'विश्वरूप' क्यों न कहा जाए इसे ?

सामन्ती युग में देश के छोटे बड़े राजा परस्पर युद्धरत ही रहते थे। आपस में ईर्ष्या द्वेष और अपने अधिकार की भूमि-सीमा बढ़ाने की लालसा बनी रहती थी। देश की समग्र एकता की चेतना किसी में न थी, इसीका नतीजा यह था कि शौर्य-साधनों की समृद्धि आदि के बावजूद हमारा देश विदेशी आक्रमणों से पराक्रान्त रहा। एकता के प्रतीक स्वरूप विशाल साम्राज्यों के संगठन भी बनें, किन्तु राष्ट्रीयता की भावना के साथ वस्तुपरक इतिहास की चेतना हममें अंग्रेजों के शासन के बाद ही मिली। वह भी शायद इसलिए कि उनका लोभ भौमिक न होकर आर्थिक ही अधिक था।

दलों के प्रति निष्ठा की यह आधुनिक भावना क्या उस सामंती युग की खण्डित देश-प्रेम की भावना से कम है ? क्या ये वे ही युद्ध नहीं है, जो मध्य युग में राजा महाराजाओं की आड़ लेकर देश को बरबाद कर गए ? दल कोई भी हो, सत्ता पाते ही वह मुगल बादशाह हो जाता है। मंत्री की बात जाने दीजिए, एक संसत्सदस्य या विधायक के ऐश्वर्य की तुलना उस समय के किस राजा-महाराजा से कम है ? उस समय ठग, पिंडारियों और डाकुओं का बोलबाला था। डाकू तो अब भी हैं, डकैती और लूट के नए-नए साधनों से सज्जित ! ठग और पिंडारी तब जंगलों ही में अपना शिकार पाते थे, आज उन्हें छिपने की जरूरत नहीं है। वे कुर्सी पर बैठकर दिन दहाड़े अमन-कानून व्यवस्था के नाम पर सशस्त्र आरक्षियों की सहायता से वह सब कुछ कर सकते हैं। एक पराजित संसत्सदस्य ने खीझ कर बताया है कि प्रतिमाह कितने सहस्र रुपए उनके ऊपर खर्च होते हैं, जबकि रमेश-उमेश जैसे किसी व्यक्ति को दो वक्त का खाना जुटाने के लिए किसी चायघर में बर्तन रगड़ना पड़े और यदि वे अपने निरर्थक जीवन में अपनी कैसी भी पहचान प्रकट करने का थोड़ा भी प्रयत्न करें तो कुत्ते-बिल्ली की मौत मरने को विवश हों। यह बात दूसरी है कि अपना उल्लू सीधा करने के लिए राजनेता उनके शव को भी तमाशा बनाने से न चूकें।

चक्राकार होना शायद इतिहास की नियति ही है, समय का बोध ही जो चक्राकार है। हमारे देश में शायद इसीलिए इतिहास की परम्परा नहीं थी। परम्परा थी पुराणों और महाकाव्यों की, जिनका सम्बन्ध दिव्य चरित्रों से ही रहता आया है। इसीलिए इनमें हमारी संस्कृति के आर्किटाइप और मिथक तो प्रचुर परिमाण में

मिल जाते हैं, किन्तु तत्कालीन इतिवृत्त नहीं। कालान्तर में ईश्वर के प्रतिनिधित्व के रूप में राज्यत्व का विकास हुआ, तो प्राचीन परम्परा के अनुसरण में राज्यत्व के गुणगान-स्वरूप काव्य-रचना प्रारम्भ हुई, और 'यथा राजा तथा प्रजा' कह कर प्रजा और समाज के स्वरूप की कल्पना पाठकों पर छोड़ दी गई। मुस्लिम शासन-काल में भी कमधिक यही रहा। जन सामान्य में प्रतिष्ठा का पैमाना भी तब शारीरिक शौर्य ही था, मानसिक या आधिभौतिक-विकास का क्षेत्र वर्ग विशेष के लिए छोड़ दिया गया था। स्वाभाविक था कि काव्य के प्रतिमान रूढ़ बन जाते। नायक राजा ही हो सकता था, जो सदा धीर-वीर-उदात्त सर्वगुणसम्पन्न हो, और अपनी प्रतिष्ठा प्रमाणित करने के लिए उसे कल्पित-अकल्पित युद्ध विग्रहों में प्रवृत्त किया जाए, चाहे वह राज्य विस्तार के लिए हो, या सात समुद्र पार किसी राक्षस के महल में कैद राजकुमारी की मुक्ति के लिए! नायक की विजय और उपनायक या खलनायक की पराजय आवश्यक तत्त्व थे, वस्तुस्थिति चाहे कुछ भी हो। और इसीलिए उपनायक अनिवार्य रूप से दुष्टता, नृशंसता और अन्याय का प्रतीक होता।

अवश्य ही आजकल के ये प्रकरण काव्य नहीं हो सकते। पर क्या इतिहास भी हो सकते हैं? कहते हैं, नायक-उपनायक का तो जमाना ही नहीं रहा। राजा-महाराजा भी गायब हो गए। जो हैं, वे बड़ी मासूमियत के साथ प्रजा के प्रतिनिधि ही नहीं स्वयं प्रजा बन गए हैं। युद्ध के विषय भी अब पुराने नहीं रहे, कुर्सी ही सारे संघर्षों का मूल हो गई है। कहानियाँ इन पर गढ़ी जा सकती हैं, गढ़ी जाती हैं, पर काव्य नहीं रचे जा सकते। और इतिहास के पण्डित स्वयं सोचें, मनचाहा इतिहास लिखाया जा सकता है, पर वह बनता नहीं।

बहक गया न फिर? क्या करूँ? बीसवीं सदी के इस नवें दशक में कुंडली मारे अपनी ही गुंजालकों में बैठा भी तो नहीं रह सकता! प्रतिदिन अखबार छपता है। दूर दूर से मित्रों परिचितों की डाक आती है, रेडियो है, टेलिविजन है। किस किस से बचा जाए,? पाँच हजार वर्ष पूर्व की ही बात हो, पर आज के संदर्भ से क्या वह कटी रह सकती है? यही तो पढ़ता आ रहा हूँ।

● ● ●

यह रात भी मृगम्मदा सो नहीं सकी, किन्तु कितना अन्तर था उस रात के जागरण में और गई रात के जागरण में? तृप्ति की रात में नींद की चिन्ता ही क्यों होने लगी? किन्तु गई रात तो वह लौटी ही इसीलिए थी कि कुछ सो ले तो मन को स्वास्थ्य मिल जाए। आधी रात तो बीत ही चुकी थी जब वह लौटी। नहीं उनींदी उस समय भी कहाँ थी? पहली सारी रात का जागरण और बाद में दिन भर की थका देने वाली भागदौड़! सेलकेत का अनुरोध था कि रात मृगम्मदा वहीं बिताए।

बृब्रु को इस दुःख से उबारना है। किन्तु बृब्रु को ही यदि उबरने के लिए उसकी अपेक्षा न हो तो व्यर्थं मस्तकशूल वही क्यों सहे ? स्त्री क्या पुरुष का पीड़ा-हरण उपचार ही है ? सहानुभूति तक तो बात ठीक भी है ! स्वयं मृगम्मदा के पिता की हत्या तो और भी लोमहर्षक ढंग और प्रसंग में की गई थी। भाण्डव्य फिर भी मृत्यु के कगार पर पहुँच चुके थे, डाल से किसी भी क्षण पके फल की तरह टपक पड़ने को आतुर ! यदि सांत्वना मिलनी है, तो वह अपने हृदय के भीतर से ही प्राप्त करनी होगी ! दूसरों का उपचार शरीर का उत्ताप ही शमन कर सकता है, मनका उत्ताप नहीं ! स्त्री पुरुष को बहला ही तो सकती है, अपने सौंदर्य से, शरीर से ! और वह पहली और रात भी क्या कभी दुहराई जा सकती है ? बीते हुए किसी पल को भी क्या कोई पकड़ पाया है ? स्मृति से मन चाहे तृप्त हो ले, पर शरीर ? नींद आती ही किसे है ? शरीर ही को तो ! मन को तब क्या निर्बाध उड़ान के लिए अवसर नहीं मिल जाता ?

मन क्या सचमुच समय की सीमा से परे है ? स्मृति में तो वह अवश्य बीते हुए को पकड़ ले सकता है। हो समय की सीमा से परे, पर स्थान की सीमा से तो परे नहीं हो सकता न ! मेरा मन मेरा ही तो है, वह मेरी ही स्मृतियाँ तो बटोरे रह सकता है। रात पुनः उसके पार्श्व में सोकर शायद अपने मनको रमा भी लेती, पर क्या उसका मन भी अपने परिवेश की उन्मुक्ति अनुभव कर पाता ? हाँ, तब यह अवश्य है कि इस नई चिन्ता को मन के सामने उदय होने का प्रसंग ही नहीं आता। नींद यदि वहाँ पर सुलभ होती तो यहाँ पर भी हो जाती, मनमें कोई आग्रह बृब्रु का भी कहाँ था ?

—भ्रम ही रहा हो तब तो कोई बात नहीं है,—सारथी ने तो किसी को देखा भी नहीं न ! देखता भी कैसे ? उसे तो दृष्टि सामने पथ पर रखना पड़ती है। रातें भी तो अँधेरे पाख की ठहरीं। शीत हो, पर इक्के-दुक्के नागरिक तो नगर-पथ पर बने ही रहेंगे। दुर्योण क्या कोई सामान्य नगर है ? संदेह का कोई कारण भी नहीं था। महापणिक के भवन-द्वार से जब वह निकली थी, तो वहाँ वे ही नहीं, अन्य और भी कुछ व्यक्ति थे ही। ध्यान आकर्षित हुआ तो केवल इसलिए था कि उनमें से एक काफी लम्बा-ऊँचा व्यक्ति था। उसका साथी दूसरा भी औसत से अधिक ही था। दुर्योण व्यापार-व्यवसाय का केन्द्र है, चारों ओर दूर-दराज के देशी-विदेशी आते-जाते ही रहते हैं। और महापणिक के पिता के वध जैसी असामान्य घटना यों ही लोगों के कुतूहल का कारण हो जाती है। ध्यान शायद इसलिए भी गया हो कि शरीर की ऐसी असाधारण आकृति और परिधान ऐसा दीन-हीन !—नहीं, संदेह तो उस समय भी कैसे हो सकता था ? वह तो तब हुआ, जब मार्ग में बहुत आगे बढ़ जाने पर वे सहसा पार्श्व की एक बीथि से अकस्मात् प्रकट हो गए। स्पष्ट ही वे रथ का छिपे-छिपे अनुसरण कर रहे थे। और जब मृगम्मदा ने जानकारी के लिए रथ

रुकवाया तो वे सहसा सामने की दूसरी बीथि में दौड़ कर अदृश्य हो गए। सारथी ने नहीं देखा। पर मृगम्मदा का तो स्पष्ट अनुमान है कि उन फटेहाल व्यक्तियों में प्रत्येक के हाथ में चमकता हुआ शूल जैसा कोई अस्त्र भी अवश्य था। परिसर-द्वार में प्रवेश करते हुए उसे पुनः संदेह हुआ था कि वे ही व्यक्ति मानों रथ का पीछा करते हुए वहाँ तक आ पहुँचे थे। चल ही इस तरह रहे थे कि कोई सहसा उन्हें देख न ले। पर तब कोई संकट नहीं था, वह पुष्करिणी-परिसर में पहुँच चुकी थी। भय तो उसे तब भी नहीं हुआ था। मार्ग में तब रथ उसने रुकवाया ही इसलिए था कि देखे वह, वे लोग हैं कौन, और क्या चाहते हैं? एक छोटा-सा खड्ग तो वह सदैव अपने शरीर से ही सटाए रखती है। रथ में भी सदैव ही कुछ शस्त्रास्त्र रहते हैं। और श्रम के पहले स्पर्श पर ही मृगम्मदा ने एक तीक्ष्ण शूल निकाल कर अपने पार्श्व में रख लिया था।

संकट उसके लिए नहीं है। कैसा भी वह क्यों न हो, उससे पेश पाने में मृगम्मदा किसी की सहायता नहीं लेगी। किन्तु प्रश्न है दुर्योण की सुरक्षा का। गए इन कई दिनों से उस पर शत्रुओं की दृष्टि आ टिकी है। क्या वृबु से इसका उल्लेख किया जाए? पिता की हत्या के शोक के अतिरिक्त अन्य कई चिंताएँ उसे घेरे हुई हैं। एक बड़ी मानसिक ऊहापोह, अन्तर्द्वन्द्व में उलझा हुआ है वह। कई पीढ़ियों से भर्त्सना करते आ रहे हैं न हिंसा की ये सैंधव! किसी को पराजित करने की या किसी के स्वापहरण की प्रवृत्ति को मूल से ही पदस्थ कर, इन्होंने श्रमण-संस्कृति अर्थात् अपनी बाहुओं के श्रम में ही सम्पूर्ण निष्ठा स्थापित की है। बैर यदि किसी से माना तो प्रकृति की उग्र प्रतिकूल-शक्तियों से या उसके हिंस्र-पशुओं से! और वह बैर भी कहाँ? क्षमा, करुणा, सेवा और प्रेम से उनकी हिंस्र-प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर उनसे भी मेलजोल बढ़ाया है और प्रकृति की उग्र प्रबल शक्तियों को अनुकूल कर अपनी समृद्धि में सहायक बनाया है। यह भौतिक और आधिभौतिक ऐश्वर्य इसीसे तो सहज हुआ है। किन्तु यही ऐश्वर्य तो इन गए कुछ दिनों से इन लोलुप लुटेरे बर्बरों का लोभ बन गया है।

प्रेम, सेवा और सहयोग यदि सफल नहीं होते तो प्रतिरक्षा के लिए दृढ़ता शक्ति, शौर्य और संगठन का भी सैंधवों में अभाव नहीं है। आदत न हो, तब भी तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई हैं, और शत्रु यदि चाहेगा ही, तो हिंसा से भी उसका सामना किया जाएगा। हिंसा से यहाँ घृणा की जाती है, डरा नहीं जाता। और वे देखें कि स्त्री भी यहाँ किसी से पीछे नहीं है। प्रेम, सेवा, करुणा इनमें स्त्री कभी पीछे नहीं रहती, किन्तु दृढ़ता, शक्ति और शौर्य में भी वह पीछे क्यों रहे? कल ही तो इसीलिए मृगम्मदा ने सेलकेत से विचार-विमर्श करके एक रक्षक महिला-वाहिनी

के शीघ्र संगठन का और उसके समुचित प्रशिक्षण का संकल्प लिया है। इन दो व्यक्तियों को लेकर यदि मृगम्मदा का भ्रम भ्रम न होकर वास्तविकता रहा हो, और यदि वे सचमुच शत्रु के रूप में दुर्योण या दुर्योण के किसी नागरिक को क्षति पहुँचाने के अभिप्राय से छिप कर यहाँ कार्य और षड़यंत्र करना चाहते हों, तो क्यों न यह महिलाओं का नया संगठन इस दायित्व को अपने ऊपर लेकर उनके जाल का अनुसंधान करे और समय के पहले ही उसे उच्छिन्न कर दे ? पता ही लगना हो तो महापणिक या महानायक को तब लगे, जब कि षड़यंत्र सम्पूर्णतः उच्छिन्न हो जाए !

मृगम्मदा शीघ्र ही स्नान-ध्यान, पूजा-आह्निक आदि से निवृत्त होली। मातृदेवी की पूजा का दायित्व प्रमुख पुजारिणी के रूप में उसका है, किन्तु स्वयं वह यह पूजोपचार सम्पन्न करे, यह आवश्यक नहीं है। प्रमुख का पद वस्तुतः प्रतिष्ठा का है। गौरव की दृष्टि से प्रमुख पुजारिणी को मातृदेवी के बाद ही सम्माननीय माना जाता है। मातृदेवी स्वयं तो बोलती नहीं, किन्तु प्रमुख पुजारिणी तो जीती-जागती चैतन्य प्रतिमा है, और इसीलिए, सम्मान की दृष्टि से ही नहीं, औपचारिकता की दृष्टि से भी उसे महादेवी कह कर सम्बोधित किया जाता है। प्रत्यक्ष और भौतिक पूजोपचार के लिए और अनेक पुजारिणियाँ हैं, जो महादेवी के अनुशासन में सरोवर-परिसर ही में निवास करती हैं और इसीलिए उन्हें अप्सरा कहा जाता है। प्रतिष्ठा उनकी भी कम नहीं है। जो देवाधिदेव पशुपतिनाथ और मातृदेवी को समर्पित हों, उन्हें सब देवांशी क्यों न मानेंगे ? उनके ऊपर नियंत्रण भी महादेवी को छोड़ कर किसी का नहीं है, औपचारिक नियंत्रण चाहे महापणिक का हो। अनुशासन के लिए तो सारा ही दुर्योण महापणिक के प्रति बाध्य है। इसके अतिरिक्त सामाजिक-प्रतिष्ठा स्वयं अपना आत्म-नियंत्रण स्थापित कर लेती है। वैसे इस देश में जितना उन्मुक्त पुरुष है, उससे कम उन्मुक्त स्त्री नहीं है।—आज मृगम्मदा अपने सामाजिक दायित्व के प्रति भी अधिक सजग हो उठी है। कुमुन्निशा नाम की अपनी प्रमुख सहचरी अप्सरा को देव-विग्रह की शोड़षोपचार पूजा के लिए आवश्यक निर्देश देकर रथ में आरूढ़ जब वह महानायक शुष्ण के आवास की ओर चली, तो सूर्य आकाश में दो दंड ऊपर चढ़ रहा था।

***

उपान्त से दूर उत्तर-पश्चिम की पहाड़ी पर उसी शालमली वृक्ष की छाया में एक आस्तरण पर लेटे हुए छद्मवेशी देवराज इन्द्र और उनका अनुचर ऋजश्विन् विश्राम कर रहे हैं। भोजनादि से वे निपट चुके हैं। सूर्य भी आकाश में काफी ऊपर चढ़ लिया है। कल से ही दोनों खूब व्यस्त रहे हैं, रात के शेष प्रहर में भी सोना

उन्हें सुलभ नहीं हुआ था। सवेरे आज कुहरा उतना सघन नहीं था किंतु तब भी इधर-उधर भटक कर टोह लेने में उन्होंने शिथिलता नहीं आने दी। यहाँ वे आते भी नहीं, किंतु एक तो उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी, ताकि नवीन उत्साह के साथ वे आगे योजनानुसार प्रवृत्त हों, और दूसरे, देवराज को मांसोदन के विना क्षुधा-शमन का विचार अच्छा नहीं लग रहा था। मदिरा की व्यवस्था तो नगर में चोरी-छिपे किसी तरह कर ली जा सकती थी, किन्तु वर्ज्य न होने पर भी मांसाहार का यहाँ प्रचलन नहीं था। उसकी व्यवस्था करने मात्र से लोगों में सन्देह पैदा हो सकता था। यहाँ दूर जंगल में आकर सहज ही उन्हें एक वराह-शिशु मिल गया। एक झाड़ी की ओट में उसे पकाने में कठिनाई नहीं हुई। अग्नि और धुएँ ने यदि किसी पथिक का ध्यान आकर्षित भी किया हो, तो वे तत्काल पक्वोदन लेकर वहाँ से ह(ट) लिए थे। पेट भर जाने के बाद स्वाभाविक था कि वे गहरी नींद सो जाते, किंतु संकट के प्रति भी वे कम सजग नहीं हैं। एक के बाद एक जागते रह कर उन्होंने नींद की अपनी आवश्यकता पूरी कर ली है। अब वे सहज लेटे हुए अपने अगले कार्यक्रम के बारे में परामर्श कर रहे हैं।

ऋजश्विन् कह रहा था, 'देवराज, अब आगे से, जब तक हम यहाँ हैं, हमें इस मांसोदन के विचार का एकदम से परित्याग करना होगा। और कठिनाइयाँ चाहे न भी हों, किन्तु इसकी व्यवस्था करने में ही कितनी शक्ति और समय व्यर्थ हो जाते हैं? कल से अब तक इन आठ प्रहरों में हम कर ही क्या पाए हैं?'

'कुछ न कर पाए हों, यह बात तो नहीं है ऋजश्विन्! कुछ तो हमारी गणना में भूल हुई है। हमने सोचा था कि यदि शव को ये गाड़ेंगे तो भी दो-एक दिन ये उसमें व्यस्त रहेंगे। महापणिक का पिता कोई सामान्य नागरिक तो नहीं होता न! हमने देखा है उधर बाबुल, हिरण्यपुर, असुरपुर आदि स्थानों में शवों को कितने समारोहों के साथ और कितने राजसी वैभव से सज्जित कर गहरी भूगर्भ-समाधियों में समाहित किया जाता है? बृबु उन देशों की यात्रा भी कर चुका है। उसकी प्रिया वह उर्वशी तो उसी देश की है न! आज सवेरे हम जिस महानायक के आवास पर गए थे, उसकी पत्नी कहाँ की है, जानते हो? वह बहुत दूर पश्चिम में नील-देश की सुन्दरी है।'

'नील-देश?' ऋजश्विन् नहीं समझा।

'नील नदी का नाम नहीं सुना?' इन्द्र ने मुस्करा कर कहा, 'जैसे यहाँ सिन्धु-तट को सिन्धु देश कह कर हम पुकारते हैं, वहाँ नील नदी की तट-भूमि इसी नाम से अभिहित की जाती है। इधर उसे अब कुछ लोग मिसिर या मिस्र कह कर पुकारने लगे हैं। शुण की यह पत्नी वहीं की तो है।'

'अच्छा ! तभी उसके शरीर की कांति सद्यस्क—नवनीत जैसी मसृण और गुद-गुदायक थी। उसे देख कर स्पर्श-लोभ रोकना कठिन होता है देवराज !'

'उसके स्पर्श के लिए इन्द्र की दृढ़ बाहुओं का क्रौर्य चाहिए ऋजश्विन् !—वह यहाँ के महानायक शुष्ण की पत्नी है।' इन्द्र ने गर्व से कहा।

'सो तो है देवराज ! बल्कि, मैं तो सोचने को बाध्य हुआ हूँ, उस उर्वशी से तो यह मिसिर्वंशी सुन्दरी ही अधिक काम्य है। नहीं क्या ?'

कुहनी के बल सिर को उठाकर इन्द्र अट्टहास कर उठा। बोला, 'तुम मूर्ख हो ऋजश्विन् ! अनवद्य अहल्याओं का भोक्ता इन्द्र क्या कभी कृष्ट-भूमियों की कामना कर सकता है ? नवनीत को काटने के लिए कठोर कुलिश नहीं, सामान्य क्षुरी पर्याप्त होती है ! और अभी तुमने उस उर्वशी को नयन-भर देखा कहाँ है ? रथ में बैठी किसी छायाकृति की तुम क्या कल्पना कर सकते हो ?'

'कुछ विलम्ब हो गया देवराज। यदि कुछ समय पहले ही पुष्करिणी-परिसर पर पहुँच जाते, तो दिन की आभा में भी उस सुन्दरी के दर्शन हो जाते। पथ में भी हमें उसका रथ तो दिखाई नहीं दिया न !'

'कैसे दिखाई देता ? हम जो नागरिकों की दृष्टि से बचने के लिए वीथियों-उपबीथियों से चले आ रहे थे। उसका रथ तो राजमार्ग से गया होगा।'

'किन्तु देवराज, उसकी सहचरी-पुजारिणी भी तो किसी तरह कम सुन्दर नहीं है। ऐसा सौंदर्य भी कहाँ सरलता से दिखाई दे जाता है ?'

देवराज ने कहा, 'इसीलिए तो लोभ होता है इस भूमि पर ऋजश्विन् ! यहाँ सौंदर्य, समृद्धि, शक्ति, साहस—किसका अभाव है ? देवराज अब समझ रहा है कि देव क्यों इस देश की स्तुतियाँ-प्रशस्तियाँ गाते थकते नहीं। इसके अभाव में क्या इन्द्रत्व व्यर्थ नहीं है ?'

ऋजश्विन् ने बात बदलने के लिए कहा, 'देवराज, आप महापणिक के पिता की कल की प्रेतक्रिया के बारे में कह रहे थे न ?'

'उसी की गणना में तो हमारी भूल हुई है। मिस्र-देश में पितरों के उत्तर-जीवन की सुविधाओं के लिए नभ-स्पर्शी सौध बनाए जाते हैं, ऋजु-त्रिभुजाकार। जानते हो, त्रिभुजाकार क्यों बनाए जाते हैं ? काल की तीनों सीमाओं—भूत-वर्त-मान-भविष्य—से परे किसी आधिभौतिक लोक की कल्पना मूर्त करने के लिए। और क्या तुम हँसोगे नहीं कि उस अलौकिक देश के निवास में उन्हें आवश्यकता पड़ती है समस्त लौकिक ऐश्वर्य की, उपकरणों की ?'

'प्रत्येक प्रजाति के अपने-अपने विश्वास होते हैं देवराज ! सैंधव लोग अपने मृत

व्यक्तियों के शवों को शायद जलाते ही रहे हों। हमारे यहाँ भी तो कुछ गणों में यह प्रथा प्रारम्भ हो गई है।'

'उसका ही यदि ध्यान किया जाता तो उस प्रक्रिया में कम से कम बारह दिन तक तो अशौच मनाया जाना चाहिए। उत्तर-जीवन की कल्पना उसमें भी तो है। वहाँ तो जानते हो न तुम? स्नानार्चन के बाद शव को नव्य वस्त्र पहनाए जाते हैं। मृत पुरुष यदि यज्ञकर्मिन् रहा हो तो उसके लिए तीन अग्नियाँ प्रज्वलित की जाती हैं, दाह अवश्य दक्षिण अग्नि में ही किया जाता है। शव के साथ अर्थी पर ही कुछ समय के लिए तो उसकी विधवा को भी सोना पड़ता है न! कि उत्तर-जीवन में भी मृत-व्यक्ति उसका उपभोग करता रहे। देवर या उसका कोई निकटस्थ सम्वन्धी अवश्य उसका अर्थी से उद्धार कर लेता है, किन्तु प्रथा तो है न। वर्ण के अनुसार उसके जीवन के उपकरण भी शव के साथ रखे जाते हैं। एक गौ और एक अज को बलि देकर उनके टुकड़े किए हुए विभिन्न अंग जो शव के विभिन्न अंगों के साथ रख कर जला दिए जाते हैं, यह क्या यह नहीं बतलाता कि परलोक की यात्रा में भी वह इनके उपयोग और उपभोग से वंचित न रहे?'

'मृत्यु के बाद क्या सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता देवराज?'

'कौन जानता है? हाँ, इन मंत्रद्रष्टा ऋषियों का अवश्य लौकिक उपभोग चलता रहता है।'

ऋजश्विन् मुस्करा कर बोला, 'आप भी तो इन ऋषियों को प्रोत्साहन देते रहे हैं न।'

'सो क्या यों ही देता रहता हूँ? यज्ञ-याग और सोम-पानादि में यदि इनकी प्रतिभा को अटकाए न रखा जाए तो क्या ये देवराज के इस निरंकुश-भोग को निर्बाध चलते रहने देंगे?' और बात बदलने के उद्देश्य से उसने कहा, 'यहाँ तो शव-दाह के तत्काल वाद ही शासन की गति पूर्ववत अव्याहत चलने लगी, जैसे भांडव्य नामक कोई व्यक्ति कहीं था ही नहीं। बृबु को लोग अवश्य घेरे रहे, किन्तु वह भी मात्र औपचारिकता थी। हमारे यहाँ तो दूसरे दिन अग्नि को शीतल किया जाता है, तीसरे दिन अस्थियाँ चुनी जाती हैं, और फिर कम से कम बारह दिन बाद पिंड-दान द्वारा प्रेत को पितरों की श्रेणि में पहुँचाया जाता है।'

ऋजश्विन् ने विस्मय से कहा, 'आप सपिंडीकरण-प्रक्रिया से अवगत हैं?—आपको यह सब जानने का अवकाश ही कब मिलता है?'

इन्द्र ने मुस्करा कर कहा, 'देवराज को अपने गणों के सब धार्मिक-सामाजिक विश्वासों-अन्धविश्वासों से परिचय रखना पड़ता है ऋजश्विन्! बल्कि जनता को

भुलाए रखने के लिए कई ऐसे रूढ़-कृत्य, पाखंड भी, स्वयं वह प्रचारित करता है—छोड़ो इन प्रसंगों को। इन्द्र की माया को तुम तो क्या, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी नहीं जान पाए हैं !—बारह तो क्या, हमें एक दिन के लिए भी सैंधवों की अन्यमनस्कता का लाभ नहीं मिलेगा। हमें अब आगे अधिक तत्परता के साथ अपनी कार्य-योजना निश्चित करनी है। सबसे पहले तो, हम परस्पर भी अपने प्रकृत नामों से कहीं सम्बोधित नहीं होंगे। अपने छद्म-नामों का प्रयोग हमें अपनी जीभ पर चढ़ा लेना होगा।'

'सो तो ठीक है देवराज, किन्तु जब हम अकेले हों तो आपके प्रकृत स्वामित्व को भुलाना कहाँ सम्भव होता है ?'

'मन को नियंत्रण में रखो शंख ! अकेलापन केवल भ्रांति है। शत्रुपुरी में तो यह पता भी नहीं लग सकता कि कौन आगे-पीछे, कब, कहाँ हो सकता है ?—तुम जानते हो, ये अनार्य यातुधान हैं, जादू जानते हैं। सम्भव है इन वृक्षों पर बैठे ये पक्षी ही उन पर हमारा भेद खोल दें। सावधान तो हमें रहना ही चाहिए। देखा नहीं ? रात के उस निबिड़ अँधेरे तक में रथारूढ़ उर्वशी को संदेह हो गया था।'

'हाँ, देवरा······क्षमा करें, तुम सच कह रहे हो श्येन ! वह तो संयोग ही था कि पास ही में एक गली थी, जिसमें भाग कर हम छिप जा सके। रथ से उतर कर यदि वह हमारा पीछा करती तो क्या हम पकड़ नहीं लिए जाते ?'

श्येन ने मुस्करा कर कहा, 'वह पीछा करती ?—मेरा मनोरथ प्रस्तुत हो जाता शंख ! फिर पहचान भी लिए जाते तो क्या आपत्ति थी ? वृबु को अभी नहीं, बाद में तो देखना ही है।'

'सुना नहीं है श्येन ?—वह बड़ी वीर महिला है।'

'हा ऽ हा ऽ हा।—वीर है या शूर ?—वीर तो पुरुष ही हो सकता है मूर्ख ! उसका शौर्य और मेरा वीर्य ! परीक्षा का इससे अधिक उपयुक्त अवसर और क्या होता ? छद्म-वेश में हूँ तब भी हूँ तो श्येन ही न, अपने आखेट को झपट कर पंजों में दबोच लेने के लिए प्रख्यात ! पीछा करने का साहस करती तो, मैं ही क्यों, वह भी जान लेती कि उसकी कामना करने वाला भी कोई है।'

ऋजश्विन् अप्रतिभ हो गया। चाटुकारिता के स्वर में बोला, 'यदि उस पर आपका इतना लोभ है तो आपके लिए अप्राप्य क्या है ?—आगे हमें क्या करना उचित होगा ?'

'हमें कहीं न कहीं अपने ठहरने के लिए स्थान खोजना होगा शंख ! एक रात की बात हो तब तो फिर भी ठीक है, किन्तु अब न जाने कितनी रातें और यहाँ

बितानी पड़ सकती हैं। यहाँ इतनी दूर आने-जाने में ही कितना समय व्यय हो जाता है ? और फिर बार-बार आने-जाने से किसी के भी मन में कुतूहल पैदा हो सकता है।'

'यों, काम के लिए समय तो रात का ही उपयुक्त रहेगा न श्येन !' ऋजश्विन् ने कहा, 'सोने के लिए हमें रात कहाँ मिलेगी ?'

'रात न मिले तो क्या सोना नहीं होगा ? बल्कि दिन को निश्चिन्तता के साथ सोने के लिए ही तो हमें एक सुरक्षित स्थान की अपेक्षा है।'

'यदि हम नगर प्राचीर के बाहर उपान्त में रहें तो रात को नगर में प्रवेश कैसे पा सकेंगे ?'

'नगर में तो तब पुष्करिणी-परिसर ही तो है। तुम्हीं कहते थे, वहाँ बाहर से आए विदेशियों के ठहरने की व्यवस्था रहती है।'

'जिन्हें पहचान लिए जाने का भय नहीं होता अवश्य वे वहाँ ठहरते हैं, वही ठहरते हैं। आमोद प्रमोद का अभाव भी तो वहाँ नहीं है न ! किन्तु वहाँ ठहरने वाले प्रत्येक व्यक्ति के बारे में पूरी जाँच-पड़ताल की जाती है। कठिनाई अगर कुछ है तो यही है ! इन दिनों अवश्य वह जाँच-पड़ताल और भी कड़ी हो गई होगी। अच्छा आपको स्मरण होगा, कुछ वर्ष पूर्व हमसे रुष्ट होकर हमारे गण का एक नायक वेनपुत्र पृथु आश्रय की खोज में इस देश में आ गया था।'

'सो ? यदि वह यहाँ हो भी, तो हम कैसे उसके साथ ठहर सकते हैं ? अपने अपमान की बात भूल कर क्या वह अपने आश्रयदाता की ही हानि करना चाहेगा ? पकड़ा नहीं देगा वह हमें शीघ्र ही ?, वैसे तुम नहीं जानते वह यहाँ है भी नहीं। मैंने सुना है, इन सैन्धवों ने उसे पूर्व में गंगा के किनारे कुछ भूमि देकर कृषि के लिए प्रोत्साहित किया है, और वहाँ वह एक सफल कृषक हो गया है।'

'मुझे यह सब अवश्य नहीं मालूम है। अच्छा उसकी बात जाने दीजिए। आपको भी शायद मालूम हो, उर देश से ही इस उर्वशी के साथ वहाँ का एक पुरोहित अपने पुत्र के साथ यहाँ चला आया था। सुना था कि उसने भी यहाँ अपना गहरा प्रभाव जमा लिया था।'

'उस खगोल-शास्त्री गाधि की बात कह रहे हो न ! उसने अपना प्रभाव अवश्य जमा लिया था, किन्तु तुम नहीं जानते, उसका पुत्र विश्वरथ बहुत बड़ा महत्त्वाकांक्षी युवक है। यहाँ यह महानायक है न, बड़ा चतुर है। इसकी गृद्ध-दृष्टि उस युवक की महत्वाकांक्षा को पहचान गई। स्पष्ट रूप से शरणापन्न को निकाला भी नहीं जा सकता था, अतः वेन-पुत्र पृथु के समान उसे भी पूर्व में बहुत कुछ भूमि का मालिक

बनाकर भेज दिया, सुनते हैं। वहाँ उसके पुत्र विश्वरथ ने अपने लिए एक राज्य की ही स्थापना कर ली है। बड़ा तेजस्वी है, सुनते हैं कि वह उधर ऋषियों की उपेक्षा भी करने लगा है। पूर्व के सन्निवेशों से मेरे पास कई शिकायतें भी आई हैं।'

'अच्छा !—क्या पूर्व का वह देश भी ऐसा ही शस्य-श्यामल उर्वर है ?'

'मैंने देखा कहाँ है ? हमारे ये जो कुछ सिरफिरे आर्य ऋषि हैं, जो अपने ही मन की गुहा में डूबे रहकर किसी आत्मा की खोज में महात्मा वन गए हैं, हिमालय की निर्जन दुर्गम घाटियों में होते हुए उधर पहुँच गए हैं। इन्द्र तो इस तरह लुक-छिप कर किसी भिक्षुक की तरह जा नहीं सकता। वह जाएगा तो बीच में पड़ने वाले अभिजनों को अपने पैरों तले रौंधता हुआ, विजय दुन्दुभी बजाकर पहुँचेगा ! वैसे विश्वरथ की जोड़ के एक युवक को वहाँ पहुँचाने की मैंने व्यवस्था कर दी है।'

'अच्छा ? कौन है वह तेजस्वी युवक ! यदि आपत्ति न हो तो बताने का अनुग्रह करें।'

'उसमें क्या आपत्ति हो सकती है ? एक दिन उसे सभी जानेंगे, अग्नि क्या कभी राख में छिपी रह सकती है ? मेरे अन्यतम सखा मित्र और वरुण को जानते हो न तुम ? बहुत पहले वे भी उर देश से एक उर्वशी पकड़ लाए थे। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सभी उर्वशियाँ एक जैसी सुन्दर हों, ! तब भी इतनी सुन्दर थी वह कि दोनों सखाओं को उसने एक साथ आकर्षित किया। यह मेरे लिए भी गर्व की बात है कि इससे दोनों ने ईर्ष्या को फटकने का अवसर नहीं दिया। दोनों ने ही समान भाव से उसका उपभोग किया। उन्हींके औरस का पुत्र है यह मैत्रावरुणि वसिष्ठ ! बड़ा ही गुणज्ञ, नीतिज्ञ, विद्वान्, और उतना ही शूर-वीर ! यह विश्वरथ की महत्त्वाकांक्षा को दबाए रख सकता है।'

ऋजशिवन ने इन्द्र की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखते हुए कहा, 'जब कि आचार्य गाधि भी यहाँ नहीं हैं, तब तो महाश्रेष्ठि अर्बुद के सिवा और कोई उपाय तो दिखाई नहीं देता देवराज !'

'फिर भूल गए ? देवराज नहीं, श्येन कहो ! अब की बार भूल हुई तो सचमुच श्येन बनकर जीभ ही नोच लूंगा तुम्हारी।'

'मुझे क्षमा कर दो श्येन ! कह यह रहा था कि अर्बुद हमें हमारे मूल रूप में पहचानता भी तो नहीं है। मरुत्गण के रूप में हम अब भी उससे सहायता ले सकते हैं। हमारा अधिकार भी तो है।'

'नहीं शंख, अर्बुद पर अधिक निर्भर करना उचित नहीं हैं ! यों भी, नगर-सीमा में तो हम निश्चिन्त होकर किसी भी दिन सो नहीं सकेंगे। बल्कि इससे तो अच्छा

हो, उसके भृत्य का क्या नाम बताया था? हाँ, वणि का उपयोग क्यों न किया जाए?—वह काक के समान सजग-दृष्टि है। दिन-दिन तो प्राचीर के बाहर बिताना ही श्रेयस्कर होगा। बाहर किसी भी निर्जन-सी कुटिया में यदि पैर भर फैलाने की सुविधा मिल जाए तो हमें और क्या चाहिए? विश्राम के बाद संध्या को द्वार बन्द होने के पहले ही गायों के गोष्ठ के साथ ही गोधूलि के धुँधलके में हम नगर में सरलता से प्रवेश कर सकते हैं।'

'वणि का आपने खूब स्मरण दिलाया। उसे खोजना होगा। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो वह अकेला ही है। अगर उसका आवास नगर-प्राचीर के भीतर हो तब भी वह सुरक्षित रहेगा। यहाँ के नागरिकों के गहरे विश्वास का पात्र जो है वह।'

'आगे का कार्यक्रम भी हम उससे परामर्श के बाद ही निश्चित करें तो कैसा हो?–अपना सारा उद्देश्य सही-सही उसे बताने की आवश्यकता नहीं है। पर बहानों का अभाव कहाँ है?–तो अब और अधिक विलम्ब उचित नहीं है शंख!—देखो, सूर्य भी नीचे उतरने लगा है। हमें चल देना चाहिए।'

और वस्त्र झटक कर वे भी उठ खड़े हुए।

***

नगर के उपान्त में अब वणि की झोंपड़ी पहले जैसी झोंपड़ी नहीं है, यद्यपि उसे हर्म्य या हवेली भी नहीं कहा जा सकता। प्रायः इसमें उसका रहना भी कहाँ हो पाता है? या तो वृषभों पर अपने स्वामी का पण्य लाद कर वह एक नगर से दूसरे नगर घूमता रहता है, या यदि नगर में हो तो प्रायः नगर के बीच वनी स्वामी की हवेली में ही अधिकांश समय बिताता है। इसके बावजूद वह अपनी मूल छबि खोना नहीं चाहता। अवसर निकाल कर वह अपने उपान्त के आवास में आ ही जाता है, जहाँ कृषकों-श्रमिकों के बीच उठ-बैठ कर, उनके सुख-दुख में हिस्सा बँटा कर उनकी आत्मीयता बनाए रखता है। इसीसे इस तबके में उसके स्वामी की, और उनकी आड़ में स्वयं उसकी धाक जमी रहती है। सहज ही एक ओर तो उपान्त-वासियों के श्रमिक-क्षेत्र और दूसरी ओर नगर-वासियों के प्रशासनिक-क्षेत्र—कोई कहना चाहे तो इन दो उच्च और अवच वर्गों के बीच वह सहज ही एक सम्पर्क-सूत्र बन गया है, और इसी रूप में दोनों ही वर्गों में उसकी प्रतिष्ठा है। प्रारम्भ में उसकी स्थिति चाहे जैसी रही हो, इस समय अपने स्वामी की कृपा के कारण और स्वयं अपने पुरुषार्थ के कारण भी, उसे अभाव किसी का नहीं रह गया है। अपने उसी आवास को अब उसने पर्याप्त प्रशस्त कर लिया है और सुख-सुविधाएँ भी सब जुटा ली हैं। गृह बन गया तो कहीं से अनायास एक अदद गृहिणी भी आ टपकी, और औपचारिक गृहस्थी भी जुट गई है।

गृहिणी कब, कहाँ से, कैसे आ जुटी, यह कोई नहीं जानता, स्वयं वणि भी निश्चय से स्मरण नहीं कर सकता। गुड़ हो तो चींटियाँ आ ही जुटती हैं कहीं से भी। कहाँ से, कैसे, कब आईं, कौन तो रखता है इसका ध्यान, और किसे पड़ी है इसकी आवश्यकता? सलाह-मशविरा, काम-धाम, जरूरत-बेजरूरत सहारा-सहायता आदि के लिए स्त्री और पुरुष कर्मी आते-जाते ही रहे हैं उसके पास। कोई कैकसी नाम की एक स्त्री कब से अपने आने-जाने के अवसरों को संख्याओं में ही नहीं, परिमाण में और फिर सम्पर्कों की गहराई में भी बढ़ाते-बढ़ाते गृहिणी के पद पर पहुँच गई, इसका क्या तो हो सकता है इतिहास और क्या हो सकता है पुराण? मिथक इसे चाहे सरलता से कह सकते हैं। उम्र यदि उसकी वणि से अधिक ही हो, तो उससे क्या अन्तर पड़ जाता है? पुरुष की उम्र ही स्त्री से क्यों अधिक हो? जवान तो वह है ही। बल्कि उम्र अधिक है इसीलिए तो वणि से अधिक सयानी साबित हो सकी है। उसीके कारण तो उसका घर अब गृहस्थि है। रहा सौंदर्य, सो वह कुछ तो देखने वाली दृष्टि का विषय है, कुछ उसकी प्रस्तुति के ढंग का, और रही सही कमी समृद्धि पूरा कर देती है। ग्रीष्म काल की सूखी, नीरस, पथरीली पनाली भी बरसात आते ही क्या रस से सराबोर, उफन-उफन कर अच्छों-अच्छों को बहा लेजाने वाली प्रबल बाढ़ नहीं बन जाती? कैकसी का रंग ही नहीं निखर आया है, उसके सूख निर्मांस शरीर की गोलाइयां भी पुष्ट हो चली हैं, बल्कि अब तो पृथुल होना चाह रही हैं। सामने यदि कोई लोलुप पुरुष हो तो उसकी आँखों को बाँधे विना नहीं रहतीं। और अब वह गृह-स्वामिनी जो है।

उसी के घर के सामने साँझ ढल रही है, पर अभी सूरज अस्त नहीं हुआ है। हवा में अवश्य शीत की सुरसुरी बढ़ती जा रही है। हवा और प्रकाश को रोकने के लिए उपांत में बसतियाँ घनी कहाँ हैं? दूर-दूर फैले लम्बे-चौड़े खेतों की मेंड़ पर इधर-उधर ठठुर और फूस से छवाई झोंपड़ियाँ ही थीं, जिनसे न हवा रुक सकती है न प्रकाश। हाँ, शस्य-श्यामल खेतों के बीच छोटे बड़े कई तरह के वृक्ष भी हैं, जो झोंपड़ियों पर छत्र की तरह तने हुए हैं। उनकी छाया में प्रकाश अवश्य दुबक जाता है, किन्तु हवा तो उनके पत्रों से खिलवाड़ करती हुई सहज ही मचल उठती है। पश्चिम दिगंत में दूर पहाड़ियों के बीच चरागाहों से लौटते हुए गोष्ठों की धूल का गुबार अस्ताचल की ओर लुढ़कते हुए आरक्त सूर्य-बिम्ब को मटमैला कर रहा था। वणि का घर खुले में था। सामने बहुत दूर तक दृष्टि बेरोक चली जाती थी। बरामदे में द्वार के पास बैठी कैकसी तकुए पर सूत कात रही थी और रह-रह कर अपने सामने फैले मैदान को देख लेती थी।

सहसा भीतर दरवाजे से आवाज आई, 'अब तो बाहर आ जाऊँ न?'

'अभी से ?—अभी तो इत्ता दिन बाकी है। सूरज थोड़ा और नीचे उतर जाए, गोधूलि में उसकी चटक और थोड़ी मन्दी हो जाने दे।'

किन्तु वणि अपने शरीर पर एक कोमल कम्बल डाले दरवाजे के बीचोंवीच आ खड़ा हुआ, और बोला, 'अब किसी के आने की सम्भावना नहीं है कैकसी ! महा-श्रेष्ठि आ ही चुके हैं, अव वे नहीं आएँगे। वणि को पूछने के लिए नगर से और कोई आता ही कौन है ?' और वह कैकसी के पास ही आकर बैठ गया।

'जरा परे को हट कर बैठा। बल्कि आड़ में ही बैठता तो भला रहता।—कल कित्ती बेर गए नासपीटा सुनार का धींगड़ा आ टपका था ? वो तो संजोग था कि महासेठ भी जमे बैठे थे। उसका क्या ठिकाना ?–आज फिर टपक पड़े।'

वणि ने मुस्करा कर कहा, 'जानती हो, वह दुर्योण का महानायक शुष्ण है, महापणिक और महाश्रेष्ठि के बाद वही सबसे बड़ा अधिकारी है।'

'हुआ करे सबसे बड़ा अधिकारी अपनी महरारू का।–और तुम्हारा महापणिक, वोई कुम्हार न ?–चिउटी को जरा पर क्या लग गए, चलना ही भूल गई। बाड़ा-भट्टा सब उठा दिया न ! पहले तो भी कुछ ढंग के भंडे-मटके गढ़ लेता था। देख लेना, इस सुनार का बाप मर जाए तो उसकी भी भट्टी-वट्टी मिट्टी में मिली समझो। बैठे-बैठे पणकाई करने और डींग हाँकने में किसी का क्या लगता है ? वो देखो, वो कोई जा रहा है उधर। तुम्हारे इस बीमारी के नाटक की पोल खुल जाएगी तो मुझे ही दोष दोगे।—बात ही करने का शौक हो तो भीतर बैठो न। मैं कोई वहरी नहीं हूँ।'

'अरे वह तो अपना सपरू है सपरू, इतना भी नहीं पहचान पाई तुम ? गोष्ठ से लौट रही अपनी अजा और मेष के गल्ले को सम्हालने जा रहा है। उससे क्या भय ?—और वैसे भी अब तो दूसरा दिन है। क्या इतने समय में कोई अपने मान-सिक आघात पर वश नहीं पा लेता ?'

'मैं क्या जानूं, तुम्हारी क्या बीमारी है ? तुम्हीं ने तो कहा था कि कोई भी पूछे तो कह देना कि अभी अवस्था अच्छी नहीं है।—जरा उधर से वो पूनिएँ पकड़ाना।'

'ये सूरज अब और अधिक समय तक तो आकाश में रहने वाला है नहीं। सवेरे से ही कहाँ देखने को मिला था ? इन शीत के दिनों में वह कितना अच्छा लगता है ?—जानती हो ?—उधर आर्य लोग तो इसकी भक्ति करते हैं, इसकी लम्बी-चौड़ी स्तुतियाँ गाते हैं। उस हिम-देश में यही तो कल तक उनके जीवन का आधार था। अग्नि का पता तो वे अभी कुछ ही समय पहले लगा पाए हैं, और तभी से अग्नि उनका सूर्य से भी बड़ा देवता वन गया है।—प्यारा नहीं लगता इन दिनों ?'

'सो तो ठीक है । मेरा क्या ?–जरा चंगे बन गए तो भाग कर जाओगे सेठ की हवेली में । जैसे तुम्हारे बिना उसका सब काम ही अटका पड़ा हो । भला हो नाटक का । दो दिन तो घर में रहे हो ।'

'अरे उस महाश्रेष्ठि ही की तो कृपा है ।—एक दिन देखना, अगर पशुपतिनाथ की कृपा हो गई तो तू उसके क्या, महापणिक के प्रासाद की शोभा बनेगी ।'

'ना बाबा, ना । उससे तो अपना यह घरवा ही भला । वहाँ जा कर क्या कुत्ते-बिल्ली की मौत मरना है ?'

'कुत्ते-बिल्ली की मौत ?–कहती क्या हो ?'

'और नहीं तो क्या ?—वो खूसट और उसकी घरानियाँ, क्या नाम उनका अंजसी और कुलसी, नहीं मरे कुत्ते-बिल्ली की मौत ?–और तू ही तो कहता था उस रात बहली में बैठे इस कुम्हार की हत्या भी कर दी । किसने की, तू तो जानता है न ?'

'धीरे बोल । कोई सुन लेगा तो जीवित नहीं छोड़ेगा ।—और उधर देख तो जरा ।–वे क्या इधर ही चले आ रहे हैं ?'

कैकसी ने सामने देखा, 'अरे हाँ, इधर ही तो चले आ रहे लगते हैं । जाने कौन हों । अभी तो गाय-बकरियों के घोष भी दूर हैं । और ये तो उधर से नहीं; इन पहाड़ियों के पीछे से चले आ रहे हैं ।–जा, भीतर जाकर लेट जा । दुश्मन नहीं हो तो भी सावचेत रहना अच्छा है ।'

'कोई अपरिचित ही लगते हैं । भय की तो कोई बात नहीं, पर तू कहती है तो यही सही । मुँह भी तो इधर ही कर रखा है ससुरों ने । देख न लिया हो तो ही गनीमत है ।' कम्बल समेट कर वह उठा और भीतर चला गया । कैकसी देख तो सामने रही थी, किन्तु उसे वणि का 'ससुर' शब्द खटक गया था । बोली, 'ऐसे कलमुँहे ससुर तेरे नहीं, मेरे ही हो सकते हैं । तू छिप कर बैठा देख, तेरे बाप को कैसे मजे चखाती हूँ ।' और इसी बीच श्येन और शंख सामने आ खड़े हुए ।

इसके पहले कि कोई कुछ कहे, कैकसी ने ही कहा, 'नाथ किसने खोल ली, जो इस तरह राह-बेराह भटक रहे हो ?–रस्ता इधर नहीं, उधर है ।'

शंख ने कैकसी को नमस्कार किया और कहा, 'अम्बे, तुम्हारी जय हो । राह उधर है यह तो दिखाई देता है । किन्तु वणिराज का आवास कहाँ है ?—बता सकती हो ?'

कैकसी सम्बोधन से तुनक गई। भन्ना कर बोली, 'अम्मा होगी तरी घर वाली।—मैं अम्मा दीखती हूँ ?'

श्येन कैकसी के प्रारम्भिक वाग्वैदग्ध्य से ही प्रमुदित हो उठा था। मुस्करा कर बोला, 'देवी, क्षमा करो, यह बच्चा है। समझता नहीं, और इसे अभी अम्मा ही की आदत है न। आप जैसी परम सुन्दरी युवती को कौन पुरुष माँ कह कर पुकारना चाहेगा ?——हमें क्षमा करें। क्या आप वणिराज का भवन बताने की कृपा करेंगी ?'

'वणि का घर पूछ रहे हो न ?– क्या काम है उससे ? वो बीमार है, किसी से मिलता नहीं है।'

'आप उनका आवास बता दीजिए। वे शायद हमें पहचान लेंगे।—और यदि बीमार हैं तो, मेरा यह साथी बच्चा तो है पर बीमारी की औषधियाँ बहुत जानता है।'

'अरे, बहुत देखी तुम्हारी औषधियाँ। उसे मन की बीमारी है, तुम क्या जानो ?—भागो यहाँ से, कि निकालूँ झाड़ू ?'

'तो क्या यही है उनका आवास ?—आप........'

'हाँ हाँ।—मैं हूँ उसकी घर वाली। चलते बनो यहाँ से। वो किसी से नहीं मिलेगा।'

'अच्छा हम चले जाते हैं, पर आप उन्हें कह दीजिएगा, हम उन्हीं में से हैं जो उस दिन हरयूपिया से उनके साथ आए थे, मरुद्गण।'

वणि शायद द्वार के पीछे से सब कुछ सुन रहा था, कपाट की झिरियों में से शायद देख भी रहा हो। श्येन और शंख का वेश बदला हुआ था, किन्तु इतना संदर्भ पाकर भी न पहचानना असम्भव था। जब कि वे निराश होकर सोच नहीं पा रहे थे कि इस असाध्य औरत से किस तरह निपटा जाए, कि वणि दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और बोला, 'मैं जानता हूँ इन्हें भागवान ! इन्हें आने दे।—बाहर बराबर देखती रहना, कोई ऐरा-गैरा न आ रहा हो। कोई पूछे तो कह देना, मैं बाहर चला गया हूँ, भीतर नहीं हूँ।'

'वाह री समझ। कह देने से ही कोई मान लेगा ? अभी दुपहर तक तो ऐसा बीमार कि हिल-डुल भी नहीं सकता, और अब इत्ती जल्दी बाहर भी चला गया ? और अगर कहीं वो सुनार या कुम्हार का बचवा ही आ टपके तो ?—कल कैसी खबर ली थी उस सुनार के बचुवे ने ?'

शंख ने कुछ कहना चाहा, पर उसे रोक कर मुस्कराते हुए श्येन ने कहा, 'वणि-राज, आपकी घर वाली सुन्दर ही नहीं, बुद्धिमान भी है।–आप सच कहती हैं देवी !–घर तो काफी बड़ा है। कोई आए तो आप उसका नाम पूछ कर भीतर बता दें। आवश्यकता हुई तो हम दूसरे कक्ष में छिप लेंगे।'

'यह बात हुई कुछ समझ की। अब तुम लोग भीतर आ जाओ, कि यूँ ही बाहर खड़े-खड़े लोगों की नजर पकड़ते रहोगे ?–तुम निचन्त रहो। मैं समझ गई। जरूर कोई गहरी बात होगी।–ऐरा-गैरा कोई हुआ तो मैं ही निपट लूँगी।'

श्येन और शंख दोनों भीतर हो लिए तो वणि ने कहा, 'समझदार तो बहुत हो, पर देखो, अभ्यागतों के लिए कुछ फल-दूध........'

श्येन ने भीतर से ही कहा, 'उसकी कोई आवश्यकता नहीं है देवी। आप तो केवल जल.... ...'

'तुम तो जल पीकर भी रह लोगे, पर तुम्हारा वो बच्चा तो दूध पिएगा न।' मुस्करा कर कैकसी ने कहा, 'मैं अभी सरंजाम करती हूँ।'

––और उनकी सब व्यवस्था हो गई। वणि का भय भी दूर हुआ, कि मरुद्गण सकुशल अपने गंतव्य पहुँच गए। श्येन और शंख मरुद्वान से अनुज्ञा लेकर ही पीछे रह गए हैं। अब जब कि युद्ध अनिवार्य-सा ही है, दुर्योण की समस्त मोर्चाबन्दी और साज-सामान की तत्परता उन्हें देख लेना चाहिए। यदि नितांत आवश्यक न हो तो इस प्रेष की सूचना अभी महाश्रेष्ठि को भी न दी जाए। वणि आर्यों की दुरभि-सन्धि को महाश्रेष्ठि की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता से समझता था। महाश्रेष्ठि अभी इस योजना से बाहर ही रहें तो उसे प्रसन्नता ही होगी। पर कुछ तो उनके प्रभाव का उपयोग करना ही होगा ताकि उनका प्रवेश महत्त्वपूर्ण स्थानों पर भी सम्भव हो सके। श्येन और शंख अब अपने मरुत्गण वाले छद्म में नहीं, एक सर्वथा नए छद्म में थे, अतः महाश्रेष्ठि द्वारा भी पहचाने जाने की आशंका नहीं थी। सब व्यवस्था सहज ही हो गई। यहाँ तक कि यदा-कदा सार्वजनिक सरोवर में स्नान के लिए भी दोनों अतिथियों के लिए बाधा नहीं रह गई।

● ● ●

उस दिन संध्या को श्येन और शंख पुष्करिणी के सार्वजनिक भाग के एक कक्ष में स्नान की प्रतीक्षा में बैठे बातचीत कर रहे थे। सुरा का पात्र दोनों के हाथ में था, पास ही चौकी पर एक पात्र में सुरा भरी हुई थी। अभी कक्ष में अँधेरा ऐसा न था कि दीप की आवश्यकता हो।

श्येन ने कहा, 'एक सप्ताह हो रहा है शंख ! नीरस जीवन से ऊब हो रही है। इस तिक्त देशी मदिरा से क्या सोम की प्यास बुझ सकती है ?–सूखा भोजन, और उन निर्गन्ध मेष और अवि का मांस क्या देवराज के खाने के योग्य है ?'

'वह भी अब सम्भव नहीं रहेगा श्येन !–सरोवर के मेषपाल को ही नहीं, महादेवी उर्वशी को भी पता लग गया है कि उनके रेवड़ में से भेड़ें चुराई जा रही हैं। यदि आपकी इच्छा हो तो कल उसी अरण्य में मृगया के लिए जाया जाए।'

'वह तो किया जा सकता है, किन्तु रात्रियाँ यों कब तक लम्बे निश्वासों ही में काटनी पड़ेंगी ?'

शराव में से एक घूट पीकर शंख बोला, 'आपने तो उस एक पुजारिन को पटा लिया है न !'

'पटा कहां लिया है ?—और कोई स्वयं ही मुझपर मरना चाहने लगे तो मैं कर ही क्या सकता हूँ ? नाम भी तो उसने अपना रख छोड़ा है प्रमदा ! पर अभी मिलने का सुयोग कहाँ मिला है ? यों, इस परिसर में जिस किसी भी व्याज से हो, एक सहायिका मिल जाना बहुत बड़ी सफलता होगी। वरंच देवराज क्या ऐसी पत्तलों पर कभी झुकना भी चाहेगा ?—तुम्हारी वह हित्ती प्रेमिका क्या हुई ?'

'प्रेमिका ?—आप भी खूब हैं !—पर सच कहिए, आपके लिए न सही, हम जैसों के लिए भी क्या वह लोभनीय नहीं है ?—और आप जानते कैसे हैं कि वह हित्ती है ?'

श्येन ने अपना पात्र खाली कर पुनः भरने के लिए शंख की ओर आगे बढ़ाते हुए कहा, 'उसका नाम भी जान लिया है शंख, वह है कुमुन्निशा, उस उर्वशी की बड़ी प्रीतिपात्र सखी ! और ऐसे कुमुद-कुसुम यहाँ नहीं, हित्तियों के देश में ही पैदा होते हैं। वर्ण कुछ श्यामलता की झाँई लिए हो, पर नयन कैसे कटावदार हैं ? और शरीर की वे चंचल मछलियाँ ? तुम्हारे लिए ही क्यों शंख, देवराज के लिए भी सहज चुनौती हैं। किंतु दृष्टि जब तुम्हारी पड़ चुकी है तो उसके लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते ?'

'प्रयत्न किया क्या जाए और कैसे किया जाए ?—यदि वह किंचित भी सदय हो जाए तो कल मैं आपको एक मेष-शावक का मांसोदन प्रस्तुत कर सकूँगा। सरोवर का गल्ल उसीकी देखरेख में तो है।'

भरे हुए शराव में से एक और घूट उदरस्थ कर श्येन ने कहा, 'और उस दुर्गम्य उर्वशी तक पहुँचने के लिए तुम्हारी वह कुमुन्निशा एक अच्छा निर्भर योग्य सोपान

हो सकती है। किंतु तब आज ही क्यों न उसके लिए प्रयत्न किया जाए ?–महिलाओं की सैनिक-शिक्षा के लिए उस समारोह का आयोजन आज ही तो है न ?'

'मैं तो वह भूल ही गया था श्येन ! यहाँ उस प्रशस्त चैत्य पर ही तो उसका आयोजन है। हमें शीघ्रता करनी चाहिए। बाहर शायद इसीलिए महिलाओं की इतनी चहल-पहल और कोलाहल है।'

अपना पात्र खाली कर शंख उठ खड़ा हुआ, किंतु श्येन ने ऐसी कोई तत्परता नहीं दिखाई। अपने पात्र को ओठों तक ले जाकर उसने कहा, 'एक उपाय दीख रहा है शंख !'

शंख ने उसकी ओर प्रश्नाकुल भाव से देखा तो श्येन ने कहा, 'किसी तरह यदि हम महिलाओं की इस सभा में सम्मिलित हो सकें........'

'पागल हुए हैं क्या ?—यह आयोजन केवल महिलाओं के लिए है। पुरुष किसी भी व्याज से महिलाओं की इस सभा में सम्मिलित नहीं हो सकेंगे ! अपरिचित की तो बात ही दूर है।'

'मैं छिप नहीं पाऊँगा !' श्येन ने जैसे कुछ न सुना हो, ऐसा भाव दिखाते हुए कहा, 'किंतु एक महिला के वस्त्र यदि मिल जाएँ तो अपने आपको सजा कर सहज ही तुम उनमें घुलमिल सकते हो।'

'कहते क्या हैं देवराज ?'

'देवराज नहीं, श्येन कह कर पुकारो।—यदि भय नहीं करते हो—और तुम जैसे वीर को स्त्रियों से भय करना शोभा भी नहीं देता—तो यही अवसर है। आने वाले युद्ध में स्त्रियों की यहाँ क्या भूमिका हो सकती है, यह जान लेना हमारे लिए आवश्यक भी है शंख ! बाहर-भीतर की इन कई स्त्रियों में किसीको पहचानना सहज भी नहीं होगा। और महिलाएँ ही तो होंगी वहाँ !—सहज ही तुम अपनी प्रेयसी से सट कर बैठ सकोगे। अरे, चुपके से अगर तुम उसके किसी मर्मस्थल को छू भी दोगे तो वह पानी-पानी हो जाएगी। मैं जानता हूँ, ये व्रतचारिणी स्त्रियां पुरुष-स्पर्श की कितनी भूखी और उसके लिए कितनी लालायित एवं उत्सुक रहती हैं।'

शंख विचार में मग्न हो गया, फिर बोला, 'किंतु महिला के वस्त्र सहज कहाँ मिल जाएंगे ?'

श्येन ने मुस्करा कर कहा, 'स्नानार्थियों से भरे स्नानगृह में वस्त्रों का क्या अभाव ? उस भाग में स्नान के लिए यहाँ महिलाएँ भी तो आती हैं। देवराज चौर्य-कला में भी कम निपुण नहीं है। आज तो उनका समारोह भी है। बिना उबटन-मज्जन उनका शृंगार कैसा ? तुम ठहरो, मैं देखता हूँ।'

'वस्त्र उठाते हुए शायद आपको कोई न देखे, पर जिस बेचारी के वस्त्र आप अपहरण करेंगे, स्नान के बाद बाहर निकल कर वह अपने वस्त्र न पाए और शोर मचाए तो ?'

'वह तुम्हारी समस्या नहीं होगी शंख ! उसका समाधान मैं प्रस्तुत करूँगा। अरे मूर्ख, वह भी तो एक नयनोत्सव होगा !–सद्यस्नात, क्वचिद्वसन, बल्कि कहो न, निर्वसन, प्रस्फुटित यौवन..............और अपनी कल्पना में उन्मद वह भी उठ खड़ा हुआ।

शंख ने कहा, 'और संयोग से यदि वह विगत-यौवना, स्थूलकाय कोई वृद्धा हुई ?'

'रहे तुम शंख के शंख ही !–समारोह में, और जबकि वह भी सैनिक-प्रशिक्षण के उद्देश्य से हो, वृद्धाएँ निमंत्रित ही क्यों होंगी ?–लो चलो। हमें स्वयं स्नान से निपट लेना चाहिए। तुम्हारे लिए वस्त्रों की प्राप्ति का सुयोग यहाँ बैठे-बैठे नहीं होगा। उसके लिए सारे सरोवर पर दृष्टि रखनी होगी। यदि विलम्ब हुआ तो स्त्रियाँ समारोह के लिए चल पड़ेंगी, और हम यों ही राह टापते रह जाएँगे।'

इस सार्वजनिक भाग में बीच में एक सामान्य-सी ओट खड़ी करके पुरुषों और स्त्रियों के लिए पृथक्-पृथक् व्यवस्था है। ओट जल में कुछ ही दूर तक है। ओट के आगे जो स्त्रियाँ और पुरुष साथ-साथ सन्तरण का आनन्द लेना चाहते, वे ले सकते थे। पति-पत्नी भी प्रवेश तो अपने-अपने भाग से ही करते। ओट से आगे बढ़ने पर दूर से यह भी पता लगना कठिन होता है कि तैरने वाले पति-पत्नी हैं, या सहज साथी। दोनों ही मित्र पुरुष-विभाग से जल में प्रविष्ठ हुए। कुछ समय तक दोनों ही ओट के भीतर ही तैरते रहे। धीरे-धीरे शंख ओट से आगे बढ़ कर तैरने लगा। उधर कोई महिला नहीं थी। ओट से आगे बढ़ने पर महिलाओं का विभाग भी पूरी तरह दिखाई देता है। उधर अब अधिक महिलाएँ हैं भी नहीं।–शंख ने सोचा कि कहीं इस प्रयत्न में भी निराशा ही न हाथ रहे। इक्की-दुक्की जो महिलाएँ रह गई हैं, वे भी घाट पर चली गई हैं। मन मार कर वह भी ओट के निकट आ पहुँचा।

श्येन घाट के पास ही किनारे पर दृष्टि फैलाए तैर रहा था। सहसा उसने देखा कि एक नवयुवती अपनी सहेली को ऊपर, सम्भवतः चैत्य की ओर प्रेरित करके अकेली ही महिलाओं के एक कक्ष में प्रविष्ठ हुई। दूर से युवती का रंग-रूप स्पष्ट नहीं हुआ, किन्तु वस्त्र तो भद्रजनोचित हैं ही। कद-काठी में भी वह शंख से कोई खास छोटी नहीं है। उसने शंख को संकेत किया। जब वह महिला अपने कक्ष से बाहर निकली, तो केवल एक क्षीण कंचुकि-बन्ध और कटि-वस्त्र ही पहने थी।

ओट में उसके अदृश्य होते ही श्येन घाट पर आ खड़ा हुआ। जब तक शंख बाहर निकल कर अपने कक्ष में गया, तब तक अवसर देख कर श्येन ने युवती के कक्ष से उसके वस्त्र चुपके से निकाल लिए। युवती पानी में पैर फैलाए शायद जल की उष्णता का अनुमान लगा रही थी, । वह निश्चिन्त थी।

अपने कक्ष में प्रवेश कर शंख के सामने वस्त्र बढ़ाते हुए श्येन ने कहा, 'लो, जल्दी से पहन लो। या मैं पहनाऊँ?—देवराज स्त्रियों के श्रृंगार में भी अप्रतिम पटु है। शीघ्रता करो शंख! तुम बड़े भाग्यशाली हो कि ऐसे बहुमूल्य वस्त्र अनायास मिल गए। प्रतीत होता है स्त्रियाँ उधर चैत्य में एकत्र हो गई हैं। इसीलिए इधर अब भीड़ नहीं रह गई है। कोई आकर बाहर दीपक जला जाए उसके पहले तुम निकल भागो तो अच्छा है।'

शंख का हृदय उछल रहा था। बोला, 'साड़ी तो मैं खैर पहन लूंगा, पर कंचुकी को उभार देना कैसे सम्भव होगा?'

श्येन ने इधर-उधर देख कर कहा, 'सुरा-पात्र के लिए ये शराव हैं न! इन्हें पलट कर छाती से सटा लेने के सिवा तो और कोई उपाय नहीं दीखता। कंचुकी मैं कस कर बाँध दूँगा।'

'अभी रहने दो। जाने के पूर्व मैं ही कस लूंगा। तब तक दो-चार चषक भर पी लेना होगा न! साहस भी तो बनाए रखना है। मुझे तो बेचारी उस महिला पर तरस आ रहा है जिसके वस्त्र तुम चुरा लाए हो। स्नान करके निकलेगी तो क्या होगा उसका?'

'उसकी चिन्ता छोड़ो। उसको ढँकने का अभाव नहीं होगा, न वस्त्र का, न शरीर का। लो, अब अधिक विलम्ब न करो। पी लो जितनी चाहो मदिरा। जल से बाहर निकल कर वह स्त्री अपने वस्त्र की खोज करे, उसके पहले तुम्हें यहाँ से निकल पड़ना है। मैं यदि इसी तरह तुमसे बातचीत करता रहा तो किसी को भी सन्देह हो सकता है।'

'तो तुम जाओ। कंचुकी मैं ही बाँध लूंगा।—और हाँ, तुम मिलोगे कहाँ?'

'मैं तो प्रयत्न करूँगा उस समारोह के आसपास ही कहीं मँडराते रहने का। नहीं तो यहीं सरोवर के घाट पर। न हो तो द्वार रक्षक से पूछ लेना। उसे पर्याप्त उत्कोच दिया हुआ है।—और देखो, द्वार से निकलने के पहले एक बार झाँक कर बाहर अवश्य देख लेना, कोई पुरुष भी न हो। किसी महिला को पुरुष कक्ष से निकलते देख कर किसी को भी सन्देह चाहे न हो, कुतूहल तो होता ही है। मुझे तो वह स्त्री अभी पर्याप्त समय यहाँ अटकाए रखेगी। मैं चलता हूँ।' और कक्ष से बाहर आकर वह पुनः घाट से उतरता हुआ जल में प्रविष्ठ हो गया। दो लम्बे हाथ मारे और वह ओट के पार पहुँच गया।

अँधेरा बढ़ने लगा था। इस समय तक घाट के दीप जला दिए जाते हैं। आज शायद चैत्य पर चल रहे समारोह के कारण परिचारकों का इधर ध्यानही न रहा हो। अच्छा ही है। प्रकृति के बड़े-बड़े काम तो अंधकार में ही हुए हैं। श्येन ने और दो हाथ मारे। महिला-विभाग दिखाई दे रहा था। अब अधिक महिलाएँ नहीं हैं। एकाध तो निकल कर घाट पर आ बैठी हैं। शायद वही एक युवती ओट के किनारे घाट से कुछ दूरी पर तैर रही है। पहचान तो वह पास जा कर भी क्या सकेगा, पर कुछ तो करना ही है। वह सपाटे मार कर पुनः ओट के किनारे आ लगा। वह महिला अपनी ही मौज में हाथ-पैर मार कर जल से क्रीड़ा कर रही थी।

मानों अपने आप से ही बुदबुदाकर श्येन के कहा, 'जल कुछ अधिक ही शीतल है।'

महिला ने सुन भर लिया, और उसी तरह तैरती रही। श्येन ने पानी में इस तरह हाथ पैर चलाए मानों नौसिखुआ हो, और जैसे डूबने से बचने का प्रयत्न कर रहा हो।

पानी पर छपाकों का शोर सुन कर महिला ने कहा, 'तैरना ठीक से नहीं जानते तो घाट पर ही रहते। इतना दूर क्यों निकल आए?'

'आप जो यहाँ पर हैं।' और उसने इस तरह डुबकी लगाई मानो डूब ही रहा हो।

महिला शायद घबराई। तैरना वह भी इतना अच्छा कहाँ से जानती है कि किसी डूबते हुए को बचा सके?—उसने यह भी सुन रखा है कि तैरना न जानने वाला बहुधा बचाने वाले के गले झूम कर उसे भी ले डूबता है।—और यह तो पुरुष है, न जाने कैसे रंग-रूप-स्वभाव का।–सहायता के लिए पुकारे तो भी किसे?–और यह तो महिला-विभाग है।–इसी बीच श्येन सहसा उसके पास ही सिर निकाल कर प्रकट हो गया। महिला ने कहा, 'अरे, तुम इधर?'

'पानी के भीतर कैसे पता चलता कि पुरुष-विभाग की सीमा कहाँ समाप्त हो जाती है? पर घबराइए मत। इस अँधेरे में किसी को पता ही कैसे चलेगा कि मैं पुरुष हूँ?–आइए, आगे आइए न। तैरने का आनन्द तो खुले में है।'

'मैं भी इतना अच्छा तैरना कहाँ जानती हूँ कि आगे बढ़ने का साहस करूँ?'

'तो आइए, मैं आपको वे पेंच बताऊँ कि मछली भी मात खाजाए।'

'नहीं नहीं। अब विलम्ब भी हुआ। मैं निकलती हूँ। तुम अपने विभाग में लौट जाओ।'

'देखिए, एक बहुत अच्छा दाँव है, बिना हाथ-पैर हिलाए निश्चल पानी की सतह पर बने रहने का, इस तरह।' और वह महिला के ठीक पार्श्व में अपने शरीर को

कड़ा करके सतह पर निश्चल फैल गया, फिर उसकी ओर मुस्करा कर देखते हुए बोला, 'देखा ?–शव बन कर नहीं पड़ा हूँ। हँस-बोल तो रहा ही हूँ। नाड़ी भी बराबर चल रही है, देखिए।' और उसने सहज ही अपना हाथ महिला के जल फटफटाते हाथ पर रख दिया।

महिला ने कहा, 'इतना अच्छा तैर लेते हैं, तो क्या उस समय बहाना कर रहे थे ?'

'बहाना नहीं, वह भी तैरने का एक प्रकार है। और इस तरह का संतरण तो मैं आपको अभी इसी समय सिखा सकता हूँ। देखिए–' और उसने अपने दोनों हाथों को फैला कर महिला को ऊपर उठा लिया। महिला ने शायद कुछ बाधा प्रस्तुत की, किन्तु अनुभवी श्येन खूब समझता था कि वह प्रथम परिचय की झिझक ही थी। बाहों पर लेटी वह पैर अवश्य पटकती रही, पर सहारे के लिए एक हाथ उसने श्येन की पीठ पर फैला दिया था। अपने मुँह को उसके मुँह के पास लेजाकर श्येन ने कहा, 'आप कितनी सुन्दर हैं ?'

'छोड़ो, मुझे छोड़ दो। कोई देख लेगा।'

'लो, यह छोड़ दिया।' और उसने अपने हाथ ढीले किए, सुन्दरी जल की गहराई में डूबने की हुई तो उसने श्येन की गर्दन पकड़ ली, और कहा, 'तुम बड़े शठ हो। मुझे सम्हलने का अवसर भी नहीं दिया और हाथ नीचे से खिसका लिया ?' वह सम्हल चुकी थी और श्येन के पास ही तैरने लग गई थी। श्येन मुस्करा दिया तो महिला ने हाथ फैला कर पानी की एक बौछार उसके मुँह पर छिटक दी। श्येन मुस्कराता रहा। फिर बोला, 'एक बार और कहने की आज्ञा दीजिए, आप जैसी सुन्दर महिला मैंने अन्यत्र नहीं देखी।'

'पर तुम हो कौन ?'

'आपके सौंदर्य-रस का लोभी एक भ्रमर.....'

'बड़े लम्पट हो।' कह कर उसने एक और बौछार श्येन के मुँह पर मारी और वह ओट के भीतर प्रवेश करके घाट की ओर बढ़ गई। श्येन ने रमणी के मुँह पर उल्लास से भरी खीझ अनुभव कर ली थी। मन ही मन मुस्करा कर धीरे-धीरे वह भी घाट की ओर चला आया।

उधर चैत्य पर आयोजन प्रारम्भ हो गया होगा। यहाँ से कुछ दिखाई नहीं देता, पर कोलाहल सुनाई दे रहा है। प्रतीत होता है, उधर के भीड़-भड़क्के के कारण परिचारक इधर दीपक जलाना एक बारगी ही भूल गए हैं। शीर्ष पर अर्द्धचन्द्र की पांडुर आभा अभी चाँदनी में नहाई नहीं है, पर निशा के सिर का जूड़ा खुल गया है और जूड़े के फूल भी बिखरने लग गए हैं। हवा में शीत उतनी नहीं, जितनी

मादकता है ।—उधर शंख अवश्य ही अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा होगा । श्येन की भी यह रात्रि व्यर्थ न होने दी जाएगी । बस, कहीं से कोई सुधि करके इस बीच इधर दीप जलाने न आ टपके ।—ऊपर चाँद का यह दीपक ही बहुत है न ! यों, अब इधर निर्जन ही तो हो गया है !

'एऽऽ - उधर क्या ताक रहे हो ?–सुनते हो ?–मेरे वस्त्र कहाँ हैं ?'

मानों अपने ही में लीन हो, श्येन ने बिना दृष्टि घुमाए कहा, 'मुझसे कह रही हैं ?'

'तो क्या चाँद से कह रही हूँ ?—तुम्हीं तो बैठे हो यहाँ ।'

'मैं ही नहीं, चाँद भी है सुन्दरी ।' और उसने बैठे-बैठे ही दृष्टि मोड़ी, 'और तुम्हारी मुखकांति से वह भी लज्जित हो रहा है ।'

'यह चाटुकारिता बन्द करो । मैं जानती हूँ, तुम यहाँ क्यों बैठे हो ?—बताओ, मेरे वस्त्र कहाँ छिपाए हैं ?'

श्येन उठ खड़ा हुआ तथा सोपान चढ़ कर युवती के सम्मुख आकर बोला 'आप जानती हैं यहाँ क्यों बैठा हूँ ?–नहीं जानतीं ।—जाने को जिसके घर ही न हो, वह बेचारा जहाँ मिल जाए वहीं क्यों न रात बिता ले ?–आपको यदि आपत्ति हो तो मैं चला जाऊँगा यहाँ से ।'

'चाहो तो यमराज के यहाँ जाओ, मेरी बला से । चिकनी-चुपड़ी बातों में आने वाली मैं नहीं हूँ । बताओ, मेरे वस्त्र कहाँ हैं ?–मुझे ठंड लग रही है ।'

घाट पर ही लटकता हुआ अपना अंगवस्त्र पकड़ कर महिला की ओर बढ़ाते हुए वह बोला, 'लीजिए, मेरे अंग-वस्त्र से शरीर पोंछ कर अपने आपको ढँक लीजिए, अपने वस्त्रों को खोजने के बहाने यदि आप मुझे अपने कक्ष में बुलाना चाहती हों तो क्षमा कीजिए मैं वह दुस्साहस नहीं कर सकूँगा । आप चाहें तो मेरे कक्ष में अपने वस्त्र पहन कर आ सकती हैं । मेरा कक्ष पुरुष-विभाग में वह है ।' और वह अपने कक्ष की ओर बढ़ गया, द्वार खोले, और अदृश्य हो गया । रोष में भरी हुई युवती उसकी ओर देखती रह गई ।

श्येन ने कक्ष में जाकर दीपक जला लिया । अलगनी पर लटकते हुए अपने और शंख के कपड़ों की ओर एक मुस्कराहट भरी दृष्टि डाली तथा चौकी पर रखे मधु-घट की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखा ! घट अभी भी बहुत कुछ भरा हुआ था, किन्तु शराव नहीं रह गए थे । कोई बात नहीं, कलश से पी कर भी क्या कभी उसकी प्यास बुझी है ?

द्वार की ओट से स्वर आए, 'तुम बड़े प्रपंची हो ।—मेरे वस्त्र चुरा लिए और अब·······'

इसी स्वर की तो प्रतीक्षा थी उसे । उसने कहा, 'चुरा लिए ?—देख लीजिए,

यह सारा कक्ष आपके सामने है। मैं तब से कहीं और गया भी नहीं हूँ।—दीप की वर्ती कुछ और उकसा दूँ ?' और आगे बढ़ कर उसने दीप की लौ बढ़ा दी। युवती की दुग्धाभ नग्न देह-कांति सारे कक्ष में शतधा बिखर गई। संकोच से युवती और भी काँप उठी। क्षीण-सा कंचुकी-बन्ध और उतना ही क्षीण कटिवस्त्र, अब तो तरल जल का आवरण भी नहीं रह गया था। शीघ्र ही उसने अपने मृणाल बाहुओं से उन्नत उरोजों को छिपा लेने की व्यर्थ चेष्टा की, साथ ही उसकी पुष्ट कदली-जंघाएँ भी सिमिट कर परस्पर गुँथ गईं। किन्तु इस संकोच-बंध से छिपने के स्थान पर शरीर के समस्त परवलय बन्धन से उन्मुक्ति की सिरतोड़ चेष्टा में और अधिक छलक उठे।

श्येन ने कहा, 'आप शीत से ठिठुर रही हैं। लीजिए, कुछ यह पेय पी लीजिए इससे आपको शक्ति और ऊष्मा दोनों प्राप्त होंगी। क्या करूँ, कोई शराव नहीं है। आप घट से ही पी लीजिए।' और उसने घट उठाने के लिए हाथ बढ़ाया। युवती श्येन की हठवादिता की ओर ही देख रही थी। सहसा भय से उसकी दृष्टि द्वार की ओर चली गई। कहीं कोई देख तो नहीं रहा है ?

श्येन ने लक्ष्य कर लिया, बोला, 'ओह, भूल ही गया था।' आगे बढ़ कर उसने द्वार बन्द कर दिया और अर्गला भी चढ़ा दी। युवती कहती रही, 'यह क्या कर रहे हैं आप ?'

'नहीं, कोई देख नहीं रहा है। तब भी सावधान रहना अच्छा है।'

'आप बड़े दुर्वृत्त हैं। बाहर जाइए, और मेरे वस्त्र ढूंढ कर लाइए।'

'कहाँ हैं आपके वस्त्र ?—बता दीजिए, ले आता हूँ।—आपके आदेश को अमान्य नहीं करूँगा।'

'मुझसे क्या पूछते हैं ?—छिपाए आपने हैं तो मैं कैसे बता सकती हूँ ?'

'इस कक्ष को छोड़ कर मैं और छिपा कर भी कहाँ रख सकता हूँ ? बल्कि देखिए, ये एक जोड़ी वस्त्र यहाँ अतिरिक्त हैं। न हो, इन्हें ही काम में ले लें।'

'ये पुरुषों के वस्त्र ?'

'शरीर को तो ढँक ही देंगे। रोमांचक शरीर-स्पर्श पाकर ये भी धन्य हो उठेंगे।'

'किसके हैं ये ?—क्या यह कहना चाहते हैं कि पुरुषों के दो-दो जोड़ी वस्त्र लेकर आप यहाँ स्नान करने आए हैं ?'

'आश्चर्य की तो कोई बात नहीं है, यदि कोई एकदम बिना वस्त्र लिए ही स्नान के लिए आ सकता हो ?'

क्रोध से जमीन पर पैर पटक कर युवती ने कहा, 'षंड, तुम नहीं जानते कि किस के सामने यह जल्प कर रहे हो। कौन हो तुम ?'

'कहा न ! आपका विनम्र सेवक ।—षंड ही हूँ तो भय क्यों करती हैं ?—लीजिए, यह पेय पी लीजिए । कँपकँपी ही नहीं, भय भी दूर हो जाएगा । और आपके अधरों से छुए रस को पीकर मैं भी अपने प्यासे अधर तृप्त कर लूँगा ।' और श्येन ने घट उठाकर बलात् युवती के मुँह से लगा दिया । कुछ रस ओठों से छलकने लगा तो युवती ने बाहु-बन्धन खोल कर घट को ठेल दिया । श्येय ने मुस्करा कर घट अपने मुँह से लगा लिया । एक बड़ा-सा घूट उदरस्थ कर उसने घट को यथास्थान रख दिया और कहा, 'प्यास तो अब जग रही है सुन्दरी ! तुम जैसी अप्सरा को सामने देख कर किस पुरुष की प्यास नहीं भड़केगी, यदि सचमुच ही वह षंड न हो ?—'

'मैं सरोवर की कोई अनाथ अप्सरा नहीं हूँ । जानते हो, मैं यहाँ के श्रेष्ठि-प्रवर कौटिक की पुत्रवधू रम्भा हूँ । यहाँ मेरी ओर आँख उठा कर भी देखने का कोई साहस नहीं कर सकता ।'

'रम्भा ।—ओह, इन्द्र-सभा की प्रमुख अप्सरा—'

'कहा न मैं ने ?—मैं अप्सरा नहीं हूँ ।'

'अवश्य नहीं हो । उससे तो इन्द्र कभी का तृप्त हो चुका है । उसे अब तुम्हारे जैसा नया सौंदर्य चाहिए रम्भा !—तुम जैसी·····' और वह उसकी ओर बढ़ा ।

एक कदम पीछे हटकर रम्भा ने कहा, 'अपने श्वसुर से कह कर मैं तुम्हारी खाल खिंचवा लूँगी । जरा बताओ तो, हो कौन तुम, जो इतना साहस कर रहे हो ?'

'समझ लो सुन्दरी, मैं इन्द्र ही हूँ यदि तुम्हारे जैसी सौंदर्य राशि के उपभोग का पात्र वही हो । और अपने श्वसुर से कह कर क्यों, स्वयं तुम मेरी खाल खींचो न ! वह उतनी कठिन भी नहीं है । मैं वादा करता हूँ सुन्दरी, तुम्हें वह सुख मिलेगा, जिसे पाने के लिए इन्द्र की अप्सराएँ तरसती रहती हैं ।' और उसने लपक कर दीप की लौ बुझा दी । नई न हो, किन्तु युवती संकोचशीला और भीता है, मुग्धा है, स्वयं नहीं समझती कि क्या चाहती है ! मुग्धाओं को अँधेरा ही मार्ग दिखा सकता है ! श्येन कई घाटों का पानी जो पी चुका है ! अँधेरे की अनिश्चितता ही नहीं, मदिरा की धुन्ध भी युवती पर छा गई थी, षंड उसने निष्प्रयोजन नहीं कहा था । श्येन की बलिष्ठ बाहुओं में उसने सुख से हार ही नहीं मान ली, एक अतिरिक्त सुरक्षा का भी बोध किया ।

●●●

उधर प्रशस्त चैत्य पर प्रस्तावित महिला-सभा का आयोजन प्रगति पर था । चारों ओर रंगों की भीड़ पर प्रकाश फिसल फिसल कर बिखरता जा रहा था, नगर, उपान्त और शायद आसपास के ग्रामों से भी महिलाएँ आ जुटी थीं । यौवन का उत्साह तो था ही, किन्तु प्रौढ़ाएँ भी पीछे रहना नहीं चाहती थीं । किशोरियों के पीछे रहने का तो प्रश्न ही नहीं था । जिन्हें निमंत्रण दिया गया था, वे तो सब आई ही

थीं, जिन्होने सुना वे भी बिना निमन्त्रण चली आईं ! जिनका परस्पर परिचय था, प्रयत्न करके वे अपना अपना यूथ वना कर बैठी थीं, किन्तु बराबर आती जा रही महिलाओं में कब कौन सी महिला स्थान खोजते-खोजते उनमें आ बैठी और उनका यूथ समाप्त हो गया, किसी को पता ही नहीं चला। सम्मेलन का उद्देश्य चाहे जो हो, घर गृहस्थी और बच्चों कच्चों, की झंझट में कब किसे इस तरह बाहर निकालने का अवसर मिलता है ? यों, वर्ष में पारस्परिक मिलन के कई सामाजिक, धार्मिक अवसर आते रहते हैं, पर उनमें परिवारों तक ही मिलने की सीमा रहती है। परिचय उन सम्मेलनों में घनिष्ठ हो सकता है, व्यापक नहीं। आज का यह सम्मेलन अलग ही प्रकार का है। मिलने का दूर, जिन्हें परस्पर कभी देखने का अवसर भी नहीं मिला, वे ही महिलाएँ आज सजसँवर कर बिलकुल बगल में बैठी हैं। अवसर मिलते ही बतिया भी लेती हैं। बल्कि सामने वक्ता के आसान से क्या कहा जा रहा है, इसे सुनने की अपेक्षा बहुतेरी महिलाओं के कान पड़ोस की महिलाओं के बीच चल रही फुसफुसाहट की ओर अधिक लगे हुए हैं। फुसफुसाहट न भी सुनाई देती हो तब भी पड़ोस की महिला किस वयस की है, वह कैसे वस्त्र और आभूषण पहने हुए है, उसके शरीर का रंग, नाक-नख्श, उनकी चंचल आँखों की दृष्टि का लक्ष्य, आदि कई महत्वपूर्ण बातें हैं, जिनमें उनका मन उलझा हुआ है। पूर्व परिचय के आधार पर या साहस के साथ परिचय के अभाव में भी, जिन्होंने बातचीत किसी तरह प्रारम्भ कर दी है, वे किसी भी विषय पर सम्भाषण कर रही हैं, जिनमें स्वर की अपेक्षा अधरों की भंगिमा, भ्रुवों का संचालन और नयनों के विस्तार में पुतलियों की विछलन ही अधिक मुखर है। स्त्रियाँ ही तो हैं, यदि उनका ही मन किसी एक विषय पर केन्द्रित रह जाए तो चांचल्य कहाँ आश्रय लेगा ? नारी ही तब किसकी दृष्टि को बारबार अपनी ओर आकर्षित कर सकेगी ?

सामने मंच पर जो महिलाएँ बैठी हुई हैं, उनमें सबकी पहचानी हुई दो महिलाएँ तो हैं ही, एक महादेवी उर्वशी मृगम्मदा और दूसरी नीलेश्वरी सेलकेत। सेलकेत ही बोलती जा रही है न जाने कब से। शायद मृगम्मदा बोल चुकी हो। या फिर बोलेगी। एकाध कोई और भी बोले।

सेलकेत वह रही थी, 'नहीं। हम पुरुषों पर ही निर्भर रहना नहीं चाहतीं। अपनी और अपने घर की रक्षा के लिए ही नहीं, अपितु हमारे अपने समाज की, अपने देश की, अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए भी हमें सदैव तत्पर रहना होगा। अपना कर्तव्य समझ कर पुरुष-वृन्द जो करते हैं, उसी तरह अपना कर्तव्य समझ कर हम भी क्यों न कर्मक्षेत्र में अपने तौर पर प्रवृत्त हों ? यह समाज, यह देश, यह संस्कृति क्या उतनी ही हमारी नहीं है, जितनी पुरुषों की ? उसके लिए केवल वे ही

क्यों बलिदान के लिए प्रस्तुत हों ? इस पार्थक्य के कारण ही तो हम महिलाओं में हीनता का बोध पनपने लग जाता है, चाहे इसीलिए पुरुष अपने आपको श्रेष्ठ न भी समझें । मैं अपने देश की बात जानती हूँ, जहाँ राजकुल की महिलाओं तक का सम्मान पुरुषों से नीचे है । सम्राट् फराउन के मर जाने पर उसकी साम्राज्ञी को भी अन्य भोग-विलास की सामग्री के साथ मृतदेह के पार्श्व में समाधिस्थ होना पड़ता है। साम्राज्ञी के मर जाने पर किसी सम्राट् को उसके साथ समाधिस्थ नहीं होना पड़ता। मैं किसी भी एक के मरने पर दूसरे के भी मर जाने को गर्हित समझती हूँ । आप विचार करें, हीनता की भावना के लिए कोई पुरुष नहीं, स्वयं नारी उत्तरदाई है। घर की चार दीवारों की सुरक्षा में सुख-सुविधाओं के लिए जब से उसने बाह्य संसार के गौरवपूर्ण दायित्व को वहन करने से किनारा काटना प्रारम्भ किया, तभी से न केवल उसकी प्रतिष्ठा गिरी है, बल्कि सारे समाज की ही शक्ति आधी रह गई है। हमें इस अधोगति को रोकना है, कृत-संकल्प होकर ।'

उपस्थित महिलाओं ने तालियों की गड़गड़ाहट में वक्ता के कथन को सम्मान दिया । कई महिलाएँ चारों ओर से चिल्ला उठीं, 'हमें क्या करना चाहिए ? हम सब सुख-सुविधाओं का त्याग करने को प्रस्तुत है, सब कुछ का, अपने जीवन का भी ।'

पीछे शायद कई महिलाओं को पूरी तरह सुनाई नहीं दे रहा था, वे खिसक-खिसक कर आगे बढ़ने लगीं । कुछ पीछे से उठकर आगे जहाँ भी कुछ रिक्त स्थान दिखाई दिया वहाँ आकर जमने लगीं । बैठी हुई महिलाओं ने स्वयं सिकुड़ सिकुड़ा कर सहर्ष उन्हें स्थान दिया । मातृदेवी की पुजारिन कुमुन्निशा यों तो भीड़ बचाकर किनारे ही बैठी थी—उसे व्यवस्था के लिए यदा-कदा उठ कर इधर उधर टोह भी लेनी पड़ती है न !–किन्तु इस समय वह चारों ओर महिलाओं से घिर गई थी । देख रही थी कि सुयोग मिल जाए तो उठकर एक ओर किनारे पर हो जाए। किन्तु एका-एक उठ खड़े होने से बाधा पहुँचेगी और स्त्रियों का ध्यान भी व्यर्थ ही बँट सकता है । इधर उसे स्वयं ध्यान नहीं, न जाने कब से जैसे एक तीखी गन्ध उसके घ्राण को स्पर्श कर रही है । यों ही सहेलियों में घ्राण की तीव्र संवेदना पर उसका कम परि-हास नहीं उड़ाया जाता, पर अमान्य करे तो कैसे ? यह तो जैसे नाक में भिदती ही चली जा रही है, यहाँ तक कि उसके मारे वक्ता का भाषण भी वह ठीक तरह नहीं सुन पा रही। कहीं बगल में बैठी यह महिला तो नहीं इस गन्ध का उद्गम है ?—अरे, उसने तो ध्यान ही नहीं दिया। यह तो घूंघट में छिपाए हुए है अपना मुँह । उपान्त से आई जो कई कर्मकार महिलाए हैं, उन्हीं में से कोई होगी। सुरुचि, संस्कृति, शिक्षा आदि न हो, केवल इसीलिएँ तो किसी

को उसके अधिकारों से वञ्चित नहीं किया जा सकता। कठोर श्रम के वातावरण में रूप और रुचि का ध्यान ही कैसे रखा जा सकता है? सहज ही अपने ग्राम्यत्व को छिपाने का अवगुंठन अच्छा उपाय है। और यदि दोष है तो वह है हमारी दृष्टि का, कि उनके पौरुष भरे साहसपूर्ण कार्यों के प्रति हमारे मन में विरक्ति हो।

किन्तु यह महिला इतनी पास क्यों सटती जा रही है? दूसरी ओर से दवाव आ रहा हो ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। गन्ध तीव्रतर होती जा रही है। अवश्य यह उसके शरीर—नहीं-नहीं शरीर से नहीं, मुँह से निर्गत हो रही है। साड़ी तो पर्याप्त मूल्य-वान है, किसी सामान्य परिवार की वधू नहीं हो सकती। और महिलाओं के समाज में ही इतना लज्जा-संकोच! सारे शरीर को समेट कर छुईमुई सी बैठी है। पूछे? पर वक्तृता में बाधा पड़ेगी। स्वयं वह न सुन रही हो, पर अन्य सब महिलाएँ तो सुन रही हैं। और तालियों की तुमुल गड़गड़ाहट प्रमाण है कि भाषण से बड़ी प्रेरणा ग्रहण की जा रही है। आयोजन का यही तो उद्देश्य था।

लगता है मदिरा की गन्ध है, इसीलिए तो प्रयत्न करके भी वह भुला नहीं पा रही है। पिए हुए है क्या?––नहीं, कुमुद अब और यदि यहाँ बैठी रही तो वमन हो जाएगी। उठने के लिए उसने कुछ उपक्रम किया, कि वह चौंक उठी। नहीं नहीं, चौंकने की कोई बात नहीं, शायद अकस्मात् ही उस महिला के हाथ का दवाव कुमुद की जंघा पर पड़ गया था। इसमें किसी विशेष प्रयोजन को सूँघना मूर्खता होगी। वह उठ खड़ी हुई। भीड़ के किनारे आकर उसने एक बार और सब ओर का निरीक्षण किया, और फिर वहाँ एक ओर बैठकर आगे का भाषण सुनने लगी।

सेलकेत कह रही थी, 'हम लोगों का यह सौभाग्य ही है कि हमें अनायास महादेवी उर्वशी जैसी स्वाधीनचेता, प्रतिभाशालिनी वीर महिला का आशीर्वाद ही नहीं, सक्रिय सहयोग भी सुलभ हो रहा है। इन्हें अपने देश में ही युद्ध-संचालन तथा प्रशासन की शिक्षा मिली है, और वहीं पर इन्हें अपने शौर्य को प्रमाणित करने के भी पर्याप्त अवसर मिले हैं। यदि इनका देश प्रबल बाढ़ की भीषण प्राकृतिक विपत्ति में न पड़ गया होता तो बहुत सम्भव है कि इस समय ये अपने देश का राज्यत्व सम्हालतीं···'

कुमुन्निशा को सहसा लगा, वह गंध तो यहाँ भी उसके पीछे लगी हुई है। क्या वह स्वयं ही है उस गन्ध का स्रोत?—वह, और पिए? उसने तो कभी मदिरा का स्पर्श भी नहीं किया। और यह तो बड़ी निम्न-कोटि की मदिरा प्रतीत होती है।—पास में···यही तो है वह महिला!—वही बहुमूल्य साड़ी, वही ढंग, वहाँ से उठ कर क्यों चली आई यहाँ? उत्सुकता से कुमुद रह-रह कर उस ओर देखने लगी।—साड़ी बहुमूल्य तो है, पर पहन ऐसे रखी है, जैसे किसी तरह शरीर से लपेट ली है।—हाय! उरोज कितने प्रशस्त और उन्नत हैं? बच्चों को स्तन्य देने वाली श्रमिक महिलाओं के पयोधर अवश्य ऐसे भरे हो सकते हैं। मुँह को अवगुंठन में छिपाए

हुए है, सो तो ठीक, पर हाथ-पैरों को भी किस सतर्कता से साड़ी की पटलों में समेटे हुए हैं ? यदि एकाध बच्चे की माँ बन गई हो तब तो इतना संकोच स्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। अरे, उस झीने अवगुंठन में से आँखें कुमुद की ओर ही तो देख रही हैं।—वे किसी नारी की आँखें तो नहीं लगतीं। नवविवाहिता होने की तो सम्भावना ही नहीं है।—छद्मवेश में कोई पुरुष तो नहीं है ? कुमुन्निशा का हृदय आशंका से भर उठा। शत्रुदल का कोई गुप्तचर ही हो !—घबराने से काम नहीं चलेगा। कुछ उपाय करे, उसके पूर्व निस्संशय हो जाना चाहिए।

कुमुन्निशा ने अपनी दाहिनी ओर बैठी महिला के हाथ पर हाथ रख कर धीरे से फुसफुसाया, 'कितना अच्छा बोल रही हैं ?—और अपने देश की हैं भी नहीं !'

उत्तर में मुस्करा कर उस रमणी ने पूछा, 'आप जानती हैं कहाँ की हैं ?'

'बहुत दूर सूर्यास्त के देश में एक सिन्धुनद से भी बड़ा, प्रशस्त नद है नील नद। उसी प्रदेश की हैं।' फिर उसने बाँईं ओर बैठी उसी महिला को सम्बोधित कर पूछा, 'तुम तो जानती होगी न उस देश को बहन ?'—महिला ने घूंघट ही में स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। स्वर का आश्रय उसने नहीं लिया, नहीं तो संशय मिट जाता।

बल्कि संशय बढ़ा ही। यदि उसे सचमुच नील देश की अभिज्ञता है, तो इतनी अशिक्षित नहीं हो सकती। या फिर पकड़ी जाने के भय से बोलने से बचने के लिए ही सिर हिला दिया हो ! घूंघट की ओट से देख भी तो वह कुमुद की ओर ही रही है। वे ही छोटी-छोटी कंजी आँखें। यदि तत्काल पकड़ कर उसका भेद खोल दे तो ?—खलभली ही नहीं मच जाएगी, महिलाओं में आतंक भी फैल जाएगा। समारोह में विघ्न तो पड़ेगा ही, सम्भव है वह ठप्प ही हो जाए। बड़ी कठिनाई से तो आज स्त्रियाँ एकत्र हुई हैं, उत्साह भी उनमें काफी जागृत हुआ है।—क्या इसका उद्देश्य सभा को भंग करना ही है ?—नहीं नहीं। ऐसा होता तो वह उसके पीछे ही क्यों पड़ती ?—जहाँ कुमुद पहले बैठी थी, वहाँ से तो सभा की गतिविधि अच्छी तरह देखी-सुनी जा रही थी। कहीं उसका लक्ष्य कुमुद स्वयं ही तो नहीं है ?—स्पष्ट ही तो देख रही है वह, घूंघट में वे आँखें रह-रह कर कुमुद पर आकर अटक जाती हैं। रहा हो और कोई बड़ा लक्ष्य, किन्तु तत्काल अभी तो कुमुद स्वयं ही उसका लक्ष्य प्रतीत होती है।—उस समय मेषपाल ने कहा था कि उसने सरोवर पर एक वैसे ही व्यक्ति को देखा था, जिस पर उसे अपने मेष चुराने का सन्देह है। पर उसके साथ तो किसी और एक व्यक्ति के होने की बात बताई थी उसने।—नहीं, उसको ऐसी बहुमूल्य साड़ी पहनने को कहाँ मिल सकती है ? अवश्य यह कोई दूसरा ही पुरुष है। और यदि उसका लक्ष्य कुमुन्निशा ही हो तो कुमुन्निशा स्वयं ही उससे निपटेगी। स्त्रियों की आत्मनिर्भरता के पाठ की पहली परीक्षा वही क्यों न दे ?

कुमुन्निशा ने स्वयं पहल की। मानों दबाव बाईं ओर से आया और वह बचते-बचते भी संतुलन खोकर उस पर लुढ़क गई। यही नहीं, सम्हलने की चेष्टा में कुमुन्निशा का हाथ भी उस महिला के वक्ष से फिसल कर उसकी जंघाओं तक पहुँच गया। यदि वक्ष में तनिक भी मांसलता होती तो कुमुन्निशा का हाथ फिसलता नहीं। और अपने आपको इस आकस्मिक आक्रमण से बचाने की चेष्टा में क्षणांश के लिए शंख का हाथ भी साड़ी की लपेट से उन्मुक्त हो गया था। कुमुन्निशा को अब कुछ भी संदेह नहीं रहा। अब उसे केवल यही देखना है कि वह कर क्या सकती है!

—सेलकेत कह रही थी, 'इस चैत्य के उत्तर में जो उद्यान है, वहीं हमने प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। प्रशिक्षण के दो सत्र होंगे: प्रथम सत्र सूर्योदय के पहले दो घटिकाओं का, और दूसरा भी इतनी ही अवधि का, सूर्यास्त के पहले। जिनको जिस सत्र में सुविधा हो। जो सघन शिक्षण के इच्छुक हों, उनके लिए दोनों सत्रों में विशेष कक्ष रहेंगे। आप में से कई बहनें यहाँ स्नान के लिए आती ही हैं। प्रशिक्षण के बाद आप स्नान का लाभ उठाकर तर-ताजा अपने आवास लौटें.......'

प्रस्ताव की अभ्यर्थना में कुमुन्निशा ने बीच ही में ताली बजाई तो अन्य महिलाओं ने भी सहयोग दिया। कुमुन्निशा समझ गई, वह महिला साड़ी की लपेट से अपना हाथ बाहर नहीं निकाल पाएगी। मुस्कराते हुए कुहनी से टोहका मार कर उसके कान में वह फुसफुसाई, 'ऐऽ तुम्हें उत्साह नहीं है?'

अवगुंठन में ही सिर हिला, 'है, है!'—और कुमुद को मानों जैसे बिजली छू गई। तालियाँ बजाने के लिए उसके हाथ ऊपर उठे हुए ही थे। उसी संधि में न जाने कब उस महिला का हाथ साड़ी के आवेष्टन में ही कुमुद के उन्नत वक्ष पर जा पड़ा, बल्कि वक्ष के उन्नत उभार को उसने अपनी संपुटि में भर लेने का प्रयत्न भी किया।—इतनी दूरी के लिए चाहे न हो, किंतु कुछ दूरी के लिए तो कुमुन्निशा प्रस्तुत भी थी। हाथ तो अवश्य हट गया था, किंतु घूँघट में दृष्टि उसी पर अटकी हुई थी। यही तो सुविधा है घूँघट में। निश्शंक, निर्बाध किसीको भी देखते रहा जा सकता है। कुमुद ने साहस बटोरा, एक कृत्रिम मुस्कराहट बिखेर कर अपने भ्रुव नचाए, और उसके कान में फुसफुसाया, 'प्रतीक्षा करूँगी बाईं ओर मंच के तीसरे कक्ष में।'

कुछ क्षण और कुमुन्निशा ने भाषण सुनने के अभिनय में बिताए। किसकी और क्या वक्तृता चल रही थी, अब इसका उसे कुछ भी ध्यान नहीं था। वह उठी, पहले भीड़ में दो-एक स्थानों में घूम-फिर कर व्यवस्था देखने का अभिनय किया। तीसरे कक्ष के पास एक दीपक था, उसे वहाँ से हटवा कर उस स्थान पर अपेक्षाकृत अंधकार करवा दिया। कभी इससे बात की, कभी उससे की। कुमुन्निशा जानती थी कि वह महिला उसी की ओर देख रही होगी। व्यवस्था का अभिनय उस छद्म-वेशिनी के संदेह को ही नष्ट नहीं

करेगा, बल्कि उसके मन में प्रतीति भी पैदा करेगा कि कुमुन्निशा अपनी अनुपस्थिति को किसी पर प्रकट करना नहीं चाहती।—और देखते ही देखते, एक बार और उस छद्मवेशिनी की दृष्टि आर्कर्षित कर वह निर्दिष्ट कक्ष में प्रविष्ठ हो गई। कपाट भिड़ाने के पहले एक बार और झाँक कर उसने देख लिया कि घूँघट की दिशा इसी ओर है, तो उसने अधरों पर कुटिल मुस्कराहट का पुट दिया, हाथ से संकेत जैसा कुछ किया, और द्वार बन्द कर दिया।

शंख का कलेजा मुँह को आ लगा था। गए कुछ दिनों के चटपटे मांसाहार ने वासनाओं को बुरी तरह झिंझोड़ रखा था, और आज उस देशी तीखी मदिरा ने मुँह-जोर घोड़े को ऐंड़ लगा दी थी। आराध्या भी प्रसीद गई है।––आकाश-कुसुम हाथ की पहुँच के भीतर है, किंतु सचमुच वह साहस करे? वह तो देवराज नहीं है। शंख के साहस और महत्वाकांक्षा की सीमा है। मंच की बाईं ओर तीसरा कक्ष·········कहीं कपट हुआ तो? भय उपस्थित हो तो नशा ही हिरन हो जाता है, और ऋजस्विन, कायर चाहे न हो, वीर भी तो नहीं है। देवराज साथ होते तो बात ही दूसरी थी। उनके साथ तो मृत्यु के मुख में भी अकुतोभय-भाव से जाया जा सकता है। किंतु वे तो इस समय अवश्य अपनी प्रमदा के साथ रमण कर रहे होंगे।–रमण?—उसका निमंत्रण उसे भी तो मिल चुका है। उधर तीसरे कक्ष में उसकी भी प्रतीक्षा की जा रही है।—अरे, उस आराध्या ने फिर झाँका! संकेत भी है, बड़ा आकुल संकेत!––कपट तो हो भी क्या सकता है? वुभुक्षित व्रतचारिणी अकेली स्त्री, करना भी चाहे तो क्या कपट कर लेगी?·········और कपट तो, —यह सारा व्यापार और है ही क्या?—लो इधर वक्ता भी बदल गया है। उसे क्या? वह कोई भाषण सुनने तो आया नहीं! साहस करके वह उठ खड़ा हुआ। कपाट-संधि से कुमुन्निशा ने देखा कि महिला उठ खड़ी हुई है और अन्य महिलाओं की दृष्टि बचाकर उसी दिशा में बढ़ती चली आ रही है तो उसने मुस्कराकर द्वार बन्द कर लिया और साँस रोक कर प्रतीक्षा करने लगी।

अधीर कुमुन्निशा विलंब से खिन्न होकर जैसे ही पुनः द्वार खोलकर बाहर देखना चाहती थी कि एक हलके से दवाव से द्वार खुल गया। बाहर की झीनी सी ज्योति कक्ष में घुसी, किंतु कुमुन्निशा ने कहा, 'दरवाजा बन्द करलो तो मैं भीतर दीपक जला लूँ।'

शंख ने अपने पीछे द्वार बन्द करके अपना घूँघट उलट दिया। अँधेरे में उसे सहसा पता न चला कि उसकी प्रेयसी किस ओर है। स्वर को लक्ष्य कर आगे बढ़ते हुए वह बोला, 'यदि दीपक जला लें तो नयन भर आपकी छबि का दर्शन कर लूँ।'

'अवश्य अवश्य!' स्वर सामने से ही आया है, किंतु पीछे जैसे किसी और ने द्वार पर अर्गला चढ़ाई है। तो क्या कक्ष में और भी कोई है?—शंख वहीं साँस रोके रुक गया।

'मैं यहाँ हूँ! निस्संकोच चले आओ!—मैं पहली ही दृष्टि में तुम्हें पहचान गई थी!'

'पहचान गई थीं ? पर·······आज से ही क्यों, मैंने तो जब से पहली बार आपको देखा था—आप दीपक जला रही थीं न ?'

'मुझे लज्जा लग रही है ।—तुम्हें भय लग रहा हो तो जला दूँ ?—मैं इधर हूँ ! स्वर नहीं पहचानते ?'

'पहचानता हूँ प्रिये ! कितना परवश कर रखा है आपके सौंदर्य ने ?—कहाँ हैं आप ?' बहुत सम्हल-सम्हल कर और गिन-गिन कर कदम रखते हुए वह आगे बढ़ा । उसका मन हिंडोले में झूम रहा था, एक पैंग लोभ में आगे, एक पैंग आशंका में पीछे । साहस कभी उसके स्वभाव का वृहत्तर अंश नहीं था ।

'अच्छा, तुम चाहते हो तो दीपक जला ही दूँ ।' स्वर इस बार पीछे द्वार की ओर से आया, पर दीपक सामने ही प्रज्वलित हुआ । वहाँ·······शंख यह क्या देख रहा है ? भ्रम तो नहीं हुआ है उसे ? सामने वह तो पुरुष है, कुछ-कुछ पहचाना हुआ-सा भी ! नशे की घुंध, संदर्भ की अप्रासंगिकता, तथा चित्त की अन्यमनस्कता, उसे ठीक तरह समझने भी नहीं दे रही थी । पर वह बोला, 'तुम ?'

'हाँ । तुम्हारी तरह मैं भी पुरुष ही हूँ', उसने कहा, 'अंतर केवल यही है कि मेरा वेश भी पुरुष का ही है ।—आश्चर्य क्यों कर रहे हो ?—स्वर भी मेरा अपना ही है ।'

'किंतु वह सुन्दरी····अप्स····'

'वह अप्सरा कुमुन्निशा, मैं इधर हूँ, तुम्हारे पीछे ।'

शंख ने पीछे मुड़ कर देखा, हाथ में दीपक लिए कुमुन्निशा मुस्करा रही है । दीपक उसने एक ताख में रख दिया और शंख की ओर बढ़ कर बोली, 'पर यह तो बताओ, तुम हो कौन ?'

'तुम्हारे रूप-रस का लोभी भ्रमर !'

'और मेरी देखरेख में पल रहे मेरे गल्ल की मेषों के तस्कर !—सामने खड़ा यह मेषपाल प्रमाण है । गए चार दिनों से तुम्हारी खोज में व्यस्त ! सरोवर में नहाते हुए तुमको इसने आज देख लिया था, और तभी से अवसर की खोज में था । पुरुष के वेश में ही तुम अपने स्नान-कक्ष में प्रविष्ठ हुए थे, किंतु उस कक्ष से निकला था एक दीर्घाकृति अन्य पुरुष, और फिर निकली एक महिला ! इसलिए आज वहाँ प्रकाश की व्यवस्था भी नहीं की गई थी ।—बेचारा मेषपाल, भेड़ों को पहचानते-पहचानते स्त्री-वेश में तुम्हारी पहचान ही भूल गया था ·······' और वह सहज ही मुस्करा दी ।

'ओह, तो यह मुझे फँसाने का षड़यंत्र था ?' और शंख ने लपक कर साड़ी एक ओर फेंक दी, तथा कटि-वस्त्र में छिपाए हुए कृपाण को उसने निकाल कर हाथ में तान लिया । इसी झपट में उसकी कंचुकी के बंध खिसक गए और मिट्टी के दोनों शराव एक आवाज के साथ फर्श पर गिर कर टुकड़े-टुकड़े हो गए । कुमुन्निशा अट्टहास कर उठी ।

'देखता हूँ, मुझे कौन कैसे बन्दी बनाता है ?' और वह सामने खडे मेषपाल पर झपटा । किंतु पीछे खड़ी कुमुन्निशा पूर्णतः सावधान थी । कमरे में पुनः अंधकार होते ही उसने शंख को पीठ से अपनी दोनों बाहुओं में घेर कर कहा, 'आलिंगन में लेने के लिए मुझे ही विवश कर रहे हो ?' और शंख का खड्गहस्त भी कुमुन्निशा के हाथ में विवश हो गया । अँधेरे में शंख ने छूटने का प्रयत्न किया, किंतु कुमुन्निशा ने पीछे से पंजे पर खड़े होकर शंख के कान को अपने दाँतों से कुतर दिया । दर्द के कारण शंख के मुँह से एक टीस निकल गई । उसकी पीठ पर सहसा जिन दो गोलाइयों का घर्षण सुलभ हो गया था, उसे वह समझ भी नहीं पा रहा था, कि कुमुन्निशा ने सामने खड़े मेषपाल को लक्ष्य कर कहा, 'इस भुनगे के लिए मैं पर्याप्त हूँ तुरल ! तुमने रस्सियों की व्यवस्था कर ली है न ?—एक रस्सी ले आओ । पता लगाना होगा कि यह और इसका वह दूसरा साथी कौन है, कहाँ से आए हैं, और यहाँ आने का इनका क्या गुप्त उद्देश्य है ! और उधर महादेवी को सूचित करवा दो कि आज के आयोजन की सार्थकता का प्रथम श्रीफल उनकी सेवा में प्रस्तुत करने के लिए मैं यहाँ प्रतीक्षारत हूँ !—तुम रस्सी लेकर आओ, महादेवी को यह सूचना बाद में भी दी जा सकती है ।'

'रस्सी मैं अभी लाया ।' मेषपाल शायद बाहर निकल गया होगा, शंख ने सोचा । कुमुन्निशा अब अकेली है, किंतु तुरल की सहायता उसने तब भी कब ली थी ?—एक अकेली स्त्री से वह हार मान जाए ?—देवराज जानेंगे तो क्या कहेंगे अपने मन में ?—शंख ने शरीर की समस्त शक्ति लगाकर कुमुन्निशा को पीठ से पीछे धकेलना चाहा । सामने न सही, पीठ पर ही उरोजों का स्पर्श उसमें साहस भर दे सकता है ।—सहसा इस अप्रत्याशित आघात से कुमुद लड़खड़ा गई और उसका बायाँ हाथ शंख के शरीर से छिटक पड़ा । संकट का क्षण सामने था । शंख का कृपाणधारी हाथ अब भी उसकी पकड़ में था । शंख मुक्त होकर उसके सम्मुखीन हो, इसके पहले ही कुमुद ने दोनों हाथों से शंख के कृपाणधारी हाथ को पकड़ कर मोड़ना शुरू कर दिया । क्रोध में भर कर शंख ने कुमुद के पैर अपने पैरों तले मसलना प्रारंभ कर दिए । पीड़ा चाहे जितनी दुस्सह रही हो, पर कुमुन्निशा ने शंख का हाथ नहीं छोड़ा । हाथ की मरोड़ इतनी प्रखर हो उठी कि शंख स्वतः ही कमर से झुक गया । आप ही उसके पैर कुमुद के पैर से उठ गए । और उसके हाथ की शिथिल पकड़ से कृपाण छूट कर नीचे गिर पड़ा । कुमुन्निशा ने सावधानी के साथ पैर से कृपाण को एक ओर ठेल दिया । शंख यों ही घबराया हुआ और असम्बद्ध था, नीचे फर्श पर बिखरे हुए शराव के टुकड़े उसके पैरों में गड़ गए । उसने सारी सक्रियता बन्द कर दी । हाथ पकड़े हुए ही कुमुन्निशा ने कहा, 'प्रेमिका के सत्कार की यह प्रथा किस देश की है दस्युराज ?'

शंख उत्तर ही क्या देता ?—किंतु इसी बीच सामने के एक दूसरे ही कक्ष से दर-

वाजा ठेल कर एक हाथ में रस्सी और दूसरे में दीपक लिए हुए मेषपाल तुरल ने प्रवेश किया। कक्ष की अस्तव्यस्तता देखकर तुरल ने दीपक को आले में रखते हुए पूछा, 'क्या इस दुर्वृत्त ने फिर कुछ उपद्रव किया है ?'

'उपद्रव नहीं रे, नृत्य था नृत्य ! बर्वरों का नृत्य, अपनी प्रिया को रिझाने का ! यह धृष्ट नायक बड़ा अधीर है न ! थोड़ी भी प्रतीक्षा नहीं कर सकता ! रभस-क्रिया का आनन्द उठाने के लिए इसने स्त्री वेश बनाया है तो मुझे कम से कम व्यवहार तो पुरुष-वत करना चाहिए न ! रस्सी इधर ला। इसके दोनों हाथ बड़े भद्दे हैं, जिन्हें छिपाने के लिए बेचारे को साड़ी के पलटों की आवश्यकता पड़ी थी। इन्हें पीठ पर बाँध देना उचित होगा। मैं पकड़े हूँ तू बाँध, कस कर बाँध !—और देखो नायक, यदि चीं-चपड़ की, तो नायिका तुम्हारे कपोलों पर कमल अंकित करने से नहीं हिचकिचाएगी। चाहो तो अर्द्धचन्द्र भी उपलब्ध हो सकेगा !' तुरल ने शंख के दोनों हाथ पीठ पर कस कर बाँध दिए तो कुमुद ने सामने आकर मुस्कराते हुए कहा, 'यदि इस ढीली कंचुकी और खिसकी-ढलकी साड़ी ही में तुम्हारी यह छवि कुछ समय तक बनी रह सके तो सचमुच मेरे मन में तुम्हारे प्रति कामना जागृत होने लगेगी। फुरफुरी मेरे गात्र में अभी से उत्पन्न होने लगी है ! तुरल, वक्ष को भी तुम हाथों के साथ इसी तरह बाँध दो। कंठ से ऊपर और कटि से नीचे का भाग मुक्त रहे, नहीं तो प्रणय-नृत्य कैसे कर सकेगा बेचारा ?'

क्षोभ, लज्जा और भय से आक्रांत शंख बिना वाधा पहुँचाए बँधता रहा। कुमुन्निशा ने तुरल से कहा, 'अब मिट्टी के इन टुकड़ों को समेट ले, और इस कृपाण को भीतर आयुधशाला में रख देना। प्रशिक्षण देने में काम आएगी। यहाँ प्रणय-व्यापार में इसकी आवश्यकता ही क्या है ?—और अब जाकर तू महादेवी को सूचना दे आ। हमारे इस अद्भुत प्रणय-व्यापार का एक प्रतिष्ठित साक्ष्य भी तो आवश्यक है !—क्यों नायक ?'

शंख का सारा साहस कपूर हो चुका था। गिड़गिड़ाकर बोला, 'मुझसे अपराध हुआ देवी, मुझे छोड़ दीजिए। मैं विपत्ति का मारा एक सामान्य भिक्षुक हूँ।'

'सामान्य भिक्षुक ?—प्रणय-भिक्षुक नहीं ?—ऐसी बहुमूल्य क्षौम-शाटिका, जो श्रेष्ठियों को भी दुर्लभ हो, किस विपत्ति में तुम पर आ गिरी ?'

'मैं आपकी रूप-राशि देखकर मोहान्ध हो गया था भगवती ! मुझे क्षमा करके मुक्त कर दें। मैं तत्काल इस नगर को छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी चला जाऊँगा। आप मुझ पर विश्वास करें।'

'विश्वास करूँ, पर यह तो बताओ, तुम हो कौन और किस विपत्ति के मारे हो ?'

'आपने सुना होगा, उधर उत्तर में जो प्रचंड बाढ़ आई थी, उसमें कई राज्य केतु राज्य विनष्ट होगए हैं। जो सहस्रों डूब कर मर गए, वे फिर भी सुखी हुए देवि, किन

जो कतिपय अभागे सर्वस्व खोकर बच गए, उन्हीं मन्दभाग्यों में मैं भी एक हूँ। मुझ पर दया करें देवि !'

'उस प्रचंड वाढ़ में और तो शायद सबकुछ बह गया, किन्तु पत्नी की यह साड़ी शेष वच गई। है न ?—और तुम्हारा वह साथी ?'

'उसे मैं नहीं जानता, सच मानिए। यहीं सरोवर पर ही उससे परिचय हो गया था। वह कौन है, कहाँ का है, यह मैं कुछ भी नहीं जानता !'

'तो तुम देवगण हो, जो आजकल आर्य कहलाने लग गए हैं। उस दिन देवराज इन्द्र के जो गणदूत महापणिक के पिता की हत्या करके भाग गए, उनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ?'

'मैं किसीको भी नहीं जानता देवीजी ! अपने गण में भी मैं तो एक सामान्य गृहस्थ ही था। इन गहरे कूटनैतिक षड़यन्त्रों को मैं अज्ञ क्या समझूँ ? अपने इस भृत्य को आदेश दें, मेरे बन्धन खोल दे।'

'और सरोवर के गल्ल में से जो भेड़ें तुमने चुराई हैं, उनका क्या किया ?'

'भेड़ें ?—मैं उनके बारे में कुछ नहीं जानता !'

कुमुन्निशा ने साभिप्राय तुरल की ओर देखा तो वह बोला, 'झूठ बोलते हो ? कितनी बार मैंने तुम्हें मना किया था कि मेरे रेवड़ के पास मत घूमो। कल तो मैंने देख कर कुछ दूर तुम्हारा पीछा भी किया था। क्या करता, यदि और भेड़ों को खो देने की आशंका न होती, तो कल ही तुम्हें रँगे हाथ पकड़ कर भेड़ें चुराने का मजा चखा देता।'

'वह मेरी कद-काठी का कोई दूसरा ही व्यक्ति होगा भाई ! देवीजी, आप मेरी बातों का विश्वास करें। मेरी आँखों का दोष तो अवश्य है, पर मैं और सब अपराधों में एकदम निर्दोष हूँ।'

'तुम्हारे अपराध का विचार हमारी महादेवी करेंगी !' और फिर तुरल की ओर देख कर कहा, 'महादेवी को सूचना दे दी थी न ? अब जा, मेरा प्रणाम निवेदन कर !'

तुरल के प्रस्थान करते ही पुनः गिड़गिड़ाकर शंख ने कहा, 'क्या आप सचमुच मुझ पर विश्वास नहीं करतीं ?—आपके सौंदर्य को देखकर मेरी मति अवश्य मारी गई थी ! मैं आपके पैर पड़ता हूँ। किसी के सौंदर्य से प्रभावित होना तो कोई बहुत बड़ा अपराध नहीं है देवी !'

'भेड़ों की तस्करी की बात जाने भी दी जाए, पर यह बहुमूल्य साड़ी और वक्ष-वन्ध ? क्या ये भी कोई महिला स्वयं अपने शरीर से उतार कर तुम्हारे शरीर पर पटक गई, ताकि तुम बिना किसी पहचान की आशंका से इस समारोह में प्रविष्ट हो सको ?'

कुमुन्निशा का कथन पूरा हो, इसके पहले ही पीछे के कक्ष-द्वार से तुरल के पीछे पीछे उर्वशी मृगम्मदा और शुष्णप्रिया सेलकेत ने प्रवेश किया। उनके पीछे परिसर-

व्यवस्था से सम्बन्धित और भी पाँच-छः महिलाएं कक्ष में चली आईं। देख कर ही शंख के प्राण कंठ को आ लगे। इन अनार्यों के क्रौर्य की लोमहर्षक अगणित कहानियाँ ही उसने नहीं सुनी थीं, बल्कि गए संघर्ष में स्वयं उसने उनके शौर्य का प्रमाण पाया था। अदृश्य इन्द्र ही ने उसकी तब सहायता की थी, वरना पिप्रु उसके प्राण ले ही चुका था। —इस बार तो वह इन्द्र के साथ ही आया है, पर इस समय वह है कहाँ? तब तो पिप्रु के सामने उसे भागने की भी सुविधा थी, वह अश्वपीठ पर आरूढ़ था। पर आज? रस्सियों से जकड़ा हुआ, नितांत निरुपाय! इन दुर्वृत्त दया-माया हीन क्रुद्ध बाघिनों के सम्मुख वह करे भी तो क्या?—'हे महामहेन्द्र देवराज, त्राहिमाम्!—तुमने आश्वासन दिया था। तुम वृत्रासुर के हन्ता हो। तुम जहाँ कहीं भी हो, इन अनार्य अयज्विनों से मुझे मुक्त करो। अपने घर सकुशल लौट कर मैं तुम्हें सौ मेष-वत्स और सौ घट सोम अर्पित करूँगा। मेरी रक्षा करो देवराज!'

इधर कुमुन्निशा नवागंतुकों को अभियुक्त का सारा प्रकरण सुना चुकी थी। सेलकेत ने शंख के पास जाकर कुछ ध्यान से देखा और जैसे पहचान कर कहा, 'वही हो न, जो उस दिन भिक्षा के बहाने हमारे आवास पर उपस्थित हुए थे? तुम्हारा वह दीर्घाकृति दूसरा साथी कहाँ है? अवश्य ही अपनी बेडौल आकृति के कारण वह तो स्त्री वेश में प्रस्तुत नहीं हो सकता! या वह भी है यहाँ?'

'तुम जानती हो इसे बहन?' मृगम्मदा ने पूछा।

'उस समय इसकी आँखों में दैन्य भरा हुआ था, इस समय मदिरा तैर रही है। पर इसी से क्या मुझे भ्रम हो सकता है? उसी दिन की तो बात है, जब तूने रात में अपने रथ का पीछा करने वाले दो व्यक्तियों का उल्लेख किया था, और मैंने अपने संदेह की बात कही थी!—जरा ध्यान से देख न! क्या उन पीछा करने वालों में यह नहीं था?'

'स्पष्ट कैसे कह सकती हूँ भाई?—अँधेरा था न। और जो दीर्घाकृति पुरुष था, ध्यान पहले तो उसी की ओर जाना स्वाभाविक है!'

'तुम ठीक कहती हो। वह साथ हो तो इस भुनगे पर दृष्टि जा ही नहीं सकती!' फिर शंख को संबोधित कर पूछा उसने, 'कहाँ है वह तुम्हारा दैत्याकार साथी?'

बड़े ही दीन स्वर में शंख ने कहा, 'मैं सच कहता हूँ, मेरा कोई साथी नहीं है। मैं विपत्ति का मारा एक अभागा व्यक्ति हूँ। बाढ़ में मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया महादेवीजी, मुझपर दया करें।'

सूत्र सेलकेत ने स्वयं सम्हाल लिया। बोली, 'दया की जा सकती है, यदि तुम अपना सारा रहस्य सच-सच बता दो। तुम मुझसे उड़ नहीं सकोगे, मैं उड़ती चिड़िया भाँप लेती हूँ, प्रमाण दे सकती हूँ। पर तुम्हें एक अवसर है। कौन हो तुम और

तुम्हारा वह साथी ?—यहाँ किस प्रयोजन से और कब से आए हुए हो, तथा अबतक तुमने क्या-क्या उपद्रव मचाए हैं ?'

'महादेवीजी, मैं सच ही कह रहा हूँ। मैं नितांत अकेला हूँ, मेरे साथ कोई नहीं है और मुझे कुछ भी विदित नहीं है। आज अवश्य मेरा दुर्दिन है कि आपको भी मेरे वारे में भ्रम हो गया। मैं कभी आपके आवास नहीं गया।—आज परिसर के द्वार पर भिक्षा के लिए ही बैठा था कि एक भद्र जन ने मुझे मदिरा पिला दी। उसी मदिरा ने मुझे विवेकांध कर दिया। घाट पर यह साड़ी पड़ी हुई दिखाई दे गई। पहले तो सोचा था कि इसे बेच कर पेट की भूख मिटा सकूँगा, किन्तु तब.......'

'कहो! तब ?'

जैसे संकोच के साथ उसने कुमुन्निशा की ओर देखा और फिर दृष्टि नत करके कहा, 'इनके रूप का मुझ पर लोभ सवार हो गया, और निकट से इनको देखने की लालसा मुझसे रुक नहीं सकी।'

'मुझे भ्रम नहीं हुआ है प्रवंचक! अच्छा, दिखाती हूँ तुम्हें। मुझसे उस दिन भिक्षा ग्रहण करते समय जब तुमने अपना हाथ आगे बढ़ाया था तो तुम्हारे दाहिने हाथ पर एक क्षत का चिह्न था!— कुमुद, जरा वह दीपक दे तो।'

दीपक के पास खड़ी एक युवती ने आले में से दीपक उठा कर सेलकेत को थमा दिया और वह हाथ में दीपक लेकर शंख की ओर बढ़ी। जब वह उसकी ओर जा रही थी तो शंख को क्या सूझा कि उसने दीपक पर गर्दन झुका कर एक फूँक मारी। दीपक बुझ गया। उसके पैर खुले थे ही। अँधेरे में ही वह द्वार की ओर लपका, पर किसी महिला से टकरा गया। कोई गिरा हो, पर वह शीघ्र ही चारों ओर से घेर लिया गया। दूसरा दीपक भी आनन-फानन में जल गया!

सामने खड़ी हुई सेलकेत ने मुस्करा कर कहा, 'अब तो शायद हाथ देखकर स्पष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं है। भाग जाना क्या इतना सरल है ?—समझा होगा कि महिलाएँ ही तो हैं, कर ही क्या लेंगी ?'—इस बार सेलकेत ने शंख को कन्धों से पकड़ कर घुमा दिया, पीठ पर बँधे हुए उसके हाथ दीपक की ज्योति के सामने हो गए। सभी उपस्थित व्यक्तियों को दिखाते हुए सेलकेत ने कहा, 'है न यह क्षत-चिह्न ?'—फिर उसी तरह शंख को पुनः अपनी ओर घुमा कर उससे पूछा, 'अब भी तुम अस्वीकार करना चाहते हो ?'

'मैं सच कहता हूँ महादेवीजी, वह मेरा साथी नहीं था। भीख माँगते हुए राह में मिल गया था, उद्देश्य एक ही था इसलिए साथ हो लिया। मैं सचमुच उसे नहीं जानता!'

'कितने दिनों से यहाँ भीख माँग रहे हो ?'

'उसी दिन से तो जब उस अजनवी के साथ आपके आवास पहुँच गया था!'

'पर तुम तो कह रहे थे कि तुम कभी मेरे आवास पर गए ही नहीं ! क्यों कह रहे थे मिथ्या ?'

'प्राणों के भय से, केवल प्राणों के भय से महादेवीजी। मेरा सचमुच कोई अपराध नहीं है। यदि कोई अपराध है तो वह है केवल मेरी इन आँखों का !'

'अपराध आँखों का होने से क्या वह तुम्हारा अपराध नहीं हो जाता ?—सोचा होगा, यह श्रमणों का देश है। यहां परम्परा करुणा और दया की है। अपराध का सबसे बड़ा दंड यहाँ क्षमा है। जानते होगे न कि अपने देश के एक गुप्तचर ने पहले भी एक ऐसे ही अपराध के दंडस्वरूप क्षमा पा ली थी। तब तुम्हारा साहस क्यों न बढ़े ? दुर्योण में वह भूल फिर भी दुहराई जा सकती है, किन्तु अब दुर्योण का स्त्री-समाज भी जागृत है। दुर्योण की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए वह भी उतना ही सजग और चिन्तित है, जितना यहाँ का पुरुष-समाज है। जानते हो, मेरे अपने पितृ-देश में तुम्हारे इन चोरी, लम्पटता, मिथ्या-भाषण जैसे स्पष्ट अपराधों के लिए क्या दण्ड दिया जाता ?'

शंख उसी बद्धावस्था में झुककर घुटनों के बल बैठ गया। सेलकेत दो कदम पीछे हट गई तो शंख ने अपना सिर भूमि पर रख कर कहा, 'मेरे प्राण मत लीजिए महा-देवी, न्याय कीजिए ! घर पर मेरी पत्नी और मेरे वृद्ध पिता अनाथ हो जाएँगे। मुझ पर न हो, तो उन पर ही दया कीजिए !'

'पर तुम तो कह रहे थे कि प्रचंड बाढ़ में तुम्हारा सर्वस्व नष्ट हो चुका है ?' मृगम्मदा ने पूछा।

शंख क्या उत्तर देता ? वह चुप रहा तो सेलकेत ने मुस्करा कर कहा, 'यदि तुम्हारी पत्नी सुन्दर और जवान है, तो दूसरा पति खोजने में वह अपना सौभाग्य समझेगी मूर्ख !—और तुम्हारा वृद्ध बाप ?—तुम आर्य अपने पितरों को पिंडदान कर तृप्त करते हो न ? यह सौभाग्य अपने पिता को मिलने दो कि वह तुम्हें पिंडदान दे !'

सेलकेत से निराश होकर शंख ने अपना सिर मृगम्मदा के सामने भूमि पर टिकाया और रिरिया कर बोला, 'मैं आपसे प्राणों की भीख माँगता हूँ महादेवीजी, मेरा न्याय कीजिए !'

मृगम्मदा ने कहा, 'तुम्हारा प्रमाणित अपराध महानायक पत्नी सेलकेत और कुमारी अप्सरा कुमुन्निशा के प्रति है। विचार करने का अधिकार उन्हें ही है। मैं तो उदारता की अनुशंसा ही कर सकती हूँ। और मुझे विश्वास है, अन्याय वे कभी करेंगी नहीं।'

कुमुन्निशा ने कहा, 'इसने हमारी मेषों का अपहरण भी किया है महादेवी !'

सेलकेत ने मुस्करा कर कहा, 'और उससे प्रोत्साहन पाकर आज तुम्हारा भी अपहरण करना चाह रहा था। क्यों मिथ्या कह रही हूँ ? क्या नाम है तुम्हारा ?'

'मेरा नाम शंख है महादेवी। सच, मैं किसीका अपहरण करना नहीं चाहता था। केवल मेरी इन जली आँखों का दोष है, इन जली आँखों का!'

'केवल इन जली आँखों का दोष है!' सेलकेत ने दुहराया, 'और महादेवी उर्वशी उदारता की अनुशंसा कर रही हैं! अच्छा।' फिर कुमुन्निशा की ओर देखकर कहा, 'बेचारे की आँखों का दोष है री।—स्वर्ण के दोष का परिहार करने वाला अम्ल है न?—वह पात्र उठा ला। बेचारे ने मदिरा भी पी, पर उसका भी नशा उतर गया।' आज्ञा-पालन के लिए कुमुन्निशा बाहर चली गई।

'क्या इसे मदिरा पिलाएँगी?—मातृदेवी के इस परिसर में?' एक महिला ने पूछा।

'प्यासे की प्यास बुझाना क्या हमारा धर्म नहीं है?—गले की प्यास ही नहीं, आँखों की प्यास भी कम दाहक नहीं होती! कितने अपकर्म नहीं करवा लेती यह? इस बेचारे निरीह शंख से पूछ!' कुमुन्निशा शीघ्र ही पात्र हाथ में लिए आ खड़ी हुई। सेलकेत ने उससे पात्र लेकर कहा, 'स्वर्ण के मैल को भी यह अम्ल क्षार कर देता है—मेरे यहाँ तो यह शुद्धिकरण बराबर चलता रहता है न!—अच्छी तरह पकड़े रखो अभियुक्त को। इसकी आँखों ने दोष किया है, उन्हें शुद्धि की आवश्यकता है।'

एक और महिला के साथ कुमुन्निशा ने घुटने के बल बैठे शंख को दोनों हाथों से इस तरह जकड़ लिया कि वह हिल-डुल भी न सके। कल्पना-मात्र से शंख की आत्मा काँप उठी। अपने भय को स्वर देकर करुणा प्राप्त करने का उसने एक और प्रयत्न किया, 'क्या सचमुच आप मेरी आँखों में अम्ल उढ़ेल रही हैं?—मैं-मैं-मैं, मैं तब देख कैसे सकूँगा? मुझ पर दया करें, मैं आपके पैरों पड़ता हूँ!'

'तुम्हारी आँखों ने दोष किया है न?' सेलकेत बोली, 'मेरे देश में तो पाले हुए गृद्ध तुम्हारी आँखें नोंच कर तृप्ति लाभ करते, या फिर शूल भेद कर उन्हें खोखला कर दिया जाता!—इतने मात्र से तुम्हारी पत्नी अनाथ नहीं होगी, और अपने वृद्ध पिता के पास सदा बने रह कर तुम उनकी यत्किंचित सेवा भी करते रह सकोगे। सबसे बड़ी बात तो, तुम फिर कभी किसी को कुदृष्टि से देखने का अपराध नहीं कर सकोगे!'—और जड़ स्तंभित बैठे, उसीकी ओर अपलक निहारते शंख की उन आँखों में सेलकेत ने निर्मम होकर वह सारा पात्र उढ़ेल दिया। एक भयानक चीत्कार शंख के कंठसे अनायास निर्गत हुई और पीड़ा से कराहते हुए वह दुहरा होकर भूमि पर लोट गया। उसे थामे रहने वाली दोनों महिलाएँ भी उसे थामे नहीं रह सकीं। शंख की चीत्कार इतनी करुण, हृदयद्रावक और भयप्रद थी कि कक्ष का वातावरण एकदम स्तब्ध हो गया। सब सेलकेत की ओर साश्चर्य देख रही थीं। सौंदर्य की यह अमल-धवल मूर्ति इतनी अमायिक, इतनी कठोर, नृशंस भी हो सकती है, इसका जैसे किसी को विश्वास ही नहीं हो पा रहा था।

किंतु तभी अकस्मात् स्तब्धता भंग हो गई। कक्ष का द्वार एक भयानक आवाज के साथ अर्रा कर खुल गया। वेग इतना प्रचंड था कि यदि भीतर से अर्गला भी चढ़ी हुई होती, तो भी वह भी टूट जाती और फलक चूल से उखड़ कर गिर पड़ते। और उसी वेग से भयंकर आँधी की तरह एक दैत्याकार व्यक्ति भीतर घुस आया, लगभग चिल्लाता हुआ ही, 'किसकी थी यह चीत्कार ?—शंख, तुम कहाँ हो ?—क्या हो गया है तुम्हें ?'

समवेत महिलाएँ चौंक कर अलग हट गई थीं। बाज की तरह ही झपटने वाले श्येन की राह में यदि कोई पड़ भी जाता तो वह उखड़ जाता। किंतु तब तक सेलकेत अपना अभीष्ट सम्पन्न करके खड़ी हो चुकी थी, और शंख सिर को फर्श पर रगड़-रगड़ कर मानों जली हुई आँखों की जलन को मिटाना चाह रहा था। दीपक की ज्योति खड़ी हुई महिलाओं के कारण उस पर नहीं पड़ रही थी, इसलिए श्येन सारे व्यापार को समझ नहीं पा रहा था। वह औंधे पड़े हुए शंख को सम्हालने के लिए नीचे झुका, 'शंख, क्या हुआ शंख ?—अरे, तुम तो रस्सी से बँधे हुए हो ?'

दूर खड़ी हुई मृगम्मदा पहले क्षण से ही सतर्क थी, और दैत्याकार श्येन की तो वह छाया भी पहचानती है ! रही सेलकेत, सो श्येन उसके तो सामने तक हो चुका है। मृगम्मदा ने तुरल को संकेत कर दिया था। जबतक कि श्येन शंख को सम्हाल रहा था, तुरल रस्सी लेकर आ गया। पास खड़ी सभी महिलाएँ सतर्क हो चुकी थीं। क्या करना है, यह सब समझ गई थीं, केवल संकेत की प्रतीक्षा थी। उधर शंख कह रहा था, 'बड़ी विलम्ब से पहुँचे श्येन !—इन पिशाचिनियों ने मेरी आँखें अम्ल से जला डालीं।····पीड़ा और जलन से मैं मरा जा रहा हूँ····तुम सावधान रहना !' शंख को हाथों पर उठाकर श्येन उसके मुँह की ओर देखने लगा तो मृगम्मदा ने कहा, 'तो यह है तुम्हारा दूसरा सहचर !—विलम्ब से नहीं, समय पर ही पहुँचा है !—तुरल, देखते क्या हो, बाँध लो इसे भी !'

एक ओर से तुरल ने और दूसरी ओर से कुमुन्निशा ने श्येन की बाँहें पकड़ीं, किन्तु श्येन ने शंख को नीचे पटक दिया, और बिजली की फुर्ती से सिर उठा कर वह उछला, मानों मनुष्य न होकर वह कोई भारी-भरकम जंगली वानर हो। कुमुन्निशा गिरते-गिरते बची, और श्येन उसकी पकड़ से छूट गया। लड़खड़ाया तुरल भी, पर उसकी पकड़ श्येन के बाहुमूल पर बनी रही। उछलते हुए श्येन ने सेलकेत के ऊपर पद-प्रहार भी किया। यदि वह पहले से सावधान न होती तो अवश्य गहरी चोट खा बैठती। एक क्षणांश में ही सारे कक्ष में भयानक आतङ्क छा गया ! किंतु फर्श पर खड़े होकर श्येन अगले कदम के लिए तैयार हो, इसके पहले ही सावधान मृगम्मदा ने तने हुए अपने दाहिने हाथ की तनी हुई मुष्टिका ताक कर उसके चेहरे पर दे मारी। लक्ष्य

ठीक उसकी नासिका थी। श्येन का मस्तिष्क झनझना उठा और उसे आँखों के सामने काले-पीले दिखाई देने लगे। उसकी नाक न केवल बहने लगी थी, उसमें से रक्त भी बह निकला था। श्येन की इतनी निष्क्रियता पर्याप्त थी। तुरल, कुमुन्निशा तथा अन्य दो महिलाओं ने मिल कर उसे भी कस कर बाँध दिया। रस्सी का एक सिरा तुरल स्वयं अपने हाथ में थामे था।

समग्र व्यापार को शंख समझ नहीं पाया, किन्तु इतना वह अवश्य समझ गया कि इन पिशाचिनियों ने श्येन को भी रस्सियों से जकड़ कर असमर्थ कर दिया है !—देवराज इन महिलाओं से पदस्थ हो गया ?—वह चिल्लाना चाहता था, किन्तु भय, आतंक और पीड़ा से उसकी घिग्घी बँध गई। कंठ से उसके रुलाई भी नहीं निकल पा रही थी।

मृगम्मदा ने कहा, 'तो तुम हो इसके साथी ! इतनी यंत्रणा पर भी जब इसने अपना परिचय नहीं दिया तो तुम ही क्या दोगे ?—पर तुम्हारे न कहने पर भी हम जानती हैं कि तुम कौन हो। उद्देश्य तुम्हारा जो भी कुछ हो, उस पर यथासमय विचार किया जाएगा ! तब तक तुम बन्दी हो।'

श्येन ने कहा, 'हाथ खुले होते तो देखता कि किस तरह मुझे कोई बन्दी बना सकता है। किन्तु सुन्दरी, बन्दी बनाने के लिए तो तुम्हारे रूप की डोरी ही बहुत है। इन कठोर रस्सियों से अपने कोमल हाथों को कष्ट क्यों दिया ?—पुरुषों के ये हाथ तो तुम्हारे रूप का सत्कार करने के लिए खुले रहना चाहिए !' और बहती हुई नाक के रक्त को पुनः अपने नथुनों में खींचने का असफल प्रयत्न करके वह मुस्करा उठा !

'खुले हाथ फैला कर भीख ही तो माँगी है। मिली भी तो थी न !' सेलकेत ने कहा।

'जब जान चुकी हो कि हम कौन हैं, तो उस भीख का संकेत भी नहीं समझीं ?—नहीं समझीं, इसलिए तो मेरे साथी इस शंख को उसे बलात् हस्तगत करने का प्रयत्न करना पड़ा !—

'और तुम यहाँ किसे हस्तगत करने आए ?' मृगम्मदा ने पूछा।

एक धृष्ट हँसी हँस कर वह बोला, 'यदि कहूँ, तुम्हें। तो ?'

'मुझे ?' और मृगम्मदा अट्टहास कर उठी, 'एक बौना और चाँद को छुए ? और वह भी चोरी से अँधेरे में खड़े होकर, कि कोई देख न ले ?—तुम्हारे यहाँ स्त्रियाँ शायद मोम की बनी होती हैं। है न ?'

'उर देश की हो न ?—हमारे नायक वरुण और मित्र ने तुम्हारे ही देश की एक उर्वशी को बलात् कृष्ट करके एक तेजस्वी पुत्र प्राप्त किया है, जानती हो ?—अपने सौंदर्य पर गर्व कर सकती हो, किन्तु हमारे देवराज ने तुम जैसी कई वज्र-

अहल्याओं को अभिसिंचित कर क्रुष्ट कर दिया है। तुम्हें अपनी इन्द्राणी बना कर वह प्रसन्न होगा सुन्दरी ! वह गुणों का सम्मान करता है……'

'और तुम्हारी वाचालता का मैं भी करती हूँ !' कह कर मृगम्मदाने एक पद आगे बढ़ा कर एक और मुष्टिका का उसके चेहरे पर प्रहार किया, किन्तु श्येन इस बार सावधान था, कमर को ढीली छोड़, वह तत्काल घुटनों के बल नीचे झुक गया। हाथ का वार खाली गया तो मृगम्मदा का स्वतः ही पैर चल गया। यह कोई तीव्र प्रहार नहीं था, किन्तु श्येन का सन्तुलन बिगड़ गया, और सम्हलने के पहले ही वह फर्श पर लुढ़क गया। तत्काल पुनः सम्हल कर बैठते-बैठते बोला, 'सुन्दरियों के पद-प्रहार से ही अशोक के फलने-फूलने का विधान है उर्वशी !—पर मुझे भय है, इस कूट-संकेत की अवमानना कर देवराज कहीं तुम्हारे इस सारे नगर से क्रूर प्रतिशोध न ले बैठे ! तुम्हारी नियति तो मैं स्पष्ट देख रहा हूँ, शीघ्र ही तुम्हें उसका अंक सुशोभित करना है। तुम तत्पर रहो इसके लिए !'

सेलकेत ने कहा, 'यह सब कुछ देखने के लिए तुम्हारी आँखें रहेंगी भी क्या ?—अपने साथी इस अभागे शंख की शिक्षा से कुछ नहीं सीखोगे ?—कुमुद, एक और पात्र ले आ तो। आँखें ही नहीं, इस भंड की जीभ भी बन्द करनी पड़ेगी !'

पास में पड़े हुए अर्द्धचेतन शंख ने रिरिया कर कहा, 'ये विष की बुझी नागिन हैं श्येन…इनके मुँह मत लगो…हम सबकी आशाएँ तुम्हीं पर लगी हुई हैं…'

सेलकेत का संकेत पाकर कुमुन्निशा जाने लगी तो मृगम्मदा ने रोक कर कहा, "नहीं बहन, व्यक्तिगत अपमान का प्रतिशोध लेने की आवश्यकता नहीं है। कल सवेरे दोनों को महापाणिक के न्यायाधिकरण में प्रस्तुत करके हम दायित्वमुक्त हो जाएँगे। इन्हें बन्दी बनाकर हमने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया। रात भर इन्हें किस कक्ष में रखा जाए, यह देख लो। उसमें इन रस्सियों को अटकाने की व्यवस्था होनी चाहिए !—और कुमुद, तुमने अद्भुत साहस का परिचय दिया है, इसके लिए तुम्हें अतिरिक्त रूप में पुरस्कृत करना उचित होगा। रात भर के लिए ये तुम्हारी देखरेख में रखे जा सकते हैं, पर तुम अवश्य बहुत थक गई होगी। तुम विश्राम करो। प्रमदा, तुम पर छोड़ा जाए यह भार ?'

'मुझ पर ?—मुझ पर नहीं महादेवी, मुझ पर न छोड़िए !' श्येन ने आश्चर्यान्वित होकर उस ओर देखा ! अरे, यह तो वही प्रमदा है ! उसने देखा ही न था अबतक। ओठों ही ओठों में मुस्करा कर उसने प्रमदा के उद्देश्य से भ्रु व-निक्षेप किया। देख कर प्रमदा का रोम-रोम सिहर उठा।

सेलकेत ने कहा, 'स्वाभाविक है, इस दैत्य से कौन भयभीत न होगा ?'

'नहीं देवी, मैं अपने लिए भयभीत नहीं हूँ। किंतु........' और प्रमदा आगे कहने से रुक गई।

'किंतु........पर जाने दो, कारण वताने का प्रयोजन नहीं है!—वृन्दा, तू क्या कहती है?—तुम्हारे साथ सशस्त्र तुरल रहेगा। रस्सियों से निवद्ध दोनों वन्दियों के पैर भी बाँध दिए जाएं, ताकि आवश्यकता से अधिक वे चल-फिर भी न सकें। दोनों को दो छोर पर अलग-अलग इस तरह बाँधा जाए कि परस्पर मिल भी न सकें। आवश्यकता हो तो दो और प्रहरी नियुक्त कर दिए जाएं।'

वृन्दा कुछ उत्तर दे उसके पहले ही प्रमदा ने कहा, 'क्षमा करें महादेवी, मेरा स्पष्टीकरण सुन लेने के वाद भी यदि आप मेरा विश्वास कर सकें तो मैं चाहती हूँ कि यह दायित्व मुझे ही सौंपा जाए!'

'पर स्पष्टीकरण की आवश्यकता किसे है प्रमदा?' मृगम्मदा ने कहा!

'मुझे तो है महादेवी! आत्म-भर्त्सना से मैं अधिक व्यथित रहना नहीं चाहती। मैं स्वीकार करती हूँ कि दो दिन पूर्व इस धृष्ट व्यक्ति ने मुझे प्रभावित कर मोह लिया था। यदि आज का यह प्रकरण घटा न होता तो शायद मैं अपनी दुर्वलता का शिकार हो जाती। किंतु—'

'तो तुम इसे जानती हो?—कौन है यह?'

'सच कहती हूँ महादेवी, नाम भी अभी ही इसका इसके साथी के मुँह से सुना है। मोहान्ध स्त्री किसी पुरुष के वारे में और कुछ जानने को आतुर ही कहाँ होती है यदि इतना भर वह जान ले कि वह पुरुष है!—सचमुच मैं इसके वारे में कुछ नहीं जानती थी, और आज जितना कुछ जान पाई हूँ, उससे इस पर ही नहीं, मुझे अपने आप पर भी घृणा हो रही है!'

मृगम्मदा के आदेशानुसार जव पैर वाँधे जा रहे थे तो श्येन ने मुस्करा कर कहा, 'सचमुच अब अपने से धृणा कर सकती हो प्रमदे! तुम मानों स्वयं देवराज के ही संसर्ग-सुख से वंचित रह गई!—' श्येन की वात पूरी न हुई, कि प्रमदा ने धृणा से उसके मुँह पर थूक दिया, और रोष में भरी पैर पटकती हुई वह कक्ष से बाहर निकल गई।

श्येन ने शंख की ओर देख कर कहा, 'इन्द्र-सभा का ही दृश्य है रे शंख! कमी है तो केवल यही कि इन्द्रासन पर कोई नहीं है। इन अभागिनियों के लिए इन्द्र से प्रार्थना कर!—जानता है न, उसने असुर कृष्ण की गर्भवती स्त्रियों को काट-काट कर समाप्त किया था।—उसके क्रूर प्रतिशोध को ये जानती कहाँ हैं?—शीघ्र जानेंगी।—देख चाहे तू न पाए, पर सुनेगा अवश्य!'

● ● ●

दूसरे दिन महापणिक के कक्ष में सभी गण्यमान्य व्यक्ति अपने-अपने आसन पर उपस्थित थे। पूर्वाह्ण में वन्दियों की पहचान के लिए कई सम्वन्धित व्यक्तियों की सहायता

ली जा चुकी थी। नगर के कई लोगों ने उन्हें देखा था, कभी घर-घर भीख माँगते हुए, कभी बाजार-हाट में कुछ क्रय-विक्रय करते हुए, और कभी मेले-ठेले में भीड़-भड़क्के के बीच। अन्य किसी विशेष उपद्रव की किसी ने शिकायत नहीं प्रस्तुत की। वणि ने महाश्रेष्ठि अर्बुद को पहले ही बता दिया था कि आर्यगण के दो सामान्य व्यक्ति दुर्योण देखने की इच्छा से आए हुए हैं, किन्तु इस समय के दुर्योण के वातावरण को देखते हुए वे गुप्त रूप से दो-चार दिन रहकर ही लौट जाएँगे। यह केवल वही जानता था कि ये मरुत के नेतृत्व में आए दल के साथ भी थे। वणि प्रकट रूप में अभी भी अपने कृत्रिम मानसिक आघात से स्वस्थ नहीं हुआ था। फिर भी उसे पहचान के लिए बुला भेजा गया था। पहचान से उसे इनकार करना ही था, किन्तु संकेत से ही उसने श्येन को आश्वस्त करना चाहा था कि उनकी मुक्ति के लिए अपने प्रयत्नों में वे कुछ भी उठा न रखेंगे। महाश्रेष्ठि से उसने परामर्श भी कर लिया था। शंख के प्रकरण से उन्हें खेद तो हुआ, किन्तु मन ही मन कहीं यह संतोष भी हुआ कि देवराज को अनायास रोष का कारण और शीघ्र आक्रमण करने का बहाना मिल जाएगा!

नगर में समाचार तो सब ओर फैल गए थे, पर बन्दियों के विचार का निर्णय वन्द-कक्ष में ही करने का लिया गया था, अतः भीड़ भवन के बाहर ही जमा रही। कक्ष में महाश्रेष्ठि के अतिरिक्त महादेवी उर्वशी मृगम्मदा, महानायक की पत्नी सेलकेत, और कुमुन्निशा भी विद्यमान थीं। अभी बन्दी प्रस्तुत नहीं किए गए थे। पहले परस्पर स्थिति का निर्धारण कर लेना उचित था। वातावरण में गम्भीरता छाई हुई थी।

सम्पूर्ण प्रकरण सुन लेने के बाद महापणिक विभांडक बोले, 'जो कुछ घट चुका है, कदाचित उसको टालने का कोई उपाय नहीं था। किन्तु, क्या आप लोग नहीं समझते कि पहले अभियुक्ति का दंड उसके अपराध की तुलना में कुछ अधिक कठोर हो गया है? कम से कम हमारी परम्परा तो इतनी अमानवीय नहीं है। दंड प्रवर्तित करने में शायद शीघ्रता भी की गई है?'

सेलकेत तमक कर खड़ी हो गई, और बोली, 'कहते क्या हैं महापाणिक?—शीघ्रता कहते हैं आप? यदि उतनी तत्परता न होती तो श्येन नाम का वह दैत्य सचमुच श्येन की तरह झपट्टा मार कर, न केवल अपने साथी को, बल्कि कुमुन्निशा और प्रमदा, इन दोनों अप्सराओं को भी उड़ा ले जाता।'

'मैं आपकी और आपके दल की तत्परता का प्रशंसक ही नहीं हूँ, मुझे उस पर गर्व भी है देवी! मेरा संकेत उसके साथी की दृष्टि-हानि से है!' महापणिक ने कहा।

'दृष्टि तो क्या, उसे अपने प्राण गँवाने पड़ते। जो कापुरुष स्त्री का असम्मान करता है, उसे अन्धा ही नहीं, षंड भी बना दिया जाना चाहिए था! यदि वह अपनी

जवान पत्नी की दुहाई न देता·······' —शुष्ण अपनी प्रिया की तेजस्वी मुद्रा देख कर मुस्करा रहा था।

महाश्रेष्ठि ने बीच ही में रोक कर कहा, 'देवी, आप भूलती हैं। हमें इस प्रकरण का राजनैतिक-पक्ष भी देखना होगा। यह सामान्य घटना नहीं है। इससे चिढ़ कर देवराज इन्द्र हम पर अब किसी भी समय आक्रमण कर सकता है!'

उत्तर सेलकेत ने ही दिया, रोष से उसका मुखमंडल लाल हो उठा था, 'यदि इस प्रकार के घृणित अपमान सह करके ही किसी के आक्रमणों को रोका जाना चाहिए, तो फिर स्वागत करके आक्रामकों को बुला ही क्यों न लिया जाए?—प्रतिरक्षा, स्वशासन, संस्कृति या श्रमनिष्ठा, इनके अभिनय की आवश्यकता ही क्या है?—किन्तु मैं कहती हूँ, सिन्धुदेश या दुर्योण केवल यहाँ के पुरुष-समाज का ही नहीं है। यहाँ का स्त्री-समाज भी संख्या, शक्ति और संकल्प में उनसे किसी भी तरह कम नहीं है। यदि वे इस देश को, दुर्योण के नागरिकों को, अभय देने में अपने आपको असमर्थ पाते हों, तो वे आसन से विरत हो जाएँ। स्त्रियाँ यह दायित्व स्वीकार करने में पीछे नहीं हटेंगी!'

शुष्ण ने मुस्करा कर तालियाँ बजाईं। महिलाओं ने अमित उत्साह के साथ योग दिया, किन्तु अन्य उपस्थित पुरुष चुप रहे। वातावरण अनायास बड़ा बोझिल हो गया।

तालियों का शोर कम हुआ और जब अन्य कोई न बोला, तो महापणिक ने बड़े ही शान्त स्वर में कहना प्रारम्भ किया, 'आसन से विरत होने की कोई समस्या नहीं है भगवती!—यह आसन मैंने, या मेरे किसी अन्य सहयोगी ने स्वेच्छा से या बलात् आहरण नहीं किया है। यह आसन नहीं है, यह तो मुझ पर शासन है! मैंने इसे इसी भाव से ग्रहण किया था। यदि आप लोगों का यही आदेश, या इच्छा भी हो तो मैं इसी क्षण इससे विरत हो सकता हूँ!' और वह उठ खड़े भी हो गए!

किन्तु सभी दिशाओं से एक साथ आवाज आई, 'नहीं नहीं। महापणिक बृबु पर हमारा पूरा विश्वास है! महापणिक विभांडक बृबु की जय! उन्हें इस आसन से कोई नहीं विरत कर सकता।'

शोर कुछ कम हुआ तो उठ कर सेलकेत बोली, 'मुझे गलत समझ कर महापणिक लज्जित न करें। मैं क्षमा चाहती हूँ, किंतु नारी के किसी अकारण अपमान को मैं कभी सहन नहीं कर सकूँगी, और वह भी केवल इसलिए क्योंकि वह स्त्री है,—यदि वह सुन्दर है, कोमल है, करुणामई है, और यदि वह सबको प्रिय और मधुर लगती है, तो यह मानव समाज की एक उपलब्धि है, उसकी समृद्धि का प्रमाण है। प्रकृति के इस वरदान को इसी भाव से ग्रहण करना चाहिए, इसका सम्मान होना चाहिए, अपमान कदापि नहीं।—आप मुझे क्षमा करें। आपके प्रति, आपकी योग्यता के प्रति, और सबसे बढ़ कर आपकी सत्य-

निष्ठा के प्रति, मेरी ही नहीं, मैं समझती हूँ सम्पूर्ण सैंधव-समाज की, कम-से-कम यहाँ के सारे नारी-समाज की पूर्ण आस्था है। आप इस आसन के सर्वथा योग्य और पूर्णतः अधिकारी हैं। आपको कोई इस आसन से विरत नहीं करना चाहता।'

वृबु ने सिर झुका कर सारी सभा का अभिवादन करते हुए कहा. 'आपके विचारों के लिए एवं आपके विश्वास के लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। यह अवसर भी किसी के भावुक होने का नहीं है। बल्कि इस समय तो सबको दायित्व ग्रहण करने के लिए स्वयं आगे आना चाहिए। दायित्व से पलायन की मेरी कोई इच्छा नहीं है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि नेतृत्व किसी के भी पास हो, दुर्योण के लिए, देश के लिए, और देश के मेरे भाई-बहनों के लिए बलिदान हो जाने की मेरी भावना में कभी कोई कमी नहीं रहेगी। यह दायित्व-बोध ही है जो मुझे सम्हल-सम्हल कर, आवश्यकता पड़ने पर, न केवल रुक कर, बल्कि एक पग पीछे हट कर भी, धीरे-धीरे आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। केवल मोड़ देख कर ही हम रुक जाएं, यह उचित नहीं है। आज का यह प्रसंग तो एक सामान्य-सा मोड़ है, आगे कई गहरे मोड़ आ सकते हैं, आएंगे। आज विराम कर लेना कोई गंभीर बात नहीं है, किंतु आगे हमें रुकना न पड़े, इसका निश्चय करने के लिए हम स्थिति का परिदर्शन क्यों न करें?'

सभा में सन्नाटा छाया हुआ था।—यह क्या हुआ? संकट के समय स्त्री और पुरुष के स्तर पर विचारों की पृथक सरणियाँ बन गईं, जिसे चाहता कोई न था। अचेतन में कहीं यह व्यक्तित्वों की टकराहट तो नहीं है?—जो भी हो, दुर्योण के लिए यह शुभ नहीं है। और यदि पहल स्त्री-समाज से हुई है, तो स्त्री-समाज ही इसका समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

सेलकेत अपनी स्थिति स्पष्ट कर ही चुकी है, तो मृगम्मदा उठी, और एक दृष्टि सारी सभा पर डाल कर बोली, 'महापणिक ने स्वीकार किया है कि यह अवसर किसी के भावुक होने का नहीं है, किंतु वे शायद नहीं जानते कि वे स्वयं ही भावुक हो उठे हैं, और इस भावुकता में ही वे इस सारे प्रकरण को अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा मान बैंठे हैं। अपराधियों के साथ अवसर की प्रासंगिकता में महिला-समाज ने जो कुछ किया, यदि वह उन्हें अनुचित लगता हो तो महापणिक उस पर विचार कर उचित व्यवस्था दें, न कि आसन या नेतृत्व छोड़ देने की बात कहें। स्वयं सेलकेत ने अपनी स्थिति स्पष्ट क़र दी है। उसके बाद भी क्या विषय को यहीं समाप्त नहीं हो जाना चाहिए था?—व्यर्थ की बहस से हम परस्पर अविश्वास की भावना ही पैदा करेंगे। महापणिक को प्रसन्नता होनी चाहिए थी कि उनके नेतृत्व में, अपनी अस्मिता और दायित्व समझ कर स्त्री-समाज भी आगे बढ़ कर भार उठाने को उत्सुक है, और उनसे प्रेरणा की आशा रखता है। यदि वे इसमें स्पर्द्धा या प्रतिद्वन्द्विता देखते हों, या·······नहीं, आगे मुझे कुछ नहीं कहना है!' और वह सहसा अपने आसन पर बैठ गई।

'नहीं नहीं, महादेवी, आप निस्संकोच अपने मन की बात कहें!' बृबु ने कहा, 'आपकी अनकही बात मुझे और गहरे संशय में डुबो देगी!'

मृगम्मदा ने बैठे बैठे ही कहा, 'यदि आपको इसमें स्पर्द्धा या प्रतिद्वन्द्विता अनुभव हो रही हो, तो स्त्री-समाज उठ कर बाहर जा सकता है!' और उसने उठने का उपक्रम किया।

महाश्रेष्ठि और महानायक दोनों ही कुछ कहने को उठे, किंतु बृबु ने हाथ के संकेत से उन्हें रोक कर कहा, 'मुझे सचमुच प्रसन्नता है कि स्त्री-समाज मुझे कठोरता से परखना चाह रहा है। मैं अनुमान लगा सकता हूँ कि महादेवी क्या कहते-कहते रुक गईं। अच्छा होता, उनका मन्तव्य आप उनके मुँह से ही सुनते!'

फिर कुछ मुस्करा कर और मृगम्मदा की ओर देख कर कहा, 'उनको यह बताने की आवश्यकता तो नहीं होनी चाहिए कि मैं स्त्री-जाति के प्रति कितने सम्मान की दृष्टि रखता हूँ! अपनी स्वयं-चेतना से उनके नेतृत्व में गत रात्रि महिला-समाज ने अपनी आत्मनिर्भरता का जैसा ज्वलंत दृष्टांत उपस्थित किया है, उससे समाज के किसी भी पुरुष का मस्तक गर्व से उँचा उठ जाता है। किंतु यह स्थिति तो वहां की होनी चाहिए, जहाँ महिलाएं स्वतंत्र नहीं हैं, पुरुषों की दासता में जकड़ी हुई हैं। मैं भगवती सेलकेत की भावना को समझ सकता हूँ-वे उस देश की पुत्री हैं, जहाँ साम्राज्ञी तक को सम्राट् की मृत्यु पर समाधि में गाड़ दिया जाता है। आर्यों के गण में इस जागरण पर उत्सव मनाया जा सकता है, जहाँ स्त्री सदा ही उपभोग्या समझी जाती रही है, और वे इतनी विवश हैं कि इन्द्र-पत्नी शची तक को नहुष का इन्द्रत्व स्वीकार करना पड़ा है।—अब तक तो महादेवी उर्वशी को भी अवश्य अनुभव हो जाना चाहिए कि सैंधव महिलाएं भी उतनी ही स्वतंत्र और स्वाधीमचेता हैं, जितनी उनके देश की महिलाएं या वे स्वयं हैं। यह दूसरी बात है कि उचित प्रशिक्षण के अभाव में, और शायद अवसर के अभाव में भी, उनके शौर्य का प्रमाण अब तक न मिला हो, और अब तो वह मिल भी गया है। मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि आप में से प्रत्येक महिला उत्तरदायित्व का बड़े से बड़ा पद सम्हालने के लिए पूर्ण समर्थ है, और इसलिए मेरा यह आशा करना असंगत नहीं था कि हम शक्ति-प्रदर्शन में आवेश का नहीं, संयम का परिचय दें।—यदि आप सब समान रूप से अनुभव करती हों, कि इस नाव का कर्ण मैं ही सम्हाले रहूँ, तो मैं पीछे नहीं हटूँगा। मैं आरोहियों के निर्देशानुसार ही इसे दिशा देता रहूँगा। किंतु यदि इसके साथ ही मैं कभी अनुभव करूँ, कि किसी दिशा-विशेष में छिपी हुई चट्टानें हमारी नाव को जर्जर कर सकती हैं, तो क्या आप मुझे आपको यह सूचित करने का अधिकार भी नहीं देंगी?—अपने निर्णयों की कसौटी के लिए कम-से-कम हमें अपनों के बीच तो विचारों को अभिव्यक्त करने की पूरी स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। यों, दूसरों के सामने अवश्य हम एकजुट दृढ़ दीवार हैं ही।—इसे मेरी व्यक्तिगत भावु-

कता का प्रश्न बताया गया है। क्या आप नहीं समझते कि मेरे पिता की हत्या का व्यक्तिगत क्षोभ मुझे कितना हुआ होगा ? मैं एक सामान्य नागरिक होता और यदि मेरे कृत्य की व्याप्ति मेरे अतिरिक्त किसी अन्य को प्रभावित न करती, तो क्या मैं इस तरह चुप निष्क्रिय बैठा रहता ?—आवश्यकता पड़ने पर मैं वुभुक्षित और क्रुद्ध सिंह से भी लड़ा हूँ और उसका वध किया है, किंतु तभी जब कि मेरे प्राणों पर आ बनी थी और इस विवेक के साथ कि मेरा यह कृत्य सिंहों की सारी जमात को मेरी जाति के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए प्रेरित नहीं करेगा।'—फिर कुछ क्षण रुककर उसने कहा, 'मैं महिलाओं के उत्साह का स्वागत करता हूँ। महाश्रेष्ठि और महानायक अगले पूर्णचन्द्र की रात्रि को उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के समारोह का आयोजन करें।—और अब, यदि आप लोग अनुमति दें तो बन्दियों को विचार के लिए प्रस्तुत किया जाए !'

महाश्रेष्ठि अर्बुद उठ खड़े हुए और बोले, 'परस्पर स्पष्ट विचार-विनिमय की परम्परा के अनुसरण में ही मैं कहना चाहूँगा कि अभी अपनी तत्परता को देखते हुए हमें ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे आर्यों को आक्रमण के लिए प्रोत्साहन या बहाना मिल जाए !—यह तो आप लोग निर्विवाद जान ही गए होंगे कि अभियुक्त आर्यगण के सदस्य हैं !'

महानायक शुष्ण ने कहा, 'किन्तु प्रोत्साहन या बहाना, जो भी कहें, उन्हें मिल ही गया है, चाहे अभियुक्त उनके गण के विशिष्ट व्यक्ति हो या सामान्य व्यक्ति। उनकी अगली प्रतिक्रिया क्या होगी, यह तो इस पर निर्भर करेगा कि आज हम इस प्रकरण को किस रूप में लेंगे !'

'महानायक ने ठीक ही कहा है ! आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि आप गंभीरता से विचार कर आदेश दें कि अभियुक्तों से किस तरह निपटा जाए ?' बृबु ने सभासदों को लक्ष्य कर कहा।

महाश्रेष्ठि बोले, 'महापणिक ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि एक अभियुक्त को अन्धा कर देने का कार्य न केवल जल्दबाजी का, बल्कि अमानवीय भी है, और उसे अन्याय भी कहा जा सकता है। हमारे नगर में किसी का प्रवेश निषिद्ध नहीं है। यहाँ स्त्री स्वतंत्र है, तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि पुरुष किसी तरह परतंत्र है। हमारे यहाँ स्त्री तथा पुरुष के मुक्त-मिलन में कोई बाधा भी नहीं है !' महिलाओं में कुछ हलचल परिलक्षित हुई। महाश्रेष्ठि ने अपना वक्तव्य शेष करते हुए कहा, 'हमारे लिए, शत्रु-मित्र का भाव भूल कर ही इस प्रकरण पर विचार करना उचित होगा !'

मृगम्मदा ने झुँझला कर कहा, 'महाश्रेष्ठि स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि वे क्या चाहते हैं ?—शत्रु-मित्र का भाव होता तो विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता ! किन्तु क्या वे चाहते हैं कि स्पष्ट अभियोग का भाव भी भुला दिया जाए ?'

महापणिक ने ही अर्बुद को कहा, 'आप निस्संकोच स्पष्ट अपना अभिमत कहें महा-श्रेष्ठि, आपका परिपक्व-अनुभव और सुचिन्तित-दृष्टि हमारा पथ-निर्देश करें !'

'मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थितियों में उचित यह होगा कि इन आर्यगणों को उचित-क्षतिपूर्ति के साथ स-सम्मान मुक्त कर अपने देश लौट जाने दिया जाए !'

तमक कर सेलकेत बोली, 'और गिड़गिड़ा कर उनसे क्षमा नहीं माँगी जाए ?' और इसके साथ ही उठ कर वह सभाकक्ष से बाहर जाने को उद्यत हो गई ।

वृबु ने उठकर सेलकेत का हाथ पकड़ लिया और कहा, 'यों उत्तेजित होकर आप जाइए नहीं । विचार ही करना हुआ तो वाद कौन प्रस्तुत करेगा ?' और वह मुस्करा दिया । सेलकेत मन मार कर पुनः अपने आसन पर बैठ गई और बोली, 'इस वातावरण में तो, देखती हूँ, वादी को कहीं प्रतिवादी बन कर ही अपना बचाव न करना पड़ जाए !'

बृबु ने मुस्करा कर कहा, 'आपत्ति क्या है ?—उस कसौटी पर भी महिलाएं क्यों न खरी उतरें ?' फिर सभा की ओर उन्मुख होकर उसने कहा, 'हम लोग परस्पर अपने विचार जान चुके । अब शीघ्र वन्दियों को प्रस्तुत किया जाए !'

कुछ ही क्षणों में चार प्रहरियों से घिरा श्येन और उसके पीछे दो प्रहरियों से घिरा शंख कक्ष में लाए गए । पैरों के उनके बन्धन खोल दिए गए थे, किन्तु कटि के ऊपर का भाग और हाथ उसी तरह पीठ पर बँधे हुए थे । शंख की आँखों पर एक पट्टी भी बँधी हुई थी । रात भर के जागरण और उत्तेजना के कारण दोनों के चहरे पर क्लांति तो थी, पर श्येन के चहरे पर खेद बिलकुल न था । उसकी चाल में वही निर्भीक गति, दृष्टि में वही आत्म-विश्वास, और ओठों पर देखनेवालों को खिझाने वाली मुस्कान ! कक्ष में प्रवेश करते ही उसने पहले तो बारी-बारी से एक दृष्टि सबके चेहरों पर डाली । सभी दृष्टियाँ उसी पर टिकी थीं । मृगम्मदा से जब उसकी दृष्टि टकराई तो एक क्षणांश के लिए वह ठिठक गया, फिर किंचित सिर झुका कर उसने मुस्करा दिया । मृगम्मदा ने अपनी दृष्टि नीचे झुका ली । सेलकेत उसके पास ही बैठी थी । उसकी दृष्टि में बिजलियाँ लरज रही थीं । श्येन ने देख कर भी अनदेखा कर दिया । शेष में उसकी दृष्टि सामने बैठे हुए बृबु पर पड़ी, और पड़ी ही रही । मानों भीतर ही भीतर वह उसे तौल रहा था । बृबु की दृष्टि श्येन पर नहीं थी, वह शंख की पट्टीबँधी आँखों को देख रहा था । और श्येन से जब उसकी दृष्टि टकराई तो बृबु ने मुस्करा कर कहा,

'श्येन है न तुम्हारा नाम ?—जिसने रखा है उसकी प्रशंसा करनी होगी !'

श्येन ने बृबु की बात का उत्तर न देकर अपने पीछे लाए जा रहे शंख को सम्बोधित कर और सारी सभा को सुनाते हुए कहा, 'समझ सकता है शंख, हम कहाँ लाए गए हैं ?—यह अभिनय का दूसरा दृश्य है । नेपथ्य वही है, रंगभूमि चाहे बदल गई हो !—अपने देवराज की सभा में नहीं देखे ऐसे अभिनय ? और हाँ, उद्यान में वृन्त पर विकच

कुसुम हों तो पास में कंटक भी तो होंगे ही। पर मधुलोभी भ्रमर को कौन रोक सकता है रे ?'

एक प्रहरी ने कहा, 'यहाँ बकबक मत करो। यह न्यायाधिकरण है !'

'न्यायाधिकरण ?—बकबक यहाँ नहीं तो और कहाँ होती है अज्ञ ? और हाथ बँधे हुए हों तो और किया भी क्या जा सकता है ?—खुला हुआ केवल मुँह ही तो है !—कौन करेगा न्याय, और किस बल पर करेगा ?—न्याय करने का बल है भी, या यह नर्तकों की निरी नृत्य-नाटिका ही है ?' और उसने व्यंग्यभरी दृष्टि से बृबु की ओर देखा, व्यंग्य ही नहीं, उसमें चुनौती भी थी !

बृबु ने शांत और अविचलित स्वर में कहा, 'बल की परीक्षा ही अभीष्ट थी, तो सामने आ कर ललकारा क्यों नहीं ? स्त्री का वेश बना कर स्त्रियों के झुंड में से पुरुषों पर व्यंग नपुंसक फेंका करते है, वीर नहीं।'

श्येन ने अट्टहास करते हुए कहा, 'हाऽ हाऽ हा ! यहाँ भी तो स्त्रियों का ही जमघट तो देख रहा हूँ ! पुरुष-वेष धारी स्त्रियों को ही हमारे यहाँ स्त्रैण कहा जाता है। यहाँ क्या कहते हैं उन्हें ?'

क्रोध से तमक कर शुष्ण उठ खड़ा हुआ, किन्तु बृबु ने संकेत से उसे बैठ जाने को कहा, फिर श्येन को लक्ष्य कर कहा, 'हमारे यहाँ स्त्रैण होना कोई बुरी बात नहीं। उसमें स्त्री के प्रति भक्ति का भाव निहित है, असम्मान का नहीं।—पर इतना बढ़-बढ़ कर बोलने वाले तुम हो कौन ? देवराज इन्द्र क्या अब अपनी सभा में वीरों के स्थान पर भाँडों को स्थान देने लगा है ?—हमने तो सुना था कि वह अप्रतिम वीर है, तो क्या वह अब सचमुच सठिया गया ?'

'तुमने सुना नहीं ?—देवराज इन्द्र का नाम सुनते ही स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं। उसके चिर-यौवन का रहस्य तुम कहाँ से जानोगे।—और कौन हूँ मैं ? तुम जैसों के लिए उसका प्रत्येक सभासद एक प्रचंड इन्द्र है। मुझे भाँड कहते हो, पर चार-चार प्रहरियों से घेर कर और उसके हाथों को बाँध कर उसकी वीरता को चुनौती देते तुम्हें लज्जा नहीं होती ?'

'वीरता की चुनौती पशुओं में चलती है श्येन, मनुष्यों में नहीं। तब भी मैंने तो कहा था, शौर्य की परीक्षा ही अभीष्ट थी तो सामने आकर यही माँगा होता ! सुना है, नगर में घर-घर घूम कर भीख माँगते भी तो रहे हो !'

श्येन ने मुस्करा कर कहा, 'रूप की भीख ! और वह मिली भी है अनार्य !'

शुष्ण ने खड़े होकर कहा, 'महापणिक, इसका दुस्साहस बढ़ता जा रहा है। मैं दुर्योण का अपमान नहीं सह सकता !'

बृबु ने बड़े मृदु-स्वर में कहा, 'श्वान के भौंकने से गजराज विचलित नहीं होते

महानायक !—इसके भौंकने से हमारा कुछ नहीं बिगड़ता !' फिर श्येन को सम्बोधित कर कहा, 'जहाँ जिस वस्तु की प्रचुरता हो, उसके दान में कृपणता कैसी ? रात को उन्हीं स्त्रियों के शौर्य की भीख नहीं मिली क्या ?—अपने आपको इन्द्र का सभासद ही नहीं, स्वयं इन्द्र बताते हुए तुम्हें लज्जा नहीं होती ? देवराज इन्द्र की अपकीर्ति का कारण शायद तुम जैसे धृष्ट अविवेकी व्यक्ति ही हैं। उसकी क्रूरता के जो कई प्रकरण सुने गए हैं, उनका अर्थ भी तुम जैसों के साथ से स्पष्ट हो जाता है।—जो सच्चा वीर है, वह क्रूर, अत्याचारी, उत्पीड़क कभी नहीं हो सकता। यह तुम्हीं जैसे शृगालों का काम है, जो सिंह की निष्ठीवन-जूठन को नोंच-नोंच कर पेट भरते हैं, और प्रचारित करते हैं कि इन्द्र ने काट-काट कर यतियों का मांस कुत्तों को खिला दिया है, कि उसने असुर-कृष्ण की गर्भवती पत्नियों को उदर फाड़ कर मार डाला है। तुम जैसे शृगाल और श्वान किसी भी वीर के लिए कलंक ही होते हैं !'

श्येन ने निर्लज्ज की तरह मुस्करा कर कहा, 'तुमने प्रमाणित कर दिया कि वास्तव में भाँड कौन है ! बड़ी डींग हाँक रहे हो। देवराज इन्द्र को कभी देख भी लोगे तो बिना ज्वर शरीर जूड़ी से थरथराने लगेगा। अभी तो तुमने उसके एक सामान्य सभासद को ही देखा है, और उसके भी हाथ बाँध कर तुम कायर की तरह डींग हाँक रहे हो....'

अपने आपको रोक न पाकर शुष्ण ने कहा, 'तुम्हें शायद नहीं मालूम, इसी भूमि पर तुम्हारे सैन्यनायक ऋजश्विन् और कुत्स की बल-परीक्षा हो चुकी है शठ ! इन्द्र का वह प्रिय सेनप अभ्यावर्ती चायमान क्या हरयूपिया का रणक्षेत्र कभी भूल पाएगा ?—महापणिक, मैंने सुना है कि कानीन पुत्र होने से इसके स्वामी की माँ ने जन्म देते ही उसे जल में प्रवाहित कर दिया था। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि इस शठ के भी पाँव बाँध कर इसे सिन्धुनद में डुबो दिया जाए !'

पीछे से शंख चिल्लाया, 'श्येन, तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ, इन अनार्य, अव्रत, आततायियों के मुँह मत लगो। ये यातुधान हैं, निश्शस्त्र देख कर ये तुम्हें मार डालेंगे। तुम्हारे ऊपर अपने सारे गण की आशाएँ टिकी हुई हैं श्येन !'

शंख को आश्वस्त करने के लिए श्येन ने कहा, 'देवराज तक एक बार खबर पहुँच जाने दे शंख ! वह अविलम्ब अपना अमोघ वज्र लेकर इन पर टूट पड़ेगा। उसने असुरों के स्वामी प्रचंड तैमात और वृत्र को चुटकियों में मसल डाला था। तू देखावेगा, कि शीघ्र ही इनकी यह जिह्मवार पुरी अग्नि-स्नान करेगी।—क्या करूँ, मेरे हाथ बँधे हुए हैं, वरना इस दंभी अनार्य का एक क्षण में गर्व चूर्ण कर दिखा देता कि इन्द्र के सभासद का अपमान स्वयं इन्द्र के अपमान से कम नहीं है।'

वृबु ने खड़े होकर कहा, 'इस दुर्वृत्त को अपने बल का बड़ा गर्व प्रतीत होता है।—प्रहरियो, खोल दो इसके बन्धन ! देखता हूँ इसकी प्रगल्भता में कितना दम है ?'

'यह क्या कर रहे हैं महापणिक ?' शुष्ण बोला, 'अपने उन्माद में यदि वह किसी पर आक्रमण कर बैठा ?'

'वह तो करेगा ही !—हम यही तो उसे बताना चाहते हैं कि उसका दर्प कितना मिथ्या है ?'

मृगम्मदा बोली, 'महापणिक, यह आपकी भावुकता का दूसरा प्रमाण है ।—महापणिक सारे समाज की, सारे देश की अमूल्य धरोहर है । सारे समाज को प्रभावित करने वाला ऐसा कोई निर्णय लेने के पहले उसे सभा से अनुमति लेना चाहिए । महापणिक कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है !'

मुस्करा कर बृबु ने कहा, 'महादेवी घबराएँ नही ! सामाजिक-महापणिक की प्रतिष्ठा का दायित्व व्यक्तिगत रूप में मुझ पर भी है—' प्रहरी बृबु के आदेश का पालन प्रारम्भ कर चुके थे, श्येन के शरीर का बंधन खुल चुका था, हाथों का बन्धन वे खोलने ही वाले थे कि महानायक का संकेत पाकर उन्हें रुक जाना पड़ा था । श्येन ने अवसर देखा, एक व्यर्थ की बहस में सभी का ध्यान बँट गया है, तो उसने कस कर प्रहरियों पर पैरों का प्रहार किया, ढीली रस्सी में उलझे हाथों की मुट्ठियाँ कसीं और शरीर की सारी शक्ति लगा कर हाथों को झटका दिया । रस्सी टूट गई, उसके हाथ मुक्त हो गए, पलक झाँपते वह अपने स्थान से उछला, और सीधा बृबु के सामने आ खड़ा हुआ । इस सारे व्यापार में मानों समय रुक गया था । सभी कार्य समान्तर एक ही क्षण में घटित हो गए, जिसकी अनुभूति केवल उनके कर्ता ही को हुई । यही नहीं, खड़ा होने के पहले ही श्येन ने अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी तान कर बृबु के मस्तक का लक्ष्य तौल लिया था । जहाँ तक संभव था, अपने हाथ को पीछे ले जाकर उसने ओठ भींच लिए, शरीर की पूरी शक्ति हाथ में केन्द्रित करके उसे अर्द्ध-वृत्त की गति दी और वह मुष्टिका वज्र बन कर कड़क उठी ।

सभा के अन्य सदस्य स्तंभित हो गए हों, किन्तु बृबु नहीं हुआ था । वह श्येन से भी अधिक सजग था । चुनौती जब फेंकी गई थी, पहल तो तभी बृबु के हाथ में थी । दाहिने हाथ की मुष्टिका उसकी भी तनी हुई थी । श्येन की दीर्घाकृति के अनुपात में बृबु ने आघात के लिए उसका वक्ष स्थिर कर रखा था । श्येन के आक्रमण की दिशा समझ कर बृबु कब तो नीचे झुका, कब श्येन की लक्ष्यच्युत मुट्ठी प्रत्यावर्तन में थक कर बृबु के कन्धे को झकझोर कर ही लौट गई, किन्तु कब इसी बीच बृबु की मुट्ठी भी लक्ष्यच्युत होकर वक्ष से कहीं अधिक संवेदक जंघाओं के बीच मर्मस्थल पर पूरी शक्ति से गिरी, किसी को कुछ भी पता न चला, किन्तु घटित यह सब एक साथ एक निमिष में हुआ । श्येन की जंघाओं के बीच मानों एक बिजली तड़प उठी और जैसे उसने सारे शरीर को चीर दिया । अपने डगमगाते सन्तुलन को वह सम्हाल सके इसके पहले

बृबु ने उसकी लड़खड़ाती टाँग पकड़ ली और श्येन पीठ के बल धम्म से फर्श पर आ गिरा। बृबु ने एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होने दिया, लपक कर वह उसकी छाती पर चढ़ बैठा, और दो मुक्के उसकी कनपटियों पर इस तरह मारे कि श्येन ने पीड़ा से आँखें बन्दकर लीं और वह निश्चेष्ट हो गया। तब तक महानायक शुष्ण और उसके पीछे दिग्मूढ़-जैसे प्रहरी टूटी हुई रस्सी हाथ में लिए बृबु के पास आ खड़े हुए थे।

मुस्करा कर बृबु उठ खड़ा हुआ और बोला, 'नहीं, रस्सी की अब आवश्यकता नहीं पड़ेगी। चाहो तो कमर से बाँध कर थामे रहो। अचेत हो गया लगता है। मुँह पर जल छिटकने से चेत हो आएगा!' कहते-कहते बृबु अपने आसन की ओर बढ़ा, किन्तु सहसा स्वतः ही उसका हाथ अपने बाएँ कन्धे से जा लगा। उसे स्मरण आया, श्येन की लक्ष्यच्युत मुष्टिका वहीं पड़ी थी, लक्ष्य चूक गया था, किन्तु तब भी उसकी शक्ति कम नहीं हुई थी!—ऐसा न हो कि उपचार आवश्यक हो जाए!

शुष्ण ने पूछा, 'क्या चोट कुछ कड़ी थी?'

—तब तक मृगम्मदा और सेलकेत भी पास आ खड़ी हुई थीं। मृगम्मदा ने कहा, 'आपको इतना भावुक नहीं हो उठना चाहिए था!—चलिए, आप विश्राम करें। यहाँ का काम शेष हो गया है!'

बृबु ने मुस्करा कर कहा, 'काम शेष हो गया?—कहाँ? वह तो अब प्रारंभ हुआ है। उसे भी बताना तो था कि यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति वज्र का होता है।—उसे चेत में लाया जाए, मैं बिलकुल स्वस्थ हूँ। आप चिन्ता न करें!' और सब पुनः अपने-अपने स्थान पर आसीन हो गए। एक प्रहरी फर्श पर अचेत पड़े श्येन के मुँह पर जल के छींटे छिड़क रहा था।

विषण्ण वदन महाश्रेष्ठि ने एक लंबी साँस ली और कहा, 'अति हो गई महापाणिक! प्रकरण बिगड़ तो बहुत गया है, मेरा निवेदन है, अब इसे यत्किंचित सुधारने का प्रयत्न हो!'

बृबु ने उत्तर दिया, 'आप जानते हैं, बिगाड़ा मैंने भी नहीं। प्रत्युत्तर देने की आवश्यकता आ पड़ी, तो मेरे लिए विकल्प भी कहाँ था?—पर, आप ठीक ही कहते हैं, स्थिति अब और बिगड़ने नहीं दी जाएगी। शिक्षा उसे भी पर्याप्त मिल ही चुकी है।—लीजिए, वह चैतन्य हो रहा है! कहो श्येन, स्वस्थ हो?'

पड़े-पड़े ही श्येन ने एक बार अपने चारों ओर देख लिया। उठ बैठने की चेष्टा की, किंतु जंघाओं के बीच पीड़ा अब भी कम न थी। उसे यह भी आशंका हो गई थी कि कहीं प्रत्यारोपित वृषण क्षतिग्रस्त न हो गए हों। यदि ऐसा हुआ तो पुनः प्रत्यारोपण दुरूह ही नहीं, कदाचित असंभव ही हो! तब उसके शेष-जीवन का क्या होगा?

बृबु ने कहा, 'लेटे रहो श्येन! मुझे खेद है, इतनी गहरी चोट पहुँचाने का मेरा

तनिक भी अभिप्राय नहीं था। लक्ष्य भी वह नहीं था। तुम उछल पड़े और मुझे झुक जाना पड़ा।—नहीं, मुझे मेरी शक्ति का तनिक भी गर्व नहीं है श्येन, वह पशुओं और बर्बरों को ही अभिनन्दनीय है। मैं साधारण मनुष्य ही भला हूँ।'—फिर एक बार सारी सभा की ओर देखकर बोला, 'तुम दोनों के अभियोगों पर विचार हो चुका है, और तुम दोनों को पर्याप्त शास्ति भी मिल चुकी है। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने स्वामी के पास लौट कर उसे कहो कि वीर होकर वह यह पाशव-वृत्ति क्यों अपनाए हुए है?—वह और उसका गण बाढ़ के विध्वंस से दुःखित और वंचित हो गया हो, तो वह मुझसे सहयोग ले। मैं उसे कर्षण के लिए भूमि दूँगा, प्रशिक्षण की व्यवस्था कर सकूँगा और साधन भी दे सकूँगा। हमारे पास उनका अभाव नहीं है!—हिंसा से तो यह सारी प्रकृति ही भरी हुई है भाई! मनुष्य हिंसा का दास होने के लिए नहीं, उसका स्वामी होने के लिए भेजा गया है। बल-विक्रम का प्रदर्शन चाहते हो तो यह सारी प्रकृति है तुम्हारे सामने। बड़े-बड़े दुरारोह पहाड़ हैं, दुर्गम सघन अरण्य हैं, विनाशकारी बाढ़ वाली प्रचंड नदियाँ हैं, इन्हें वशवर्ती करने में अपनी शक्ति का प्रयोग करो! हिंसक प्राणी और पशुओं से सारा संसार भरा हुआ है, उन्हें पालतू बनाओ, वे तुम्हारी सेवा करके धन्य हो उठेंगे।—पशु भी परस्पर लड़ते हैं, तो केवल अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए,! और मैं, सिन्धु-देश का महापणिक विभांडक, तुम्हारे अधिपति देवराज को सह-अस्तित्व का निमंत्रण भेजता हूँ।—मुझे हार्दिक-खेद है कि यहाँ आकर तुम्हें इन दुर्दशाओं में फँस जाना पड़ा। किंतु यह दोष तो तुम्हारा ही है। तुम अतिथि बन कर नहीं, शत्रु बन कर आए थे। मैं चाहता हूँ कि अब तुम मित्र बन कर स्वदेश लौटो। मुझे विश्वास है कि तुम्हारे साथी शंख की दृष्टि भी शायद अश्विनीकुमार नासत्य के प्रयत्नों से लौट जाए। वे कृतविद्य पुरुष हैं। उनके शिष्यत्व को मैं गौरव के साथ स्मरण करता हूँ!' फिर उसने महानायक शुष्ण को संबोधित करके कहा, 'महानायक, इन दोनों व्यक्तियों के लिए यात्रा के योग्य होने तक विश्राम की समुचित व्यवस्था करदें और यात्रा के योग्य इन्हें सब साधन भी उपलब्ध कर दिए जाएं।—आप सब सदस्यों का मैं कृतज्ञ हूँ कि इस कोमल क्षण में आपने एकत्रित होकर मुझे आत्मविश्वास की शक्ति और आपकी सेवा का अवसर दिया है!—तो, आज की यह सभा यहीं विसर्जित होती है!'

१६

सरोवर-परिसर में महादेवी मृगम्मदा के कक्ष में, कहना चाहिए, यह अनौपचारिक मन्त्रणा युद्ध-परिषद का ही रूप लेती जा रही है। नगर के और विशिष्ट जन तो दूर, स्वयम् महापणिक बृबु ही उपस्थित नहीं है। उपस्थित हैं केवल शुष्ण-दम्पति और उर्वशी मृगम्मदा। —आर्यों के गुप्तचर श्येन और शंख की विचिकित्सा के बाद वातावरण के अत्यधिक बोझिल हो जाने से सामान्य जन-जीवन में अनायास एक अबूझ अभूतपूर्व और आतंकपूर्ण आशंका फैल गई है। महानायक शुष्ण को यों भी अत्यन्त सजग रहना पड़ता है। सेलकेत भी नगर के महिला-समाज की सर्वोच्च प्रतिनिधि है। इधर उनके प्रयत्न से, न केवल सैनिक प्रशिक्षण बड़े सघन रूप में चल रहा है, बल्कि उन्होंने अपनी सूचना-सेवा भी पर्याप्त समर्थ और विस्तृत कर ली है। उन्हें नगर प्रान्त की ही नहीं, बाहर और शत्रु-पक्ष की भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिल रही हैं। उधर हरयूपिया से कुछ ही उत्तर में परुष्णि के तट पर शत्रु-पक्ष में एक भयानक सग्राम हो जाने की सूचना मिली है, जिसमें न केवल आर्यगण ही परस्पर लड़ पड़े हैं, बल्कि पश्चिम के कई आर्येतर गण भी जूझ गए हैं। विश्वास किया जाता है कि इसमें देवराज इन्द्र की पूरी उकसाहट थी, यद्यपि स्वयम् उसने इसमें भाग नहीं लिया। सर्वमेघ-यज्ञ के बाद से ही उसका दर्प और क्रौर्य बराबर बढ़ता जा रहा है। इन स्थानीय झड़पों में स्पष्ट ही शक्ति-परीक्षण के साथ ही साथ वह अपनी सैन्य-शक्ति में वृद्धि भी कर रहा है, ताकि अवसर पाते ही वह पूरी शक्ति से दुर्योण को धर दबोचे। दुर्योण अपनी रक्षा के लिए तैयारी तो कर रहा है, किन्तु शत्रु की दिनोंदिन बढ़ती जा रही शक्ति की तुलना में क्या यह पर्याप्त है? बृबु असावधान तो नहीं है किन्तु उसमें वह उत्साह क्यों नहीं है, जो आसन्न संकट की भीषणता को देखते हुए आवश्यक है? मृगम्मदा भी, गुप्तचरों के उस प्रकरण के बाद कुछ-कुछ उदासीन हो चली है। क्या इसमें भी कुछ बृबु की भूमिका है? —इन्हीं सब बातों के स्पष्टीकरण के लिए सेलकेत और शुष्ण मृगम्मदा के पास उपस्थित हुए हैं, ताकि उसे साथ लेकर वे बृबु से भावी-योजना पर विचार कर सकें, और यदि आवश्यक हो तो शीघ्र ही औपचारिक युद्ध-परिषद का गठन किया जा सके।

विचार-विमर्श काफी देर से चल रहा था। मृगम्मदा ने कहा, 'एक तरह से क्या यह शुभ नहीं कि इस तरह परस्पर संघर्ष में ही शत्रु-पक्ष की शक्ति खप जाए ? —पुरुकुत्स यदि इस संघर्ष में मारा गया तो ठीक ही तो हुआ है ! यह क्यों भूलते हो कि उसने अतीत में दासों के सात शारदीय पुर जीत लिए थे।'

'भूला नहीं हूँ देवि !' शुष्ण ने कहा, 'किन्तु अब ये सातों पुर क्या हमारे उससे भी भयानक शत्रु सुदास के अधीन नहीं हो गए हैं ?—यह सामान्य संघर्ष नहीं था देवि, संग्राम था, जिसमें एक साथ कई ग्राम भाग लेते हैं। और संघर्ष, संग्राम, जो भी कह लो उसे, युद्ध-जीवियों के लिए तो वह षाण है, जिस पर घिस-घिस कर वे अधिकाधिक तिग्म और सक्षम होते जाते हैं।'

'यह सुदास कौन है ?—नाम तो सुना था—'

'सुदास को नहीं जानतीं ?' शुष्ण ने आश्चर्य व्यक्त किया।

मृगम्मदा ने किंचित मुस्करा कर कहा, 'तुम भी समझ रहे हो न देवर ! —न जाने क्यों इन दिनों कुछ कुछ आलस्य घेरे रहता है। सूचनाएँ संग्रह करने में भी मन नहीं लगा पाती।'

सेलकेत भी मुस्कराई ओर बोली, 'सृजन में जो लगी हो, संहार के उपक्रमों में तब मन लगाने की रुचि भी तो नहीं हो सकती !'

सेलकेत की बाहुपर हाथ से टोहका मार कर मृगम्मदा ने कहा, 'चल हट ! तू भी तो उसी में लगी है। मुझसे पहले तो तेरा सृजन ही मूर्तिमान् हो जाना चाहिए।'

'मुझे कोई जल्दी नहीं है। तेरी तरह मुझे किसी अहिंसक श्रमण का निर्माण तो करना नहीं है। मैं तो अपने क्रोड़ में सिंह-शावक को पाल रही हूँ।'

'और यदि वह लड़की हुई ?'

'तो वह सिंह-वाहिनी होगी।—और देखना, यह सुदास तो क्या, चाहे इसका बाप दिवोदास भी हो, वह उसका रक्त पीकर ही तृप्त होगी।'

शुष्ण ने मुस्करा कर कहा, 'रक्त-पान की यह अभिलाषा महापणिक के सामने मत कर बैठना, वरना असमय अहिंसा पर पूरा व्याख्यान सुनने को मिल जाएगा।'

'तो क्या यह सुदास सचमुच उसी दिवोदास का पुत्र है, जिसने पवित्र सरस्वती के तट-बन्ध को पणियों से छीन लिया था ?' मृगम्मदा ने पूछा।

'हाँ देवि, अपने पिता वध्र्यश्व को हविर्दान करने के लिए जिस दिवोदास ने शम्बर के पुरों को नष्ट कर डाला था, उसीका उत्तराधिकरी है यह सुदास, ठीक

उसका पुत्र नहीं, पुत्र तो वह उसके मित्र पिजवन का है, दिवोदास ने उसे गोद लिया है।'

'रहने दो अपने दिवोदास की प्रशस्ति ! मैं क्या जानती नहीं कि इसी दिवोदास को एक तुर्वश-कुमार विश्रवस से पराजित होना पड़ा था।—नहीं क्या ?'

'सो ही तो।—देवराज इन्द्र की कूट-नीति इसी तरह तो भ्रम में डाल देती है। दिवोदास ही नहीं, उसके पराक्रमी साथी आयु और कुत्स तक को नीचा देखना पड़ा था, इसलिए कि विश्रवस की सहायता तब इन्द्र स्वयम् कर रहा था।'

'कुत्स ?—कहते क्या हो ?—इन्द्र की ओर से ही तो उसने गत बार दुर्योण पर आक्रमण किया था। कह दो, यह भी भ्रम है ?'

'सो तो है महादेवि', शुष्ण ने मुस्करा कर कहा, 'ऐसे ही भ्रम पैदा करके तो वह युद्धों में जय प्राप्त करता रहा है। इस प्रचंड दाशराज्ञ-संग्राम में सुदास की विजय का कारण भी इन्द्रका कूटनैतिक-कौशल ही है। उसके अन्यतम-मित्र मित्र और वरुण का नाम तो तुमने सुना ही होगा ?'

'सुना क्यों नहीं ! वे दोनों ही तो हमारे यहाँ से एक उर्वशी का अपहरण कर ले गए थे।'

'तब तो यह भी जानती होगी कि उनका पुत्र मैत्रावरुण-वसिष्ठ शस्त्र और शास्त्र की अपनी शिक्षा समाप्त कर आर्य-गणों में पूजित हो रहा है। इस संग्राम में अपने एक अन्य मित्र तृत्सु के साथ वही सुदास का पुरोहित था, और इस पुरोहिताई में इन्द्र ही की प्रमुख प्रेरणा थी।'

मृगम्मदा कुछ सोचने लगी, तो सेलकेत ने कहा, 'सम्वाद तो यह है बहन, कि इन अनु-तुर्वशादि पाँच आर्यगणों के अतिरिक्त सुदास ने उत्तर-पश्चिम के पाँच आर्येतर गणों को भी पराजित किया है।'

'अच्छा !—ये आर्येतर गण—' और उसने स्पष्टीकरण के लिए शुष्ण की ओर देखा।

'हाँ देवि, सेलकेत ठीक कह रही है। अलिन, पक्थ, भलान, शिव और विषाणिन आर्यों की ओर से ही सुदास से लड़े थे और पराजित हुए। यही नहीं, सुदास ने शिग्रु, शम्यु आदि के नेता भेद का भी वध कर दिया है।'

'अद्भुत हो, पर क्या इन्द्र की यह कूटनीति अनैतिक नहीं है ?—पहले तो दिवोदास के विरुद्ध तुर्वश-कुमार विश्रवस को सहायता देना, और फिर उसी तुर्वश-कुमार विश्रवस के विरुद्ध दिवोदास के पुत्र सुदास को ही सहायता देना !'

'जिस नीति से सफलता हो और युद्ध में जय मिले, इन्द्र के लिए वही नीति है। इसीलिए तो हमको अतिरिक्त रूप से सावधान रहना होगा। आवश्यकता पड़े

तो हमें भी वैसी ही नीति स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए। यह प्रश्न हमारा व्यक्तिगत नहीं, अपितु हमारे सारे नगर का है, राष्ट्र का है। सबकुछ देकर भी हमें इसकी रक्षा करनी होगी।'

'हम भी यदि वैसी ही नीति अपनाएँ, तो क्या कुछ आपत्ति है?,' सेलकेत ने कहा।

'मुझे क्या आपत्ति हो सकती है बहन?' मृगम्मदा बोली, 'प्रश्न तो है महापणिक की स्वीकृति का। उनके तर्क को काट सकना सरल नहीं है।—अच्छा, यह मैत्रावरुण वसिष्ठ क्या सचमुच शस्त्र और शास्त्र-ज्ञान में निपुण है?—उसकी अवस्था तो अधिक नहीं होनी चाहिए।'

शुष्ण ने कहा, 'सुना है, वह ऋचीक नामक किसी प्रख्यात गुरु का अन्तेवासी रह चुका है। उसके पिता वरुण ने पुत्र की ओर से गुरु-दक्षिणा के रूप में ऋचीक को एक सहस्र श्यामकर्ण अश्व दिए हैं।'

'है तो वह उवर्शी का पुत्र ही न?' सेलकेत ने कहा 'यदि प्रयत्न करो तो क्या उसे अपनी ओर नहीं मिलाया जा सकता?'

मृगम्मदा ने कहा, 'उर्वशियाँ अच्छी माता नहीं होतीं' बहन! वसिष्ठ यदि जीवित बचा है, तो वह माँ की इच्छा से नहीं, अपने पिता की इच्छा से ही बच पाया होगा। और जो पिता अश्वों के रूप में गुरु-दक्षिणा चुका सके, पुत्र के प्रति उसकी आसक्ति कितनी प्रखर होगी, और पुत्र ही क्या कभी उसकी अवमानना करना चाहेगा?-मैं एक दूसरा उपाय सोच रही हूँ।'

'वह क्या?' महानायक ने उत्सुक होकर पूछा।

'तुम्हें स्मरण है न महानायक, उर देश में जब हम लोग उस महाविध्वंस से बचकर आए थे, तब हमारे साथ वह प्रसिद्ध विद्वान आचार्य गाधि भी था—'

'उन्हें तो पूर्व में गंगा के कछार में पर्याप्त भूमि देकर भेज दिया गया न!'

'मैं उनके पुत्र की बात कर रही हूँ, उनके पुत्र विश्वरथ की। तुमने भी सुना अवश्य होगा, शस्त्र और शास्त्र–ज्ञान में उसने भी अपूर्व क्षमता प्राप्त कर ली है। श्यामकर्ण अश्वों की बात जाने दो, पर गाधि का अगाध ज्ञान किसी से कम नहीं हैं।'

मुस्करा कर शुष्ण ने कहा, 'विश्वरथ ने तो वहाँ अपना एक अलग राज्य ही स्थापित कर लिया है महादेवि! सुना तो यह भी गया है, कि वह बड़ा हठी हो गया है।'

'हठी है तो हमारे प्रयोजन में उसकी सार्थकता और भी अधिक महत्वपूर्ण होगी। और अपने पिता आचार्य की इच्छा वह शायद ही अमान्य कर सकेगा।'

'तुम कहना क्या चाहती हो ? सेलकेत ने पूछा।

'विश्वरथ और वसिष्ठ को परस्पर भिड़ा दिया जाए तो ?'

शुष्ण मुस्कराया, 'विजय का पौरोहित्य न वसिष्ठ के हाथ में है, न विश्वरथ के हाथ में। विजय के लिए आवश्यकता है उचित नेतृत्व की। नेतृत्व भी हमें उपलब्ध है, इतना अच्छा, कि सुदास तो क्या, स्वयम् देवराज तक उससे टक्कर लेने में हिचकिचाएगा।—मुझे तो इस जनश्रुति में भी सचाचाई प्रतीत होती है कि शंख के साथ आया हुआ वह गुप्तचर श्येन स्वयम् देवराज इन्द्र था। न भी हो वह, तब भी महापणिक के हाथों उसे जैसी दुर्गति और लज्जा का सामना करना पड़ा है, उससे देवराज इन्द्र का आत्म-विश्वास अवश्य डगमगा गया होगा, वरना देवराज जैसा दुर्वृत्त और दुराग्रही व्यक्ति अबतक चुप बैठा रहता ?—न वसिष्ठ से हमें किसी तरह का भय है, न विश्वरथ ही इस समय हमारी कुछ सहायता कर सकता है।—हाँ उस आर्य ऋषि ऋचीक को गुरु-दक्षिणा में जो एक सहस्र श्यामकर्ण अश्व मिले हैं, उनमें से सब नहीं, यदि कुछ थोड़े भी हमें मिल जाएँ, तो हम किसी का भी सामना कर सकते हैं ! क्या करेगा वह ऋषि इतने अश्वों का ?—अपने आश्रम में क्या वह उनका ठीक प्रकार सम्पोषण भी कर सकेगा !—किसी से अभी कहें नहीं, मैंने विश्वरथ को इसका पता लगाने का भार देकर उधर भेजा है। अश्वों के बदले मैं तो प्रचुर हिरण्य तक देने के लिए तैयार हूँ। यदि वह किसी तरह संभव हो।'

'पर हिरण्य देने के लिए तो महाश्रेष्ठि को प्रेरित करना होगा।' सेलकत ने कहा।

''वह बहुत बड़ी समस्या नहीं होगी। प्रश्न यह है कि उस ऋषि से क्या अश्व प्राप्त हो सकेंगे ? अश्वों के महत्व से वह ऋषि परिचित न हो, यह तो तुम भी स्वीकार नहीं करोगे महानायक ! अश्वों की व्यवस्था करनी ही हो, तो उसके लिए और अन्य स्रोत भी देखना होगा भाई।'

शुष्ण ने कुछ सोच कर कहा 'अन्य स्रोत तो केवल एक है, और वह भी पूर्णतया महाश्रेठि पर ही निर्भर करता है'

'वह कैसे ?' मृगम्मदा ने पूछा।

'उनका वह अनुचर है न, वणि। स्वयम् महाश्रेष्ठि ने स्वीकार किया था कि वह आर्यों के शिविर में इच्छानुसार आता-जाता रहा है। इसी तरह उसने कई उपयोगी सूचनाएँ भी प्राप्त की थीं। इधर और तो कहीं अश्व मिल नहीं सकते।

सुदूर उत्तर-पूर्व में इनको केशियों से क्रय किया जा सकता था, पर एक तो, पिछले वर्षों वे देवगण के मित्र हो गए थे, और उनमें परस्पर सन्धि हो गई थी। फिर इस प्रबल बाढ़ के बाद तो उनसे सम्पर्क भी दुष्कर हो गया है। अतः अभी यदि वहीं अश्व मिल सकते हैं तो या तो चुपके से उस आर्य-ऋषि ऋचीक से, या चोरी-छिपे वणि के माध्यम से आर्यों के शिविर से ही क्रय किए जा सकते हैं। आवश्यक हिरण्य की व्यवस्था तो महापणिक के द्वारा सार्वजनिक-कोष से कराई जा सकती है, किन्तु वणि विश्वासपात्र अनुचर तो महाश्रेष्ठि का ही है न! इसीलिए मैंने सुझाव दिया था कि महाश्रेष्ठि को भी परामर्श के लिए बुला लेना उचित होता।'

'परामर्श तो उनसे करना ही होगा, महाश्रेष्ठि जो ठहरे! और हमें स्वीकार भी करना चाहिए कि आर्यों की तुलना में यदि हमारे पक्ष की कोई दुर्बलता इस समय है, तो वह अश्व-बल की कमी है।'

सेलकेत तुनक गई। बोली, 'यदि अश्व-बल पर ही हमारी रक्षा निर्भर करती है, तो सिन्धुतट पर अश्वों का ही प्रभुत्व क्यों नहीं हो जाने देते?—और हम मानव होने का गर्व करते हैं! हमसे तो वह पशु ही भला है तब तो।—क्या तुम नहीं जानते कि मेरे देश में रथ तो दूर रहा, चक्र जैसी भी किसी वस्तु की वहाँ कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। तब भी यह मनुष्य ही कितने बड़े-बड़े शिला-खंड, कितनी-कितनी दूरियों से ढो लाकर पिरामिडों के अभ्रभेदी शिखरों तक चढ़ा ले गया है? अश्वों के अभाव में भी हमने आर्यों के आक्रमणों को विफल किया है। अश्व-बल न सही, मनुष्यबल तो हमारे पास है। और सच तो, क्या गर्व उसी पर नहीं किया जाना चाहिए?'

मृगम्मदा ने कहा, 'तुम्हारा कथन यथार्थ है बहन, अश्वों के अभाव में हम रुकने वाले वाले नहीं है। और सम्भव हुआ तो अश्वों का अभाव भी हम दूर करने का प्रयत्न करेंगे।—अच्छा, हमारा सैन्य-प्रशिक्षण तो ठीक चल रहा है न?'

सेलकेत ने ही उत्तर दिया, 'तुम आ नहीं रही हो, नहीं तो स्वयम् ही देखती। सोलह और चालीस वर्ष तक के सभी वयस्क स्त्री-पुरुष प्रातः-सायं बराबर सघन-प्रशिक्षण ले रहे हैं।'

'और शस्त्रास्त्र-निर्माण की प्रगति?'

'तुम्हें शायद बताया नहीं गया कि इस समय नगर में दस प्रमुख अयस्कार अपनी कर्मशाला में अनवरत दिन-रात निर्माण-कार्य चला रहे हैं। कई नए-नए आयुध बनाए गए हैं। इन्द्र के वज्र की बड़ी ख्याति है न, उसी के अनुरूप हमारे यहाँ गदा का निर्माण हो गया है।'

'और उसके प्रयोग के लिए समुचित-प्रशिक्षण की क्या व्यवस्था है ?'

'उसकी व्यवस्था दिवोदास के परम शत्रु और दुर्धर्ष—वीर वृसय का पुत्र इलिवश कर रहा है। वह दिवोदास के साथ युद्ध में अपने पिता वृसय की ओर से भाग ले चुका है। युवाओं का नेतृत्व भी वही कर रहा है, युवा-वृन्द एक तरह से उसकी पूजा ही करते हैं।-- एक बार चल कर देखो न तुम भी !—तुम्हारे अपने देश के भी कुछ नई प्रकार के आयुध निर्माण कराए जा सकें तो—'

'मैंने तो उनके आवश्यक रेखाचित्र बनाकर दृमीक को दे दिए थे। महापणिक ने आयुध-निर्माण का कार्य उसी को सौंप रखा है।—आज ही चलकर देखना होगा। मैं सचमुच लज्जित हूँ बहन, कि एक व्यर्थ के उपस्कर को लेकर मैं आलस्य में ग्रस्त हो गई।—तो फिर चलें, यहाँ अधिक समय नष्ट करने से क्या लाभ ?—महापणिक के साथ ही इन समस्याओं पर विचार करना उचित होगा, ताकि तत्काल निर्णय लिए जा सकें, और उन पर कार्यारम्भ हो जाए।'

'और महाश्रेष्ठि को भी साथ ले लें न ?' शुष्ण ने पूछा।

'तो तुम महाश्रेष्ठि, और यदि सम्भव हो तो इलिवश और दृमीक को भी साथ लेकर महापणिक के आवास पर पहुँच जाओ। मैं भी तब तक तैयार होकर सेलकेत के साथ वहीं पहुँचती हूँ।'

मुस्करा कर शुष्ण उठ खड़ा हुआ और बोला, 'दोनों तुम सृजनशील हो। कहीं अपनी सृष्टि-रचना में दूसरे विधान भूले न रह जाएँ। मैं महाश्रेष्ठि तथा अन्य नागरिकों को लेकर महापणिक के आवास पर पहुँचता हूँ।'

दोनों महिलाएँ भी उठ खड़ी हुईं।

● ● ●

उधर महापणिक-आवास में भी एक परिसंवाद जुड़ा हुआ था, युद्ध-मन्त्रणा से भिन्न, कह लीजिए एक समवशरण। तीन चीवर-परिहित श्रमण एक बड़ी नग्न काष्ठ-चौकी पर बैठे हुए महापणिक बृबु से गम्भीर चर्चा में लीन थे। मध्य में बैठा हुआ श्रमण अपने चेहरे की दीप्ति, तथा सम्वाद के सूत्रधार के रूप में उनका गुरू प्रतीत होता था। जैसा कि इन्होंने बतलाया था, ये सुदूर पूर्व में जन्मे थे और गए कुछ वर्षों से दुर्गम हिमालय की राह परिव्रजन करते हुए उत्तर-पश्चिम में कम्बोज और पक्थ तक चले गए थे। परुष्णि के तट पर जो दाशराज्ञ-संग्राम चल रहा था, उसे देखकर इन्हें अत्यन्त ग्लानि हुई। भयानक नर-संहार को रोकने के लिए वहाँ इन्होंने भरसक प्रयत्न किया, किन्तु ये सफल नहीं हुए। वहीं पर इन्हें सिन्धु-तट की इन बसतियों का पता चला, कि ये निकट-भविष्य में ही आर्यगणों की

प्रचंड शक्ति का लक्ष्य बनने वाले हैं, क्योंकि इनके विपुल ऐश्वर्य और समृद्धि पर देवराज की गृद्ध-दृष्टि पड़ गई है, कि शक्ति और बल में ये भी आर्यों से किसी तरह कम नहीं हैं, और यदि किसी भी तरह संघर्ष टाला नहीं गया तो भीषण नर-हत्या और संहार का तांडव मच जाएगा। आर्यों के सन्निवेश में इन्होंने इन्द्र से मिलने का प्रयत्न किया था, ताकि उसे युद्ध से विरत किया जा सके, किन्तु देवराज ने मिलने से न केवल इनकार कर दिया, बल्कि अपने अनुचरों से कह कर इन्हें अपमानित कर अपनी सीमा से बाहर भी निकलवा दिया। इसी प्रसंग में वह यहाँ बृबु से चर्चा करने के लिए आए हुए हैं। चर्चा काफी समय से चल रही है।

बृबु कह रहा था, 'हम स्वयम् तो कभी युद्ध करना नहीं चाहेंगे महाश्रमण, किन्तु कोई हम पर आक्रमण कर दे तो हमारे पास उपाय क्या है?—क्या हम अपनी रक्षा भी न करें?'

'पर यह तो कहो भन्ते, कि वे तुम पर आक्रमण करेंगे क्यों?'

'यह तो आप उन्हीं से पूछते।' कुछ मुस्कराकर बृबु ने कहा।

'अवश्य पूछता, किन्तु उन्होंने पूछने का अवसर ही कहाँ दिया?'

पास बैठे एक शिष्य ने कहा, 'जितना मदोन्मत्त हमने देवराज को सुना था भन्ते, उसके अनुचर तो उससे भी अधिक मदान्ध निकले। उन्होंने हमें द्वार से ही धक्के देकर निकाल दिया—' श्रमण कुछ और कहता, किन्तु गुरु ने हाथ के संकेत से उसे रोक दिया।

बृबु ने पुनः मुस्करा कर कहा, 'जिसके अनुचर अकारण आप जैसे शान्तिप्रिय, अहिंसक साधु पुरुषों के साथ हिंसक व्यवहार करें, वह मदान्ध और निरंकुश देवराज एक शान्तिप्रिय किन्तु समृद्ध नगर पर अकारण आक्रमण क्यों नहीं कर देगा?—उसके लोभ पर अंकुश कौन लगाए?'

'उस पर अंकुश अपरिग्रह लगाएगा।'

'अपरिग्रह?—उसका दायित्व भी क्या हम पर है?'

'जो मनुष्य है, दायित्व उसी पर तो हो सकता है भन्ते।'

'वे क्या मनुष्य नहीं हैं?

श्रमण ने मुस्करा कर कहा, 'कर्म से तो नहीं ही हैं। बल्कि स्वयं ही वे अपने को मनुष्य नहीं कहते।—वे अपने को देव कहते हैं, यानी दिव्य मानते हैं। और जब प्रकृति की एक प्रबल विध्वंसक बाढ़ ने उनके दिव्यत्व-दर्प को चूर कर दिया, तो अब कहने लगे हैं अपने को आर्य—आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, जबकि वे कर्म से अपने

आपको पशु से भी हीन प्रमाणित कर रहे हैं। पशु भी तो बिना प्रयोजन कभी हिंसा नहीं करता।'

बृबु ने उत्साहित होकर कहा, 'मेरे पूज्य पितृदेव कहा करते थे महाश्रमण, कि हिंसा तो प्रकृति में कहीं थी ही नहीं। था केवल अपनी रक्षा का प्रयत्न! सूखे के कारण जब वनस्पतियों का अभाव हो गया, और प्राणी भूख के मारे जब परस्पर एक दूसरे का भक्षण करने लगे, तो प्रकृति को विवश होकर कुछ प्राणियों को आत्मरक्षा के लिए दन्त-नखादि तीक्ष्ण आयुधों से सज्जित करना पड़ा। सिंह व्याघ्र आदि जो कुछ पशु मांसाहारी हो गए, प्रारम्भ में वे भी शाकाहारी ही थे, और आज भी वे यदि हिंसा का आश्रय लेते हैं तो केवल क्षुधा-निवृत्ति के लिए ही।'

'वे ठीक ही कहते थे भन्ते! यही तो सच्चा श्रमण-धर्म है।'

'यदि ऐसा है महामश्रण, और हम पर अकारण आक्रमण होता है, तो हम अपनी रक्षा का उपाय तो कर ही सकते हैं न? नहीं क्या?'

'तुम बड़े चतुर हो श्रावक, अपने तर्क-जाल में उलझा कर हमसे अपनी युयुत्सा का औचित्य स्वीकार कराना चाहते हो।—' किन्तु रक्षा किसकी?–तुम पशु नहीं, मानव हो। इस प्रश्न पर विचार की सम्यक् शक्ति केवल मानव को ही सुलभ है—किसकी रक्षा की बात कह रहे हो?—परिग्रह के द्वारा जो तुमने अपने चारों ओर संचित कर लिया है, उसीकी न! वह संचित-राशि क्या तुम्हारी है?—आत्म-रक्षा कह कर, दूसरों को नहीं, अपने ही को धोखा दिया जाता है। यही तो आत्म-प्रवंचना है।'

'इसे आप संचय कहते है महाश्रयण?—हमने तो प्रकृति के अवदान को ही अपने श्रम से अधिक फल-प्रसू किया है। इसका उपभोग भी किसी के लिए वर्जित नहीं है यदि कोई इसे बलात् आहरण कर अपने ही लिए नियोजित करने की चेष्टा न करे। यदि हमने कुछ भंडारण किया है, तो वह संचय के लिए नहीं, केवल इस-लिए है, कि समय और आवश्यकतानुसार उसका समाज में सम्यक् वितरण हो, प्राकृतिक या स्वैर-मानव-कृत संकटों के समय दुर्बल, वृद्ध या अशक्त प्राणी भूख या किसी अभाव से सन्तप्त न हों। आप शायद नहीं जानते, हमारे पास आए हुए आर्यों को भी हमने कृषि-योग्य भूमि तथा कृषि-कर्म का प्रशिक्षण देकर आसपास बसाया है। हमारे द्वार आज भी ऐसे किसी भी अपरिग्रही याचक के लिए खुले हैं।—किन्तु क्या अपने श्रम के उपार्जन की रक्षा के प्रयत्न को भी आप श्रमण-धर्म के विरुद्ध समझेंगे?'

श्रमण ने मुस्करा कर कहा, 'श्रमण-धर्म की व्याख्या नहीं हो सकती भन्ते, उसे केवल अनुभव किया जा सकता है। पूर्ण सत्य तो अवक्तव्य, अव्याकृत, अनिर्वचनीय

है । उसकी प्रकृति ही ऐसी है कि उसे शब्दों से व्याख्यायित किया नहीं जा सकता । शब्दों के द्वारा जितना प्रकट हो पाता है वह आंशिक सत्य ही हो सकता है । किसी तर्क से उसे बाँधने का प्रयत्न उसके प्रति कपट है भन्ते !—इसीलिए तो हमें कहना पड़ता है, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति !—तुम्हें एक अद्‌भुत किन्तु सत्य घटना सुनाता हूँ । सुदूर पूर्व में उधर हमारे अभिजन में एक केवल-ज्ञान सम्पन्न महाश्रमण हो गए हैं, जिन्हें आदि तीर्थङ्कर ऋषभनाथ कह कर पुकारा जाता है ।'

'तीर्थङ्कर ऋषभनाथ ?—आप उन्हें जानते हैं ?' वृबु ने आश्चर्य से पूछा ।

चक्षु निमीलित कर श्रमण मुस्करा भर दिया तो उसके एक शिष्य ने कहा, 'महाश्रमण चन्द्रनाथ को आदि तीर्थङ्कर के शिष्यत्व का गौरव प्राप्त है भन्ते ।'

'आप चन्द्रनाथ, उनके शिष्य हैं ? —किन्तु वे तो बहुत समय तक इसी क्षेत्र में थे ।—अपने शैशव में ही मैंने उनके आशीर्वचन सुनने का सौभाग्य पाया है महाश्रमण !'

'यह सर्वथा सम्भव है भन्ते । भगवान् ऋषभनाथ केवल-ज्ञान प्राप्त करके ही अपने अनुभूत धर्म-ज्ञान के प्रसार हेतु विहार करने निकल पड़े थे । जिनत्व प्राप्त करने के लिए अभी मेरी तपस्या शेष है, इसलिए मैं उनके साथ विहार में नहीं जा सका था । आश्चर्य नहीं कि इस प्रदेश में भी उनका विहार रहा हो, और दीर्घ समय तक रहा हो । यहाँ के हिंसामय वातावरण को देखते हुए धर्मचक्र के प्रवर्तन के लिए इससे अधिक उपयुक्त स्थान और हो ही क्या सकता था ?'

वृबु ने मानों लज्जा से सिर झुका कर कहा, 'शायद आपने न सुना हो, कुछ दिनों पूर्व देवराज के हिंसाप्रधान सर्वमेध-यज्ञ में एक किशोर को बलि से बचाने के लिए उसके स्थान पर स्वयम् एक महाश्रमण ने अग्नि-प्रवेश कर लिया था । ऐसी अनुश्रुति है कि वे स्वयम् आदि–तीर्थंकर ऋषभनाथ ही थे ।'

'हाँ भन्ते, यह प्रकरण आर्यों ने हमें भी सुनाया था । अब तक तो हम यही समझ रहे थे कि हमें डराने और भगा देने के लिए ही उन्होंने यह कहानी गढ़ डाली होगी । अपने स्वामी इन्द्र के और भी कई नृशंस व्यापारों की चर्चा कर उन्होंने हमें आतंकित करना चाहा था, कि किस तरह उसने अपना विरोध करने वाले यतियों को मार कर उनका मांस कुत्तों को खिला दिया था ।—जब तुम भी यही कहते हो, तो सम्भव है इस अनुश्रुति में सचाई हो । भगवान ऋषभनाथ तो करुणामूर्ति थे ही । यदि वह कोई दूसरा श्रमण भी रहा हो, तब भी एक निरीह किशोर को बचाने के लिए अपने प्राणों का इस तरह होम कर देने वाला निश्चय ही श्रद्धेय और वन्दनीय है । तीर्थंकर का अहिंसा-व्रत हमारे लिए गर्व का ही नहीं, अनुकरण का

विषय है। तुम शायद नहीं जानते कि एक प्रभूत-ऐश्वर्य-सम्पन्न महाप्रतापी राजा होते हुए भी उन्होंने अहिंसा का ऐसा अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया कि उनकी नगरी अब अयोध्या के नाम से पुकारी जाती है, अयोध्या अर्थात् जहाँ युद्ध और योद्धा का नकार हो।'

'यह नाम तो पहले कभी सुना नहीं गया महाश्रमण !' बृबु ने कहा।

'कहाँ से सुनोगे ?—वह नगरी बहुत दूर पूर्व में है न !—इतनी समृद्धि नहीं है वहाँ, जितनी यहाँ तुम्हारे इस दुर्योण नगर में है। किन्तु अपने राज्यत्व-काल में स्वयम् ऋषभनाथ ने प्रजाजनों को श्रम का महत्व समझा कर उसमें प्रेरित किया और अपनी ही पीढ़ी में उसे पर्याप्त समृद्ध कर दिया। अब वहाँ भी प्रजाजन अपने सम्भरण के लिए प्रकृति के सहज उपादान तरु-पल्लव, फल-फूल या वनस्पतियों पर ही निर्भर नहीं करते, वे भी तुम्हारी तरह भूमि को कृष्ट करने लगे हैं।'

'आप उनके बारे में कोई अद्भुत सत्य घटना सुनाने जा रहे थे न !'

'वह उनके पुत्रों से सम्बन्धित है, और इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि खंड-सत्य किस प्रकार असत्य आचरण का रूप ले सकता है। तीर्थंकर ऋषभनाथ के प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के उपरान्त उनके राज्य को लेकर उनके ही पुत्रों में तुमुल-युद्ध की स्थिति पैदा हो गई थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत तथा सपत्नी-पुत्र भाई वाहुबली दोनों की अपने पूज्य पिता तथा उनके अहिंसा-सिद्धान्त में अटूट निष्ठा थी, किन्तु अपनी शक्ति और पौरुष का भी उनमें उतना ही अहंकार था। उनके पारस्परिक-युद्ध में आत्मीयों के ही भीषण नर-संहार की आशंका से राज्य के वरिष्ठ लोगों ने अहिंसा की दुहाई दी तो उन्होंने हिंसा को एकदम से अस्वीकार तो नहीं किया, किन्तु उसे सीमित रखने के लिए दोनों भाई सहमत हो गए।'

बृबु के अधरों पर व्यंग की मुस्कराहट फैल गई, जिसे श्रमण चन्द्रनाथ ने लक्ष्य कर लिया। वे बोले, 'हँसने जैसी बात ही है भन्ते ! आत्म-प्रवंचना और कहते ही किसे है ? जैसे हिंसा भी कोई परिमाण-सापेक्ष्य वस्तु है कि उसे छोटा-बड़ा किया जा सके ! यही तो होता है खंड-सत्य का आश्रय लेने से। उन्होंने यह भी मान लिया कि युद्ध भी अहिंसक होता है। और अहिंसा के उस अप्रतिम पुजारी ऋषभ-नाथ के दोनों पुत्र, हिंसा को सीमित रखने के लिए, केवल वे दोनों ही परस्पर तीन प्रकार के अहिंसक युद्ध के लिए तैयार हो गए, पहला दृष्टि-युद्ध, दूसरा जल-युद्ध, और तीसरा मल्लयुद्ध—'

बीच में उन्हें रोक कर बृबु ने कहा, 'मल्ल-युद्ध तो अहिंसक नहीं हो सकता महाश्रमण ! और फिर दृष्टि-युद्ध तथा जल-युद्ध का तात्पर्य ?'

महाश्रमण चन्द्रनाथ भी मुस्कराए, 'राज्य के ज्येष्ठ लोगों ने शायद यह सोचा हो कि परस्पर निर्निमेष देखते रहने से भाइयों में भातृत्व उमड़ आए और अपने रक्त की एकता का ध्यान कर आप ही वे अपने ऊपर लज्जित हो उठें। अहंकार यदि तब भी रक्त की ऊष्मा को शीतल न करे, तो फिर जल-युद्ध हो। शायद जल की शीतलता ही युद्धोन्माद को समाप्त करदे।—जाने दो भन्ते! जिसके मूल में ही भ्रान्ति हो, आगे उसमें कहाँ-कहाँ भ्रान्तियाँ न होंगी?—यह तो युद्ध का ही प्रकरण ठहरा, किन्तु आगे तपश्चर्या के प्रसंग तक को इस अर्द्ध-सत्य ने कटु किए बिना नहीं छोड़ा।'

'सुनाइए न आगे का वृत्तान्त!—भाइयों के इन अहिंसक युद्धों में जय-पराजय का तो प्रश्न ही नहीं उठा होगा।'

'युद्ध हो और जय-पराजय न हो, यह कैसे सम्भव है?—तीनों ही युद्धों में कनिष्ठ भाई बाहुबली विजयी रहे। किन्तु इस विजय से उन्हें इतनी ग्लानि हुई, और वह तो होना ही थी, कि उन्होंने अहंकार के प्रतीक सारे राज्य-ऐश्वर्य, संसार की भोग-लिप्साएँ, सबका तत्काल परित्याग कर वन में घोर तपस्या का संकल्प ले लिया। वे युद्धभूमि से ही निबिड़ बन में चले गए और एक वर्ष तक कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े रह कर प्रतिमा-योग का साधन किया। उनका तप इतना कठोर था कि उनकी देह पर वन-लताएँ चढ़ चलीं, चरणों में दीमकों ने अपने ढूह खड़े कर लिए, सर्पों ने उनमें अपनी बाँबियाँ बना डालीं।'

बृबु ने आश्चर्य से पूछा, 'तब तो वे भी अपने पिता की तरह केवल-ज्ञानी बन गए होंगे?'

'तपस्या तो घोर थी, किन्तु उनके अहंकारी-मन का विक्षोभ तो बना ही हुआ था न! केवल-ज्ञान तो दूर, मन में तो शान्ति भी नहीं थी।'

'तब क्या हुआ?'

'उनके पिता तीर्थंकर ऋषभनाथ से ही इसका समाधान पूछा गया। बाहुबली के अहंकारी मन में यही क्षोभ था कि दो तलवों बराबर जिस भूमि पर वे तपस्या-रत खड़े थे, वह आखिर थी तो भरत के राज्य ही की!'

बृबु की हँसी नहीं रुक सकी, 'भूमि पर भी व्यक्ति-विशेष का स्वामित्व हो गया? क्या कोई कभी इसे अपने साथ लाता-ले जाता देखा गया है?—यह तो माँ है न, हम सब की। प्राणियों ही की नहीं, वनस्पतियों, पहाड़ों, नदियों आदि की, ये सभी तो उसी की सन्तान हैं।'

'तुम इसे मानते हो भन्ते ?—तब फिर यह युद्ध की तैयारियाँ किसलिए ? यह भूमि—'

बृबु ने बात काट कर कहा, 'मेरी नहीं है, किसीकी नहीं है, किन्तु उदार माता के इस वरदान के उपभोग का अधिकार तो सभी को प्राप्त है। मैंने यह भूमि किसीसे छीन कर प्राप्त नहीं की। आपके कहने का यही तो तात्पर्य है कि मन में यदि अहंकार और विकार हों तो घोर-कठोर तपस्या भी व्यर्थ हो जाती है। क्या माता के वात्सल्य का अधिकार भी पुत्र के लिए अहंकार है ? और महामुने, जबतक शरीर की स्वतन्त्र सत्ता बनी हुई है, तब तक इतना बोध तो रहेगा ही, कि 'मैं' हूँ, चाहे इसे अहंकार का नाम ही क्यों न दे दिया जाए !—केवल-ज्ञान प्राप्त हो जाए, तब भी और कोई न सही, केवल यह 'मैं' तो रहता ही है न ! नहीं तो, यह केवल-ज्ञान प्राप्त किसे होता है ?'

महाश्रमण कुछ झिझके, किन्तु शीघ्र ही सहज होकर बोले, 'तर्क से नहीं भन्ते, सत्य को तुम ध्यान से ही, अनुप्रेक्षा से ही प्राप्त कर सकते हो। वह अवक्तव्य, अनिर्वचनीय जो है ! तपस्या व्यर्थ नहीं है, पर हाँ, सबकुछ वह नहीं है।—केवल-ज्ञान-लब्ध 'मैं' एक अतीन्द्रिय अनुभूति है, कर्म आदि लेस्याओं से प्राप्त अवस्थाओं को 'मैं' मान लेना अहंकार है।—कर्म पौद्गलिक तत्त्व है, अतः कर्म-मुक्ति से ही इस अहंकार को नष्ट किया जा सकता है। कर्म-मुक्ति के लिए आवश्यक है निर्जरा और संवर। निर्जरा के द्वारा जब हमारे कर्म-बन्ध झड़ जाते हैं, और आस्रवों को तपस्या के द्वारा रोक देते हैं तो ध्यान के द्वारा सम्वर की स्थिति प्राप्त करनी होती है। अपने मन को समस्त बाहरी उपलक्ष्यों से सम्वरित कर ध्यान में अपने मूल स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करो भन्ते ! तब तुम्हें परम सत्य का दर्शन होगा, तब तुम्हारे मन में कोई तर्क, कोई भ्रान्ति नहीं रहेगी। तब तुम देखोगे कि यह सार्वभौम सत्ता और कोई नहीं, तुम स्वयम् हो, युगे-युगे पदे-पदे केवल तुम्हारा अस्तित्व ही मूर्तिमान है। तब यदि तुम कर्म करोगे, तो भी केवल साक्षि-भाव से ही वह कर्म होगा, उसका आस्रव तुम्हें व्याप्त नहीं होगा।'

महाश्रमण के कथन को धैर्य के साथ सुन कर बृबु ने कहा, 'क्षमा करें महामुने, ध्यान में मैं अपने को पहचानने का प्रयत्न करूँ, पर वहाँ तो मैं 'अकेला' मैं हूँ न ! इस केवली की, अकेले की पहचान ही क्या ?—किससे पृथक्, किससे विशिष्ट करके पहचानना होगा उसे ?—दूसरा कोई हो तब न ! मैंने प्रयत्न किया है भगवन् ! इस विशाल-प्रकृति में यह मनुष्य-जीवन स्वयम् मूर्तिमान ध्यान नहीं है तो और क्या है ? प्रकृति के इन असंख्य-अनन्त सम्बन्धों के बीच घुलमिल कर ही तो अपने को पहचाना जा सकता है ! सभी 'मैं' हूँ, यह तभी तो स्पष्ट होगा जब सब मेरे हों।—नहीं महामुने, सबसे विच्छिन्न होकर नहीं, सबमें समाकर ही मैं 'मैं' हो सकता

हूँ, तभी मेरी सत्ता समग्र हो सकती है। यह जीवन जो मनुष्य को मिला है, वह प्रकृति-पुरुष के ध्यान ही का तो पर्याय है।—सब कुछ छोड़ कर योग-साधन ? अपने प्रारम्भिक स्वरूप में ही वह तो वियोग का सोपान है ! कर्म साक्षि-भाव से ही क्यों किया जाए ? यदि यह सबकुछ मेरा ही विस्तार है, एक ही सत्ता का प्रक्षेपण है, तो दूसरा यहाँ है ही कौन ?—यह माया-मोह-मिथ्या-अनित्य आदि हो, तब भी मेरा है, और सत्य-शाश्वत-नित्य आदि हो तब भी मेरा है ! अपनेपन की इस सर्वसमावेशक सम्वृत्ति में तब सुख-दुःख क्या, जय-पराजय क्या—जीवन-मृत्यु, पाप-पुण्य, हानि-लाभ, अपना-पराया, सबकुछ मेरा ही तो रूप है, मेरी ही तो लीला है ! लीला के लिए धूप ही की नहीं, छाँह की भी उतनी ही आवश्यकता है, सार्थकता है।—तब मैं 'मैं' कहाँ, वह तो इन सवसे ऊपर नित्यनिखिल लीलाधाम—'

वृबु ने देखा कि महाश्रमण ने हाथ ऊँचा करके उसे रोक देने का संकेत किया है। उनके मुँह पर भी कुछ अस्वस्ति दिखाई दे रही है। वृबु रुक गया तो वे बोले, 'तुममें तो वह धैर्य भी नहीं है श्रावक, जो लम्बी रेखाएँ बुन सकता हो। बुद्धि का चाहे तुम्हे अहंकार न हो, किन्तु उसकी आराधना तो ऐसे कर रहे हो, जैसे वही एक सर्वोच्च शक्तिशाली तत्व हो !—शक्तिशाली तो है, पर उतना ही निर्विवेक है, अतः एक अभावुक पशु ही है। उसके प्रभाव में कोई भी व्यक्ति अपने ही विचारों को न्याय का निर्णय, और अपने ही हृदय की उमंगों को परम-सत्ता का व्यक्त या अव्यक्त स्वरूप मान बैठता है। किन्तु एक दिन यही बुद्धि स्वयम् तुम्हारे लिए भयप्रद हो उठेगी, जब कर्म-बन्ध तुमको घटनाओं के तीव्र-प्रवाह में बहा ले जाएँगे और तुम्हें क्षण भर रुक कर अपनी निरुपाय अवस्था पर विचार करने के लिए कहीं कोई क्षीण तट भी नहीं दिखाई देगा। मैं देख रहा हूँ, उस बुद्धि के प्रवाह में अभी से अहंकार-भरे ये विवेक-शून्य कर्म तुम्हारे लिए असम्वरणीय होते जा रहे हैं।—मैंने तो सुना था,'—और इसके साथ ही वे अपने आसन से उठ खड़े होने का उपक्रम करने लगे, उसी तरह उनके शिष्य भी,—'मैंने तो सुना था कि सिन्धु-तट का अधिपति महाराज विभांडक वृबु, न केवल शरीर-शक्ति में, बल्कि मनोबल में भी महावीर है, अपरिग्रही है, अहिंसा-व्रत में अडिग आस्थावान् है—'

स्वयम् वृबु भी इस आकस्मिक आक्रमण से आश्चर्य-हत होकर उठ खड़ा हुआ था। हाथ जोड़ उसने महाश्रमण के सम्मुख प्रणिपात होकर कहा, 'महाश्रमण ! यह क्या कह रहे हैं आप ?—मैं न तो कहीं किसी का अधिपति या राजा-महाराजा हूँ, और न मुझे शरीर या मन के बल का ही अपने में विश्वास है ! मैं तो छोटों-बड़ों, सबका समान-भाव से एक विनम्र सेवक हूँ। श्रमण-धर्म के प्रति मेरी आस्था

है, और यथामति उसके पालन का प्रयत्न भी करता हूँ। सम्भव है, मेरे विचार भ्रान्त हों, पर कसौटी के लिए यदि उन्हें आप जैसे प्रज्ञावान गुरु के सम्मुख ही नहीं प्रस्तुत करूँ तो और कहाँ करूँगा ?—मुझ अज्ञ को क्षमा करें गुरुदेव, यदि अनजाने मैंने आपके हृदय को दुःख पहुँचाया हो। मैं आपसे सत्य निवेदन कर रहा हूँ, मैं केवल अपने भ्रम का समाधान चाहता था। आप रुष्ट न हों। आपकी गोचरी की व्यवस्था—'

'उसकी चिन्ता न करो भन्ते ! आज की हमारी गोचरी सम्पन्न हो चुकी है। हम तुमसे रुष्ट भी नहीं हैं। तुम्हारे विनय से हम प्रभावित हैं। हम फिर आएँगे। हमें लगता है कि तुम अभी कर्म की आसक्ति से मुक्त नहीं हो। बुद्धि और तर्क के जाल में अभी तुम्हारा मन उलझा हुआ है, इसीलिए तुम अहिंसा के मर्म को सम्यक् रूप से नहीं पहचान पाते। तुम्हें अनुप्रेक्षा·ध्यान की धारणा करना चाहिए।—उसकी प्रक्रिया मैं तुम्हें समझाऊँगा।' और वे द्वार की ओर बढ़ चले।

बृबु ने कहा, 'तो महाश्रमण, सन्ध्या का विहार यहाँ स्वीकार कर इस कुटिया को पवित्र करने की कृपा करें।'

'नहीं भन्ते, हम एकाशन-व्रती हैं। साधु के लिए तीन विजय आवश्यक हैं न—अशन, शयन और आसन-विजय।

'तो कल के लिए ?'

'वह भी नहीं भन्ते ! निमन्त्रण या पूर्व-सूचना की गोचरी साधु के लिए वर्जित है। दिन में एक ही घर से अनायास जो मिल जाए, वही स्वीकार्य होती है। संयोग से यदि कुछ न मिले तो उस दिन उपवास रहता है, दूसरे घर याचना नहीं की जा सकती ! साधु-धर्म बड़ा कठिन है भन्ते ! सहसा इस तरह हमारे चले जाने से तुम अपने मनमें दुःख न करो श्रावक ! तुम्हारी शंकाएँ भी व्यर्थ नहीं हैं। उनमें निहित तर्क-बल से मेरा विश्वास हिला तो नहीं, किन्तु मुझे लगता है कि उसे अभी और दृढ़ होना चाहिये, तभी वह दूसरों को प्रभावित कर सकेगा ! अपने उपाश्रय लौटकर मैं सामायिक करूँगा।—गहरी अनुप्रेक्षा करूँगा। अपरिग्रही यदि आत्म-निग्रही भी हुआ तो आत्म-बोध के अहंकार में जीव का परिरमण स्वाभाविक ही तो है ! अपने मन का समाधान मैं कहाँ खोजूँ ?—तुम कहते हो भगवान ऋषभनाथ महानिर्वाण को प्राप्त हो गए ! उन्होंने अपने पुत्र बाहुबली के मन के क्षोभ का निराकरण किया था। मेरे लिए वह सुयोग अब कहाँ है ! यदि सचमुच मेरी तपस्या अधूरी रही हो तो उसे पूरी करना ही होगा उसके बिना निर्वाण कहाँ है'—और द्वार ठेल कर वे बाहर आ गए।

श्रमणों के पीछे-पीछे जैसे ही बृबु भी द्वार पर पहुँचे, उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि बाहर पहले से ही वहाँ खड़ी हुई उर्वशी मृगम्मदा और सेलकेत शायद भीतर के वार्तालाप को कान और मन लगा कर सुन रही हैं। एकाएक द्वार खुल जाने से दोनों महिलाएँ भी कुछ हड़बड़ाईं। एक ओर हट कर मार्ग देने के साथ ही उन्होंने श्रमणों को प्रणाम किया, किन्तु श्रमण जैसे अपने आप में खोए हुए बिना ध्यान दिए पैरों की ओर देखते हुए आगे बढ़ गए।

बृबु ने कहा, 'आप कब से खड़ी हुई हैं यहाँ ?'

सेलकेत ने मुस्करा कर कहा, 'अब यह पूछ कर क्या करोगे देवर ?—सुना कि श्रमणों के साथ धर्म चर्चा चल रही है; तो लगा कि आना व्यर्थ ही हुआ है। लौट भी जातीं, पर इस बीच औरों को भी यहाँ मिलने का निमन्त्रण जो दे आईं हैं, इसलिए रुक जाने के सिवा चारा ही क्या था ?'

'तो भीतर क्यों नहीं चली आईं ? चर्चा में आपको भी रस मिलता। चलिए, अब तो भीतर चलिए। और किस-किसको निमन्त्रण दे आई हैं ?—आवश्यक प्रयोजन हुए बिना तो आजकल आपके दर्शन ही सुलभ नहीं होते।' और भीतर प्रवेश करते-करते बृबु ने उर्वशी को लक्ष्य कर कहा, 'मैंने सुना आजकल तुम प्रशिक्षण-केन्द्रों में नहीं जा रही हो। स्वस्थ तो हो न ?'

सेलकेत ने चुटकी ली, 'स्वस्थ कहाँ से होगी ?—तुमने नव-सर्जन का भार जो लाद दिया है !'

मृगम्मदा ने आँखें तरेर कर सेलकेत की ओर देखा और, इसके पहले कि वह कोई आगे कुछ कहे, मृगम्मदा ने बृबु से कहा, 'तुम तो जानते हो न, सावन के अन्धों को सब ओर हरा ही हरा दिखाई देता है। स्वयम् जो सर्जन में लगी हुई है ! कहती है सिंह-शावक का निर्माण कर रही हूँ। तुम्हारे अहिंसा-धर्म को सीधी चुनौती है।—आप बताइए, आपके कन्धे की अस्थि अब कैसी है ?'

बृबु का हाथ अनायास अपने कन्धे पर चला गया। बोला, 'कुछ शोथ शेष है। विश्राम से काफी लाभ हुआ है यह आशंका दूर होगई कि वह टूट गई हो या क्षत होगई हो ! आप लोग बैठिए न !' और उसने पास रखी आसन्दियों की ओर संकेत किया। जब वे बैठ गईं तो स्वयम् भी एक आसन्दी उनके सामने खींच कर बैठते हुए बोला, 'महानायक और आपको सचमुच बड़ा परिश्रम करना पड़ रहा होगा, किन्तु कल से मैं नियमित केन्द्रों में जाकर प्रगति देखूँगा। अब मैं बिलकुल स्वस्थ हूँ', फिर किंचित मुस्करा कर कहा, 'प्रशिक्षण-केन्द्रों में मेरी अनुपस्थिति से इन श्रमणों को शायद कुछ आश्वासन मिला हो कि मैं युद्ध में प्रवृत्त नहीं होऊँगा। बेचारे उसी भावना की पुष्टि के लिए मेरे पास आए होंगे। यदि आपने हमारी

बातचीत का कुछ भी अंश सुना हो तो समझ ही गई होंगी कि इन्हें निराशा ही हुई है।'

सेलकेत ने कहा, 'मेरे मन में तो इन श्रमणों को लेकर एक और ही शंका होने लगी थी कि कहीं ये देवराज इन्द्र के पुनः भेजे हुए गुप्तचर न हों। भय और आतङ्क दिखाकर जब तुम्हें प्रभावित नहीं कर सके तो तुम्हारे बैरागी-मन को हवा देकर क्यों न दुर्बल बनाया जाए ?'

हँसते हुए बृबु बोला, 'मेरे मनोबल को चुनौती भी दी थी, सुना होगा न ?—पर गुप्तचर नहीं, सच्चे साधू ही हैं। सचमुच चाहते हैं कि हिंसा को रोका जाए।'

'कुछ रुष्ट भी तो मालूम पड़ते थे ! बोल कितने ऊँचे स्वर में रहे थे ?' मृगम्मदा ने कहा।

'पर अपने अकारण रोष को समझ भी तो गए थे ! यही तो है सच्ची साधुता !—प्रायश्चित स्वरूप अपने को कठोर दंड देने के लिए कहीं कायोत्सर्ग-जैसी किसी कृच्छ्र-तपस्या का आयोजन न कर डालें। वह गुरु चन्द्रनाथ बड़ा भावुक और सम्वेदनशील प्रतीत होता है।'

'कठोर-तरस्या करके तीर्थङ्कर हो जाएगा तो डूबते हुओं को पार करेगा', सेलकेत ने कहा, 'पर यह निश्चित है कि इन हिंस्र-आर्यों की हिंसा के समुद्र में डूबने से बचाने वाला तीर्थङ्कर वह नहीं हो सकता। उसके लिए हाथ में मयूर-पिच्छी नहीं, तीक्ष्ण-कृपाण चाहिए।'

'तब भी मानवता से प्रेरित ये बेचारे प्रयत्न तो करते ही हैं ! यहाँ आने से पहले ये आर्यों के सन्निवेश भी हो आए हैं।'

'पर देवराज तो इन यतियों का घोर शत्रु बताया जाता है।' मृगम्मदा ने कहा।

'जिन्हें अपने प्राणों का ही भय न हो उन्हें किसीकी शत्रुता से क्या भय होगा ? ये जानते थे कि इन्द्र ने यतियों को मार कर उनका मांस कुत्तों को खिला दिया है, तब भी उससे मिलने की इन्होंने चेष्टा की थी।—बौखलाया हुआ तो वह है ही इनसे, और इस समय तो अपने पिट्ठू सुदास की इस दाशराज्ञ-संग्राम में विजय के मद में अन्धा भी हो रहा है। उसके सेवकों ने ही भगा दिया, वरना उसकी कोपाग्नि से बच निकलना इनके लिए कठिन ही था।'

मतलब की बात प्रारम्भ करने का उचित अवसर देखकर मृगम्मदा ने पूछा, 'आर्यों के इस पारस्परिक-संग्राम के बारे में महापणिक क्या सोचते हैं ?'

एक दृष्टि सेलकेत पर डाल कर बृबु ने कहा, 'पता नहीं, आप लोगों को उस संग्राम के बारे में कितना-कुछ मालूम है, यद्यपि जो भी कुछ हो उससे हमें कोई

विशेष चिन्ता नहीं होनी चाहिए, तब भी मैं सोच रहा हूँ कि शीघ्र ही एक सभा बुला कर इस विषय पर विचार अवश्य किया जाए, कम-से-कम सबको वस्तुस्थिति से तो अवगत कराना ही चाहिए।'

सेलकेत ने कहा, 'जो सूचनाएँ हमें मिली हैं, स्वाभाविक था कि महानायक उनसे उद्विग्न हो उठें। सम्भव है, तुम्हें सबकुछ न मालूम हो। अस्वास्थ्य के कारण ही तुम्हें हम अबतक सूचित नहीं कर पाए। इसी विषय पर आज महादेवी और महापणिक के साथ अनौपचारिक चर्चा करने के लिए हम महादेवी के आवास पर इन्हें लिवा लाने के लिए गए थे! अपने अस्वास्थ्य के बावजूद महापणिक सजग हैं, यह हमारे लिए गर्व की बात है। पर शायद तुम्हें मालूम न हो, आर्यों के इस संग्राम में यहाँ के पाँच अनार्य-जनपद भी पराजित हुए हैं।'

'मैं सुन चुका हूँ। भला इन जनपदों को आर्यों के इस संग्राम में भाग लेने की क्या आवश्यकता आ पड़ी थी?' बृबु ने कहा।

'देवराज के आतंक से सभी आर्येतर-अभिजन पीड़ित हैं न! अकेले तो उससे पार पा नहीं सकते, तो पहले तो परस्पर मिल कर और फिर उसके शत्रु से मिल कर उसे पदस्थ करने का अवसर देखा हो।—देवराज ने चाहे इसमें सीधे भाग न लिया हो, पर सुदास को उकसाने में और फिर उसकी पीठ पर वही तो था।' मृगम्मदा ने कहा।

'मुझे जबसे यह सूचना मिली है, मैं इस पर विचार करता रहा हूँ। एक सर्वनिष्ठ बलिष्ठ शत्रु का मिल कर सामूहिक-प्रतिरोध सफलता की सम्भावना तो बढ़ा देता है, किन्तु विफलता मिलने पर, एक का नहीं, सारे समूह का रण-बल और मनोबल तोड़ देता है। छुटकारे की राह तो खो ही जाती है, उसको फिर से खोजने के प्रयत्न भी ढीले पड़ जाते हैं।—और चाहे जो हो, हिंसा को व्यापक करने का दोष तो किसी तरह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।'

सेलकेत ने चुटकी ली, 'हिंसा भी क्या कोई परिमाण-सापेक्ष्य वस्तु है, कि उसे सीमित या व्यापक किया जा सके?' और मृगम्मदा की ओर देखकर उसने मुस्करा दिया। बृबु समझ गया। बड़ी देर से बाहर खड़ी श्रमणों के साथ चल रही उसकी बातचीत वे सुन रही होंगी। उसने कहा—

'शब्दों के छल में जाने से हम अपने ही को तो छलते हैं भाभी! अपने मूल-स्वरूप में हिंसा व्यापक या सीमित न हो, किन्तु उसका प्रतिफलन तो प्रतिहिंसा में होता है न! और प्रतिहिंसा की तो प्रकृति ही फैलना और फूलना है!—रोकना हो तो हिंसा ही को रोकना होगा। ये श्रमण मुझसे रुष्ट या निराश होकर क्यों गए हैं? इसलिए नहीं कि मैंने इनका मन्तव्य अमान्य कर दिया। इनको पकड़ना

चाहिए था हिंसा का मूल उत्स। बेचारों ने प्रयत्न भी किया था। उनकी निराशा का बीज तो आर्यों की मनोभूमि में है, यहाँ शाखाओं को काटने से क्या लाभ ?'

'उनकी बात वे जानें। यदि इस हिंसा की बाढ़ से हमें बचने का मार्ग वे सुझा सकते, तो हम उनका अभिनन्दन करते। पर जब कि हिंसा की बाढ़ हमारे द्वार पर टकराने को आतुर हो, तब हमें हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना क्या उचित होगा।'

बृबु ने कहा, 'महादेवी उर्वशी यहाँ हैं ही, यदि महानायक घर ही लौटे हों तो उन्हें और महाश्रेष्ठि को परामर्श के लिए अभी यहीं बुला लिया जाए !'

मृगम्मदा ने कहा, 'महानायक महाश्रेष्ठि को ही लिवा लाने गए हैं। सम्भव हुआ तो वे अन्य गण-नायकों को भी साथ ले आएँगे। परिस्थिति की गम्भीरता के अनुमान से हम महापणिक की पूर्व-स्वीकृति न ले सके, यदि महापणिक को इससे रोष या असुविधा हुई तो क्षमा करें।'

बृबु ने मुस्कुरा कर कहा, 'क्षमा किया जा सकता है, पर एक उपबन्ध के साथ ! आप तीनों इसी तरह भविष्य में भी मुझे महापणिक न मान कर अपनी आत्मीयता का ही अंश मानें।—वैसे यह तो मेरे मन की ही बात हुई। मैंने अभी कहा ही है कि मैं स्वयम् भी शीघ्रातिशीघ्र अपने सहयोगियों को एकत्र कर इस विषय पर बातचीत करना चाह रहा था। बल्कि मैंने तो—अच्छा, चलिए न ! मन्त्रणा-कक्ष में बैठ कर ही उनकी प्रतीक्षा की जाए।—अपनी सूचनाओं के अनुसार मैंने वहाँ मानचित्र में इस संग्राम की सारी-पृष्ठभूमि अंकित की है। अपनी रक्षा के लिए शत्रु की रणनीति का अध्ययन बड़ा आवश्यक है। आज तो मैं स्वयम् ही यह चर्चा छेड़ना चाहता था। आपलोग एक-एक कर आते हैं, मेरा स्वास्थ्य-समाचार मालूम कर चले जाते हैं, मुझे मँडराते हुए संकटों की सूचना देकर त्रस्त-व्यस्त करना नहीं चाहते। मुझे स्वयम् भी हिंसा की चर्चा से आन्तरिक ग्लानि अनुभव होती है। किन्तु अपने दायित्व को अस्वास्थ्य के बहाने कबतक और कैसे भुलाए रख सकता हूँ ? न चाहते हुए भी मुझे अपने को किसी भी संकट के लिए तैयार तो रखना पड़ेगा ही। इसीलिए अपने तौर पर मैंने सूचनाएँ भी संग्रह की हैं। उन्हें बुलाकर आपने मेरा भार हलका ही किया है।'

सेलकेत ने कहा, 'और मैं संकोच ही अनुभव कर रही थी कि हमारी यह चिन्ता और विक्षेप कहीं तुम्हारे क्षत-संरोहण में बाधा तथा तुम्हारे प्रति अन्याय न हो। किन्तु तुम तो पहले से ही इन्हें अपने ऊपर ओढ़े बैठे हो।—इतने निकट हो देवर, कि भूल ही जाती हूँ कि तुम महापणिक भी हो। देवर के रूप में स्मरण रख कर ही तो तुम्हें अधिक निकट पाया जा सकता है।'

'और देवर बना रह कर ही तो भाभी के ऊपर कुछ अधिकार का गर्व कर सकता हूँ, वरना महापणिक के ऊपर तो सभी अधिकार जमाते हैं। देखो न, महादेवी उर्वशी तक मुझे महापणिक कह कर दूर ही रखना, कहूँ तो, दुरदुराना ही चाहती रही हैं। उनके ऊपर अधिकार···'

मृगम्मदा सहसा उठ खड़ी हुई, बृबु की बात को बीच ही में रोक कर कहते-कहते, 'जो महापणिक के आदेश और महापणिक के रूप में ही प्राप्त हुआ हो, उसे अन्य किसी रूप में प्राप्त करने की सुविधा ही किसने रख छोड़ी है?' फिर सेलकेत को लक्ष्य कर बोली, 'तुम्हारे भाग्य से ईर्ष्या नहीं है बहन, किन्तु तुम्हें तब भी देवर तो मिला है, जब कि मैं तो सब कुछ खोकर बैठी हूँ।—चला जाए महापणिक के मन्त्रणा-कक्ष में। दुर्योण के भविष्य का प्रश्न है, उसके सामने हमारी-तुम्हारी व्यक्तिगत बात का क्या महत्व है?'

इसके पहले कि बृबु कुछ उत्तर दे, सेलकेत ने कहा, 'यह क्या बात है देवर? मैं तो जिसे इसकी उदासी का कारण समझे बैठी थी, उससे प्रसन्न ही हुई थी।'

विह्वल होकर बृबु ने कहा, 'सहसा इस क्रूर अभियोग का कारण तो मैं भी नहीं समझ पा रहा हूँ भाभी! मेरी अपनी उदासीनता की बात हो तो मेरे कन्धे की यह चोट तो है ही—सह गया हूँ किन्तु इसके लिए मुझे कितना मनोबल संग्रह करना पड़ा है, मैं ही जानता हूँ। उस दैत्य की वह मुष्टिका हाड़-माँस की नहीं, अयस्क ही की होनी चाहिए। फिर आर्यों के आक्रमणों की सम्भावना! न जाने क्या हो मेरा भविष्य?—अपनी निजी इच्छाएँ ही क्या, अनेक सार्वजनिक महत्व की योजनाएँ तक मन मार कर मुझे स्थगित रखनी पड़ रही हैं।—गई पूर्ण चन्द्र की रात्रि को उर्वशी कुमुन्निशा का स्वागत-समारोह आप लोगों ने इसलिए स्थगित कर दिया कि मैं उसमें बैठ नहीं सकता था। भला यह भी कोई बात है? मैं यदि न रहूँ तो क्या दुर्योण का कार्य रुक जाना चाहिए?'

सेलकेत ने मृगम्मदा का हाथ पकड़ कर बैठाते हुए कहा, 'यह कैसी अशुभ बात कह रहे हो देवर? जब तक हम हैं, तब तक तो तुम्हारे बिना दुर्योण की कल्पना भी नहीं की जा सकती।—और इसी तरह तुम्हारे बिना उर्वशी मृगम्मदा की कल्पना भी नहीं की जा सकती, यह तुम क्यों भूलते हो?—मातृ सरोवर की शोभा तो यह बढ़ा ही चुकी है, किन्तु अब तो, जब कि इसे स्वयम् मातृदेवी के आसन पर अपने ही गृह में प्रतिष्ठित-पूजित होना है, तो इस कपट-उदासीनता को छोड़ कर इसे विधिवत यहाँ क्यों नहीं ले आते?'

बृबु ने प्रश्नभरी दृष्टि सेलकेत पर डाली, और फिर मृगम्मदा की ओर देखा। उसकी भृकुटि पर सल चढ़े हुए थे और नीची दृष्टि किए वह अन्यमनस्क-

भाव से अपनी अँगुली को आँचल के छोर से बार-बार बाँध रही थी, खोल रही थी। सेलकेत से वृबु ने कहा, 'मेरे मन में अब कोई दुविधा नहीं है भाभी ! महापणिक की बात तो मैं नहीं कहता—मुझ पर तो वह बलात् थोप दिया गया है न !—किन्तु अब तो उर्वशी मृगम्मदा के बिना वृबु के अस्तित्व की कल्पना भी सह्य नहीं है। सोचा था कि चारों ओर आसपास धधक रही हिंसा की यह ज्वाला शान्त हो जाए तो गृहस्थी बसाऊँ। आग में कूदने की नियति सामने देखकर तो गृहस्थी का स्वप्न देखना, पागलपन ही हो सकता है।' फिर किंचित मुस्करा कर बोला, 'पर सचमुच ऐसा पागलपन भी कहाँ है ?—गृह और गृहस्वामिनी बने रहें, तो गृहस्थ को आ जुटने में क्या कठिनाई है ?—तो फिर उर्वशी कुमुन्निशा का अभिनन्दन उसे मातृदेवी की प्रमुख पुजारिणी के रूप में अभिषिक्त कर क्यों न किया जाए, और तभी महादेवी मृगम्मदा मेरे उजड़े गृह का विधि-वाह स्वामित्व सम्हालें ?'

वस्तुतः मृगम्मदा अन्यमनस्क नहीं थी। उसने तमक कर कहा, 'यह क्या महापणिक का आदेश है ?'

स्वर की परुषता से वृबु ही को नहीं, सेलकेत को भी आश्चर्य हुआ। उसने पहले मृगम्मदा की ओर और फिर वृबु की ओर देखा। वृबु कह रहा था, 'महापणिक की बात मैं नहीं जानता। वह इस समय यहाँ उपस्थित भी नहीं है। यह तो तुम्हारी अस्मिता के एक अकिंचन याचक की विनम्र भीख है मृगम्मदा।'

'महापणिक प्रस्तुत न हों यहाँ, पर उनसे छिपा हुआ क्या है ?—तुम्हारे यहाँ नारी की नियति क्या सदा छली जाते रहना ही है ?'

'समाज की तो नहीं, पर अपनी बात मैं कह सकता हूँ मृगम्मदा !—ठीक है, तो तुम्हारे विश्वास के लिए आज इसी मन्त्रणा-सभा में महापणिक भी दुर्योण के गण-नायकों की स्वीकृति ले लेता है—'

'नहीं महापणिक, अभी इसके लिए उपयुक्त अवसर नहीं है।—हाँ, इस बीच कुमुन्निशा का मातृदेवी की प्रमुख पुजारिणी के रूप में अभिषेक अवश्य हो जाना चाहिए।'

सेलकेत ने कहा, 'क्या कह रही है पागल लड़की ?–जिसके लिए मरी जा रही थी—'

मुस्करा कर मृगम्मदा ने कहा, 'तुम्हें तो गर्व होना चाहिए बहन ! मरी भी जा रही होऊँ, पर भीख माँग कर नारीत्वको लज्जित तो नहीं किया है।'

'भीख तो मैं माँग रहा हूँ देवि, और लज्जा नहीं, मुझे गर्व बोध हो रहा है।' वृबु बोला।

मुँह बिचका कर सेलकेत ने कहा, 'तुम्हारी यह मूढ़-मति समझ में नहीं आती।'

'मेरे सामने भी तो ऐसी दुर्निवार नियति हो सकती है बहन, जिससे गृहस्थी का स्वप्न देखना पागलपन ही हो सकता हो!' मृगम्मदा ने कहा।

'वह क्या नियति है? गृहस्थी बने या न बने, मैं उसे चुनौती देता हूँ।' बृबु ने तमक कर कहा।

'वह नियति तो मेरी है बृबु! तुम्हारे या महापणिक के भी चुनौती देने से मेरे लिए उसका विधान कैसे टल सकता है? और बहन, तुम तो मुझे मातृदेवी बनने का, कैसे न कहूँ कि उपालम्भ भी दे चुकी हो? मेरे जठर में जो एक ऋष्य-अवरोध पनपने लगा है, वह शृङ्ग की तरह मेरे सारे शरीर में, सारे अस्तित्व में गड़ रहा है। उससे मुक्ति मिले तभी तो उर्वशी गृहस्थी का स्वप्न देख सकती है!'

बृबु अबतक सेलकेत के संकेतों को समझ नहीं पाया था, या उसने उन पर ध्यान ही नहीं दिया हो, किन्तु जब स्वयम् मृगम्मदा ने बात स्पष्ट कर दी, तो वह उसके अन्य अभिधार्थ भूल गया। उसके साथ जितनी उपसन्धि या उपलक्ष्य थे, उनका अतिक्रमण कर उसका मन आकाश में उड़ चला। वर्तमान की सारी ऊहाएँ धरी रह गईं। देश और काल उसके लिए न रहे। उसे लगा कि कक्ष ही में नहीं, सारे विश्व में केवल वह है, और है उसके सामने उसकी प्रेयसी, उसके वंश के वट-वृक्ष का बीज अपने गर्भ में समाए, सम्हाले हुए। वह उसे अपनी आकुल-बाँहों में लिपटाए बिना अब रह नहीं सकता। वह बढ़ा एक कदम, दो कदम—कि तभी द्वारदेश पर थाप पड़ी, और कपाट उन्मोचित कर झाँकते हुए महानायक शुष्ण ने कहा, 'प्रवेश की अनुमति है?—अप्रत्याशित तो हमें होना नहीं चाहिए।—यदि बाधा पहुँचा रहे हों तो क्षमा करें—'

और शुष्ण के पीछे-पीछे ही महाश्रेष्ठि अर्बुद तथा गण-नायक द्रमिक एवं इलिवश ने भीतर प्रवेश किया। महाश्रेष्ठि के साथ सभी ने स्वर मिला कर कहा, 'महापणिक की जय हो। आज तो महापणिक काफी स्वस्थ दीख रहे हैं।'

उल्लसित स्वर में बृबु बोला, 'सचमुच मैं बहुत स्वस्थ हूँ महाश्रेष्ठि आज तो! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मैंने मृत्यु के ऊपर सदा के लिए विजय पा ली है, मैं अमर हो गया हूँ—'

मृगम्मदा डरी कि उत्साह के अतिरेक में कहीं बृबु उसके गर्भ को प्रकट न करदे—यद्यपि यहाँ सैन्धवों में ऐसा कुछ अनैतिक या लज्जाजनक उसमें नहीं था, उर्वशियों के लिए भी अस्वीकार्य चाहे हो, पर लज्जाजनक कहाँ है?—किन्तु अभी उसे प्रकट करने की आवश्यकता भी क्या है? तो उसने उठ कर कहा, 'परिस्थि-

तियों की चुनौती पाकर भी, क्या आप सोचते हैं, महापणिक अस्वस्थ रह सकते हैं ?—अस्वास्थ्य को ही चुनौती देकर ये पहले से अधिक सजग हो उठे हैं। आप लोगों को शायद कल्पना भी नहीं होगी कि इस अस्वास्थ्य की अवस्था में भी इन्होंने यहाँ बैठे-बैठे संग्राम का मानचित्र तक तैयार कर लिया है। आप लोगों की कब से प्रतीक्षा की जा रही है!—चलिए, मन्त्रणा-कक्ष में, वहीं चल कर इनकी सजगता का परिचय पाइए।' और उसने दरवाजे की ओर हाथ बढ़ा दिए।

बृबु ने एक अर्थभरी दृष्टि मृगम्मदा की ओर डाली। सेलकेत भी उठ खड़ी हुई थी। शुष्ण कह रहा था, 'आयुष्मान दृमिक और इलिवश तो शस्त्रागार ही में मिल गए, किन्तु महाश्रेष्ठि को तो उपान्त के क्षेत्रों से खींच कर लाना पड़ा है। नहीं तो हम शीघ्र ही आ जाते।'

दरवाजे की ओर बढ़ते हुए महाश्रेष्ठि ने कहा, 'खाद्य-संग्रहण में शिथिलता तो नहीं होनी चाहिए न!'

बृबु ने पूछा, 'भंडारण की स्थिति कैसी है महाश्रेष्ठि?'

'अत्यन्त सन्तोषप्रद।—खाद्य का विपुल-भंडार संग्रह हो गया है महापणिक! लोगों में अथाह उत्साह है। इसके अतिरिक्त ऐसे समय सारे खाद्य को एक स्थान पर संग्रहित रखने में सुविधा ही नहीं, सुरक्षा भी है न।'

'आप ठीक कहते हैं।......' इसी तरह परस्पर बातचीत करते हुए सभी मन्त्रणा-कक्ष में आ गए। कक्ष काफी प्रशस्त है। बृबु के पिता भांडव्य के युग में पके हुए मृद्भांड इसी कक्ष में संग्रह किए जाते थे, क्रेताओं की आवभगत का भी पर्याप्त सुचारु प्रबन्ध था। बृबु के युग में निर्माण अब भी वहाँ चल रहा है, मृद्भांडों का नहीं, प्रत्युत् सामाजिकता का, राष्ट्रीयताका, मानव-सभ्यता का।

जो पहले एक छोटे फलक पर अंकित एक आसन्दी पर रखा रहता था, वह मानचित्र अब बड़े विस्तृत पैमाने पर सामने की दीवार पर टंकित कर दिया गया है, जिसमें स्वयम् बृबु के प्रत्यक्ष-अनुभव तथा परोक्ष अनुश्रुतियों के आधार पर जो भूगोल प्रदर्शित है, उसमें उत्तर-पश्चिम के तिग्रा-उफ्रातु के मैदानों से लगाकर पूर्व में गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी तक का भाग सम्मिलित है।—इसके पहले कि सब अपना आसन ग्रहण करें, बृबु ने आगे बढ़ कर मानचित्र के पास रखी छड़ी उठा ली और सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा,

'अपने अस्वास्थ्य में इस मानचित्र का तक्षण मेरे लिए एक बहुत अच्छी प्रभावशाली चिकित्सा प्रमाणित हुआ है। समय और पीड़ा-बोध दोनों ही न जाने कब कट गए?—सुन कर किसी युद्ध की विभीषिका का वैसा तत्परक अनुमान नहीं लगाया जा सकता, जैसा उसे फलक पर फैला हुआ देख कर लगाया जा

सकता है। अपनी हिंसा के प्रणाशकारी प्रभाव को देश के आयाम में विहंगम-दृष्टि से इस तरह फैला देखकर मनुष्य को अपने ऊपर घृणा न सही, दया तो होनी ही चाहिए ! देखिए, यह हमारे जीवन का विस्तार सिन्धु-नद है। यह है इसकी सहायक नदी परुष्णी, और इसके तट पर यह रहा हमारा युग्मज सहोदर नगर हरयूपिया। जहाँ यह तथाकथित दाशराज्ञ-संग्राम लड़ा गया, वह कितना पास था इस नगर के ? यदि अभ्यावर्ती चायमान को उस समय हमसे पर्याप्त शिक्षा नहीं मिल गई होती, तो इस संग्राम में यह नगर कदाचित ही बच पाता। हमारे लिए यह चेतावनी ही नहीं, चुनौती भी है।—देखिए, इस संग्राम का विजेता एल-नायक सुदास जिस देश का राजा है, वह उत्तर-पांचाल यहाँ है।—सिन्धु-नद के भीतरी भाग में ये हैं अनु, द्रुह्य, तुर्वश, यदु और पूरु। ये सब चन्द्र-वंश के आर्य कहे जाते हैं। इधर पश्चिम में ये हैं युद्ध में सम्मिलित आर्येतर अभिजन, अलिन, पक्थ, भलान, शिव और विषाणिन। संहार की अग्नि कितनी शीघ्रता से कहाँ-कहाँ तक फैलती है, इसके लिए यह देखिए इधर, यमुना के तट पर अनार्य बसतियाँ अज, शिग्रु और वक्षु। इन्हीं प्रदेशों का नेता भेद और शिम्यु भी इस संग्राम में निहत रहे हैं। कल्पना कीजिए इस विध्वंसक अग्नि के फैलाव की। क्या हृदय स्तम्भित नहीं हो जाता ?'

इलिवश ने कहा, 'आर्यों के एक ऐसे प्रचंड नेता का नाम ही अग्नि है महापणिक !'

मानचित्र के पास से लौट आकर बृबु ने सभी सदस्यों को अपने-अपने स्थान पर बैठने का संकेत करते हुए कहा, 'उसके माता-पिता ने यह नाम अवश्य जलाने के लिए नहीं, तपाने के लिए दिया होगा। और नाम में ऐसा है ही क्या आयुष्मान ?—उनके एक दूसरे प्रचंड नेता का नाम है वरुण। ऊपर से देखने पर लगता हो कि वह अग्नि को उपशमित कर देगा, किन्तु उसमें भी बड़वाग्नि दहकता है। आश्चर्य के साथ ही मुझे तो घोर निराशा होती है कि जिस सरलता से देश और जाति की सीमाएँ लाँघ कर मनुष्य संहार के कार्यों में सहयोग के लिए तत्पर हो उठते हैं, उस सरलता से सृजन के कार्यों में क्यों नहीं होते हैं ?'

सब अपने-अपने आसनों पर बैठ चुके थे। शुष्ण ने कहा, 'संहार और सृजन, दोनों द्वन्द्व हैं न महापणिक ! नव-सर्जन के बीज इसी भूमि में तो छिपे रहते हैं। और शक्ति का संग्रह संहार के लिए ही नहीं, सृजन के लिए भी आवश्यक है। देख तो रहे हैं, यह संग्राम आर्यों की अपनी समस्या थी, किन्तु कितनी दूर-दूर से आकर आर्येतरों ने भी भाग लिया—'

'यही तो आश्चर्य की बात है !' महाश्रेष्ठि ने कहा, और उसने समर्थन

के लिए महापणिक की ओर देखा। महापणिक अपने आसन पर बैठे प्यासे नेत्रों से मृगम्मदा की ओर देख रहे थे !

उत्तर शुष्ण ने ही दिया, 'इसमें आश्चर्य की क्या बात है महाश्रेष्ठि ?—देख तो रहे ही हैं, आर्येतरों की बात छोड़िए, इनके अपने भाई ही इनसे सन्तुष्ट नहीं हैं, तभी तो परस्पर युद्ध करते हैं ! कौन आर्येतर बचा हुआ है, जो इनसे प्रताड़ित-पीड़ित नहीं है ?—इन अनार्यों के नेता भेद का नाम तो आप सुन ही चुके हैं न ? उसकी नीति के अनुसार, शत्रु का शत्रु अपना मित्र।—कम-से-कम उस समय तक तो अवश्य ही, जब तक कि वह उभयनिष्ठ-शत्रु नष्ट नहीं कर दिया जाता ! इन आर्येतरों ने इसी नीति के अनुसार अवसर देखकर देवराज को पदस्थ करने के लिए उसके शत्रु आर्यों को सहयोग दिया हो तो इसमें आश्चर्य कहाँ रह जाता है ?'

'पर इस संग्राम में देवराज ने तो भाग नहीं लिया। आप लोग क्या सोचते हैं ?' महाश्रेष्ठि ने समर्थन के लिए अन्य सदस्यों की ओर देखा।

'वह भी तो भेद-नीति ही का एक प्रकार है महाश्रेष्ठि !' मृगम्मदा ने कहा, 'दूसरों के घर जला कर उस पर अपने ठिठुरते हाथ तापना क्या देवराज की नीति नहीं है ?'

तर्क कहीं अवांछित रूप न ले ले, इसलिए बृबु ने कहा, 'सत्ता और ऊपर से संग्रह-वृत्ति, इसका यही तो परिणाम हो सकता है !' फिर किंचित मुस्करा कर बोला, 'स्वयम् महाश्रेष्ठि भी तो, विपुल खाद्य संग्रहित कर लेने के बाद भी, विश्राम कहाँ ले रहे हैं ? आवश्यकता पड़ने पर उपभोक्ताओं को अपना ही खाद्य, और वह भी निर्धारित परिमाण में ही प्राप्त करना होता है !'

'किन्तु यह तो युद्ध-काल की असामान्य परिस्थिति है महापणिक ! कल क्या हो, और कैसे विषम संकट का सामना करना पड़ सकता है, इसका कुछ ठिकाना है ?—जल और खाद्य, ये ही तो मानव की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं ! इनका अभाव कर दीजिए, मानव बिना युद्ध के ही मर जाएगा। और महापणिक, आप तो जानते हैं, मैं यह संग्रहण अपनी इच्छा से नहीं कर रहा हूँ। यह तो हमारी परिषद का सर्व-सम्मत निर्णय है। आवश्यकता न रहने पर इसे बेच कर हिरण्य प्रचुर मात्रा में कमाया जा सकता है।'

वृबु ने कहा, 'क्षमा चाहता हूँ, मैंने उपहास नहीं किया था महाश्रेष्ठि ! वह केवल तर्क-प्रसूत परिहास ही था। किन्तु कैसे पते की महत्त्वपूर्ण बात कह गए हैं आप ? खाद्य और जल का अभाव ! कितना भीषण शत्रु है यह अभाव प्राणी-जगत का ?—मैंने सुना है, अतीत में महान बलशाली और अत्यन्त दैत्याकार

प्राणियों की अनेक प्रजातियाँ इन्हीं दो के अभाव में मर मिटी हैं ।—जल तो दुहरी मार करता है, प्रबल बाढ़ के ध्वंसावशेष इन आर्यों का अनुभव तो अभी इतना पुराना भी नहीं हुआ है ! इन नदी-उपत्यकाओं और अन्तर्वेदियों के बाहर आज भी कई मानव पशु से भी अधम जीवन बिता रहे हैं। क्या यह सम्पूर्ण मानव-जाति का उपहास नहीं है कि अभाव के इन सर्वनिष्ठ प्रबल शत्रुओं की उपेक्षा कर यह हन्यमाण-मानव परस्पर ही एक दूसरे को निहित करता रहे ?'

सेलकेत ने कहा, 'आप एक आदर्श का स्वप्न देख रहे हैं महापणिक ! उसे पाने के लिए भी हमें पहले एक दुःस्वप्न से उबरना होगा ।'

'और उसके लिए आँखें बन्द नहीं, खुली रखनी पड़ेंगी ।' दृमीक ने कहा ।

'आपकी चिन्ता और आपके उत्साह को मैं अच्छी तरह समझता हूँ और सर्वान्त.करण आप के साथ हूँ । इस दुःस्वप्न से उबरने के लिए हमारी जो तत्परता है, उसके आप स्वयम् साक्षि हैं । मानवता के अपने परम-लक्ष्य की दूरी और अस्पष्टता में दिग्भ्रमित होकर हम निकट की इन बाधाओं में उलझ जाने की भूल कदापि नहीं होने देंगे । हम सभी अपने इस नगर, समाज, राष्ट्र के प्रति, और सबसे बढ़कर अपनी अस्मिता के प्रति समग्र भाव से समर्पित हैं, प्रतिबद्ध हैं । इन परिस्थितियों में हमारा अगला कदम क्या हो, इस पर आप सभी सोच-विचार कर प्रकाश डालने की कृपा करें ।'

इलिवश ने कहा, 'महापणिक ने जब इतनी गहराई और सूक्ष्मता से इस विषय पर विचार कर रखा है, तो अगले कदम के बारे में भी उन्होंने अवश्य सोच रखा होगा । उनका क्या मन्तव्य है ?'

दृमीक ने भी इलिवश के मत का समर्थन किया । सभी सदस्यों की आँखें जव वृबु की ओर उठ गईं तो उसने कहा, 'अगला कदम हमारा क्या हो, यह तो वस्तुतः आक्रमण-कारियों के कदम पर ही निर्भर कर सकता है, किन्तु किसी भी आक्रमण का प्रतिरोध करने की हमारी वर्तमान क्षमता में यदि आप में से किसी को कुछ अभाव या सुधार की अपेक्षा प्रतीत हो, तो उसकी पूर्ति में हमें अपने आप को तत्काल लगा देना चाहिए ।—वैसे मैं समझता हूँ, आत्मनिर्भरता की दिशा में हमने पर्याप्त प्रगति की है । शस्त्रागार में कई प्रकार के नए आयुध निर्माण किए गए हैं और किए जा रहे हैं । खेतों से लगभग सारा शस्य नगर-प्राचीर के भीतर आ चुका है, और सदानीरा सिन्धुनद से नगर के भीतर तक जो नई प्रणालियाँ बनाई गई हैं, उनसे जल का भी हमें अब कभी कोई अभाव नहीं हो सकता । प्राचीर की संवर्तक प्राकार अब लगभग अलंघ्य ही बना दी गई है । अश्मन्मयी तथा दृंहित प्राचीर और जिह्मवार द्वारों का स्वयम् महानायक निरीक्षण कर

सन्तुष्ट हो चुके हैं।—हाँ, एक दिशा में अवश्य हम आर्यों से पीछे हैं, और वह कम गम्भीर भी नहीं है। हमारे यहाँ अश्वारोहियों का कोई गुल्म तैयार नहीं हो सका है। अश्वों की पूर्ति उधर सुदूर तिग्रा नद के पूर्व में बसा केशीजनपद ही कर सकता है। यद्यपि मैंने उनके वहाँ एक प्रेष भेजा भी है, किन्तु मैं उस पर निर्भर नहीं कर सकता। उस बाढ़ ने उन तक पहुँचने के सभी मार्ग नष्ट कर दिए हैं। मुझे सन्देह है कि हमारा प्रेष उन तक पहुँच भी पाएगा। फिर समय भी कहाँ है हमारे पास ?'

इलिवश ने कहा, 'देवराज इन्द्र तो हाथी पर चढ़ कर युद्ध करता है। हाथियों की व्यवस्था तो हम भी कर सकते हैं !'

'इस पर विचार किया जा चुका है आयुष्मान् !' शुष्ण ने कहा, 'देवराज हाथी पर आरोहण करता है, अश्व की तुलना में वह बलशाली भी है, किन्तु अश्वारोहियों की तरह गजारोहियों के गुल्म तो उन्होंने भी नहीं बनाए हैं। हाथियों को पकड़ पाना कठिन नहीं है, उनके समय-साध्य प्रशिक्षण और व्यय-साध्य पोषण की व्यवस्था भी की जा सकती है, किन्तु भारीभरकम काया के कारण युद्ध-क्षेत्र में उनकी उपयोगिता विशेष नहीं होती। अश्व अपनी स्फूर्ति, त्वरा और लाघव के कारण युद्ध-क्षेत्र में सहज ही एक अमोघ वरदान है।—महापणिक, मैं सोचता हूँ यदि महाश्रेष्ठि इस दिशा में कुछ रुचि लें तो हमें सफलता मिल सकती है।'

महाश्रेष्ठि ने तत्काल उत्तर दिया, 'इसके लिए जितने हिरण्य की आवश्यकता हो, आप कहें।'

'हिरण्य की आवश्यकता तो होगी ही, किन्तु इसके साथ कूट-कौशल भी आवश्यक है महाश्रेष्ठि !'

'अपना मन्तव्य स्पष्ट करो महानायक !' बृबु ने कहा।

'आर्यों के पास प्रचुर संख्या में अश्व उपलब्ध हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व एक महर्षि ऋचीक को अपने शिशु की ओर से गुरुदक्षिणा में सहस्रों श्यामकर्ण अश्व प्राप्त हुए हैं। वैसे मैंने अपने एक विश्वस्त अनुचर को जानने के लिए भेजा है कि क्या वे अपने अश्व बेचना चाहेंगे ? अवश्य इसकी मुझे कोई आशा तो नहीं है। ऋषिगण अश्वों का महत्व समझते हैं। किन्तु क्या इन आर्यों में से ही किसी को हिरण्य का लोभ देकर चुपके-चुपके अश्वों का सौदा नहीं किया जा सकता ?'

'उसमें मेरी भूमिका कहाँ आती है ?' महाश्रेष्ठि ने पूछा।

'आपने एक बार बतलाया था कि आपके विश्वस्त चर वणि का उनके शिविर में आना-जाना हुआ करता है, शायद कई गुप्त प्रेषों में आप उसका उपयोग भी लेते रहे हैं।'

अर्बुद ने मुस्करा कर कहा, 'वह अतीत की बात है महानायक, जब आर्यों से हमारा प्रकट बैर नहीं था। अब तो जबसे उनके दूत शंख और श्येन के साथ हमने दुर्व्यवहार किया है, वे अत्यन्त सतर्क होगए हैं, और हमसे चिढ़े हुए हैं। वणि का उनसे सारा सम्पर्क टूट चुका है। अब तो उसका वहां जाना भी संकट-जनक हो सकता है।'

बृबु ने कहा, 'जो हो, अश्वों का अभाव हमारे आत्मविश्वास और मनोबल को किसी तरह कोई आँच नहीं पहुँचा सकता। बस, हमें अपनी इस प्रगति को बराबर बनाए रखना है, बल्कि उसमें यथा साध्य और भी त्वरा लानी चाहिए। —तो हमारे लिए रह जाती है केवल उनके आगमन की या आक्रमण की प्रतीक्षा।' और उसने सभी सदस्यों की ओर प्रश्नाकुल-दृष्टि से देखा।

सेलकेत ने कहा, 'किन्तु मैं कब तक प्रतीक्षा कर सकती हूँ?—आप जानते हैं, मेरे गर्भ का संभार दिन-प्रतिदिन दुर्वह होता जाएगा।—मैं यह सोच भी नहीं सकती कि उनके आक्रमण के समय मैं शैयाग्रस्त रहूँ, न ही मेरा गर्भ बाहर आकर कभी मुझे इसके लिए क्षमा करेगा।'

मृगम्मदा ने मुस्करा कर कहा, 'महादेवी सेलकेत का गर्भ-सम्भार एक सिंह-शावक है, अतः उसके गर्भ-काल में ही उसकी युद्ध-शिक्षा का अवसर वे खोना नहीं चाहतीं।'

मृगम्मदा की चुटकी का सेलकेत भी उत्तर देने के लिए उद्यत हुई, किन्तु उसका अभिप्राय समझ कर मृगम्मदा ने आँखों के संकेत से ही उसे बरज दिया।

बृबु ने कहा, 'हमारे और महाश्रमणों के समस्त प्रयत्नों के बावजूद मैं देख रहा हूँ कि इस अन्धी दौड़ में, आने वाले युग में हिंसा को बराबर प्रश्रय मिलता जाएगा, इतना कि महादेवी सेलकेत की इच्छा अपूर्ण नहीं रहेगी। और आर्यों के इस दाशराज्ञ-संग्राम के बाद तो मुझे लगता है, शायद हमें अधिक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ेगी।'

शुष्ण ने कहा, 'यदि महापणिक सोचते हैं कि युद्ध की स्थिति अनिवार्य है, तो क्या हम भी भेद-नीति का आश्रय न लें?'

बीच ही में महाश्रेष्ठि बोल उठे, 'भेद-नीति का आश्रय?—मैंने कहा न, अब वह सम्भव नहीं है।'

'मैं अश्व-संग्रह की बात नहीं दुहरा रहा हूँ महाश्रेष्ठि!—भेद-नीति से मेरा

तात्पर्य है, शत्रु का शत्रु हमारा मित्र। अवश्य ही मैं किसी भी अवस्था में आर्यों का विश्वास करने के लिए नहीं कहता, उभयनिष्ठ शत्रु को नष्ट करने के सीमित-उद्देश्य में भी नहीं।—मेरा तात्पर्य है कि समान-हित और उद्देश्य वाले मित्रों को तो हम मिला ही सकते हैं।—मुझे विश्वास है कि यदि यह दाशराज्ञ-संग्राम परस्पर आर्यों के बीच न होकर आर्यों और आर्येतरों के बीच होता, और यदि इन आर्येतर-अभिजनों में हम भी एक होते, तो सुदास तो सुदास, देवराज तक को मुँह की खानी पड़ती!—क्यों न तब हम परस्पर मिल कर शत्रु का सामना करने के लिए इन अभिजनों को भी निमन्त्रण भेजें?'

द्मीक ने कहा, 'महानायक का प्रस्ताव बहुत उत्तम है। सम्मिलित सैन्य-दल की शस्त्रास्त्र की आवश्यकता को पूरा करने के लिए हमारी कर्मशालाएँ पर्याप्त सक्षम हैं, और उन्हें तत्काल विकसित भी किया जा सकता है।'

मृगम्मदा ने भी समर्थन करते हुए कहा, 'यह प्रस्ताव सर्वथा समीचीन है, इस पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए। बल्कि यदि अनु, तुर्वश आदि पराजित-आर्य भी हमारी सहायता करने को प्रस्तुत हों, तो सीमित-उद्देश्य के लिए उनको मिला लेने में भी हमें कोई आपत्ति क्यों हो?'

'किन्तु क्या यह देवराज को आक्रमण के लिए प्रोत्साहित करना नहीं होगा?' महाश्रेष्ठि बोले।

इलिवश ने कहा, 'यदि युद्ध की स्थिति अनिवार्य है, तो किसी को प्रोत्साहित करने का प्रश्न ही कहाँ हैं महाश्रेष्ठि? स्पष्ट है कि वे आक्रमण के लिए तैयार बैठे हैं, उन्हें तो केवल उचित अवसर की प्रतीक्षा है।'

'और यह अवसर हम सहज ही उन्हें जुटा देंगे!' फिर महापणिक की ओर अभिमुख होकर अर्बुद ने कहा, 'महापणिक क्या सोचते हैं इस विषय पर?'

बृबु ने कहा, 'युद्ध यदि अनिवार्य ही हो, तो वह जितना शीघ्र निपट जाए उतना ही अच्छा है, चाहे उसके लिए प्रोत्साहन ही क्यों न दिया जाय! क्योंकि तब कम-से-कम तनाव से तो मुक्ति मिल जाती है।—किन्तु तब भी हमें इस प्रस्ताव की व्यावहारिकता पर तो विचार करना ही पड़ेगा। इन अभिजनों की मौखिक-सहायता का तो कोई महत्त्व नहीं है। शस्त्रास्त्र भी हमारे पास उनकी तुलना में प्रचुर और आधुनिकतम हैं। साधनो का हमारे पास कोई अभाव नहीं है। तब उनकी सहायता तभी महत्वपूर्ण हो सकती है यदि लड़ने के लिए वे सैन्य-शक्ति से हमारी सहायता करें।' और उन्होंने साभिप्राय महानायक की ओर देखा।

'निस्सन्देह मेरा यही प्रयोजन था महापणिक!—मैं जानता हूँ कि इस संग्राम में उन्हें काफी क्षति पहुँची है, तब भी मुझे विश्वास है, वे हमारे साथ कन्धे

से कन्धा भिड़ा कर शत्रु से लड़ने के लिए तैयार हो जाएँगे, और इससे हमारी सैन्य-शक्ति चार गुना न सही तब भी तीन गुना तो हो ही जाएगी।'

'महानायक का अनुमान सही हो सकता है, किन्तु महाभाग, क्या मित्र-अभिजनों की वे सेनाएँ दुर्योण आएँगी ?'

'एक जुट होकर लड़ने के लिए उन्हें एक स्थान पर एकत्र तो होना ही पड़ेगा महापणिक ! समुचित व्यूह-रचना भी तो तभी सम्भव है ! अलग-थलग रह कर तो वे पराजित हुए हैं।—हमारा साथ देने वाली सारी सेनाएँ यहाँ एकत्रित होंगी, आवश्यकता हुई तो हमें उन्हें प्रशिक्षित भी करना पड़ेगा। हमारी प्रशिक्षित सेना पर वे भार न बनें, बल्कि उनका भार बँटाए, यह तो देखना ही होगा न ! व्यूह में वे किस पंक्ति से युद्ध करेंगे, किस प्रकार के युद्ध में वे प्रवीण हैं, आदि सभी बातें तो देखनी होंगी ! हमारे सैनिकों को उनका कम-से-कम परिचय तो होना ही चाहिए। ये सब बातें तभी तो सम्भव होंगी, जब वे सब एक स्थान पर एकत्र हों !'

बृबु ने कहा, 'और जैसी भौगोलिक स्थिति मैंने इन अभिजनों की आपको मानचित्र में बताई है, उससे स्पष्ट है कि इन प्रदेशों से दुर्योण पहुँचने वाली सभी सेनाओं को पथ में आर्यों के सन्निवेशों के निकट से निकलना ही पड़ेगा। क्या यह सम्भव है कि तब वे आर्य-गणों का ध्यान आकर्षित न करें ?—यहाँ पहुँचने के पहले ही क्या वे उनके प्रहार का लक्ष्य नहीं बन जाएँगी ? इस संग्राम में आर्यों को अपनी श्रेष्ठ-शक्ति का विश्वास मिल ही चुका है, अलग-अलग मोर्चों पर एक-एक दल से निपटना उनके लिए तनिक भी कठिन नहीं होगा !—और मान लिया जाए कि वे सभी सकुशल यहाँ पहुँच ही गईं, तो क्या किसी अन्य अभिजन की सेनाएँ जब हमारे नगर में प्रवेश करें, हमारी सहायता के लिए ही सही, वे कई समस्याएँ नहीं पैदा करेंगी ?—युद्ध के लिए कमर कसा हुआ कोई भी व्यक्ति उन्माद में होता है, सरलता से वह पशु भी हो जा सकता है ! कहीं उनका मनोबल न गिर जाए, इसलिए उनकी नैतिक-अनैतिक किसी भी गतिविधि पर प्रायः ही अंकुश नहीं लगाया जाता, इससे हमारे नागरिकों को कितनी असुविधा और कष्ट हो सकता है ? एक दूसरे को सामने पाकर उनके पारस्परिक स्थानीय वैर-भाव भी उभर आ सकते हैं, और इसके पहले कि वे अपने प्रकृत शत्रु से लड़ें, यदि परस्पर अपना ही हिँसाब चुकाने में प्रवृत्त हो जाएँ तो ?—औषध ही रोग से भारी पड़ जाए यह तो कोई नहीं चाहेगा। क्या ये समस्याएँ ऐसी सामान्य हैं कि उन पर विचार ही न किया जाय ?'

अर्बुद बड़े मनोयोग से महापणिक के तर्क सुन रहा था। उत्साहित होकर

उसने कहा, 'महापणिक ने बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। अन्य देश की सेनाएँ यदि हमारी ओर से लड़ती हैं तो वे किसी लाभ के लिए ही लड़ती हैं, अपने देश की रक्षा के भाव से नहीं। सम्मुख युद्ध में कौन कह सकता है कि वे मरेंगे या जिएँगे? अतः यदि सुविधा और अवसर हो तो उसके पहले ही बेरोक लूटपाट क्यों न कर ली जाए?—और महापणिक, उस अवस्था में तो युद्ध अपनी ही भूमि में लड़ना अनिवार्य हो जाएगा। यह क्या बहुत अच्छी नीति होगी?'

मृगम्मदा, जो अब तक बड़े मनोयोग से दोनों पक्षों की बातचीत सुन रही थी, बोली, 'यदि हम उनके आक्रमण की प्रतीक्षा में बैठे रहेंगे तो युद्ध अनिवार्य रूप से अपनी ही भूमि में लड़ना होगा। युद्ध-नीति में सुरक्षा की सबसे बड़ी प्रत्याश्वस्ति, शत्रु के आकमण की प्रतीक्षा नहीं, उस पर सहसा आक्रमण कर देने की होती है। इस नीति में युद्ध भी अपनी भूमि पर नहीं, प्रत्युत शत्रु की भूमि पर जा पड़ता है।'

उत्साह से ताली बजाते हुए शुष्ण ने कहा, 'तब तो हम अपनी मित्र-सेनाओं को एक निश्चित तिथि पर सीधे शत्रु-शिविर पर पहुँचने के लिए कह सकते हैं। चारों ओर से घिर कर शत्रु मूषक की तरह अपने ही पिंजरे में फँस जाएगा। उसे भागने का पथ भी नहीं मिलेगा।'

इलिवश ने कहा, 'हमारी नई युवा-वाहिनी को सबसे अगली पंक्ति में लड़ने का अवसर दिया जाय महानायक!'

'नहीं नहीं महापणिक', उतावली सेलकेत ने कहा, 'अगली पंक्ति से युद्ध करने का अवसर महिला-वाहिनी को मिलना चाहिए। स्त्रियों को अपनी दासी वना कर रखने वाले दम्भी आर्य भी देखें कि स्त्री की स्वतन्त्र-सत्ता कितनी बल-शाली हीती है? उस गुल्म का नेतृत्व मैं करूँगी। ऐसा अवसर मैं खो नहीं सकती।'

सदस्यों का उत्साह देखकर महाश्रेष्ठि अर्बुद को निराशा हुई। बुझे हुए स्वर में उसने कहा—

'महापणिक, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा सैन्धव-समाज सदा से महाश्रमणों के पवित्र उपदेश और अहिंसा के उच्चादर्श से उत्प्रेरित रहा है। अपरिग्रह हमारी प्रेरणा ही नहीं, निष्ठा है। युद्ध को स्वयम् निमन्त्रण देकर क्या हम हमारी पवित्र श्रमण-संस्कृति को कलुषित नहीं करेंगे?—अनाहूत युद्ध के प्रतिविधान में फिर भी हिंसा का औचित्य हो, किन्तु स्वयम् युद्ध को आमन्त्रित करना? अपने जीवन-काल में क्या मुझे यह दिन भी देखना पड़ेगा?'

'महाश्रेष्ठि, इतने हताश न हों।' वृबु ने कहा, 'यह केवल एक प्रस्ताव ही है, निर्णय नहीं। और भी कई प्रस्ताव हो सकते हैं, जिन पर हमें सम्यक् दृष्टि से विचार करके ही निर्णय लेना होगा। इस प्रस्ताव पर ही विचार किया जाए तो कई नए प्रश्न उत्तर चाहेंगे।— पहले तो किन-किन अभिजनों से सम्पर्क किया जाए ?—अभी हाल की इस पराजय के बाद कौन अभिजन इतनी शीघ्र पुनः अपने दुर्विजेय शत्रु से युद्ध के लिए हमारा साथ देने को उद्यत होगा ?—महाश्रेष्ठि ने सच ही कहा है कि किसी दूसरे के देश के लिए वे क्यों अपने प्राणों को दाँव पर लगाएँगे ? अवश्य ही बदले में वे हम से कुछ चाहेंगे ही। क्या होगी उनकी यह चाह ? क्या हम अपने समाज की प्रतिष्ठा को तनिक भी आँच पहुँचाए बिना उसकी पूर्ति कर सकेंगे ?—सम्मिलित सेनाओं का प्रमुख-नेतृत्व कौन करेगा ? क्या वे सहर्ष हमारी अधीनता में काम करना स्वीकार करेंगे ? मानव-स्वभाव से आप सभी परिचित हैं, विदेशियों का नियन्त्रण सहने में उसे लज्जा-बोध नहीं होता, किन्तु अपने ही सजातीय भाई की अधीनता उसके लिए मरणान्तक अपमान अनुभव हो सकती है। इन प्रश्नों का क्या उत्तर है ?'

शुष्ण ने कहा, 'यदि महापणिक आज्ञा दें तो इन प्रश्नों का समुचित समाधान पाने के लिए मैं स्वयं शीघ्र ही प्रस्थान कर इन अभिजनों से सम्पर्क करूँ ?'

'मैं अभी उसकी ऐसी कोई आवश्यकता नहीं देखता महाभाग ! हमारे पास इसके लिए पर्याप्त समय है भी, और नहीं भी है।—महादेवी मृगम्मदा ने रण-नीति में सुरक्षा की जिस बड़ी प्रत्याश्वस्ति का संकेत दिया है, अवश्य ही युद्धप्रिय युयुत्सुओं के लिए वह उत्साहप्रद ही नहीं, उपादेय भी हो सकती है। वे एक शूरवीर पिता की वैसी ही शूरवीर, रण-नीति-निष्णात पुत्री हैं। वे किसी भी समाज के लिए गौरव हैं। किन्तु हमारा समाज तो युद्धप्रिय नहीं, शान्तिप्रिय समाज है—'

दृमीक ने बीच ही में कहा, 'शान्ति बनाए रखने के लिए बहुधा युद्ध अनिवार्य हो जाता है महापणिक !'

'हम यदि सभी मन से चाहें तो उसी तरह शान्ति को अनिवार्य बना सकते हैं।' वृबु ने सहज भाव से उत्तर दिया, 'मानवता की माँग है कि हम सब इसके लिए ईमानदारी से प्रयत्न करें।'

'किन्तु यदि कोई युद्धप्रिय समाज हम पर बलात् हावी होना चाहे ?' इलिवश ने पूछा।

'उसका भी उपाय है आयुष्मान्, शक्ति-सन्तुलन।' बिना उत्तेजित हुए वृबु ने समाधान प्रस्तुत किया, 'आक्रमण का उत्साह किसी को तभी होता है, जब उसका

अपनी शक्ति के बारे में बढ़-चढ़ कर अनुमान हो, और उसके मद में वह सामने वाले को कुछ समझे ही नहीं। इसके विपरीत यदि शत्रु को हमारी शक्ति का पलड़ा भारी होने का भ्रम भी हो जाए, तो वह कभी आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकेगा। अवश्य ही इससे शीत-युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है, किन्तु उसका भी उपचार किया जा सकता है। महाश्रेष्ठि ने उचित ही कहा है। अपरिग्रह, अहिंसा और शान्ति की अपनी परम्परा को छोड़ कर इतिहास का कलंक अपने माथे पर लेने के लिए मैं निर्णय नहीं दूँगा। मेरा अपना निश्चित मत यह है कि शत्रु के मन में हम अपनी शक्ति की विपुलता का बोध या भ्रम ही पैदा कर दें और तब प्रतिरक्षा के लिए, केवल प्रतिरक्षा के लिए ही, सजग होकर उनके आक्रमण की प्रतीक्षा करें।—इस नीति में, यदि युद्ध हुआ ही, तो वह लड़ना अपनी ही भूमि पर पड़ेगा, किन्तु हिंसा का आश्रय लेकर दूसरों को निहत करने की अपेक्षा हिंसा का अन्त करने के लिए स्वयम् अपना बलिदान कर देना अधिक श्रेयस्कर है। हमारे आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ के आत्मदाह से हमें यह शिक्षा तो लेनी ही चाहिए।—यदि आप लोग मेरे इस मन्तव्य से सन्तुष्ट या सहमत न हों, तो मैं किसी के भी पक्ष में पदत्याग के लिए प्रस्तुत हूँ, और उसे विश्वास दिलाता हूँ कि दुर्योण की सेवा में सर्व-सम्मत निर्णय के परिपालन में मेरी कोई भूल नहीं होगी।'

कक्ष में कुछ क्षणों तक नीरवता रही, किन्तु शीघ्र ही महाश्रेष्ठि अर्बुद ने ताली बजाते हुए कहा, 'महापणिक विभांडक बृबु की जय हो। उनका वक्तव्य सैन्धवों और दुर्योण की प्रतिष्ठा के सर्वथा उपयुक्त है। उनके जैसा प्रौढ़ नेतृत्व और तरुण उत्साह बड़े भाग्य से ही किसी समाज को उपलब्ध होता है। मैं आशा करता हूँ कि सभी सदस्य मेरे साथ हैं, जब मैं कहता हूँ कि उनके नेतृत्व में हमें पूर्ण और अटूट विश्वास है।'

सेलकेत ने तत्काल सदस्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, जब उसने कहा, 'महाश्रेष्ठि की भावना से असहमत होने का कोई प्रश्न नहीं है। प्रश्न न ही महापणिक के मन्तव्य से असहमत या असन्तुष्ट होने का है। किन्तु मेरी समझ में नहीं आता, बार-बार वे पदत्याग की धमकी क्यों देते रहते हैं? किसी सभा में कोई विषय विचार के लिए प्रस्तुत होता है तो उस पर पक्ष-विपक्ष में तर्क दिए ही जाने चाहिए। उस विषय पर सम्यक् विचार तभी हो सकता है। ऐसी धमकियाँ क्या किसी के विचारों को, अप्रत्यक्ष ही सही, बलात् मनवाने का प्रयास नहीं कही जाएँगी? महापणिक मन ही मन जानते हैं कि दुर्योण के लिए इस समय वे अपरिहार्य हैं। मैं उन्हें सावधान कर देना चाहती हूँ कि, कम से कम दुर्योण का महिला-समाज तो इन धमकियों से डरने वाला नहीं है। यदि वे सोचते हों कि वे दुर्योण

में अद्वितीय हैं, तो यह उनकी भूल है। आप लोगों के मत से उनका मन्तव्य यदि उचित और हमारी परम्पराओं के अनुकूल है तो ठीक है, मैं भी आप लोगों के साथ सहमत हूँ, किन्तु यदि महापणिक के मन्तव्य का तात्पर्य जोखिम लेने से कतराना हो तो यहीं पर महादेवी उर्वशी मृगम्मदा विद्यमान हैं, जो यह नेतृत्व बड़ी सरलता और योग्यता से उठा सकती हैं। स्वयम् महापणिक एवं महानायक उनकी शौर्य-गाथा के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। महापणिक स्वीकार कर भी चुके हैं।'

मृगम्मदा ने आश्चर्य के साथ सेलकेत की ओर देखा। सेलकेत के इस तरह उत्तेजित हो उठने का तो कोई कारण नहीं था। उसने सदस्यों की ओर देखा, सभी उसी की ओर आँखें गड़ाए थे। आश्चर्य शायद महापणिक को भी कम नहीं हुआ है। तो वह उठी और मानों नाप-नाप कर बोलने लगी।

'महापणिक क्षमा करें, महादेवि सेलकेत आवेश में अभी जो कुछ कह गईं हैं, वह उनका आशय नहीं है। जैसा कि मैं पहले ही निवेदन कर चुकी हूँ, वे युद्ध के लिए बड़ी उत्कंठ हैं। जिस देश में उनका जन्म हुआ है, उसकी परम्परा के अनुसार युद्ध उनके रक्त में समाया हुआ है। आप जानते ही हैं, वे अन्तरापत्या हैं, और उनके देश में किसी भी अन्तरापत्या महिला की इच्छा-पूर्ति पुरुष के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न हो जाता है। स्वाभाविक है कि वे अपने गर्भस्थ-शिशु की शिक्षा के लिए युद्ध के अवसर को खोना न चाहें। इस पृष्ठभूमि में यदि आप महादेवी सेलकेत के अभिप्राय को देखेंगे तो मैं समझती हूँ, उनकी भावना के साथ न्याय होगा। वैसे मैं समझती हूँ कि हमारी समस्त आशाओं और आकांक्षाओं के विरुद्ध, जिसकी प्रतीक्षा करने के लिए महापणिक ने आदेश दिया है, वह आक्रमण अधिक दूर नहीं है। जन्मना न सही, मैं दुर्योण की गोद ली हुई पुत्री हूँ और उसकी सेवा में मेरा सर्वस्व समर्पित है। महापणिक के पद पर कोई पुष्प नहीं खिलते कि मुझे उसकी कोई कामना हो। मैं समझती हूँ, और मेरी बहन महादेवी सेलकेत खूब अच्छी तरह जानती हैं, कि इस समय महापणिक के पद पर महामना विभांडक बृबु से योग्यतर अन्य कोई व्यक्तित्व नहीं है। हाँ, भविष्य में यदि वे धमकियों का आश्रय न लें तो यह उनके व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा के अधिक अनुकूल होगा। महाश्रेष्ठि के स्वर में स्वर मिलाकर हम सब कहें, महापणिक विभांडक बृबु की जय ! उनके नेतृत्व में हमें पूर्ण और अटूट विश्वास है।'—और वह बैठ गई।

सभी सदस्यों ने तालियों की तुमुल गड़गड़ाहट में मृगम्मदा के मत का समर्थन किया। कनखियों की ओट बृबु ने देखा कि दोनों महिलाएँ परस्पर मुस्करा कर एक दूसरी की अभिनन्दन कर रही हैं।

महाश्रेष्ठि अर्बुद अपने विचारों में खोए हुए थे। खोए हुए वे पहले से ही थे;

बीच-बीच में बरबस उन्हें सदस्यों का विवाद सुनना पड़ता है। उनकी व्यावसायिक बुद्धि बड़ी पैनी है। वक्ताओं के वक्तव्य वे एक कान से सुनते जा रहे थे, साथ ही उनका मन भीतर ही भीतर अपनी व्यावसायिक-वृत्ति का हिसाब भी लगाता जा रहा था।—एक सौदे का प्रस्ताव उठा था अश्वों के क्रय का। आर्यों के साथ शस्य और वृषभों के सौदे में उन्होंने अशेष स्वर्ण अर्जित किया है, अश्वों के इस प्रस्तावित सौदे में वैसा ही उपार्जन क्यों नहीं किया जा सकता ?—आर्य-समूह में उन्हें ऐसे कई दीन-हीन व्यक्ति मिल जाएँगे जो लाभवश प्रसन्नता से अश्वों की तस्करी के लिए तैयार हों। उस विप्र अजीगर्त ने तो लोभवश यज्ञ की बलि के लिए अपने पुत्र तक को बेच दिया था। वणि इतना पटु है कि देवराज के कान में भनक भी नहीं पड़ने देगा।—केवल मात्र एक बाधा थी, अश्व-बल बढ़ाकर वृबु यदि देवराज को पराजित करने में सफल हो जाए, तो महापणिक बनने का उनका स्वप्न धरा ही रह जाएगा। उसकी अब उन्हें वैसी कोई स्पृहा न हो, किन्तु देवराज से पुरस्कार में जिस विपुल स्वर्णराशि का आश्वासन मिला है, वह अपूर्ण ही रह जाएगा।—अब वृबु की स्पष्ट उद्घोषणा से वह आशंका भी नहीं रही, स्वयम् पहल लेकर हम आक्रमण नहीं करेंगे। और युद्ध यदि अपनी भूमि में यहीं लड़ा गया तो किसी भी तरह छल-बल से वे आर्यों की सहायता कर ही सकते हैं।

—यह भी क्या आवश्यक है कि सबल-समर्थ अश्व ही क्रय किए जाएँ ? इस तरह के गुप्त व्यवहारों में वस्तु को देख-परख कर छाँटने की सुविधा कैसे हो सकती है ?—और यह भी तो हो सकता है कि गन्तव्य पर पहुँचने के पहले ही मार्ग में माल चुरा लिया जाए !—पथ्य की राह तो लुटेरों से भरी ही रहती है। यदि आर्यों ही को पता लग जाए, तो क्या वे चुपचाप अपने अश्वों को चले जाने देंगे ? अच्छा, जिस वस्तु को मार्ग में ही अदृश्य हो जाना हो, वह स्रोत से सचमुच चले ही नहीं, तो कैसा हो ? ऐसे सौदों में मूल्य तो माल के हस्तान्तरण के पहले ही चुका देना होता है न ! जाँच-पड़ताल, छानबीन का तो ऐसे व्यवहार में प्रश्न ही नहीं उठ सकता !—और तब तो आर्यों से सचमुच के सम्पर्क का प्रश्न भी पैदा नहीं होगा ! मौखिक जमा-खर्च पर ही कितनी बड़ी राशि डकार ली जा सकती है, और किसी को सन्देह भी नहीं हो सकता ! मिथ्या सूचनाएँ हवा में सरलता से फैलाई ही जा सकती हैं। बहुत ही हुआ तो गिनती के कुछ मरियल अश्वकों का प्रबन्ध तो दिखाने के लिए किया ही जा सकता है। महाश्रेष्ठि अर्बुद को तब हिरण्य-कोश बनते समय ही कितना सा लगेगा ? मन ही मन प्रसन्न होकर अर्बुद ने अपनी प्रत्युत्पन्न-मति की सराहना भी की और प्रकट में कहा—

'सम्यक् विचार के उपरान्त मैं देखता हूँ कि महापणिक के शक्ति-सन्तुलन

के प्रस्ताव का बहुत बड़ा महत्व है, युद्ध के निवारण में हमारी शक्ति का झुका हुआ पलड़ा सचमुच बड़ा प्रभावकारी होगा।—मैं महानायक को आश्वस्त करना चाहता हूँ कि हमारा अश्व-बल का अभाव किसी तरह दूर हो, इसके लिए मैं उनके प्रस्ताव के अनुसार भरसक प्रयत्न करूँगा। तत्काल वणि से परामर्श कर मैं उसे इस आवश्यक प्रेष में प्रवृत्त करता हूँ। मुझे आशा है, कोई न कोई उपाय अवश्य निकल आएगा। मैं सदस्यों से केवल एक अनुरोध करना चाहता हूँ कि मुझ से या वणि से प्रयुक्त उपायों के विषय में प्रश्न न किए जाएँ। मैं यह भी मानकर चलता हूँ कि महापणिक इसके लिए आवश्यक स्वर्ण-राशि व्यय करने की स्वीकृति प्रदान करते हैं।'

'आपको इसके लिए सभी अधिकार प्राप्त हैं महाश्रेष्ठि ! और इसके सम्बन्ध में कोई भी सदस्य कोई उत्सुकता भी प्रकट नहीं होने देगा। यदि हो सकता हो तो आप इसके लिए किसी भी मूल्य पर, किसी भी उपाय से, जितने भी अश्वों का हो सके, प्रबन्ध करें। मैं इसके लिए आपका आभार मानने के धृष्टता नहीं करूँगा। दुर्योण सबसे पहले आपका नगर है, हम सब आपके पीछे हैं।'

एक बार और सभी ने समवेत स्वर में कहा, 'महाश्रेष्ठि अर्वुद की जय, महापणिक विभांडक बृबु की जय।'

बृबु ने खड़े होकर कहा, 'मैं सोचता हूँ, आज अब यह सभा हर्ष के इस क्षण पर ही समाप्त कर दी जाए, किन्तु आप लोग पीछे प्रमोद-उद्यान में चलें। आपकी श्रान्ति के आहरण के लिए शीतल पेय और सम्यक मनोविनोद की व्यवस्था है। महादेवी उर्वशी वहाँ आपकी अभ्यर्थना करेंगी।'

●

१७

बहाना था ही । अमेरिका में बैठे मुरारीदा जब तक सुधि न लें, यहाँ बैठा रह कर ही मैं कौन सा तीर मार लेता ? सरलता से डेढ़ महीना यात्रा में काट आया हूँ ।—सरलता से ? छोड़ो उस बात को। सरलता जीवन में रही ही कहाँ है कि यात्रा ही की बात की जाए ! तकलीफें न हों तो यात्रा ही क्या हुई ?–नहीं, पहाड़ों की यात्रा नहीं । इतनी पूँजी टेंट में है ही कहाँ ? गृहस्थ हूँ, नातेदारी-रिश्तेदारी में मौत-मरण, शादी-ब्याह लगा ही रहता है । उस बार गमी थी तो इस बार शादी !–वसंत तो कहने भर को है, वैशाख-ज्येष्ठ में क्या कम गरमी पड़ती है ? राजस्थान के रेगिस्तानी इलाके की बात ही क्यों की जाए, देश का कटि-प्रदेश मालवा, और फिर चले जाएँ दक्षिण में मारवाड़ से धारवाड़ तक ! रातें खुशगवार हो लें—शबे-मालवा मशहूर हैं न ? वे तो, न हुई नींद, तो भी करवटें बदल कर ही सही, कट तो जाती हैं, पर शिद्दत तो दिन को गुजारने में पड़ती है !

देश आजाद है, ऐसी अनुभूति पहले शायद ही कभी हुई है । नियम-कानून की पाबन्दी हो तो आजादी ही क्या हुई ? अखबारों में पढ़ लेने से ही क्या होता है ? सच्ची अनुभूति तो भोगे हुए यथार्थ से ही होती है । यों, हम अनासक्त और निरपेक्ष भी तो होते जा रहे हैं । शायद इसीलिए प्रत्येक मानवी-संबंध 'मूल्यवान' बनता जा रहा है, उसे रिश्वत कह कर नाक-भौंह सिकोड़ने से टरकाया तो नहीं जा सकता । देखिए न, अब यात्रा के लिए आरक्षण छह माह पहले तक कराया जा सकता है । कितनी लम्बी सुविधा है ? मौत को भी अब तो सोचना चाहिए कि अपनी लम्बी यात्रा के पहले छह माह का न सही, छह मिनिट का नोटिस तो दे ! पर भूलता हूँ । बात मूल्य की है । छह महीने की सुविधा का गूढ़ार्थ यह भी तो है कि आपका भाई कोई पहले से भूत (घोस्ट) बन कर आपके चहेते आरक्षण का आहरण कर गया हो । यदि आप 'मामभिरक्षय मुद्रानायक' का आश्रय नहीं ग्रहण करते और नियम-कानून की बात करते हैं तो प्रतीक्षा-सूची में आपका नाम दर्ज किया जा सकता है । किंतु तब स्थानोपलब्धि की संपुष्टि के लिए बार-बार आने-जाने में समय और अर्थ की जितनी राशि आप व्यय करने को बाध्य हों, वह राशि पहले ही खिड़की पर क्यों नहीं चढ़ा कर संबंध को मूल्यवान, लाभप्रद भी, बना लेते ? समय तो बचेगा ही, यद्यपि मूल्य उसका भी क्या है, जब कि कोई रेलगाड़ी समय-सारिणी को मान कर

चलती ही नहीं ! आरक्षण भी तो महज औपचारिकता है। देख तो रहे ही हैं, गुजरात-बिहार—कहाँ आरक्षण को लेकर सिर-फुटव्वल नहीं मच रही है ? और आरक्षण का कारण भी क्यों हो सिर-फुटव्वल के लिए ? उस दिन दिल्ली में क्या अनायास अपना ही सिर नहीं फट लिया गाजियाबाद की सड़क पर ?

हिंसा की बाढ़ उमड़ चली लगती है। बृबु के पिता वृद्ध भांडव्य ने कहा था कि प्राणी-सृष्टि में मानव के अवतरण के साथ ही हिंसा की भावना समाप्त हो जानी चाहिए थी। और स्वयं वे हिंसा का शिकार हुए ! उनका पुत्र विभांडक भी दुर्निवार उसी कगार पर धकियाता जा रहा है। विकास का पथ यदि अनिवार्यतः द्वन्द्वात्मक हो, तो क्या हिंसा से सर्वथा बचा जा सकता है ? अमरीकी राष्ट्रपति अभी स्वस्थ भी नहीं हो पाए कि उधर पोप पर प्राणान्तक आक्रमण हो गया। मध्यपूर्व में तो हिंसा और आतंक ही का तांडव-राज्य है। इधर देश की पश्चिमी सीमा पर यदि अफगानिस्तान और पाकिस्तान में विश्व के सबसे बड़े (?) दो, बारूद के ढेर इकट्ठा करके उन पर फुलझड़ियाँ नचा रहे हैं तो उधर पूर्व में बंगलादेश के राष्ट्रपति एक दूसरे जिया की अपने साथियों के साथ निर्मम हत्या करदी गई है ! व्यक्ति ही नहीं, ऐसा प्रतीत हो रहा है कि विश्व के सभी शक्तिशाली राष्ट्र अपने ही अस्तित्व को लेकर विभिन्न विकल्पों में चुनाव के भय (ड्रेड) से अपने में सिमिटते जा रहे हैं। विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र भारत के गए आम चुनावों में ही तानाशाही शक्तियों का प्रत्यावर्तन नहीं हुआ, विश्व के समृद्धतम प्रजातांत्रिक देश अमेरिका में और प्रौढ़तम देश इंगलैंड में गए चुनावों में भी यही बात स्पष्ट हुई है। रूस और चीन की तो बात ही नहीं की जानी चाहिए, फ्रान्स की नव-निर्वाचित समाजवादी सरकार तक आण्विक परीक्षण प्रारंभ करने का निश्चय कर चुकी है।—तो क्या सचमुच विश्व इतने अपराध-बोध में डूब गया है कि उसे आत्महत्या के सिवा उद्धार का और कोई मार्ग ही नहीं दिखाई दे रहा ?

और यहाँ कलकत्ता लौट आकर मैं फिर लोड-शेडिंग की शिकायत करूँ, इससे अधिक मजाक और क्या हो सकती है ? कलकत्ता आज देश की सबसे घनी आबादी वाला नगर है। उसकी समस्याएँ भी विशिष्ट हों तो क्यों आश्चर्य हो ? और अकेला मैं ही तो नहीं हूँ कि शिकायत करूँ ? लेखक होने से ही तो सुरखाब के पर नहीं लग जाते ! फिलहाल यह संतोष ही क्या कम है कि इस बार लौट आकर देखता हूँ कि मुरारीदा की डाक ही मेरी प्रतीक्षा कर रही है। शायद इसीमें आशा की किरण हो !

● ● ●

प्रारंभिक औपचारिकताओं के बाद लिख रहे हैं मुरारीदा, कि अमेरिका क्या गए हैं वे, एक चक्रव्यूह में फँस गए हैं, मानसिक और शारीरिक दोनों ही रूपों में ! अमेरिका वे पहली ही बार गए हैं। मुरारीदा जैसे पुराण-पुरुष के लिए परंपराहीन,

नई अस्मिता वाला समृद्धतम देश अजीब-सा लगना ही चाहिए। मैं जानता हूँ, वे चाहें तो सरलता से वहाँ एक नए भगवान के रूप में अपने को चला सकते हैं, पर ऐसा वे करेंगे नहीं। तभी तो लिखा है, "आवश्यकता न होने पर मैं एक पल भी यहाँ ठहरना पसन्द नहीं करूँगा ! आवश्यकता यों मैं अपनी समझता भी नहीं, पर क्या करूँ, स्रग्धर के प्रति एक बाध्यता है। मैं छोड़ भी दूँ, पर वह छोड़े तब तो ! मरीचिका के पीछे मोहान्ध वह है ! उसे माँ चाहिए। यह अभी नहीं समझता वह कि पुत्र हों तो अपने ही देश में माँओं की कमी नहीं है। मैं समझाता भी हूँ, पर वह कहता है, 'जो खो गई है, उसे तो खोज लूँ ! जो सुलभ हैं, वे इस खोज में बाधक कहाँ हैं ?' सो, बाधक मैं ही कैसे हो सकता हूँ ? पर विश्वास करो भाई, आवश्यकता न रहने पर मैं तत्काल भारत लौट आऊँगा। तुम किसी भी समय मुझे बिना पूर्व सूचना के अपने पास पा सकते हो। तब तक मैं अपने ही बारे में तुम्हें लिखता चलूँ। ठीक है न ?

"यदि भूलता नहीं हूँ तो अपने बारे में वहीं तक बताया था न तुम्हें, जब हम लन्दन के होटल में बैठे ईस्टर संडे मना रहे थे, अर्थात् उन किरचियों की कथा को रीसरेक्ट कर रहे थे ! डर है कहीं दुहराहट न हो जाए, पर कोई तथ्य छूट न जाए इसलिए पूरी कथा ही लिख रहा हूँ। पूरी, अर्थात् इस प्रसंग को समझने के लिए जितनी आवश्यक हो। दुहराहट हो तो बचा जाना। पत्रों की प्रतिलिपि तो मैं रखता नहीं न ! इतिहास भी तो तुम्हारा जाना हुआ है। किंतु अपने आत्मीयों के जीवन के साथ वह किस तरह संपृक्त है यह जानकर उसके प्रति एक नई आसक्ति भी होती है, इसलिए उसे भी दुहराने में कोई हर्ज नहीं है।

"जानते हो न, चौथे दशक के वे शेष दो वर्ष, यूरोप के लिए ही क्या, सारे विश्व के लिए कितने तनावपूर्ण थे ? दुर्धर्ष हिटलर धूमकेतु की तरह सारे पूर्वी गोलार्ध में छा जाने का संकल्प किए बैठा था। प्रथम विश्व-युद्ध की अपनी पराजय का बदला इस बार वह मानों विश्व-विजय करके ही लेना चाहता था। आस्ट्रिया में तो वह तभी पहुँच चुका था जब हम जर्मनी में ही थे। जापान और इटैली से उसने संधि कर ही ली थी। उधर स्पेन में जनरल फ्रैंको की तूती बोल रही थी। तीन वर्ष पूर्व इटैली ने अबीसीनिया हड़प ही लिया था। जापान चीन पर हावी होता जा रहा था। वार्साई की सन्धि का उल्लंघन तो हिटलर दो वर्ष पहले ही कर चुका था जब उसने राइनलैंड में अपनी सेनाएँ भेजी थीं। अब उसकी गृद्ध-दृष्टि सीमावर्ती जेकोस्लोवाकिया के जर्मन-बहुल प्रांत सूडेटनलैंड पर गड़ी हुई थी। जिस समय ब्रिटिश प्रधानमंत्री चैम्बरलेन और फ्रेंच प्रधानमंत्री दलादिए हिटलर से मिलने म्यूनिख गए हुए थे, तब लन्दन के होटल में बैठे हम गंभीर गवेषणा में ग्रस्त थे कि हमारे लिए

कहाँ जाना उचित होगा ! आखिर बहुत सोच-विचार के बाद मार्गरेट की दुर्निवार आकांक्षा, मेरी स्वयं की स्वदेश लौटने की इच्छा, और भारत की तबतक की अपेक्षाकृत सुरक्षात्मक स्थिति की पृष्ठभूमि में हमने भारत आना ही उचित समझा। तब तक प्रशासनिक सुधारों की घोषणा के फलस्वरूप भारत में लोकप्रिय सरकारें भी बन चुकी थीं। इस तरह १९३८ का अक्टूबर माह बीतते न बीतते हम भारत की राजधानी दिल्ली में आ पहुँचे थे।

"लगभग दो माह तक तो हम सारा भारतवर्ष ही घूमते रहे। मार्गरेट को मैंने सिन्धु-घाटी से संबंधित वे सभी स्थान दिखाए, जहाँ मैंने उत्खनन किया था और जो किरचियों में उत्कीर्ण आख्यान से संबंधित हो सकते थे। भग्न सरोवरों, चैत्यों, हर्म्यों आदि के अवशेषों में बारबार घूम कर मानों उस आख्यान की हमने शारीरिक प्रतिपत्ति प्राप्त की। अनुमान कर सकते हो, कितना रोमांचक रहा होगा वह अनुभव ? समय हमारे लिए मानों लौट पड़ा था और उस बिन्दु पर पहुँच कर मानों थम गया था, जब पाँच हजार वर्ष पूर्व मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के इन प्रासादों में जीवन संचरित था, बृबु-मृगम्मदा, शुष्ण-सेलकेत, अर्बुद-वणि आदि पात्र दो पैरों पर चलते-फिरते इतिहास ही का नहीं, मानव-सभ्यता का निर्माण कर रहे थे। आँखें बन्द कर के हमने उस जीवन को मानों प्रत्यक्ष जिया है। मार्गरेट तो वहाँ पहुँच कर इतनी विभोर हो गई थी कि पुनः लौटने का वादा करके ही मैं उसे वहाँ से लौटा पाया। इसी बीच में मार्गरेट को अपने जन्म के गाँव भी ले गया। घर खँडहर हो गया था, जिन रिश्तेदारों ने घर हड़प लिया था, मन्दी के जमाने में घर को औने-पौने बेच कर वे भी जाने कहाँ चले गए थे। मैं ही जब किसी को पहचान न सका तो किसी को अपनी पहचान जता कर पाता ही क्या ? फिर उस परंपरावादी दकियानूसी गाँव में विलायती मेम को साथ देखकर कोई क्या सहयोग करता ? और संयोग था कि इसी समय मुझे भारतीय पुरातत्व-सर्वेक्षण विभाग में सहायक के पद पर नियुक्ति मिल गई।

"हमारे जीवन का वह स्वर्ण-युग ही था भाई ! अपने आप में खोए, हम भूल चुके थे कि विश्व पर महायुद्ध के घने बादल सचमुच मँडराने लगे हैं, और युद्धभूमि से मन-प्राण से बहुत दूर होते हुए भी वह हमारे जीवन की सुनहली धूप को ग्रस ही लेगा। यही तो होता है। प्रचंड-प्रवाह भी एक साधारण से अवरोध से दिशा बदल लेता है, जबकि यह तो एक ऐसा महायुद्ध था कि जिसकी विश्व ने, देखना दूर, कल्पना तक कभी नहीं की थी। चैम्बरलेन साहब धमकियाँ देते ही रहे और स्पेन का युद्ध समाप्त हो उसके पहले जर्मनी ने बोहीमिया और मोरेविया को अपने संरक्षण में ले लिया। इटली ने आगे बढ़ कर अलबानिया को हड़प लिया। युद्ध के लिए पैंतरे-

वाजी और गुटबाजी बढ़ रही थी। दूसरी ओर इंग्लैंड, तुर्की, फ्रांस और पोलैंड संधियों में बँधने लगे। इंग्लैंड ने रूस के साथ भी सन्धि का प्रयत्न किया था, किन्तु जैसा कि सभी जानते हैं, उसे सफलता नहीं मिली, और फॉन रिबनट्राप के प्रयत्नों से रूस और जर्मनी में सन्धि होगई। तुम्हें तो मालूम ही होगा, इसके एक सप्ताह वाद एक सितंबर को ही जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया था। दो दिन बाद सवेरे ग्यारह बजे इंग्लैंड ने और संध्या को पाँच बजे फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। विश्वयुद्ध प्रारंभ होते न होते दूसरे दिन ब्रिटिश जंगी जहाज अथेनिया समुद्र गर्भ में डुबो दिया गया। हाहाकार मच गया। अठारह से इकतालीस वर्ष के व्यक्तियों के लिए सैनिक-सेवा अनिवार्य कर दी गई। युद्ध समस्त विभीषिका के साथ फैलता जा रहा था। किरचियों में तुम वह आख्यान पढ़ चुके होओगे, जब आर्येतरों का द्वेषी, दुर्धर्ष फासिस्ट देवराज इन्द्र निर्दोष पड़ोसी प्रदेशों को अग्नि समर्पित कर रक्त की अपनी प्यास बुझाना चाह रहा था। मैं जानबूझ कर इस इतिहास को यहां दुहरा रहा हूँ, ताकि तुम पाँच हजार वर्ष पूर्व के प्रागैतिहासिक क्षण में उस प्रचंड विध्वंस की कल्पना को साकार कर सको।

"चाहे जितना दूर रहा हो भारत युद्धक्षेत्र से, पर था तो वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग ही न! सदियों से ब्रिटिश जूए के नीचे पिसते आ रहे भारतीयों की सहानुभूति कहीं जर्मनी के साथ न हो चले, इसलिए भी भारत-स्थित सभी जर्मन नागरिकों की धर-पकड़ प्रारंभ हो गई। मार्गरेट भी तो जर्मन नागरिक थी। यद्यपि वह अब श्रीमती लाल थी, किंतु उसका पासपोर्ट तो अब भी जर्मन सरकार द्वारा प्रचारित पासपोर्ट था। मेरी दुश्चिंता का पार न था। उसी माह तो स्नग्धर का जन्म हुआ था। मार्गरेट को सब चिन्ताओं से मुक्त रखने के लिए मैं उसे बराबर विश्व के समाचारों से अनवगत रखने का ही प्रयत्न करता आ रहा था, पर कब तक रख सकता था? भारत सरकार बड़ी गहरी छानबीन के साथ जर्मन नागरिकों का पता लगा कर उन्हें बन्दी बना रही थी। जिस मेटर्निटी होम में मार्गरेट का प्रसव हुआ था उसकी डॉक्टर थी एक जर्मन यहूदी डॉक्टर गिल्डा फेल्डमान। मार्गरेट के मेटर्निटी होम से लौटने के एक सप्ताह बाद ही डॉक्टर गिल्डा गिरफ्तार कर ली गई। क्या यह संभव नहीं था कि डॉक्टर गिल्डा ही किन्हीं परिस्थितियों में मार्गरेट का पता बता दे? कहाँ छिपाऊँ उसे? सरकार की जासूसी दृष्टि से कब तक उसे छिपाए रखा जा सकेगा? वह नवजात शिशु, क्या सरकार उस पर रहम करेगी? यदि सरकार को मालूम हो जाए कि मैंने उसे छिपा रखा है, तो क्या हम सब घोर विपत्ति में नहीं पड़ जाएँगे? लंदन छोड़ने के पहले यदि तनिक भी आभास होता कि युद्ध अनिवार्य है, कि भारत जैसे दूर शांति-प्रिय देश में भी उसकी विषैली छाया पड़े बिना नहीं रहेगी तो

अन्य वैज्ञानिकों की तरह भारत न आकर मैं भी अमेरिका चला जाता। वह तब तक तो एक दूसरी अलग दुनिया थी ही, दो-दो महासमुद्रों से सुरक्षित, यूरोप के रक्त-लोलुपों की जीभ और दृष्टि से बहुत दूर।

"तुम तो उस समय भरपूर युवा थे, तुम्हें अवश्य मालूम होगा, तब भारत की आन्तरिक स्थिति कितने अविश्वास और तनाव से भरी हुई थी ? अपने अधीनस्थ भारत से अंग्रेज सरकार युद्ध-प्रयत्नों में सक्रिय सहायता चाहती थी, किंतु कांग्रेस कहां सहमत थी ? तब आठ प्रांतों में कांग्रेस का प्रशासन था, जिनमें सभी राजनैतिक बन्दी रिहा कर दिए गए थे। इसी प्रश्न पर तत्कालीन वाइसराय लिनलिथगो से असन्तुष्ट होकर संयुक्त प्रांत और बिहार की राज्य सरकारों ने गवर्नर को त्यागपत्र दे दिए थे। कांग्रेसका तर्क कितना सही था। यदि यह युद्ध मानवता, स्वाधीनता और प्रजातंत्र के नाम पर लड़ा जा रहा था तो स्वयं पराधीन रह कर भारत उसमें कैसे सहयोग देता ? पराधीन रह कर युद्ध में इंग्लैंड की सहायता करना क्या स्पष्ट ही ब्रिटिश साम्राज्य के लिए तख्तो-ताज पहुँचने की सीढ़ी बनना न होता ? इसी पारस्परिक अविश्वास के कारण तो आठ महीने के स्वायत्त-शासन के बाद ही कांग्रेस-सरकारों ने त्यागपत्र दे दिए थे, और अंग्रेजों का निरंकुश शासन प्रारंभ हो गया था। व्यक्तिगत सत्याग्रह के फलस्वरूप कांग्रेस के लगभग तीस हजार नेता और कार्यकर्ता जेल में बन्द कर दिए गए थे।—किंतु हमारी गिरफ्तारी तो उस गौरव की भागीदार भी न होती ! इसी चिन्ता में मैं घुलता जा रहा था, पर कोई राह नहीं दिखाई दे रही थी।

"यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि भारतवर्ष में तब मार्गरेट के लिए सुरक्षा नहीं थी। कहीं छिपाने योग्य स्थान और साथी मिल भी जाते, तब भी आशंका बराबर बनी रहती और माँ तथा बच्चे दोनों के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। किन्तु बाहर विदेश में भी कहाँ भेजूँ उसे ?—कौन संबंधी बैठा था मेरा या उसका विदेश में ? साथ में मेरे जाने का प्रश्न ही नहीं था, मेरी सरकारी नौकरी जो थी। जरा-सी पूछताछ से ही सब कुछ प्रकट हो जाता, तथा मार्गरेट तो बचती नहीं, मैं भी राजद्रोह जैसे किसी भी गंभीर आरोप में धर लिया जाता। सरकार तो बहाने की खोज में बैठी ही थी।—विदेशों की यात्रा भी कितनी संकटजनक बनती जा रही थी ? समुद्र में बड़े-बड़े जहाज डुबोए जा रहे थे, जगह-जगह सुरंगें बिछाई जा रही थीं। और हवाई मार्ग तो सभी बन्द होते जा रहे थे। एक ही मार्ग था, यदि किसी तरह उसे छिपा-छिपू कर अमेरिका भिजवा सकूँ। अमेरिका में मिस्टर सैमुएल क्रैमर अवश्य कुछ उपाय कर दे सकते थे, किन्तु छिपा-छिपू कर मार्गरेट को चुपके से भिजवाया कैसे जाए ?

"मार्गरेट से ही जब परामर्श करना पड़ा तो जानते हो क्या कहा था उसने हँस कर ?—मुझे आज भी स्मरण है। जैसे वह सामने खड़ी कह रही है ओठों पर मधुर हास्य बिखेर कर,

'इसी के लिए इतनी चिन्ता है ?—पर तुम्हें छोड़कर क्या मैं कहीं जा सकती हूँ ?'

'गम्भीर बनो मैंगी ! सरकार जबर्दस्ती छुड़वा देगी, और तुम्हें छिपाए रखने के अपराध में मैं भी पकड़ लिया जाऊँगा।'

'तब तो चिन्ता ही क्या है ? जिस तरह यहाँ रहते हैं उसी तरह जेल में भी रह लेंगे।'

'तुम समझती हो, जेल में हमें साथ रहने दिया जाएगा ?—यहाँ की जेलें तुम्हारे हिटलर के कन्सेंट्रेशन कैम्प्स से किसी तरह कम नहीं हैं।'

'तो फिर एक काम करो न ?'

'क्या ?'

'बन्दी वे मुझे ही तो बनाना चाहते हैं।—तुम स्वेच्छा से मुझे गिरफ्तार करवा दो।'

'पागल हुई हो ?'

'पागल नहीं, गम्भीर होकर ही कह रही हूँ। इससे तुम्हारे प्रति सरकार की सदिच्छा बराबर बनी रहेगी। रहा युद्ध, सो तो अधिक दिन चलेगा नहीं। अत्याचार का फल कभी अच्छा नहीं होता, और फ्यूहरर ने क्या कम अत्याचार किए हैं ?'

'इन दिनों तुमने दुनिया की खबर कहाँ रखी है मैंगी ? स्वयं हिटलर ने अपने सेनापति गोअरिंग को पाँच वर्ष तक के युद्ध के लिए तैयार रहने को कहा है। अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ निर्माण के प्रारम्भिक वर्ष क्या तुम्हारा स्रग् जेल में बिताएगा ?'

'वह क्यों जेल में बिताएगा ?—वह तो जर्मन नहीं है। तुम बनाओ न उसे अपने जैसा अपने पास रख कर।'—और सहसा उसका कंठ रुँध गया था। हजारों वर्ष पहले की स्मृति शायद कौंध उठी थी। परिस्थितियाँ दूसरे प्रकार की रही हों तो क्या !—मृगम्मदा को भी तो अपने पुत्र को पति के पास छोड़कर चले जाना पड़ा था। एक वर्ष पूर्व ही तो ऐसी एक चुनौती देने पर बड़े आत्मविश्वास के साथ उसने कहा था, 'क्या पाँच हजार वर्ष तक चलते रहकर भी मैं अपनी नियति नहीं बदल पाऊँगी ?—अब मैं मातृदेवी की पुजारिन नहीं, स्वयं मातृदेवी बनूँगी। उर्वशी ने तो माँ बनना चाहा नहीं था। इसीलिए तो पुत्र को छोड़ने की विडम्बना उसे स्वीकार करनी पड़ी थी। मैं तो माँ बनने के लिए प्रतिश्रुत हूँ, तुम्हारी सन्तान की माँ बनने से बड़ा और क्या सौभाग्य हो सकता है मेरा ?'—शायद उसे भी वह प्रसंग स्मरण हो

आया था। सान्त्वना देने का मेरा प्रयास व्यर्थ ही गया। लगभग रोते हुए ही वह बोली थी,

'क्या सचमुच मृगम्मदा की नियति ही मुझे ढोनी पड़ेगी ?' और उसने सोये हुए शिशु को जोर से अपने वक्ष में भींच लिया था।

'अगर इस समय कहीं क्रेमर साहब मुझे अमेरिका बुला लें तो कितना अच्छा हो ? मुझे तो अभी बस एक यही राह दिखाई देती है।' मैंने कहा था।

'क्रेमर साहब की तुम जानो, लेकिन अगर एल्बर्ट जीवित रहता तो किसी न किसी तरह वह अवश्य सहायता करता। खैर, क्रेमर साहब को लिख तो देखो।'

'लिख देने का विचार कई बार किया है, पर बाहर जाने वाली सब डाक सेंसर होती है न ! यह तो आ बैल मुझे मार जैसी बात होगी।—तुम एक बार अकेली स्नग्धर को लेकर किसी तरह अमेरिका पहुँच सको, तो बात बन सकती है। तुम तो जानती हो न क्रेमर को ?—उन्हीं के साथ तो टिकर आया था। अभी गत वर्ष ही तो उन्होंने नई पट्टिकाओं में गिलगमेश महाकाव्य के एक नए अज्ञात अध्याय का पता लगाया है ! तुम उन्हें समझाओगी तो वे तत्काल भारत-सरकार को पत्र लिख कर मुझे वहाँ बुलवा सकेंगे !'

'किन्तु तुम्हें यहाँ छोड़ कर चली जाऊँ ? यदि किसी तरह मेरा यहाँ से निकल पड़ना संभव भी हो जाए, तो तुम्हारे बिना मैं कहीं भी नहीं जाऊँगी, किसी शर्त पर नहीं जाऊँगी। उस आदिम बर्बर युग की सभ्यता में पली मृगम्मदा की क्रूर नियति को इस बीसवीं सदी में मैं किसी भी ब्याज से सहन नहीं करूँगी, वहन नहीं करूँगी !' और स्नग्धर को नीचे फर्श पर सुलाकर वह मुझसे लिपट कर रोने लगी थी। मैं किंकर्तव्य विमूढ़ था।

"—और घनघोर बादलों के बीच एकाएक दूर एक रजत-रेख दिखाई पड़ गई। ग्रीस से अनायास अप्रत्याशित अन्वेषकों का एक दल लुकता-छिपता स्थल-मार्ग से तुर्किस्तान होता हुआ और बड़ी तकलीफें झेलता हुआ भारत आ पहुँचा था। उस दल का नायक था एक जर्मन पुराविद् हर के. लेहमान, जो कई महीनों से एजियन समुद्र में तुर्की की सीमा से लगे यवन-द्वीप सेमोथ्रेस में उत्खनन कर रहा था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह द्वीप सामरिक दृष्टि से उन दिनों कितने महत्व का हो गया था, इसका अनुमान तुम इस तथ्य से लगा सकते हो कि काले समुद्र को जोड़ने वाला मार्मरा समुद्र इस द्वीप से पचास से भी कम मील पूर्व में है। गेलीपोली का रणक्षेत्र, दर्देनलीज का डमरूमध्य, तेल के विपुल भांडार, सब उस क्षेत्र में ही हैं। ग्रीस के पश्चिम में अल्बानिया को इटैली हड़प ही चुका था, तो पूर्व में तुर्किस्तान की अंग्रेजों से प्रतिरक्षा संधि हो चुकी थी। किस तरह लेहमान अपने दल के साथ

सेमोथ्रेस से इस्तम्बूल पहुँचा होगा, इसका तुम अनुमान लगा सकते हो। इस्तम्बूल पहुँच कर लेहमान गायब हो गया। संभव है वह बन्दी बना लिया गया हो। बच तो वह अवश्य रहा, जो इससे प्रकट है कि युद्ध की समाप्ति पर सन् १९४७-४८ में उसने पुनः उस द्वीप में उत्खनन किया था। जो हो, उसका दल भारत आ पहुँचा था। यह संयोग ही था कि दल में कुछ ऐसे व्यक्ति थे जिनसे मेरा परिचय जर्मनी में हो चुका था। उनमें दो-एक यहूदी थे, एक अमरीकी और शेष अन्य देशों के थे। समान-धर्मा होने से स्वाभाविक था कि वे मेरे विभाग से सम्पर्क करते। मेरी सलाह पर उन्होंने अपने आपको भारत सरकार के निकट आत्मसमर्पण कर दिया। अन्य देशों की अपेक्षा भारत उनके लिए अधिक सुरक्षित था, यह उन्होंने भी स्वीकार किया था। जर्मन मूल के लोगों को सरकार ने बन्दी बना लिया, किन्तु शेष लोग स्वतन्त्र छोड़ दिए गए। इन्हीं में था वह अमरीकी युवक विलियम कैलॉग अपनी पत्नी एथेना के साथ, जिसने मुझे उस कठिनाई से उबारा, और यही वह कैलॉग है, जिसकी बीमारी का सम्वाद पाकर मैं यहाँ आया हुआ हूँ। कैलॉग का परिचय देने के लिए भी मेरी यह आत्म-कथा आवश्यक थी। अभी वह कैसा है, कहाँ है और क्यों है, यह जानने के पहले तुम्हें भी उसे कुछ अधिक निकटता से जान लेना होगा।

"बड़े ही अद्भुत और साहसिक प्राणी होते हैं ये अमरीकी। प्राचीन संस्कार, परंपराएं, पूर्वाग्रह कोई इनके जीवन को बाध्य नहीं करते। अपने ही मूल्य पर ये जीवन जीते हैं। विलियम कैलॉग की एथेना से नई-नई शादी हुई ही थी। एथेना के माता-पिता ग्रीस मूल के थे और स्वाभाविक था कि एथेना प्राचीन यूनानी-सभ्यता के अवशेषों में अत्यधिक रुचि लेती। उसी के आग्रह से उसका पति विलियम कैलॉग ग्रीस के इस द्वीप में उत्खनन करने वाले दल में सम्मिलित हो गया था। इसी बीच युद्ध छिड़ गया, और उन्हें जिस तरह भी हो, ग्रीस छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। भारत आने का कोई उनका कार्यक्रम नहीं था, पर जब किसी तरह वे यहाँ आ ही पहुँचे तो भारत के दर्शनीय स्थानों को देख लेने का लोभ भी वे न रोक सके। उसकी पत्नी एथेना को तो देश-विदेश घूमने का रोग ही था, कहना चाहिए। दिल्ली-आगरा के ऐतिहासिक स्थान देखकर ही वह इतनी प्रभावित हुई कि सारा भारत घूम लेने का उसने संकल्प कर लिया। उसने विलियम से विवाह ही इसलिए किया था कि उसे देश-विदेश घूमने का अनायास अवसर मिल सकेगा। इधर विलियम स्वदेश लौटने को बहुत आतुर था। उसके पिता रॉबर्ट कैलॉग बोस्टन में एक बहुत बड़े उद्योग के स्वामी थे। आर्कियालॉजी-विभाग में विलियम की नौकरी केवल शौकिया ही थी। युद्धकालीन इन सब कठिनाइयों के वावजूद जो वह अपने कतिपय साथियों के साथ भारत तक सकुशल आ पाया था, वह उसके द्वारा मुक्त हस्त से बांटे गए डालरों के कारण ही संभव हुआ था। उसके पिता

स्वयं इन परिस्थितियों में उसे शीघ्र स्वदेश लौटने के लिए आग्रह कर रहे थे। यही नहीं, सुदूर पूर्व से एक अमरीकी जहाज कई अमरीकियों को लेकर भारत होता हुआ अमेरिका जा रहा था, उसमें उन्होंने एक कैबिन में दो व्यक्तियों के लिए जगह भी आरक्षित करवा ली थी। जहाज कुछ ही दिनों में बम्बई पहुँचने वाला था। विलियम जाने की पूरी तैयारी कर चुका था, पर उसकी पत्नी एथेना सम्पूर्ण भारत को देखे विना यहाँ से टलना नहीं चाहती थी। विलियम एथेना को मना रहा था कि युद्ध समाप्त होते ही वे फिर भारत लौट आ सकेंगे और एथेना तब चाहे जितने दिन यहां आराम से बिता सकेगी।

"मेरे मस्तिष्क में और ही खिचड़ी पक रही थी।—क्या किसी तरह मार्गरेट को इस जहाज से अमेरिका नहीं भेजा जा सकता? यात्रा निरापद नहीं है, आए दिन जहाजों को समुद्र में डुबोया जा रहा है। भूमध्यसागर में जाना तो जहाजों का सीधे मृत्यु के मुख में जाना है। और फिर जहाज में जगह?—आफ्रीका का चक्कर लगाकर केप ऑफ गुड होप होकर जाए तो बात दूसरी है। पोत पर अमरीकी ध्वज का फहराते रहना भी सुरक्षा का आश्वासन दे सकता है। अगर कहीं कुछ अवसर है तो यही है। मार्गरेट को डेक पर भी स्थान मिल जाए तो इस अवसर को खोना उचित नहीं होगा। सो तो ठीक है, पर मार्गरेट को जहाज पर चढ़ाया ही किस बहाने से जाए? कैलॉग-दम्पति को पहुँचाने के बहाने जहाज पर जाया जा सकता है। यात्रियों की उमड़ी भीड़ में, मान लो, मार्गरेट जहाज पर ही छूट जाए और जहाज चल पड़े! किंतु बाद में?—कैलॉग-दम्पति को विश्वास में लिए बिना क्या मार्गरेट अकेली जहाज में डेक पर भी सुरक्षित रह सकती है?—यदि कैलॉग दम्पति के लिए पूरा केबिन आरक्षित हो तो मार्गरेट उसमें पहले से छिप कर भी जा सकती है। कैलॉग-दम्पति के साथ घनिष्ठता बढ़ाना मेरे लिए अनिवार्य हो गया।

"जहाज आने की तिथि के एक सप्ताह पूर्व से विलियम और एथेना मेरे फ्लैट में हमारे प्रिय अतिथि बने। विश्वास में लेकर मैंने धीरे-धीरे अपनी समस्या भी उन्हें बता दी। हमारे परिवार में रह कर एथेना की भारत-विषयक रुचि और जिज्ञासा बहुत बढ़ती गई। हमारी समस्या के प्रति भी वे बड़े संवेदित हुए। समस्या पर दोनों ने विचार कर मुझे शीघ्र अपने निर्णय से सूचित करने का आश्वासन दिया। उनके रुख से सच-मुच मुझे बड़ी आशा हो चली थी। यही नहीं, मार्गरेट और एथेना के बीच भी सौहार्द बढ़ गया। दोनों हम उम्र ही तो थीं। मार्गरेट और मेरा परिणय-संबंध इस रोमांसप्रिय युवती को बड़ा आकर्षक लगा। किसी भी तरह मार्गरेट की सहायता करने का वह मार्ग ढूँढ़ने लगी। किंतु जैसे-जैसे उनके जहाज के आने का दिन निकट आता जा रहा था, मेरी चिन्ता और व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। मार्गरेट स्वयं मुझसे बिछुड़ने

की कल्पना से समझौता करना कठिन पा रही थी। और मैं तो इस कल्पना से भी आतंकित था कि जहाज के रवाना होते ही मार्गरेट पर क्या बीतेगी, बच्चे का क्या होगा ?–किस तरह वह स्थिति का सामना कर सकेगी ? कैलॉग-दम्पति उसकी कहां तक सहायता कर सकेंगे ?–और क्या यह सारा संकट उन्हें यहां छिपाए रखने के संकट से किसी तरह कम होगा ? जहाज अमरीकी है, पर क्या सभी यात्री भी अमरीकी ही होंगे ? यदि कोई ब्रिटिश नागरिक हुआ ? माना कि कैलॉग-दम्पति कभी प्रकट नहीं करेंगे, किंतु यदि किसी असावधान क्षण में यह प्रकट हो जाए कि मार्गरेट जर्मन मूल की महिला है तो ? तब तक अमेरिका अवश्य युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था।

"इन्हीं चिंताओं में घुला जा रहा था कि सूचना मिली, उनका जहाज अभी तीन दिन और नहीं आ पाएगा। दिल को कुछ तसल्ली हुई। एथेना ने सुझाव दिया कि इस बीच वे क्यों न हरिद्वार घूम आएं ? बीच में रविवार पड़ रहा था, अतः उसका आग्रह था कि मैं भी उनके साथ घूम आऊं। भारत के योगियों के बारे में उसने बहुत कुछ सुन रखा था, और वह उनसे मिलने के लिए बड़ी उत्सुक थी। मार्गरेट के जाने का तो प्रश्न ही नहीं था। समस्या गोद के छोटे शिशु की उतनी नहीं, जितनी उसके प्रकट हो जाने की थी। किसी योगी से तो क्या इतने-से समय में भेंट होती, किन्तु हरिद्वार के मनोरम वातावरण और उस स्थान का मेरा समझाया हुआ आध्यात्मिक भाष्य एथेना को इतना आकर्षक लगा कि मन ही मन कुछ दिन और भारत में रुके रह कर सारा भारतवर्ष देख लेने की उसने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की, कि हम आश्चर्यहत रह गए। उसने कहा कि यदि मैं सहमत होऊं तो विलियम के साथ एथेना के स्थान पर मार्गरेट अमरीका चली जाए। यात्रा भर के लिए उसे अपना परिचय विलियम की पत्नी एथेना के नाम से देना पड़ेगा। बस ! वहाँ पहुँच कर विलियम एथेना के लिए एक और दूसरा पासपोर्ट बनवा कर भेज देगा, और तब तक एथेना भारत में रहकर मन भर कर सारा देश देख लेगी। अमेरिका तटस्थ देश है, उसके जहाज तो आते-जाते रहेंगे ही। वह किसी दूसरे जहाज से अमेरिका चली जाएगी। इस बीच संभव है, अमेरिका से मि. क्रैमर भी मुझे बुलवाने के लिए भारत सरकार को औपचारिक पत्र भेज दे सकते हैं। विलियम के पिता रॉबर्ट के लिए भी ऐसी व्यवस्था करना सभव होगा। दिल्ली लौट आकर एथेना ने इस योजना के लिए विलियम को भी तैयार कर लिया।

"सो तो ठीक है, किन्तु एक कठिनाई की ओर तो किसी का ध्यान ही नहीं जा पाया था ! स्नग्धर को कैसे ले जाया जा सकेगा ? एथेना को तो कोई संतान नहीं हुई थी। उसके पासपोर्ट पर अभी एक माहपूर्व ही ग्रीस में एंडोर्समेंट हुआ था ! तो क्या पाँच हजार वर्ष पूर्व की मृगम्मदा का सम्पूर्ण भाग्य ही मार्गरेट के जीवन में प्रतिफलित होना था ?

"—भाई, क्षमा करना। मैं भूल ही गया हूँ कि मृगम्मदा के भाग्य की अगली कड़ी से तुम अभी तक अवगत नहीं हो पाए हो। विभांडक के उस इतिहास की किरचियों का अनुवाद अभी तुम्हें भेजा ही कहाँ है? पर कल्पना तुमने अवश्य कर ली होगी। ऋष्य शृंग का आख्यान क्या किसी से छिपा है, कि तुम्हीं नहीं जानोगे? तुम तो स्वयं उस आख्यान पर एक प्रत्यायक कृति प्रस्तुत कर रहे हो न!—नहीं। फिलहाल अब और अपनी आत्मकथा में मैं तुम्हें उलझाना नहीं चाहता। कह सकते हो, हमारी आत्मकथा तो एक नकल मात्र है। तब मूल का स्वारस्य मैं क्यों नष्ट करूँ? मेरी भी तो कठिनाई है। जो विभीषिका बीत चुकी है, स्मृति ही में सही, उसे पुनः जीना कम कष्टकर नहीं होता। और इन पचासों सदियों की सीढ़ियाँ चढ़ कर हमारी मानसिकता भी तो कई वांछित-अवांछित, सूक्ष्म-स्थूल संवेदनाएँ सम्पृक्त कर चुकी हैं। संक्षेप में यही कह सकता हूँ कि मार्गरेट मिस्टर विलियम कैलॉग के साथ बम्बई से जहाज में श्रीमती एथेना कैलॉग का नाम ओढ़ कर अमेरिका के लिए सवार हो गई और मैं उस तीन महीने के अबोध शिशु स्रग्धर को अपने कन्धे पर लिए अकेला रह गया। ऋष्य शृंग के शैशव का चित्र तो तुमने अपनी कल्पना में मूर्त किया ही है। स्रग्धर तो फिर भी तीन महीने तक अपनी माँ की गोद में रहा है, पर तुम्हारा ऋष्य शृंग तो शायद जन्म के साथ ही माँ की छाया से पृथक् हो गया था न!—मैं नहीं जानता, किस तरह तुम अपने शृंग को स्त्री-मात्र की छाया से बचाए रख कर वेद-वाद-निष्णात प्रस्तुत कर दोगे! बीसवीं सदी के मध्य तो यह बात नितांत असंभव ही प्रतीत होती है! स्रग्धर को जो प्रारंभिक तीन माह तक माँ अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ प्राप्त हुई थी, शायद इसीलिए वह अपनी माँ को अपने रक्त में पूर्णता के साथ समाई हुई अनुभव कर रहा है। हमारे समानान्तर जीवन-क्रमों में यह जो कहीं-कहीं कुछ अन्तर दिखाई दे जाता है, उसे केवल समय का ही प्रभाव समझना चाहिए।

"एथेना उसके बाद दो वर्ष तक भारत में अटकी रही और सारे देश में उसने मनमाना भ्रमण किया। मुझे तो मालूम ही तब हुआ जब एक अमरीकी कर्नल के प्रेम में फँसी सुदूर पूर्व में यात्रा के लिए वीसा प्राप्त करने वह दिल्ली आई थी।

"मार्गरेट के प्रस्थान के कुछ ही दिनों बाद भारत में जर्मन-मूल के नागरिकों की खोज में और भी सरगर्मी हुई, तो मैंने स्वयम् मार्गरेट के खोजाने की पुलिस में रिपोर्ट लिखवा दी। इससे मैं प्रतिरक्षा-कानून में गिरफ्तार होने से तो बच गया किन्तु मेरे पीछे जासूस लग गए और मेरी गतिविधियों पर नियन्त्रण लगा दिया गया। मि. क्रैमर के औपचारिक पत्र का भी मैं इन्तजार करता ही रहा। शीघ्र ही स्रग्धर को लेकर अमेरिका जाने की और मार्गरेट से पुनः जुड़ जाने की मेरी योजना ठप्प ही रही।

विलियम और मार्गरेट अमेरिका पहुँच गए इसकी सूचना तो मिल गई थी, जहाज से ही विलियम का कैबल मिला था, 'रीच्ड सेफ गिव्ह स्रग्धर अवर डीपेस्ट लव्ह, कैलॉग्ज ।' किन्तु रास्ते में ही उन्हें तीन माह लग गए थे। लगता है, मार्ग में स्थान-स्थान पर उन्हें रुक-रुक कर जाना पड़ा हो। स्पष्ट है कि उन्हें आफ्रीका महादेश का चक्कर खाकर जाना पड़ा होगा। मार्ग में और भी कई तरह की दिक्कतें पेश आई होंगी। उसके बाद उनका कोई पत्र भी तो नहीं मिला था। सेन्सर के कारण उन दिनों तक तो वह एक वरदान ही था, अमेरिका भी तो युद्ध में कूद चुका था, किन्तु युद्ध बन्द होजाने के बाद भी उनसे किसी पत्र का न आना अवश्य मेरे लिए चिन्ता और रहस्य का कारण बन गया था। तब तक स्रग्धर भी छह वर्ष का हो चुका था। माँ की तो खैर, नहीं, पर एक के बाद एक कतिपय आयाओं की देखरेख और मेरी लगन, आसक्ति तथा अनवरत परिचर्या ने उसे यथासाध्य माँ की अनुपस्थिति अनुभव नहीं होने दी। यह भी एक कारण है, कि अन्य समस्त आसक्तियों से वीतराग होकर अब भी मैं स्रग्धर की आसक्ति से अपने को छुड़ा नहीं पाया हूँ। मार्गरेट कैसे उस आसक्ति को भुला पाई, यह मेरे लिए तो अभी तक रहस्य ही है, जिसे मार्गरेट से मिले बिना सुलझाया नहीं जा सकता।

"तुम कहोगे, मैंने ही क्यों नहीं पत्र दिया उन्हें युद्ध की समाप्ति के बाद? कैलॉग का यह जो इतिहास मैंने अभी तुम्हें लिखा है, वह तो अब स्रग्धर की शोध के फल-स्वरूप हमें मालूम हुआ है। मार्गरेट को जब विलियम के साथ बिदा किया था, तब यह कहाँ पता था कि उनका जहाज अमेरिका में किस पोर्ट पर पहुँचेगा? उसके पिता, परिवार आदि के बारे में भी तो कुछ विदित न था। स्वयम् विलियम तब एक वर्ष से अधिक समय से ग्रीस में था और अपने घर का बहुत बड़ा व्यवसाय छोड़ कर पिता की इच्छा के विरुद्ध नौकरी के बहाने विदेश चले जाने से उसके पिता उस से रुष्ट भी थे। उनका व्यवसाय अमेरिका में ही नहीं, यूरोप और एशिया में ईरान में भी फैला हुआ था। उनका पता लगाने में स्रग्धर को कितना परिश्रम करना पड़ा है, यह वही जानता है। मैं तो केवल कुछ तथ्य ही जानता हूँ। आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व कोई श्री विलियम कैलॉग ग्रीस से भारत होता हुआ अपनी पत्नी एथेना कैलॉग के साथ अमेरिका के किसी पोर्ट पर पहुँचा था, उनका सहज ही पता कैसे लग सकता था? इसी सूत्र और उस जहाज से भेजे हुए केबल की प्राचीन जीर्ण-शीर्ण प्रति लिए वह वाशिंगटन, भारतीय दूतावास, पेंटेगॉन, ह्वाइट हाउस, कहाँ कहाँ नहीं घूमता फिरा? युद्ध के उन प्रारंभिक दिनों में सुदूर पूर्व से भारत होते हुए कौन-कौन से जहाज अमेरिका पहुँचे, किस पोर्ट पर कौन-कौन यात्री उतर कर कहाँ-कहाँ गए? और फिर इन चालीस वर्षों में उन्होंने कहाँ क्या किया? इनसे जब कुछ सार नहीं निकला तो स्रग्धर को पुरातत्व विभाग की खाक छाननी पड़ी। सन् सैंतीस-अड़तीस में

क्या किसी विलियम कैलॉग के ग्रीस में सेमोथ्रेस द्वीप पर उत्खनन के लिए जाने का सन्दर्भ मिल सकता है ? पूरा पता तो उसे विदेश-विभाग में लगा पासपोर्ट के रजिस्टर से । वह भी चालीस वर्ष पूर्व की सूचना थी। उसके पिता रॉबर्ट कैलॉग क्या अब भी बोस्टन में ही अपना व्यवसाय लिए बैंठे होंगे ? क्या उनका सुपुत्र विलियम उन्हींके पास अपने घरेलू उद्योग में ही लगा होगा ? यदि कहीं उसने अपना स्वतन्त्र उद्योग कर लिया हो ? अमरीकी वैसे ही बड़े स्वतन्त्रताप्रिय और साहसी युवक होते हैं, और घूमते हुए चक्कों पर ही तो जीवन बिताने के लिए वे प्रसिद्ध हैं। जो हो, अमेरिका में ही यह प्रतीति भी होती है कि भौगोलिक दूरियाँ बीसवीं सदी के इन दशकों में अब कोई अहमियत नहीं रखतीं। इसके अलावा प्रत्येक शहर में प्रचार और सूचना-साहित्य इस विपुलता के साथ उपलब्ध है कि आप एक ही स्थान पर बैठे सभी आवश्यक सूचनाएं संग्रहित कर सकते हैं। वाशिंगटन में बैठे-बैठे ही देश की तमाम व्यवसाय और उद्योगों की नई तथा पुरानी निर्देशिकाएं देखकर स्रग्धर ने पता लगाया कि मैसेचुसेट्स के बोस्टन नगर में गए पचासों वर्षों से उसी एक पते पर कैलॉग से सम्बन्धित एक संस्थान है, जिसका पहले तो नाम था कैलॉग एंटरप्राइजेस और अब है कैलॉग कोस्टल कॉर्पोरेशन । उस समय शायद वह एक व्यक्ति के स्वामित्व का साधारण-सा प्रतिष्ठान रहा होगा, इसीलिए उसके स्वामी या संचालक का पृथक् नाम नहीं था, किन्तु अब कोई एक डबल्यू० कैलॉग उसके निदेशक-मंडल का अध्यक्ष है । निदेशक मंडल के अन्य सदस्यों के आवासों के पते थे, किन्तु अध्यक्ष के आवास का कोई पता डाइरेक्टरी में निर्देशित नहीं था । टेलीफोन से जिस समय स्रग्धर ने सूचना चाही थी, उस समय उसे कहा गया था कि बोर्ड की एक आवश्यक मीटिंग दो दिनों से चल रही है और सभी सदस्य उसमें लगभग एक सप्ताह तक व्यस्त रहेंगे । सम्भव है कि इस अवधि में उन्हें बोस्टन से बाहर भी जाना पड़ जाए । हफ्ते-दस दिन के बाद ही उनमें से किसी से भेंट हो सकती है । स्रग्धर ने वाशिंगटन से ही मिस्टर कैलॉग को केबल द्वारा सूचित तो कर ही दिया था कि भारत के श्री मुरारीलाल का पुत्र स्रग्धर अपने पिता के साथ अध्यक्ष श्री कैलॉग से मिलना चाहता है । और वे एक सप्ताह बाद की सुविधाजनक तिथि सूचित करें । वाशिंगटन में ही रुके रह कर उसने मेरी प्रतीक्षा की थी। मेरे यहाँ पहुँचते ही मेरे कथनानुसार स्रग्धर ने तुम्हें तार से सूचित किया था । बोस्टन से उसे कैलॉग से अपने तार का जवाब जब दस दिन तक भी नहीं मिला तो हम लोग स्वयम् बोस्टन आ पहुँचे । कैलॉग कोस्टल कार्पोरेशन के कार्यालय में पता लगा कि उनके निदेशक-मंडल की ये बैठकें समुद्र के किनारे बीचमोंट द्वीप पर बने उनके एक अतिथि-गृह में आयोजित थीं, किन्तु दो दिन पूर्व ही उनके अध्यक्ष को अकस्मात् ही बैठक के बीच ही में स्ट्रोक हो गया और उन्हें तत्काल अस्पताल में भरती करना पड़ा । वे इस समय भी इंटेन्सिव-केयर-

यूनिट में चिकित्साधीन हैं। यहाँ वे अकेले ही हैं, परिवार यदि हो, तो वह बोस्टन में नहीं है। उनका आवास भी बोस्टन में नहीं, न्यूयार्क नगर में दूर समुद्र में एक टापू रॉक-अवे में है, जहाँ से वे प्रतिदिन अपने हेलीकाप्टर द्वारा बोस्टन आते-जाते रहे हैं। न्यूयार्क में उनके आवास और बोस्टन में उनके कार्यालय, दोनों की छतों पर हेलीकाप्टर के लिए हैलीपैड बने हुए हैं। इन सूचनाओं में अभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। विवश होकर प्रतीक्षा करने के सिवा हमारे लिए भी अभी और कोई उपाय नहीं दीखता।

"बड़ा रहस्यमय व्यापार लगता है। शायद अमरीकी वातावरण में यह स्वाभाविक ही हो। जब तक केलॉग को होश नहीं आ जाता और हमें उससे प्रत्यक्ष मिलने नहीं दिया जाता, तब तक और तथ्यों का पता लगना तो दूर, हम यह भी निश्चय से नहीं कह सकते कि यह कैलॉग वही विलियम कैलॉग ही है, जिसकी खोज में हम यहाँ धूल फाँक रहे हैं। उसके नाक-नक्श और आकृति का जो पता लगा है उसपर विशेष निर्भर कैसे किया जा सकता है? इन गए चालीस वर्षों में कितना परिवर्तन नहीं हो गया होगा? एक किसी कार्ल स्मिथ को छोड़कर निदेशक-मण्डल के अन्य सदस्य बोस्टन से बाहर के हैं, और कार्लस्मिथ भी कैलॉग को अस्पताल पहुँचाकर ही बाहर चला गया है। आजकल में उसके लौट आने की सम्भावना है। स्रग्धर बराबर टोह रख रहा है। मैं स्वयम् भी प्रतीक्षा करने के सिवा और करूँ तो करूँ भी क्या? जितनी कुछ अब तक सूचनाएँ मिली हैं, वे सब कैलॉग प्रतिष्ठान के कार्यालय से ही, पर वे भी इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

"अस्पताल में डॉक्टर समुदाय बराबर, प्रयत्नशील है; एक सप्ताह हो गया किन्तु कैलॉग को अभी तक होश नहीं आया है। संज्ञा नहीं है उसे, किन्तु उसका शरीर-यन्त्र और सब मानों में बराबर सक्रिय है। इंजेक्शन द्वारा उसे पोषण दिया जा रहा है, चयापचय-प्रक्रिया भी ठीक कार्यरत है, केवल संज्ञा नहीं है। है न अद्भुत बात? संज्ञाहीन शरीर! इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है, कि यह शरीर एक वस्त्र मात्र है, जो प्रतिक्षण जीर्ण होता जा रहा है, और किसी भी दिन यह संज्ञा नाम की वस्तु इस वस्त्र को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण कर ले सकती है। कैलॉग का शरीर वस्त्र बन कर ही तो मानो खूँटी पर टँगा हुआ है। उसकी संज्ञा कहाँ है, डॉक्टरों का समूह इसीका पता लगाने की चेष्टा कर रहा है। मना रहा है कि जहाँ कहीं हो वह, लौट आए और बिस्तर पर बड़ी सावधानी से तह किए पड़े हुए शरीर को धारण कर ले। शरीर इतना जीर्ण हो गया दीखता तो नहीं, कि उसकी उपेक्षा करके संज्ञा किसी दूसरे नवीन वस्त्र के लिए घर परित्याग कर बाहर उजाड़ में भटकती फिरे।

"शरीर को एक ओर पड़ा रखकर हमारे यहाँ के ऋषि-मुनि देश और काल में न

जाने कहाँ-कहाँ उड़ते-फिरते रहे हैं, इसे प्रत्यक्ष चाहे तुमने न देखा हो, पर पढ़ा अवश्य होगा। पर-काया प्रवेश की बात भी हमारे यहाँ तन्त्र-शास्त्र में अपरिचित नहीं है। गौतम ऋषि का रूप धरकर उनकी पत्नी अहल्या के साथ भोग की इन्द्र की कथा में अहल्या को निर्दोष बनाए रखने के लिए चाहे कल्पना की लीपापोती की गई हो, तो भी सम्मोहन की प्रक्रिया तो आज हाट बाजार में सहज ही देखी जा सकती है। यहाँ कैलॉग का मामला तो और भी स्पष्ट है। उसमें शरीर की ऑटोनॉमस प्रणालियाँ बराबर कार्य कर रही हैं। स्नायु-प्रणाली के कुछ भाग को छोड़कर शेष सभी प्रणालियाँ; हृदय-संस्थान रक्त-प्रवाह, चयापचय, सभी कुछ अव्याहत है। समाधि में भी तो शायद यह सबकुछ अव्याहत रहता है! शायद तब प्राणायाम के द्वारा हृदय को विश्राम दे दिया जाता हो। किन्तु हृदय की सहायता के बिना क्या रक्त-प्रवाह की शरीर में अपनी निज की कोई गति नहीं हो सकती? विज्ञान ही को मान लिया जाए तो गुरुत्वाकर्षण की शक्ति है, विद्युच्चुम्बकीय-शक्ति है, वैज्ञानिक भी तो किसी एक मूल संहित-शक्ति-क्षेत्र की सतत खोज में लगे हुए हैं। क्या सम्भव नहीं कि इस कैलॉग की जीवात्मा भी शरीर को बिस्तर पर छोड़कर किसी अलक्ष्य लोक में किसी को खोज रही हो?—यदि होटल के इस कक्ष में बैठे समाधिस्थ हो जाने की प्रक्रिया मैं जानता, तो अवश्य उसकी जीवात्मा से मेल जुटा लेता, पूछ लेता कि मेरी मार्गरेट क्या हुई? कहाँ है वह? मैंने तुम्हें सौंपा था न उसको। युद्ध के दिनों में न सही, उसके बाद तो तुम मुझे उसकी खबर दे सकते थे।—या……खबर मार्गरेट स्वयम् भी तो दे सकती थी। तो क्या…… ? नहीं। व्यर्थ ही अन्यथा कुछ सोचकर मन को क्यों खराब कर लिया जाए? चालीस वर्ष गुजर गए हैं, यह भी तो हो सकता है कि मार्गरेट ने ही अपने जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर दिया हो! यह तो स्रग्धर का आग्रह है, वरना क्या मैं ही नहीं स्वयम् अपने ही इस जरा-जीर्ण वस्त्र की अनुभूति में इतने दीर्घ समय से ग्रस्त-व्यस्त रहा हूँ?

"पत्र, काफी लम्बा हो गया है। प्रतीक्षा तुम्हें अवश्य होगी, पर मेरी आत्मकथा वाले पत्रों की नहीं। यदि इसमें कुछ है तो नकल ही तो है! और असल के लिए तुम्हें अटकाए बैठा हूँ। पर तुम्हारा न सही, मेरा लाभ तो है। इसी बहाने पत्र लिखकर तुम जैसे सुधी साहित्यप्रेमी से अनुभूतियाँ बाँट लूँ, यह क्या कम उपलब्धि है? काले कोसों इतना दूर बैठा क्या मैं ऊब नहीं जाता? यह पत्र भी तो थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिन गए चार दिन से लिखता आ रहा हूँ। अब अगला पत्र कब पोस्ट करूँगा—लिखता अवश्य रहूँगा प्रतिदिन। सप्ताहान्त तक तो अवश्य पोस्ट हो ही जाएगा। आज इसे यहीं समाप्त करता हूँ—पर जरा रुको। स्रग्धर आ रहा है। हस्ताक्षर करूँ उसके पहले देख तो लूँ कि कोई विशेष समाचार न हो—हाँ, कार्लस्मिथ लौट आया है और स्रग्धर ने कल उसे लंच पर आमन्त्रित किया है। तो आज रहे अब। यह पत्र कल पोस्ट करूँगा। स्मिथ

कैलॉग-कॉरपोरेशन के निदेशक-मंडल का एक वरिष्ठ सदस्य है। उससे काफी कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलने की सम्भावनाएँ हैं।

"यद्यपि आज लंच पर कार्ल स्मिथ से कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिली हैं, किन्तु मार्गरेट के सम्बन्ध में हमारी जानकारी जहाँ थी वहीं है। कार्ल स्मिथ कैलॉग कार्पोरेशन के निदेशकमंडल का वरिष्ठ ही नहीं, वरिष्ठतम सदस्य है, विलियम कैलॉग के इस संस्थान में सम्मिलित होने से भी पहले का। हाँ, स्मिथ ने यह निश्चय तो करा दिया है कि कैलॉग का प्रथम नाम विलियम ही है, और यह भी कि वह रॉबर्ट कैलॉग का एक मात्र पुत्र है। जब यह संस्थान कैलॉग एंटरप्राइजेस के नाम से था, स्मिथ तभी से बॉब (रॉबर्ट) के नीचे जनरल मैनेजर था। जब स्मिथ की नियुक्ति हुई थी, तब बॉब विधुर था, और उसका एक मात्र पुत्र विवाह के बाद ही विदेश चला गया था अपनी पत्नी के साथ। बॉब ने कोई विवाह फिर नहीं किया और अपने पुत्र की राह देखता रहा। युद्ध प्रारम्भ होजाने के कई महीनों बाद जब उसका पुत्र लौटा तो बॉब ने सारे व्यवसाय को पुत्र पर छोड़ कर सक्रिय जीवन से अवकाश ले लिया। कार्यभार सम्हाल कर विलियम ने काफी तरक्की की और व्यवसाय को भी खूब बढ़ाया। कहते हैं, उसकी पत्नी बड़ी सूझबूझ वाली है। उसीके सहयोग का फल है कि आज कॉर्पोरेशन अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। उसकी पत्नी ही के प्रयत्न से अब यह प्रतिष्ठान जॉइंट स्टॉक कम्पनी के रूप में परिवर्तित हो गया है और इसका सारा प्रबन्ध एक निदेशक-मंडल के अधीन है, जिसका अध्यक्ष स्वयम् विलियम कैलॉग है। इतनी तीव्र व्यावसायिक प्रतिभा के बावजूद यह आश्चर्य की ही बात है, कि श्रीमती कैलॉग कभी कम्पनी के कार्य-व्यापार में प्रकट रूप से हिस्सा नहीं लेतीं। कम्पनी के साठ प्रतिशत शेयर सारे के सारे विलियम के ही नाम हैं, और यदि उसने कहीं कोई विल (वसीयत) अभी तक न बनाई हो, और यदि ईश्वर न करे, इस प्राणान्तक बीमारी में कुछ हो गया, तो उसके शेयरों का क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। हमारे बार-बार पूछने पर श्रीमती कैलॉग के बारे में वह जो कुछ बता सका उसका सार यही है कि वे बड़े गम्भीर स्वभाव की महिला हैं, और सभा-सोसाइटी में बिलकुल रुचि नहीं लेतीं। किन्तु विलियम पर उनका अत्यन्त प्रेम प्रतीत होता है, वरना स्वयम् विलियम क्यों उनसे इतना प्रभावित होता? एकाध बार श्रीमती कैलॉग को देखा अवश्य गया है। बोल-चाल में बड़ी मिष्ट-भाषिणी, स्वभाव से निर्दोष, शील और सौजन्य से भरी हुई ही मालूम दीं। निदेशक-मंडल की मीटिंग प्रारम्भ होने के दूसरे दिन अकस्मात् श्रीमती कैलॉग को क्यों यूरोप चले जाना पड़ा, इसके लिए स्मिथ ने कहा कि इसका पता भी उन्हें दूसरे दिन विलियम से ही मिला

जब उसने पहले दिन मीटिंग में अनुपस्थित रहने के कारण की चर्चा की। पर हाँ, विलियम स्वयम् खोया-खोया सा लग रहा था। इनका अनुमान है कि श्रीमती कैलॉग के यूरोप-भ्रमण का सम्बन्ध कम्पनी के कार्य से ही हो सकता है। आखिर निदेशक-मंडल की यह आवश्यक बैठक भी तो कम्पनी पर आई हुई विपत्ति के बारे में विचार करने के लिए बुलाई गई है।

"कम्पनी की विपत्ति के बारे में भी स्मिथ ने संकेत दिया। कम्पनी के व्यवसाय का बहुत बड़ा भाग ईरान के उद्योगों से जुड़ा हुआ है, और ईरान के धर्मान्ध नेताओं ने सारी अमरीकी सम्पत्ति वहाँ फ्रीज़ कर ली है। उनका अनुमान है कि विलियम की पत्नी किसी ईरानी अमीर की पुत्री है—अमरीकन तो वह नहीं ही है—उनके अनुमान का कारण यह है कि जब विलियम विदेश से लौटा था तो उसने सबसे पहले अपने व्यवसाय के सूत्र ईरान ही में फैलाए थे। और यह स्वीकार करते हैं वे, कि विलियम का चुनाव कम्पनी के लिए आशातीत लाभप्रद रहा। श्रीमती कैलॉग शायद यूरोप ठहर कर ईरान के नए प्रशासन का जायजा लें और अवसर देख कर वहाँ जाएँ। कठिनाई यह है कि विलियम स्वयम् अन्तर्मुखी व्यक्ति है, आवश्यकता से अधिक किसी से बात भी नहीं करता। क्या यह सम्भव है कि इस बीच विलियम को श्रीमती कैलॉग का कोई ऐसा संदेश मिला हो जिससे उसके दिमाग में अकस्मात् कुछ धक्का-सा लगा हो और फलस्वरूप उसे स्ट्रोक हो गया हो? स्मिथ इस बारे में कुछ कहना नहीं चाहता। यह तो वह स्वीकार करता है कि एकाएक ऐसे विपर्यय की किसी को आशंका नहीं थी और इससे कम्पनी को बहुत बड़ी हानि होना अनिवार्य है। हृद्रोग ही नहीं, विलियम के मस्तिष्क में भी किसी नस के फट जाने की आशंका है। विलियम के आवास आदि के बारे में स्मिथ से भी वही जानकारी मिली, जो हम उसके कार्यालय से पहले ही मालूम कर चुके थे।

"—सो देख रहे हो न भाई, जाल उलझता जा रहा है, और मुक्त जल में अब तक निर्बन्ध विचरण करने वाली मछली पर उसकी छाया पड़ रही है। स्रग्धर का उत्साह तो समझ में आ सकता है, किन्तु मैं तो दिशाहारा होता जा रहा हूँ। अपने अज्ञान में क्या वहाँ मैं कम सुखी था कि यहाँ चला आया? और विडम्बना देखो न! उधर तो अतीत को खोदते रह कर जीवन बिता दिया है और अब इस शेष-काल में नियति भविष्य को खोदने में प्रवृत्त करना चाह रही है! शहद की भ्रान्ति में लिपट कर क्या अपने पंखों को ही निष्क्रिय नहीं कर रहा हूँ? जो हो, आज पत्र यहीं समाप्त कर रहा हूँ। क्या करूँ, लाचार हूँ कि तुम्हें भी अपनी विडम्बना में घसीटता जा रहा हूँ। सन्तोष है तो यही कि तुम एक साहित्यकार हो, दूसरों के दुख-दर्द में तुम्हें सहानुभूति होनी ही चाहिए, कुतूहल से अधिक सहानुभूति! सस्नेह, तुम्हारा...... "

एक नहीं, दूसरे सप्ताहान्त तक राह देखनी पड़ी है, और एक नहीं, दो-दो पत्र हैं एक ही लिफाफे में। दो-दो पत्र क्यों ? लिखा तो था ही, कि प्रतिदिन किश्तों में पत्र लिखते हैं। पत्र क्या हुआ, डायरी हुई ! लगता है, अकस्मात् कुछ नई बात हो गई है ! अकस्मात् हो ही क्या सकता है ? साधना के बाद यदि उन्हें सिद्धि मिल गई हो तो प्रो० मुरारीलाल को मुबारकबाद ! देखना है, यदि मार्गरेट का सन्धान उन्हें मिल गया है, तो वे कब भारत लौटते हैं, और लौटते भी हैं या......

इस तरह रुक-रुक कर लगातार लिखे जाने वाले पत्रों में तारीख अन्त में ही लिखी जा सकती है, पर इस पहले पत्र में वह ऊपर हस्ब-मामूल पहले ही लिखी गई, है, यानी ताजा पत्र यही है। लिखते हैं—"भाई, पढ़ कर शायद खुश ही होओगे कि आज स्रग्धर को मैंने अपने लिए भारत की ओर जाने वाले सबसे पहले जहाज में एक बंक बुक कर देने के लिए कह दिया है, और मैं शीघ्र ही भारत के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। लौटते समय कल बाजार से तुम्हारे लिए एक 'हिअरिंग एड' भी खरीद ली है। कह नहीं सकता, इससे तुम्हारी समस्या कहाँ तक हल हो सकेगी ! न भी हुई तो किसी दूसरे जरूरतमन्द के लिए काम आएगी।—ब-राह समुद्र कुछ अधिक समय तो लगेगा ही। यह भी कहाँ निश्चित है, कि जहाज सीधा भारत के लिए ही मिल जाए ? पर उस दिशा में जाने वाला जो भी पहला जहाज हो।—यूरोप में बदल लूँगा। इसमें कुछ दुरभिसन्धि मत समझ बैठना। तुम जैसे साहित्यकार हर व्यापार में अचेतन की भूमिका मान लेते हैं न ! लेकिन मैं जानता हूँ यूरोप में होने मात्र से कोई महिला बिना किसी पूर्व-सूचना के किसी भी बन्दरगाह पर अनायास किसी अवांछित व्यक्ति से टकरा नहीं जा सकती।—हाँ, मुझे सन्देह हो रहा है कि यदि कहीं हो, तो मार्गरेट इस समय यूरोप में है, और यूरोप में है तो इसीलिए कि मुझसे भेंट न हो जाए ! साथ वाले पत्र को पढ़ोगे तो शायद तुम भी मुझसे सहमत हो जाओगे !

"यहाँ से जी एकदम ऊब गया है। यही नहीं, न जाने कैसे एक अजीब-से भय की आशंका भी हो गई है। समझ में नहीं आता, जीवन के इस मोड़ पर, जबकि अपना कहने को कुछ भी अपने पास नहीं रक्खा है, भय किसका हो ?—मोह स्रग्धर का भी कहाँ रक्खा है ? उसका विवाह करके ही क्या छुट्टी नहीं पा ली थी ?—पर कोई पूछ तो सकता ही है, आखिर मैं यहाँ हूँ ही क्यों ? किस लिए मकड़े की तरह यहाँ उड़ आ कर एक मोहक जाल के ताने-बाने बुनने में मन उलझा लिया ?—कोई फँसे या न फँसे, खुद तो पहले फँसना ही पड़ता है न ! अभी आसपास जाले के रेशे मजबूत नहीं हुए हैं, पर अनुभव तो कर ही सकता हूँ; और इसीलिए अभी तो टूट भी जाएँगे चाहे कुछ कठिनाई भी पड़े।

"तुम कहोगे, फिर समुद्र की राह क्यों ? सोचा भी था कि जिस तरह उड़ कर आया था, उसी तरह उड़ कर क्यों न नीड़ को पहुँच जाऊँ और स्वस्ति लाभ करूँ ?—महाकाश के स्पर्श से विराटतर स्पर्श इस विश्व में और कहाँ मिलेगा ? पर यह महाकाश इस पृथिवी ही का तो नहीं; चाँद, सूरज और इन संख्यातीत नक्षत्रों का भी तो है। बाहर के इस विराटतम को मेरा यह क्षुद्रतम कैसे अपना सकेगा ? इसके लिए तो पहले उसे अपने अन्तरतम के बिन्दु को सिन्धु की प्रतीति देनी होगी। यही तो स्वाभाविक है ! हम त्रैमात्रिक सत्ता में ही तो सीमित, स्थित नहीं हैं। अब तो जीव-वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि जीव कोई स्टैटिक, स्थिर-स्थैतिक इकाई नहीं है, वह है टेम्परल अर्थात् कालवाही सतत-गत्यात्मक परिवर्त्य !—महासिंधु का वह निरायाम बिन्दु ही तो था जो करोड़ों पीढ़ियों से आसपास की प्रकृति से संघर्ष करता हुआ आज मनुष्य के रूप में विकसित हुआ है। और मैं केवल पाँच हजार वर्ष पहले की नियति को पकड़े यहाँ बैठा रहूँ ?—आज भी क्या मनुष्य रासायनिक-दृष्टि से शत-प्रतिशत—अट्ठानवे प्रतिशत को और क्या कहोगे ?—शुद्ध जल ही नहीं है ? कहते हैं, तीस करोड़ वर्ष पहले किसी सूखे मौसिम में कोई मत्स्य समुद्र से बाहर निकल कर जमीन पर रेंगने लगा था और धीरे-धीरे साँस लेने योग्य रीढ़धारी जीव का रूप लेने के लिए विवश हुआ था। उसी के वंशज आदि-बानरों में से कोई प्राणी पचासेक लाख वर्ष पहले एक और सूखे मौसिम में अफ्रिका के जंगल में पेड़ से कूद कर पिछले दो पैरों पर गिरते-पड़ते आदि-मानव बना था। वही समुद्र तो सारे जीवन में हिलोरें मार रहा है ! इसके सिवा जीवन और है ही क्या ? यदि इसी अवधि में महासिन्धु की इस शीतल गोद में ही महा-विश्रान्ति का क्षण आ जाए, तो क्या बुरा है ?—पर लगता नहीं कि वह क्षण इतना निकट हो। तुम्हारा ऋण जो शेष है ! उसे पूरा चुका कर जब तक हलका न हो लूँ, मृत्यु ही मेरा बोझ कैसे उठाएगी और विश्रान्ति का क्षण भी वह कैसे हो जाएगा ?

"विलियम अभी बेहोश ही है : डॉक्टर कहते हैं कि खूँटी पर टँगा उसका शरीर भी अब अपने बिछुड़े चैतन्य का अभाव महसूस करने लगा है। न जाने कब उसके ऋण चुक जाएँ ! तो अब और अधिक यहाँ रुके रह कर अपने ऊपर ही व्यर्थ क्यों और ऋण लादूँ, खास कर ऐसे ऋण जिन्हें एक बार रो-धो कर या हँसी-खुशी किसी तरह चुका ही दिया था ? और शेष सारी दास्तान तो संलग्न पत्र में पढ़ोगे ही।

भारत पहुँचते ही पत्र लिखूँ। तब तक—स्नेह-भाजन मुरारी।"

और क्या इस संलग्न पत्र को सचमुच पत्र कहा जा सकता है ?—केवल 'प्रिय भाई,' का सिरनामा टाँग देने से ही तो हो नहीं जाता। पशु-पक्षियों से फसल को बचाए रखने के लिए खेत के बीचोंबीच लकड़ियों के क्रॉस पर चिथड़े लपेट कर

एक नहीं, दूसरे सप्ताहान्त तक राह देखनी पड़ी है, और एक नहीं, दो-दो पत्र हैं एक ही लिफाफे में। दो-दो पत्र क्यों ? लिखा तो था ही, कि प्रतिदिन किश्तों में पत्र लिखते हैं। पत्र क्या हुआ, डायरी हुई ! लगता है, अकस्मात् कुछ नई बात हो गई है ! अकस्मात् हो ही क्या सकता है ? साधना के बाद यदि उन्हें सिद्धि मिल गई हो तो प्रो० मुरारीलाल को मुबारकबाद ! देखना है, यदि मार्गरेट का सन्धान उन्हें मिल गया है, तो वे कब भारत लौटते हैं, और लौटते भी हैं या……

इस तरह रुक-रुक कर लगातार लिखे जाने वाले पत्रों में तारीख अन्त में ही लिखी जा सकती है, पर इस पहले पत्र में वह ऊपर हस्ब-मामूल पहले ही लिखी गई, है, यानी ताजा पत्र यही है। लिखते हैं—"भाई, पढ़ कर शायद खुश ही होओगे कि आज स्रग्धर को मैंने अपने लिए भारत की ओर जाने वाले सबसे पहले जहाज में एक बंक बुक कर देने के लिए कह दिया है, और मैं शीघ्र ही भारत के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। लौटते समय कल बाजार से तुम्हारे लिए एक 'हिअरिंग एड' भी खरीद ली है। कह नहीं सकता, इससे तुम्हारी समस्या कहाँ तक हल हो सकेगी ! न भी हुई तो किसी दूसरे जरूरतमन्द के लिए काम आएगी।–ब-राह समुद्र कुछ अधिक समय तो लगेगा ही। यह भी कहाँ निश्चित है, कि जहाज सीधा भारत के लिए ही मिल जाए ? पर उस दिशा में जाने वाला जो भी पहला जहाज हो।—यूरोप में बदल लूँगा। इसमें कुछ दुरभिसन्धि मत समझ बैठना। तुम जैसे साहित्यकार हर व्यापार में अचेतन की भूमिका मान लेते हैं न ! लेकिन मैं जानता हूँ यूरोप में होने मात्र से कोई महिला बिना किसी पूर्व-सूचना के किसी भी बन्दरगाह पर अनायास किसी अवांछित व्यक्ति से टकरा नहीं जा सकती।—हाँ, मुझे सन्देह हो रहा है कि यदि कहीं हो, तो मार्गरेट इस समय यूरोप में है, और यूरोप में है तो इसीलिए कि मुझसे भेंट न हो जाए ! साथ वाले पत्र को पढ़ोगे तो शायद तुम भी मुझसे सहमत हो जाओगे !

"यहाँ से जी एकदम ऊब गया है। यही नहीं, न जाने कैसे एक अजीब-से भय की आशंका भी हो गई है। समझ में नहीं आता, जीवन के इस मोड़ पर, जबकि अपना कहने को कुछ भी अपने पास नहीं रक्खा है, भय किसका हो ?–मोह स्रग्धर का भी कहाँ रक्खा है ? उसका विवाह करके ही क्या छुट्टी नहीं पा ली थी ?–पर कोई पूछ तो सकता ही है, आखिर मैं यहाँ हूँ ही क्यों ? किस लिए मकड़े की तरह यहाँ उड़ आ कर एक मोहक जाल के ताने-बाने बुनने में मन उलझा लिया ?–कोई फँसे या न फँसे, खुद तो पहले फँसना ही पड़ता है न ! अभी आसपास जाले के रेशे मजबूत नहीं हुए हैं, पर अनुभव तो कर ही सकता हूँ; और इसीलिए अभी तो टूट भी जाएँगे चाहे कुछ कठिनाई भी पड़े।

"तुम कहोगे, फिर समुद्र की राह क्यों ? सोचा भी था कि जिस तरह उड़ कर आया था, उसी तरह उड़ कर क्यों न नीड़ को पहुँच जाऊँ और स्वस्ति लाभ करूँ ?—महाकाश के स्पर्श से विराटतर स्पर्श इस विश्व में और कहाँ मिलेगा ? पर यह महाकाश इस पृथिवी ही का तो नहीं; चाँद, सूरज और इन संख्यातीत नक्षत्रों का भी तो है। बाहर के इस विराटतम को मेरा यह क्षुद्रतम कैसे अपना सकेगा ? इसके लिए तो पहले उसे अपने अन्तरतम के बिन्दु को सिन्धु की प्रतीति देनी होगी। यही तो स्वाभाविक है ! हम त्रैमात्रिक सत्ता में ही तो सीमित, स्थित नहीं हैं। अब तो जीव-वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि जीव कोई स्टैटिक, स्थिर-स्थैतिक इकाई नहीं है, वह है टेम्परल अर्थात् कालवाही सतत-गत्यात्मक परिवर्त्य !—महासिंधु का वह निरायाम बिन्दु ही तो था जो करोड़ों पीढ़ियों से आसपास की प्रकृति से संघर्ष करता हुआ आज मनुष्य के रूप में विकसित हुआ है। और मैं केवल पांच हजार वर्ष पहले की नियति को पकड़े यहाँ बैठा रहूँ ?—आज भी क्या मनुष्य रासायनिक-दृष्टि से शत-प्रतिशत—अट्ठानवे प्रतिशत को और क्या कहोगे ?—शुद्ध जल ही नहीं है ? कहते हैं, तीस करोड़ वर्ष पहले किसी सूखे मौसिम में कोई मत्स्य समुद्र से बाहर निकल कर जमीन पर रेंगने लगा था और धीरे-धीरे साँस लेने योग्य रीढ़धारी जीव का रूप लेने के लिए विवश हुआ था। उसी के वंशज आदि-वानरों में से कोई प्राणी पचासेक लाख वर्ष पहले एक और सूखे मौसिम में अफ्रिका के जंगल में पेड़ से कूद कर पिछले दो पैरों पर गिरते-पड़ते आदि-मानव बना था। वही समुद्र तो सारे जीवन में हिलोरें मार रहा है ! इसके सिवा जीवन और है ही क्या ? यदि इसी अवधि में महासिन्धु की इस शीतल गोद में ही महा-विश्रान्ति का क्षण आ जाए, तो क्या बुरा है ?—पर लगता नहीं कि वह क्षण इतना निकट हो। तुम्हारा ऋण जो शेष है ! उसे पूरा चुका कर जब तक हलका न हो लूँ, मृत्यु ही मेरा बोझ कैसे उठाएगी और विश्रान्ति का क्षण भी वह कैसे हो जाएगा ?

"विलियम अभी बेहोश ही है : डॉक्टर कहते हैं कि खूँटी पर टँगा उसका शरीर भी अब अपने बिछुड़े चैतन्य का अभाव महसूस करने लगा है। न जाने कब उसके ऋण चुक जाएँ ! तो अब और अधिक यहाँ रुके रह कर अपने ऊपर ही व्यर्थ क्यों और ऋण लादूँ, खास कर ऐसे ऋण जिन्हें एक बार रो-धो कर या हँसी-खुशी किसी तरह चुका ही दिया था ? और शेष सारी दास्तान तो संलग्न पत्र में पढ़ोगे ही।

भारत पहुँचते ही पत्र लिखूँ। तब तक—स्नेह-भाजन मुरारी।"

और क्या इस संलग्न पत्र को सचमुच पत्र कहा जा सकता है ?—केवल 'प्रिय भाई,' का सिरनामा टाँग देने से ही तो हो नहीं जाता। पशु-पक्षियों से फसल को बचाए रखने के लिए खेत के बीचोंबीच लकड़ियों के क्रॉस पर चिथड़े लपेट कर

बिजूखा खड़ा कर दिया जाता है न ! बीच-बीच में यदि मुझे सम्बोधित न किया गया होता तो इसे मुरारी दा की डायरी कहना ही अधिक उपयुक्त होता। बीच-बीच में लिखने के दिन की तारीखों का निर्देश भी यही तो स्पष्ट करता है। चाहो तो नोट्स भी कह सकते हो प्रतिदिन के !

लिखते हैं, "डॉक्टरों से तो नहीं, किन्तु अस्पताल के अन्य कर्मचारियों से मिल-मिला कर स्रग्धर ने किसी तरह राह निकाली है ताकि इंटेन्सिव्ह-केअर यूनिट में पड़े रोगी को प्रत्यक्ष देखना सम्भव हो गया है। काँच के दरवाजे से दूर से ही सही, और स्थान ही क्यों, चालीस वर्ष की दूरी भी तो बीच में रही है, पर स्पष्ट हो गया है कि यह वही विलियम कैलॉग है, जिसे मार्गरेट को सौंप कर मैं तब राहत की साँस ले सका था। सारा शरीर चादर से ढँका हुआ था तो क्या हुआ ? और खुले चेहरे पर भी नाक के द्वारा शरीर में ऑक्सीजन पहुँचाने वाले या सिर पर लगे इलेक्ट्रोड्स के तारों से भी वह प्रकृत पहचान कैसे छिप सकती थी ? और भी जाने कितने यन्त्र उसके शरीर को भेद कर निष्क्रिय हो गए अवयवों की पूर्ति करने का बचकाना प्रयत्न कर रहे थे। एक ओर से रक्त भी चढ़ाया जा रहा था। अभी तक कोई यन्त्र नहीं बन पाया है कि शरीर में प्राण टपकाए जा सकें। कभी बन भी सकेगा क्या ?—यन्त्र तो नहीं, किन्तु प्राचीन युग में हमारे यहाँ के ऋषि-मुनि मन्त्र फूँक कर प्राणों का प्रवाह चालू कर देते थे, यह तो सभी ने पढ़ा ही है।

"जब से अस्पताल से लौटा हूँ, मन रह-रह कर विलियम के निष्क्रिय शरीर को देखने लग जाता है। इस शरीर को ही तो हम पहचानते हैं। इसी के कारण तो मैं 'मैं' हूँ, और तुम 'तुम' हो ! पर यह शरीर तो खूँटी पर टँगा वस्त्र भी हो सकता है।—वह वस्त्र तो है, पर विलियम कहाँ है ? बहुत हुआ तो वस्त्र से उसे पहचान लिया जा सकता है कि वह विलियम ही है, पर वस्त्र तो विलियम नहीं हो सकता।—चालीस वर्ष पूर्व मैंने जो विलियम को सौंपा था, वह भी क्या एक वस्त्र ही नहीं था ? वस्त्र ही में यदि मेरी दृष्टि अटकी न रहती, तो सम्भव है मैं मार्गरेट को कहीं अपने पास चारों ओर मँडराते देख सकता था। उस वस्त्र की ही प्रतीति करता रहूँ, इससे अधिक बढ़ कर मूर्खता और क्या होगी ?

"और इस ऊपरी पहचान के साधन, वस्त्र की बात भुला सकूँ तो मैं स्वयम् क्या हूँ ? मुझमें संज्ञा है, चैतन्य शेष है। मैं सोच सकता हूँ कि यह शरीर 'मैं' से पृथक एक वस्त्र मात्र है। विलियम नहीं सोच सकता—कम-से-कम अस्पताल में पड़े केवल शरीर के रूप में अपनी पहचान देने वाला विलियम तो नहीं सोच सकता। यह पारमिता प्रज्ञा कहाँ उदित होती है ? मस्तिष्क की संज्ञा के भीतर स्वतः स्फूर्त होती है या बाहरी प्रयोगों में भटक कर प्राप्त करनी होती है ? आज का विज्ञान प्रयोगों में

ही तो प्रवृत्त है। यन्त्र द्वारा प्राणों को फूँकना अभी सम्भव न हो, पर सुप्त प्राण को जागृत करने में तो उसे आंशिक सफलता मिली ही है। डॉक्टरों का विचार है कि विलियम के प्राण उसके मस्तिष्क की कुछ ही कोशिकाओं में उलझ कर रह गए हैं। किसी नस के फट जाने से या हृदय पर किसी आवेश के कारण पड़े दबाव से अत्यधिक रक्त-प्रवाह के कारण वे कोशिकाएँ चैतन्य का अस्तित्व वहन न कर पा रही हों। यन्त्र द्वारा वे शायद इन्हीं कोशिकाओं को संयत करना चाह रहे हों?

"हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने प्रयोग के स्थान पर योग-साधन के द्वारा इस पारमिता प्रज्ञा को उपलब्ध किया, कि वे मन्त्र द्वारा ही शरीर में प्राण फूँक सकते थे। आज मस्तिष्क की विद्युत तरंगों को ग्रहण करने के लिए इलेक्ट्रोड्स का सहारा लेना पड़ता है। तरंगों में अनुलेखित लिपि के निर्वचन और भाष्य की भौतिक व्यवस्था भी है। किन्तु नैसर्गिक रूप में विद्युत प्रवाह को भौतिक आधार की अपेक्षा कहाँ है? अपना प्रवाह-क्षेत्र क्या वह स्वयम् निर्मित नहीं कर लेती? और निर्दिष्ट वेव-लेंथ स्थापित होते ही क्या संलाप सम्भव नहीं हो जाता?—ऋषि-मुनि अपने शरीर के मूलाधार-चक्र में सोई पड़ी कुंडलिनी को जगा कर सुषुम्ना के पथ से मस्तक में आज्ञा-चक्र और ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार-चक्र में अधिष्ठित कर सभी सिद्धियों के स्वामी बन जाते थे। इस महतोमहीयान, अणोरणीयान, अनन्त-असंख्य तथा अत्यन्त गतिमान ब्रह्माण्ड को हृदयंगम करने में उनकी प्रज्ञा समर्थ थी। आज का विज्ञान प्रत्यभिज्ञा द्वारा उसी ब्रह्माण्ड को अपने मात्र चौदहसौ घन सेंटीमीटर आयतन के मस्तिष्क! द्वारा समझना चाह रहा है। उसी ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप ही तो है यह जैसे-जैसे यह मस्तिष्क खुलता जाएगा, विकसित होता जाएगा, वैसे-वैसे सृष्टि के रहस्य बाह्य-साधनों से भी इसके समक्ष प्रकट होते जाएँगे। सचमुच बहुत जटिल है यह मस्तिष्क! पाँच लाख वर्ष पहले तो यह सारी जटिलता केवल पाँच सौ घन सेंटीमीटर के आयतन में बद्ध थी। इस जटिलता की चुनौती से ही तो मनुष्य उच्चरित भाषा, तरह-तरह की लिपियाँ, दीर्घकालीन स्मृति, प्रशिक्षण, सृजन और सबसे बढ़कर आत्म-प्रत्यभिज्ञा के मार्ग खोज पाया है। यह सृष्टि समय के आयाम में भी बँधी हुई है, समय के इस आयाम में यह शरीर नित्य नहीं, केवल एक वस्त्र मात्र है। परिवर्तन या मृत्यु इसका सहज धर्म है। हमारा यह समय-बोध ही तो इस सभ्यता की जड़ है।—किन्तु अभी हमारी प्रज्ञा जन्म और मृत्यु दो बिन्दुओं के बीच कैद है और यदि शरीर नाम का यह वस्त्र यदि इन्हीं दो घटनाओं से पहचाना जाता है, तो हमें अभी विलियम और मार्गरेट की नियति को देखना ही होगा, चाहे वह शरीरों ही की नियति हो। आखिर, मैं भी तो एक शरीर ही हूँ, शरीर होकर ही इनकी आलोचना कर सकता हूँ।

बहुत बोर किया है आज तुम्हें। अब यहीं तक…"

आगे लिखते हैं मुरारी दा, "उस दिन तुम्हें बहुत ही बोर किया था न ?–इसीलिए इन गए दो-बार दिन कुछ लिखने का साहस ही नहीं हुआ। लिखता भी क्या ?–लिखने को कुछ विशेष था भी नहीं। लिखता तो, वही अपने मन की भँड़ास निकालता और तुम और भी बोर होते।–पर देखो न यह मूढ़ता ! लिखते-लिखते बीच में मैंने अवकाश लिया हो, पर तुम तो वहाँ मेरा लिखा अनवकाश पढ़ ही रहे होगे। अजीब गोरखधन्धा है यह समय का भी ! हर व्यक्ति की व्यस्तता अलग, हर व्यक्ति का अवकाश अलग !–मेरे अनवरत लिखते रहने के बावजूद तुम जब चाहे तब बीच ही में पढ़ना बन्द कर सकते हो। लिखते-लिखते हकीकत में बोर मैं ही हो रहा होऊँगा। अपनी ही मनोस्थिति को दूसरों पर प्रक्षिप्त करने की हमारी आदत जो है !–दूसरों की मनोस्थिति का प्रत्यय किसी दूसरे को हो भी तो कैसे ? वह नितान्त व्यक्तिगत जो होती है !–लो, फिर बहक रहा हूँ। या तो सठिया गया हूँ, सठिया क्या, ठीक कहूँ तो अठिया रहा हूँ।–या फिर अवचेतन में वस्तुस्थिति से किनारा काटने का प्रयत्न हो। खैर !

"मैं तो अवश्य इन दिनों या तो दिन भर निष्क्रिय-आलस्य में खयाली पुलाओं की जुगाली करता रहा या फिर स्रग्धर द्वारा लाई हुई कई रंगीन पत्रिकाओं के विज्ञापन-बहुल पृष्ठों की तस्वीरें देखता रहा–यहाँ इन उत्तरी अक्षांशों की जलवायु में दिन को सोने की इच्छा भी तो नहीं होती, कर्म–संकुल जीवन के लिए यहाँ का वातावरण सचमुच बड़ा प्रेरक है। सो स्रग्धर तो अपने उद्देश्य के प्रति समर्पण-भाव से अपने को बहुत व्यस्त रखता ही है। उसका अधिकांश समय कैलॉग के कार्यालय या अस्पताल में बीतता है, ताकि कहीं से किसी भी बहाने उसकी माँ का कोई चिन्ह मिल जाए, और इस समय यदि कहीं कुछ चिन्ह हो तो वह विलियम के आसपास ही हो सकता है ! रात तो वह लौटा भी बहुत विलम्ब से था। मैं तो सो भी लिया था। कल हस्ब-मामूल जब वह कार्यालय में कैलॉग के सेक्रेटरी के पास बैठा था कि आई हुई डाक छाँटती हुई सेक्रेटरी ने एक पत्र पास रखी एक ट्रे में डालते हुए विशेष प्रकार से अपने ओठ सिकोड़ लिए। स्रग्धर की दृष्टि सहज ही पत्र की ओर मुड़ गई। पत्र के ऊपर एक ओर लाल स्याही से रेखांकित 'अत्यन्त आवश्यक,' 'गोपनीय' तथा 'व्यक्तिगत' लिखे हुए थे। पते पर नाम विलियम कैलॉग का था। अपनी उत्सुकता को यथा साध्य दबाकर स्रग्धर ने पूछा, 'इस अत्यन्त आवश्यक पत्र को आप कैसे डील करेंगी ?'

'किया ही क्या जा सकता है ?–उनके होश आने तक इसे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी !'

'किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक जो है।'

'यदि व्यक्तिगत और गोपनीय न होता तो मैं खोलकर देख सकती थी। जो भी हो, कार्यालय या व्यवसाय सम्बन्धी तो यह पत्र है नहीं।'

'यह आप कैसे कह सकती हैं?'

सेक्रेटरी ने पुनः पत्र उठाकर दूसरी बाजू में भेजने वाले के नाम की ओर संकेत करते हुए कहा, 'यह देखिए, यह पत्र उनकी श्रीमतीजी का लिखा हुआ है।'

स्रग्धर ने पत्र हाथ में लेकर देखा, उसपर एथेना का नाम लिखा हुआ था। पता आदि अन्य कुछ भी नहीं था। उसके मुँह से सहसा निकल गया 'एथेना?–यह कोई कम्पनी तो नहीं है?'

सेक्रेटरी ने मुस्कराते हुए कहा, 'यह श्रीमती कैलॉग का मूल नाम है। वैसे उनके पत्र यहाँ कार्यालय के पते से नहीं आते, उनके घर पर रॉक-अवे के पते से ही आते हैं। लगता है, घर के पते से भेजे गए पत्रों का कोई उत्तर न आने से उन्होंने यह पत्र आफिस के पते से भेजा है।'

'क्या उन्हें अपने पति की बीमारी की सूचना नहीं है?'

'कहाँ से होगी?–वे कहाँ गई हैं यह तो उनके पति मि० कैलॉग के सिवा कोई जानता नहीं। यही देखिए, इस पत्र पर भी केवल उनका नाम है, पता नहीं, बल्कि यह भी समझ में नहीं आता कि पत्र कहाँ से पोस्ट किया हुआ है! हाँ, स्टाम्प अवश्य पश्चिम जर्मनी की है।–उन्हें सूचना दी भी जाए तो खाली पश्चिम जर्मनी कहने से तो पत्र नहीं पहुँच सकता।'

'सम्भव है उनके घर के पते पर जो डाक आती है, उसमें किसी पत्र पर उनका पता हो?'

'उनके घर पर आई सारी डाक भी तो उनका ड्राइवर हर दूसरे दिन यहीं पहुँचा जाता है। इस ट्रे में उनकी वह सारी डाक इकट्ठी हो रही है जो यहाँ या उनके घर के पते पर आती है। लगभग सभी पत्र श्रीमती कैलॉग के ही लिखे हुए हैं, और किसी पर भी उनका पता नहीं है। सब पर स्टाम्प भी केवल पश्चिम जर्मनी के नहीं, अन्य-अन्य देशों के भी हैं, इसरायल तक के भी।'

'उनके घर पर क्या किसी को भी वे अपना पता नहीं दे गईं?'

'उनके घर पर है ही कौन?–केवल एक नौकरानी है, वह भी शायद एकाध माह पहले ही रखी हुई है। उनके यहाँ कोई नौकर दो-तीन माह से अधिक टिक ही नहीं पाता या शायद रहने ही नहीं दिया जाता, यद्यपि अभी तक किसी नौकर ने उनके व्यवहार के बारे में कभी कोई शिकायत नहीं की। बल्कि जिन्हें कैलॉग-दम्पति से व्यवहार का थोड़ा भी अवसर मिला है, वे उनकी बड़ी प्रशंसा ही करते हैं।

—डॉक्टर स्वयम् चाहते हैं कि कोई उनका ऐसा निकटस्थ व्यक्ति मिले जो उनके पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन पर विश्वसनीय जानकारी दे सके, ताकि मि० कैलॉग के रोग का ठीक निदान करने में उन्हें सहायता मिले।'

'क्या यह सम्भव नहीं कि वे अपनी इस नौकरानी या ड्राइवर को अपना पता दे गई हों ?'

'उनसे पूछताछ की गई थी। ड्राइवर से तो श्रीमती कैलॉग की बातचीत प्रायः होती ही नहीं थी। यदि मि० कैलॉग उनके साथ न होते तो नौकर ही उसे आवश्यक आदेश देते रहे हैं। उन्हें बहुत ही कम बोलते पाया गया है।'

स्रग्धर ने कहा, 'क्या एक अमरीकी महिला के लिए यह सब कुछ अस्वाभाविक नहीं लगता ?'

'अमेरिका में क्या किसी का भी संयमी या संकोची स्वभाव नहीं हो सकता ? इतना मैं अवश्य आपसे कह सकती हूँ कि मिसेज कैलॉग किसी भी तरह एब्नार्मल नहीं हैं। संयम और संकोच के लिए उनके अपने कारण हो सकते हैं।

"मैंने पहले ही स्रग्धर को बता दिया था कि किस तरह एथेना के भारत-प्रवास के समय मार्गरेट और उसके बीच सौहार्द्र हो गया था। अतः एथेना का सन्दर्भ आते ही स्रग्धर को भी आशा की किरण मिल गई मानो एथेना का ही अगर पता-ठिकाना मालूम हो जाए तो उससे सम्पर्क किया जाए। विलियम की चिकित्सा में उससे चाहे सहायता मिले या न मिले, मार्गरेट का पता ही न हो तब भी कुछ सूचना तो मिल ही सकती है। इसलिए कल वह यह सूचना पाते ही आफिस से सीधा न्यूयार्क चला गया। जैसे-तैसे वह रॉक-अवे इनलेट पारकर समुद्र के किनारे बने हुए कैलॉग के आवास पर पहुँचकर वहाँ का पता-ठिकाना भी ले आया। इसीलिए रात उसे लौटने में विलम्ब हो गया था। सबेरे जब उसने मुझे चाय-नाश्ते के समय कल का यह सारा वृत्तान्त सुनाया तो मेरे हृदय में तो उथल-पुथल ही मच गई। नाश्ते के बाद ही मेरे आग्रह पर हम दोनों तत्काल रॉक-अवे आइलैंड पर बसे उस मकान को जाकर देख आए हैं। सुरक्षा कर्मचारियों के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं मिला। इस समय जो नौकरानी उस बँगले की देखरेख करती हैं, उसका नाम मार्था है। मालिकों के बाहर होने के कारण दिन में या दो दिन में, जब उसे सुविधा होती है, वह आकर घर देख जाती है। अपने साथ गाड़ी में वह एक और परिचारिका को लेकर आती है, जो उसकी निगरानी में घर-आँगन बुहार जाती है। तुम जानते ही होगे। यहाँ तो यह सब काम मशीनों से होता है, और नौकर भी यदि वहीं नहीं रहते, तो अपनी छोटी-मोटी कार द्वारा ही काम पर आते जाते हैं। कुछ ही समय पूर्व स्रग्धर मुझे होटल

पहुँचाकर पुनः उस नौकरानी मार्था का पता लगाने निकल गया है और मैं तुम्हें यह पत्र लिखने के लिए बैठ गया हूँ।

"एथेना का नाम सुनकर ही मेरे मन में जो हलचल मच गई है, उसका तुम अनुमान लगा सकते हो। मैंने तुम्हें लिखा था कि एथेना तब विलियम के साथ अमेरिका नहीं लौटी थी, बल्कि विलियम के यहाँ से चले जाने के दो वर्ष बाद किसी एक अमरीकी कर्नल के साथ दक्षिण-पूर्व की यात्रा पर चली गई थी। उस कर्नल से उसने विवाह भी कर लिया था, तभी तो वह उसके साथ वीसा प्राप्त कर सकी थी।—और अब वही एथेना यहाँ श्रीमती कैलॉग के आसन पर सुशोभित है!—क्या दक्षिण-पूर्व की यात्रा के बाद अपनी यायावरी से तृप्त होकर वह अपने प्रथम पति के पास लौट आई है? या और कोई उसी नाम की दूसरी महिला है? एक ही नाम की एकाधिक महिलाएँ होती ही हैं, और ग्रीक सभ्यता में तो एथेना एक बहु-प्रचलित नाम है।—किन्तु वह एथेना तो ऐसी शान्त और संकोची स्वभाव की कदापि नहीं थी। कहीं ऐसा तो नहीं है कि विलियम ने अपनी नई पत्नी को विवाह के बाद यह चहेता नाम दे दिया हो? विलियम जब चालीस वर्ष पूर्व अमेरिका लौटा, यह एथेना तभी से उसके साथ है, या इसके साथ उसका विवाह दो तीन वर्ष बाद हुआ?—अमेरिका में तो विवाह का पंजीयन होता है और इसका पता लगाया जा सकता है। स्रग्धर ने बताया है कि एथेना के पत्र पश्चिम जर्मनी से ही नहीं, ग्रीस और इसरायल से भी आए हैं। ग्रीस तो शायद एथेना का जन्म स्थान ही है। शायद ईरान पहुँचने के लिए वह इसरायल भी गई हो।—किन्तु कल का यह पत्र पश्चिम जर्मनी से आया है। कहीं हाइडलबर्ग से तो नहीं आया है?—मैं होता तो पोस्टल स्टाम्प को जरा ध्यान से देखता!—इसी एथेना के नाम से ही तो मार्गरेट को विलियम के साथ यात्रा करनी पड़ी थी। तो क्या?······नहीं नहीं। यात्रा की अवधि में उसे विवश होकर मिसेस एथेना कैलॉग का नाम स्वीकार करना पड़ा हो, पर अमेरिका की स्वतन्त्र भूमि पर पैर रखते ही उसके लिए क्या विवशता क्या बाधा हो सकती थी?—विलियम ऐसा तो नहीं प्रतीत होता था कि किसी की विवशता का लाभ उठाने का प्रयत्न करे।—रॉक-अवे पहुँचने तक मैं इन्हीं स्वैर-विचारों में खोया रहा हूँ भाई! स्रग्धर को तो इनकी भनक तक नहीं पड़नी चाहिए। मार्गरेट को मुझसे अधिक अच्छा और कौन जान सकता है?—जर्मनी में मृत्यु की उस भीषण छाया के नीचे जिस विश्वास की प्रतीति मार्गरेट ने मुझे दी थी, उससे भीषण और क्या विवशता हो सकती है कि मुझसे और अपने रक्त-मांस के अंश इस स्रग्धर से उसे विश्वासघात करना पड़े? अभी उसकी नौकरानी मार्था से सम्पर्क नहीं हो सका है, स्रग्धर उसी की खोज में गया हुआ है। मन को तब तक उलझाए तो रखना ही है।

"रॉक-अवे द्वीप पर समुद्र के किनारे विलियम का यह बँगला जितना विशाल है, उतना ही रहस्यमय भी लगता है। अमरीकी जीवन की आकुल चहल-पहल और भाग-दौड़ से एकदम दूर, नीरव शान्त। सड़क के पार समुद्र में अपना प्रतिबिम्ब देखता हुआ यह बड़ा ही भव्य है। पूरी लम्बाई में दीवार बाँध कर रोका हुआ समुद्र, जिसकी उतरती-चढ़ती लहरों के अनवरत आघात, एक ओर फैली बालुका-राशि और दूसरी ओर बिखरी चट्टानों से क्रीड़ा करते हुए दीवार को नहलाते रहते हैं। एक दम निर्जन ! बँगला ऊँचे-ऊँचे सघन वृक्षों के बीच सिर उठाए हुए। केवल वृक्षों पर चहकने वाले पक्षियों का कलरव या लहरों का गर्जन ही उस नीरवता को कुछ अर्थ देता है।—केवल सुरक्षा के लिए नियुक्त दो कर्मचारियों के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं था। मार्था के बारे में जितनी कुछ जानकारी मालूम हुई वह उन्हीं से हुई है। स्रग्धर उसका पता लगाकर उससे मिलने के लिए प्रयत्न कर रहा है। मैंने उसे संकेत दिए हैं कि मार्था से किस प्रकार सम्पर्क किया जाए ताकि यदि कहीं कुछ रहस्य हो तो उसको विच्छिन्न किया जा सके।—तुम मेरी अवस्था समझ सकते हो भाई, मैं यह भी नहीं चाहता कि मेरी आशंकाओं की तनिक भी छूत स्रग्धर को लगे।

"अच्छा भाई, तुम्हीं बताओ, क्या आशंकाओं के लिए कोई आधार सचमुच नहीं है ? क्या अपने स्वार्थ के कारण ही मैं व्यर्थ भ्रान्तियाँ अपने ऊपर ओढ़े ले रहा हूँ ?—सबसे पहली बात तो, वह इतनी छिपी-छिपी क्यों रहती है ?—हमीं से क्यों, जब सारी दुनिया से छिपी रहती है, तो क्या इसका मूल कारण कोई आन्तरिक अपराध-बोध नहीं हो सकता ? मार्गरेट न सही, कैलॉग को तो किसी न किसी प्रकार की मुझे सूचना देनी चाहिए थी। उस पर विश्वास कर मैंने तो अपने अन्यतम स्नेह के कोश की रक्षा उसे सौंपी थी ! उसकी पत्नी यदि उसके साथ नहीं गई, तो उसमें हमारा क्या दोष था ?—मार्गरेट को न भी जाना होता, तो भी क्या एथेना उसके साथ लौट जाती ? किन्तु, यह सब अप्रिय मैं सोच क्यों रहा हूँ ?—क्या यह मेरा अपने प्रति ही अविश्वास नहीं है ?—और मैं दम्भ कर रहा हूँ कि मेरी मार्गरेट को मुझसे अधिक कौन जानता है ! यदि मेरी आशंका मिथ्या हुई तो मार्गरेट क्या मुझे कभी क्षमा करेगी ? अपने अप्रतिम स्नेह और सहज औदार्य से वह क्षमा कर भी दे, पर क्या मेरी अन्तरात्मा ही मुझे कभी क्षमा करेगी ?

आशंका के बीज को अपने मन में स्थान देने के लिए अपने आपको चाहे जितना धिक्कारूँ, किन्तु कैलॉग-दम्पति की यह अतिशय और अतर्कित एकान्त-प्रियता क्यों मुझे बेचैन कर रही है ?—अस्वाभाविक चाहे जितनी हो, पर क्या यही मैं अपने लिए भी अभीष्ट नहीं मानता ?—यदि साधन और सुविधा हो, तो मैं भी अपने और अपनी मार्गरेट के लिए अवश्य ऐसे ही एकान्त-वातावरण का शान्तिमय आवास निर्माण करना चाहूँगा। पर यदि प्रेम है, तो क्या उसे सर्वग्राही होना आवश्यक है ? ईश्वर का वरद हस्त

केवल मेरे ही सिर पर रहे, यह स्वार्थ-भावना क्या स्वयम् ईश्वर को ही प्रिय होगी ?—मुझे कुछ तटस्थ होकर भी तो सोचना चाहिए।—चालीस वर्ष किसी पुरातत्वान्वेषी नवयुवक विलियम कैलॉग ने सदय होकर तथा बड़ी भारी जोखिम लेकर मेरी एक तत्कालीन कठिन समस्या के समाधान में सहायता की थी। उसने मार्गरेट को सुरक्षित यहाँ तक, सुरक्षित-भूमि पर पहुँचा दिया था। इससे अधिक विलियम कैलॉग से चाहने का मुझे अधिकार ही क्या था ?—उसे अपने बारे में मुझे सूचना देने की बाध्यता ही क्या थी ? वह क्या कर रहा है, कहाँ है, कैसा है, उसकी पत्नी एथेना भारत से कब लौटी, लौटी या लौटी ही नहीं, आदि बातें वह मुझे लिखता ही क्यों, और उन्हें जानने का मुझे ही क्या प्रयोजन था ? इस व्यापार में उसके नैतिक दायित्व का भी प्रश्न कहाँ उठता है ?—प्रयोजन यदि मुझे था तो केवल मार्गरेट से ! यह सब सूचनाएँ उसे ही तो देनी चाहिए थीं, विलियम के बारे में नहीं, स्वयम् अपने बारे में। मुझे यदि उसका पता मालूम होता तो मैं कैफियत भी माँग सकता था कि क्यों उसने मुझे यह सब सूचनाएँ नहीं दीं ? न जानता होऊँ मैं उसका पता, वह तो मेरा पता जानती थी !—अवश्य ही कई दिनों तक मैं अपने मन को समझाता ही रहा था कि वे युद्ध-काल के असामान्य दिन थे। अमेरिका भी युद्ध में सम्मिलित हो गया था। पर्लहार्बर आदि मोर्चे पर उसे भी मुँह की खानी पड़ी थी। पत्र भी बराबर सेन्सर हो रहे थे। मार्गरेट जर्मन मूल की लड़की है, उसे बड़ी ही सतर्कता से किसी तरह अपने दिन बिताने पड़ रहे होंगे।—क्या पता, उसने पत्र लिखे तो हों, पर सेन्सर द्वारा जप्त कर लिए गए हों ?—यह भी क्या असम्भव है कि वह किसी अन्य मुसीबत ही में न फँस गई हो ?—और इन तमाम आशंकाओं, तर्क-वितर्क और दुश्चिन्ताओं के बीच उस अबोध शिशु की मातृस्थानीय-आवश्यकताओं की देखरेख, अपनी सरकारी सेवाओं का दायित्वपूर्ण भार—महायुद्ध तो किसी तरह समाप्त हुआ, किन्तु मेरे अन्तर का महायुद्ध तो उत्तरोत्तर उग्र होता जा रहा था न ! मार्गरेट अब तो लिख सकती थी ! स्रग्धर पाँच वर्ष से ऊपर का हो रहा था, माता और पिता दोनों के दायित्वों से मैंने किन कठिनाइयों से उसे पाला होगा, शायद तुमने तो अनुभव किया होगा।—ऋष्य शृंग की भी तो ऐसी ही समस्या तुम्हारे सामने थी !—युद्ध की समाप्ति पर मैं ही लिखता, पर किसे, कहाँ लिखता ? कौन मेरे लिए अमेरिका में सिर खपा कर, वक्त बरबाद करके मेरी पत्नी मार्गरेट या एक पुरातत्व-प्रेमी सामान्य से युवक विलियम कैलॉग का पता लगाता, जबकि युद्ध की विभीषिका में विश्व के सभी देशों के लाखों लोग निहत हो गए हैं, और उससे कई अधिक लापता हो गए हैं ?—शायद विलियम स्वयम् भी देश की पुकार पर युद्ध में भरती हो जा सकता था—हुआ भी हो तो अभी कैसे कहा जा सकता है ?—और युद्ध के किसी मोर्चे पर हत-निहत हो जाना कौन सी असम्भव बात थी ?—मैं स्वयम् भी अमेरिका जा सकता था, किन्तु स्रग्धर को किसके भरोसे छोड़कर जाता ? उसे साथ ले कर दर-दर भटकने का तो प्रश्न ही नहीं था।

"मन को मना ही तो लिया था !—यदि स्रग्धर आँखों के सामने न हो तो प्रमाण ही क्या है, कि मार्गरेट नाम की कोई जर्मन महिला कभी मेरे मरुस्थली-जीवन में विपुल जल-सम्भार का आश्वासन लेकर उदित हुई थी ?—उदित हुई भी, पर क्या सचमुच मरीचिका ही नहीं प्रमाणित हुई ?—चालीस वर्ष तो हो ही गए हैं भटकते-भटकते। जब उपलब्ध नहीं है, तो क्या अन्तर पड़ता है कि वह जीवित है या मृत ?—यदि हो कहीं, तब भी मेरे लिए, स्रग्धर के लिए तो नहीं है ! अन्य किसी के लिए कहीं हो किसी भी रूप में, किसी भी भाव में !—यही तो जीवन है !—पाँच हजार वर्ष पूर्व, जर्मनी से नहीं, उर-प्रदेश से पकड़ लाया था सिन्धु-तट का एक नागरिक विभांडक वृबु किसी उर्वशी मृगम्मदा को। कहते हैं, यहूदिन मृगम्मदा का मूल-पुरुष अब्राहम भी निवासी इसी उर-देश का था, अर्थात् मार्गरेट भी एक उर्वशी ही थी। वृबु भी तो उर्वशी को ऐसे ही किसी यन्त्रणा-शिविर से बचा कर लाया था ! जितनी पूजा की पुरुष को अपेक्षा हो सकती है, वह दोनों के पारस्परिक-उल्लास में उसने प्रदान की, और प्रसाद के रूप में एक अबोध शिशु का हाथ थमाकर चल दी यह कहते हुए कि 'सम्हालो तुम अपनी अमानत।'—अबोध शिशु, ताकि शिशु के मन पर भी किसी भी व्याज से माँ की स्मृति का कहीं कुछ भी दंश न हो और वह पिता ही को जनक, सर्वस्व समझे !—मार्गरेट ने ललकारा था मृगम्मदा की नियति को। जीत नहीं सकी तो उसका क्या अपराध ?—कोई बँधा न रहे, तो क्या यह उसका दोष हो जाएगा ?—मुझमें ऐसा है ही क्या भाई ? जितना मैंने उसके लिए किया, उसका प्रतिदान क्या ब्याज सहित वह लौटा नहीं गई ? मेरे मरुस्थल में, क्षीण ही सही, स्नेह की धारा तो आज भी बह रही है; पत्नी न सही, पुत्र तो है, उसका परिवार है, श्री है, समृद्धि है !

"स्रग्धर मार्था का पता लगा लेगा। साधु के रूप में क्यों, अपने प्रकृत-रूप में ही उससे मिल सकता हूँ ! यदि उसे कुछ मालूम होता तो वह अवश्य एथेना का पता बता देती, कम-से-कम अपने स्वामी विलियम का इतना हित-चिन्तन तो उसके मन में अवश्य होगा। साधु के रूप में उससे मिल कर बहुत हुआ तो घर के पते पर आए हुए एथेना के पत्र को हस्तगत कर सकूँगा—उन्हें खोल कर पढ़ भी सकूँगा।—जो योजना मैंने स्रग्धर को समझाई है, वह यह है कि वह मार्था से जाकर कहे, कि भारत से एक सिद्ध महात्मा आया हुआ है, जो किसी का हस्तलेख पढ़ कर ही उसका भविष्य-निर्देश कर सकता है। मार्था यदि एक प्रौढ़ नौकरानी ही है तो बहुत पढ़ी-लिखी शायद ही होगी और उसकी बुद्धि का स्तर भी ऐसा नहीं हो सकता कि वह साधु-महात्मा के नाम से प्रभावित न हो जाए। तुम तो जानते ही हो, मेरी शक्ल-सूरत और वेश-भूषा बहुत कुछ वैरागी साधु जैसी है ही। इधर हमारे यहाँ के कई आचार्यों ने, जैसे आचार्य रजनीश, महेश योगी, परमहंस स्वामी मुक्तानन्द आदि ने और भी

सुविधा कर दी है। साधु का स्वांग भरने के लिए यहाँ वेष बदल कर दर-दर अलख जगाने की जरूरत नहीं है। आप बड़े ठाठ से बहुमूल्य कार में बैठ कर कहीं भी आ-जा सकते हो, फर्राटे से विदेशी भाषा बोल सकते हो, आपका सम्मान बढ़ता ही रहेगा।–पर यह सब किस लिए ?–एथेना का पत्र पढ़ लूँ, और यदि वह मार्गरेट नहीं निकली तो ?–क्या यह एक शिष्ट नारी के प्रति नैतिक अन्याय नहीं होगा ?–और यदि मार्गरेट ही हुई तो ? क्या उसने स्वेच्छा से ही यह मार्ग नहीं चुना है ?–उसे क्या अब लौटाया जा सकेगा ?–पुत्र या पति की आसक्ति जब बहुत गहरी हो सकती थी, तब भी यदि उसने चिन्ता नहीं की तो अब वह क्यों करेगी ?–स्मरण पड़ता है वाशिंगटन से ही स्रग्धर ने विलियम को तार द्वारा सूचित किया था कि वह, भारत से मुरारी लाल का पुत्र, उनके पास पहुँच रहा है, मिलने की सुविधाजनक तिथि सूचित करें। शायद यह भी लिखा था कि मैं, मुरारीलाल भी साथ में जा रहा हूँ! क्या विलियम ने यह तार अपनी पत्नी को नहीं बताया होगा ?–अगर वह मार्गरेट ही है तब तो अवश्य ही बताया होगा। कहीं इसीलिए तो नहीं वह सहसा यूरोप चली गई, यहाँ से दूर कि, हमसे किसी तरह सामना न हो जाए ?–और विलियम की सहसा यह बीमारी ?–दिल और दिमाग, दोनों पर एक साथ हमला ?–

"तुम कुछ राह सुझा सकते हो मेरे भाई ? सामने सारी रात पड़ी है। मैं तो सो नहीं सकूँगा, पर तुम्हें ही क्यों इस मानसिक-उलझन में फँसाए रखूँ ? स्रग्धर की प्रतीक्षा करके भी क्या होगा ?–यदि अपनी आशंकाओं का उस पर कुछ भी आभास हो जाए तो वह भी रात भर सो नहीं सकेगा। दरवाजा बन्द कर लूँ तो वह सरलता से मान लेगा कि मैं सो गया हूँ। लाइट तो हर हालत में बन्द रखनी ही होगी। सो, अब अगली सुबह तक, या फिर जब लिखना शुरू हो।"

नए पन्ने पर आगे लिखा है, 'लिखा था न, कि रात भर नहीं सो सकूँगा ?–सचमुच नहीं सो सका। स्रग्धर आया तब दो बज रहे थे—दीवार पर क्वार्ट्ज़ से चलने वाली घड़ी है न। मन के जो भी तर्क-कुतर्क रहे हों, यहाँ अब और रुक कर करूँगा ही क्या ? स्रग्धर मार्था से मिल आया है। मुझसे मिलने में उसे कोई आपत्ति नहीं है, यदि आवश्यक हो तो वह स्वयम् चल कर मेरे पास आ सकती है। जहाँ तक मिसेज कैलॉग के हस्तलेख का प्रश्न है, वह कार्यालय से भी प्राप्त किया जा सकता है। अपने पत्र का अब तक कोई जवाब न पाने के कारण अब एथेना शायद घर के पते से पत्र लिखे भी नहीं! स्रग्धर तय कर आया है कि मार्था रॉक-अवे द्वीप पर कैलॉग-निवास में ही हमारी प्रतीक्षा करे। लंच के बाद हम वहाँ पहुँच जाएँगे।–लेकिन क्या होगा वहाँ जाकर ?–अभी तो फिर भी कल्पना के लिए बड़ा क्षेत्र है। सोच सकता हूँ कि एथेना एथेना ही है, मार्गरेट नहीं। जो राह कंटकों से भरी हो उस पर पैर ही क्यों रखे जाएँ ? मन की यह कैसी प्रतारणा है भाई ?–क्यों किसी पर वह

उसकी इच्छा के विरुद्ध अधिकार जमाए रखना चाहता है ? किसी की परीक्षा लेने वाला मैं कौन ?—चालीस वर्ष तक कोई क्यों हाथ में आए अपने निश्चित वर्तमान को छोड़ कर अनिश्चित भविष्य की ओर निष्क्रिय देखता रहे ? मृगम्मदा ने ही पाँच हजार वर्ष तक प्रतीक्षा करके मार्गरेट का अवतार लिया हो, पर उसे मुझमें अपना चहेता बृबु ही मिला हो इसका क्या प्रमाण है ?—और इस बार चालीस वर्ष पूर्व वह स्वेच्छा से पति और पुत्र को छोड़ कर न गई हो, किन्तु आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व तो वह स्वेच्छा से ही सब कुछ छोड़ कर चली गई थी न ! विभांडक बृबु को वह पुनः मिली या नहीं, पुराण और इतिहास इस बारे में मौन है, तो मैं ही क्यों न मौन हो जाऊँ ?

"असम्भव नहीं है कि मार्गरेट ही एथेना हो। स्वेच्छा से न सही, किसी विवशता से ही बन जाना पड़ा हो। जर्मनी में तब मेरी पत्नी भी तो वह विवशता से ही बनी थी !—मिसेस मुरारी लाल बन कर ही भारत आ सकी थी, और मिसेस कैलॉग बन कर ही वह अमेरिका जा सकती थी। स्वेच्छा से हो या विवशता से, अस्वीकार करती भी तो कैसे ?—और तब तो दोनों ही उम्र के उफान में भी तो थे।—बेवकूफ मन, जब चालीस वर्ष की दीर्घ अवधि उन्होंने साथ रह कर गुजार दी है, तो तेरे साथ तो उसने चालीस महीने भी नहीं बिताए हैं ! तब किस अधिकार से, किस व्यामोह में फँसा इन मरीचिकाओं में भटकता रहूँ ? उसे लज्जित करने का भी मुझे क्या अधिकार है ?—तभी तो उसने रंगभूमि से हट जाना चाहा है !—जर्मनी, ग्रीस, इसरायल—क्यों भटके वह ?—उसका पति उसके अभाव में मृत्यु के कगार पर पहुँच गया है। बेचारा विलियम, उसे क्या पता रहा होगा कि वह एक खंडित-व्यक्तित्व वाली सिफॉइड लड़की से प्रेम कर रहा है, दो व्यक्तियों में बँटी हुई, एक पाँच हजार वर्ष पूर्व का विधि-निषेध-हीन भोला व्यक्तित्व और एक आज का संस्कारों के झाड़-झंखाड़ में उलझा जीर्ण-शीर्ण व्यक्तित्व ! मेरे लिए न सही, अपनी प्रेयसी पत्नी के लिए वह शीघ्र आरोग्य लाभ करे, मेरी यही दुआ है।—स्रग्धर से कह दूँ कि वह भारत की ओर जाने वाले पहले जहाज से मेरे लिए यात्रा का प्रबन्ध कर दे, जो भी जहाज मिल जाए, चाहे राह में बदलना ही पड़े। अब मैं यहाँ नहीं रुक सकता। स्रग्धर चाहे तो रुके, जब तक उसका जी चाहे और उसका मोह भंग न हो जाए।—मुझे स्मरण है, तुम्हें एक 'हियरिंग एड' की जरूरत है न।—आज बाजार जाकर यही खरीदना है।—बस, इत्यलम्।"

—मुरारी दा आ रहे हैं, किन्तु उनका पत्र पढ़ कर मन उदास ही हो गया है !

●

१८

—तीन माह भी लग जा सकते हैं। सीधा जहाज हो, और राह में किसी बड़े पोर्ट पर न रुके, तब भी डेढ़-दो महीना तो लग ही जाता होगा! सामान्य तौर पर रेल से ही दिल्ली-हावड़ा की डेढ़ हजार किलोमीटर की सफर दो दिन ले लेती है। इन्दौर-अजमेर से आना हुआ, और जंक्शन पर कहीं कनेक्शन नहीं मिला तो पूरे चार दिन समझ लीजिए। पन्द्रह हजार किलोमीटर दूर अमेरिका क्या कोई पास बसा हुआ देश है?—दुनिया ही दूसरी कहलाती है—नई कह लीजिए चाहे।—वहाँ से जहाज प्रस्थान कब करेगा, यह भी तो निश्चित नहीं है! यदि सीधा भारत के लिए नहीं हुआ, तो यूरोप में कहाँ-कहाँ अटकता-भटकता बम्बई पहुँचेगा? फिर बम्बई से देहरादून, देहरादून से उत्तरकाशी, और वहाँ पहुँच कर भी जब तक उखड़ा हुआ मन पुनः जम न जाए, अनुवाद का काम प्रारम्भ कैसे होगा? चार-छह महीने भी बीत जा सकते हैं!—कितनी किरचियों की सामग्री अभी शेष है, भले मानस ने यह भी तो नहीं बताया! धन्य हो मुरारी-दा!

विभांडक युद्ध के कगार पर पहुँच गया है। मृगम्मदा भी गर्भ धारण कर चुकी है। स्पष्ट है एक मोड़ तो अधिक दूर नहीं है, अधिक से अधिक सात-आठ माह दूर। ऋष्य शृंग के जन्म और उनके त्याग की भूमिका का संकेत भी हो गया है।—पर सात-आठ माह की यह दूरी भी क्या कम है? प्रलय को घटने में पल भी नहीं लगता। बाढ़ की विनाश-लीला में दो-चार दिन भी लग जा सकते हैं, किन्तु भूकम्प तो अपना सृजन-संहार क्षणांश में ही सम्पन्न कर लेता है। शायद इसीलिए मनुष्य स्व-नियन्त्रित विस्फोटों की प्रणालियों को उल्टे सिरे से गिन कर, काउंट डाउन पर नियोजित करता है।—इस सृजन और विध्वंस के अन्तराय का नाम ही तो समय है न! समय अर्थात् गति, अर्थात् सृष्टि। चेतना के स्तर पर कह लिया जाय उसे जीवन! अन्य किसी तरह से समझा ही कैसे जा सकता है जीवन को? अनस्तित्व से सहसा अस्तित्व में प्रकट होजाने वाला वह किसी विकास का उपक्रम तो हो नहीं सकता। उसे तो सृजन और विध्वंस, जन्म और मृत्यु, विकास और क्षय के ध्रुवीय-तत्वों के द्वन्द्व के रूप में ही परखा जा सकता है।

एक का अभाव होते ही तो सबकुछ का अभाव हो जाता है। यह द्वन्द्व ही जीवन है, सृष्टि है, प्रकृति है, क्षण है और इटर्निटी है, शाश्वत्य है।

और विभांडक तथा मृगम्मदा ही क्यों?—इस अवधि में और भी तो हैं, शुण है, सेलकेत है, अर्बुद है—कौन किस घाट पर लगेगा? मोड़ हो, किन्तु विभांडक और ऋष्यशृंग को तो अभी और बहुत दूर जाना है। मृगम्मदा कहाँ जाएगी, कैसे जाएगी? क्या मार्गरेट की नियति विदित होजाने से ही मृगम्मदा की नियति का अनुमान लगा लिया जा सकता है?—और फिर स्वयम् मुरारी-दा की कथा? होंगे इस समय कहीं अशान्त-अतलान्त महासमुद्र के दिगन्तहीन-वक्ष पर उतने ही अशान्त-अतलान्त! स्रग्धर अवश्य ही अभी अमेरिका में ही होगा अपनी जननी की अविश्रान्त खोज में, और मार्गरेट होगी मध्य यूरोप में ग्रीस या जर्मनी में, अथवा पश्चिम एशिया में इसरायल या अपने पूर्वजन्म की मातृभूमि उर-प्रदेश के आसपास कहीं इराक या ईरान में!—क्या उसने सचमुच मुरारी-दा का मोह छोड़ कर विलियम कैलॉग से विवाह कर लिया है?—तलाक की औपचारिकता तो उनमें अवश्य हुई नहीं, किन्तु औपचारिकता क्या उनके विवाह की भी सचमुच हुई थी?

कोई उपाय नहीं है, जब तक कि मुरारी-दा स्वयम् लौट कर नहीं आ जाते। सूचना मिल जाएगी तो देहरादून या उत्तरकाशी, जहाँ वे होंगे, पहुँचा भी जा सकता है। मुझ जैसा सामान्य व्यक्ति मानसिक-शान्ति तो क्या दे सकता है मुरारी-दा जैसे प्रबुद्ध-सम्बुद्ध व्यक्ति को!—पत्र में अभिव्यक्त वह अस्थिरता ही थी क्या?—निश्चय से कैसे कह सकता हूँ?—वह मेरे अपने ही मन की अस्थिरता का प्रक्षेपण भी तो हो सकती है। हाँ,—मुझे सामने देखकर वे अन्य उपलक्ष्यों से अपना मन अवश्य समेट ले सकते हैं और वह उन किरचियों के अभ्युद्धार में तत्काल लग जा सकता है।

—पर यह क्या?—दो सप्ताह भी तो नहीं हुए हैं, और आज रजिस्ट्री डाक से इतना बड़ा पैकेट आ टपका है। भेजने वाले वे ही प्रोफेसर मुरारीलाल, उत्तरकाशी!—पानी के जहाज से नहीं, हवाई जहाज से उड़ कर ही पहुँचे होंगे, इस बीच पत्र लिखने के बाद नई बात कुछ अवश्य हुई होगी। पत्र होगा तो उसमें सब बातें लिखी ही होंगी। देखूँ, क्या लिखते हैं?

औपचारिक आरम्भ के बाद ही लिखा है, "अभी चार दिन पहले पहुँचा हूँ भाई! समुद्र की राह आने का विचार बदल गया। एकाध हफ्ते तक किसी जहाज के छूटने की सम्भावना ही नहीं थी। अब तो इधर सैलानियों या भारी-भरकम माल ढोने के अलावा इन जहाजों को कोई पूछता नहीं। समय ही किसीके पास है इतना? स्रग्धर ने ही कहा कि जब लौटना ही है तो इस तरह रेंग-रेंग कर जाने से क्या लाभ? हवाई उड़ान की नियमित सेवा है, थकान नहीं होती और यदि किसी के पास समय हो तो

उसे बेकार राह में गुजारने की अपेक्षा आत्मीयों-बच्चों में ही क्यों न बिताया जाए ?—अपने परिवार की चिन्ता स्रग्धर को होनी भी चाहिए ।—और समय मेरे पास भी हो इसका क्या ठिकाना ? मृत्यु कब किसीको कैसे बुला लेती है, यह कोई जानता है ?—तब, और किसी का न सही, तुम्हारा कर्ज तो रह ही जाएगा न ! भले-चंगे अपने घर में बैठे ही थे तुम तो अपनी योजनाएँ लेकर । अब तक तो अवश्य तुम अपना प्रोजेक्ट पूरा कर लेते, पर मैंने ही तुम्हें विचलित कर दिया, यह कैसे भूल सकता हूँ ? यही सब सोच कर स्रग्धर को भी निश्चित कर दिया और हवाई जहाज से उड़ कर निरापद पालम आ पहुँचा । सोचा था, स्रग्धर से सूचना पाकर सौभाग्यवती शान्ता और बच्चे पालम पर ही मिल जाएँगे तो सीधा उत्तरकाशी चला जाऊँगा । पर जब वे पालम पर नहीं पहुँचे, तो चिन्ताएँ होजाना स्वाभाविक ही था । भारतीय पोस्टल-विभाग की कारगुजारी से सूचना समय पर न मिल पाई हो यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु इसी बीच यदि उन्हें कुछ हो-हुआ गया हो ?—स्पेशल टैक्सी कर सीधा देहरादून पहुँचा । देखा कि वहाँ सब ठीकठाक है, तो मन को विश्राम मिला । स्रग्धर ही सूचना देने में कुछ अनवधान हो गया । वह दुनिया ही दूसरी है न ! उस दुनिया से इस दुनिया में पहुँचने पर एक दिन का अन्तर कर देना पड़ता है । तार में उसने इसका ध्यान नहीं रखा, और मैं यहाँ एक दिन पहले ही पहुँच गया । देखो न, हमारी इस छोटी-सी दुनिया में भी पूरे एक दिन का गोलमाल है !

"उत्तरकाशी पहुँचा तो एक भारी-सा लिफाफा प्रतीक्षा करता मिला । पता उस पर यहाँ का नहीं, चालीस वर्ष पुराना, सरकारी कार्यालय का था, वर्तमान उचित पते पर री-डाइरेक्ट करने के अनुरोध के साथ ! पेन्शन की राशि उन्हें हर माह पहुँचानी पड़ती है न, इसलिए उन्हें मेरा वर्तमान पता मालूम है । यदि यह पत्र पहले ही मिल जाता तो अमेरिका भागने-दौड़ने की जहमत नहीं उठानी पड़ती ।—समझ रहे हो न ?—पत्र है मार्गरेट का, इसी नाम से हाइडलबर्ग से लिखा हुआ । और है उसका अबतक का इतिहास, उसी दिन से जब वह कैलॉग के साथ जहाज पर अपने अदृष्ट को खोजने के लिए चढ़ी थी । पढ़ ही गया एक ही साँस में । आशंका सच निकलना ही थी । पढ़ गया हूँ, एक ही बार नहीं, कई बार । बीच-बीच में पढ़ता ही रहता हूँ कि दृष्टि धुँधलाए नहीं । मोह में जब भी धुँधलाने लगती है, फिर से उसे खोलकर पढ़ने लग जाता हूँ और दृष्टि साफ ही नहीं हो जाती, आँखों को एक नया प्रकाश भी मिलता है । बहुत कुछ तो याद भी हो गया है, बिना पढ़े ही दुहरा लेता हूँ । तुम्हें वह सब कुछ बता कर, या पत्र भेज कर भी, व्यर्थ ही तुम्हारा समय क्यों नष्ट करूँ ? रहस्य-जैसा तुम्हारे लिए इसमें कुछ नहीं है । भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मानव-मन के व्यवहार का तुम्हारा अध्ययन इतना गहरा है कि नवीनता इसमें तुम्हें शायद न ही मिले । प्रकाश

और सान्त्वना मुझे मिलती है वह इसलिए कि आघात झेलकर मेरा ही तो मन अन्धकार में डूबने लगता है। इसके अलावा मृगम्मदा का इतिवृत्त ही तो उसका मार्गदर्शक रहा है। वह इतिवृत्त भेजने के लिए मैं प्रतिश्रुत हूँ, और वही भेज रहा हूँ। इतने पर भी अगर तुम्हारा आग्रह रहा ही, तो मूल पत्र ही तुम्हारी जानकारी के लिए भेज दूँगा। तुमसे छिपाना तो कुछ है नहीं। तुम्हारे समय का अपव्यय न हो, इसलिए मैंने यह आवश्यक नहीं समझा है।

"स्रग्धर को अभी कुछ भी मालूम नहीं है। आवश्यकता ही क्या है कि उसे मालूम हो ? अभी वह बोस्टन ही में है, उसे तो अपनी माँ को खोजना है न !—साधना है तो माँ शायद उसे मिल भी जाए ! उतना तो वह जान-बूझ लेगा ही जितना कानूनी तौर पर आवश्यक हो, और स्वयम् मार्गरेट उसे बताना चाहे !—शान्ता तो बेचारी उतना भी नहीं जानती।

"—स्वस्थ,—अपने में स्थित तो हूँ ही, नहीं तो ये अधूरे काम निपटाएगा कौन ?—वैसे बहुत अधिक बचे तो नहीं हैं, जहाँ तक देख पाता हूँ।—उसके बाद?—उसके बाद तो मैं ही मैं हूँ—सम्भवामि !—अपने में स्थित रहूँ तो क्या, और अपने से बाहर रहूँ तो क्या ?—मैं हूँ, और अनवरत हो रहा हूँ।........"

—पत्र की पहुँच स्वीकृत करते हुए आग्रह आज ही उन्हें कर दिया है कि यदि उन्हें आपत्ति न हो तो श्रीमती मार्गरेट का पत्र या उसकी प्रतिलिपि भिजवा देने का अनुग्रह करें। यदि वे चाहेंगे तो पढ़ कर लौटा दूँगा।—चाहें या न चाहें, लौटा तो दूँगा ही। उनकी वस्तु है, मुझे उससे क्या लेना है ?—कुतूहल ही तो है !

● ● ●

नगर के बाहर उपान्त में आसपास के घरों से वणि का घर ही विशिष्ट है। बाहर से कोई बहुत अधिक आकर्षक नहीं लगता, किन्तु भीतर उसमें सुख-सुविधा के ही नहीं, वैभव के उपकरणों की भी कमी नहीं है। वणि के नक्षत्र दिनोंदिन चमकते जा रहे हैं, और दुर्योर्ण के बाहर उपान्त की कृषक-कामगार जनता में उसका प्रभाव और प्रतिष्ठा भी बढ़ रही है। एक तरह से तो वह भीतर और बाहर की द्वैध-व्यवस्था के बीच एक संयोजक कड़ी है, और इसलिए वह अनायास उनका प्रतिनिधि बन गया है। जब वणि की प्रतिष्ठा बढ़ी है, तो स्वाभाविक है कि उसकी पत्नी कैकसी की मर्यादा भी उसी अनुपात में बढ़े। बल्कि उपान्त-वासियों और अपने पति के बीच वह भी वैसी ही एक कड़ी बन गई है। वणि प्रायः घर पर तो मिलता नहीं। उसकी विद्यमानता में तो पुरुष वृन्द सीधे उससे मिल कर अपना दुख-दर्द सुना देते हैं, पर जब वह नहीं होता है तो उनके आवेदन-निवेदन कैकसी को ही सुनना पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ समस्याएं

ऐसी भी होती हैं, जो पुरुषों द्वारा किसी संकोच-वश या और किसी कारण से सीधे किसी पुरुष को नहीं प्रस्तुत की जा सकतीं, तब उनकी स्त्रियाँ ही उन्हें सरलता से कैकसी को सुना देती हैं और कैकसी समय, सुविधा और अपनी इच्छा के अनुसार नमक-मिर्च मिला कर या घटा कर वणि को परोस देती है। अब तो यह भी हो गया है कि कई उलझनों का समाधान वह अपने ही स्तर पर दे देती है। इससे स्थियों में उसका सम्मान बढ़ा ही है।

वणि अभी दो दिन पूर्व ही यात्रा से लौटा है। कोई प्रयोजन हो या न हो, उसके पैर में चक्कर है। एक यात्रा में उसने एक आर्य ऋषि की यह उक्ति सुन ली थी, 'नाना श्रान्तस्य श्रीरस्ति। पापो नृषद्वरो जनः। इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति।' अर्थ जब उसे मालूम हुआ, 'चलते रहो, निरन्तर चलते रहो। जो चलता रहता है उसे श्री प्राप्त होती है। उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और सब ऐश्वर्यों का प्रचेता इन्द्र उसका सखा हो जाता हैं,' तो इस उक्ति को वणि ने अपना प्रेरक मन्त्र ही मान लिया। मानों उसको लक्ष्य करके ही यह मन्त्र कहा गया हो—सब ऐश्वर्यों का प्रचेता इन्द्र उसका सखा हो, यही तो उसे चाहिए।—और जब निरन्तर चलता ही रहता है तो थकता भी है। अतः घर लौट कर श्रान्ति दूर करने के लिए वह जी भर कर सोता है। नहाया-धोया, खाया-पिया, और सो गया। कैकसी को उसने कह रखा है कि बिना गम्भीर प्रयोजन के उसे नींद से उठाया न जाए। जब उसकी नींद की आवश्यकता पूरी हो जाती है तो वह स्वतः ही जाग उठता है, और फिर सामान्य से अधिक सोता भी नहीं। कैकसी या किसी ने इस सम्बन्ध में उसे कभी कुछ कहना चाहा तो पलट कर उसने जवाब दिया, 'चलता रहे सो चरता रहे, बँधा रहे तो भूखों मरे।' घर से बाहर निश्चिन्तता की नींद उसे कभी मिलती भी तो नहीं। बाहर जिस तरह के कार्यों का दायित्व उस पर रहता है उसमें प्रतिक्षण यदि सतर्क-सजग न रहा जाए तो हो चुका, बल्कि जीवन से भी हाथ धोना पड़ जा सकता है।

दो दिन पूर्व यात्रा से लौटे वणि की अभी नींद पूरी नहीं हुई है। सन्ध्या हो गई है, पर वह अपने ऊपर के कक्ष में एक पलंग पर सोया हुआ है। नगर के बाहर सन्ध्या आकाश से नहीं उतरती। वह घरों को लौटते गोष्ठों की पद-धूलि से प्रकट होती है, और वृक्ष-शिखरों से उतरकर उपान्त के खुले में फैलती भी है तो मानों डरी-सहमी सी। तब नगर-प्राचीर से सिर उठा कर घरों के चूल्हों का धुआँ ताक-झाँक कर उसका हाथ पकड़ लेता है, और फिर उसे झिझक नहीं रहती। धीरे-धीरे अपने कृष्णसार जूड़े में वह सितारे जड़ने लगती है। यदि उपलब्ध हुआ तो बड़ा सा चन्द्रफूल भी टाँक लेती है। यत्र-तत्र आँचल पर भी दीपकों के फूल खिल उठते हैं। सिकुड़ी-सहमी सन्ध्यारानी तब इठला उठती है और मुक्त मन से सारे वातावरण पर फैल कर प्रकोष्ठों की चार-

दीवारियों में खिलखिलाती हँसी बिखरने लगती है। वणि के प्रकोष्ठों में प्रकाश की विशेष व्यवस्था है, अतः अन्य घरों की अपेक्षा वणि के घर में वह अधिक मुखर है। नीचे के कक्ष में कैकसी का दरबार लगा हुआ था। जब उसने देखा कि बाहर रात गहरा गई है, तो उसे वणि का ध्यान आया। दुपहर से ही वह सोया हुआ है, अब तो उठ गया होगा। और जो मसाला हाथ लगा है, उसे नहीं परोसने से तो हाथ में सुरसुरी चलती ही रहेगी। सभा विसर्जन की और वह उठ खड़ी हुई।

तरह-तरह के आभूषणों से लदी-फदी, झमाझम पैरों के पायजेब बजाती हुई कैकसी जब ऊपर पहुँची तो वणि को पलंग पर निश्चिन्त गहरी नींद मे खर्राटे लेते देख कर उसने माथे पर हाथ मार लिया और कहा, 'हाय दैया! अभी तलक सोया ही पड़ा है! अरे ओ अहदीराम, अब तो माथे पर रात आ लगी है। अक्खे दिन काम-धन्दे में चूर लोग-बाग तो अब जाकर कही टाँग पसारने की जुगत बैठा पाएँगे और तू धुर-दुपहर से खुर्र-खुर्र खुर्राटे भर रहा हैं। अब तो उठ्ठ'! और उसने वणि को झकझोर डाला।

कैकसी पहले से मुटा गई है। खाने-पहनने को खूब मिलता है, तो परिश्रम भी वह कम नहीं करती। आलस्य तो उसे छू भी नहीं गया है—बचपन से ही आदत जो पड़ी हुई है। यह घर सारा उसीका निर्माण है, रुचि चाहे वणि की हो। घर में वह सदा कुछ-न-कुछ करती ही रहती है। वणि तो बड़ा रस लेकर कहता है, नींद में भी वह बराबर बर्राती रहती है। कैकसी अवश्य इस पर विश्वास नहीं करती। वह कहती है, अपनी खर्राटे भरने की बात सुन कर उसे चिढ़ाने के लिए ही वणि ने यह बात गढ़ डाली है। अब इसके सत्यासत्य का निर्णय कौन करे? कैकसी कहती है कि जब कभी उसके सन्तान होगी, और वह इन बारीकियों को समझने के योग्य वयस्क हो जाएगी, तब उस से पूछ कर और कहला कर साबित कर देगी कि वणि का यह कथन मनगढ़न्त है और कुछ नहीं।—घर पर कभी काम न हो तो वह अपने या दूसरों के खेतों पर जाकर भी परिश्रम करने से नहीं हिचकिचाती। उसकी लोकप्रियता का यह भी एक कारण है। उसकी खरी-खोटी सुन कर कोई बुरा भी इसीलिए नहीं मानता।

उसके झकझोरने पर तो कुम्भकर्ण भी सोया नहीं रह सकता। और वणि शायद उसकी पहली ही हाँक पर जाग गया था। लेटा हुआ कैकसी की अमृत-वाणी का आस्वाद ले रहा था। आँखें खोल कर देखा कि कैकसी हाथों की पहुँच के भीतर ही है, तो कमर से घेर कर उसे पलंग पर खींच लिया। यों तो कैकसी को खींचना दूर, उसे हिलाना भी काम रखता है, किन्तु किस अल्हड़ नारी का गुरुत्वकेन्द्र आग्रह-शील पुरुष-स्पर्श से च्युत नहीं हो जाता? अपने आप को ठीक तरह से सम्हाल कर वह गिरी वणि के ऊपर ही, बड़बड़ाते-बड़बड़ाते, 'लो, ऊपर से और यह विपद! इसको ही कहता है न तू, हवन करते हाथ जलना?'

'बमक क्यों रही है भई ?—कौन सुसरा पहाड़ गिरा जा रहा है ?—सब कोई टाँग पसारने की जुगत बैठा रहे हों तो तुझे कौन मना करता है ?—ले, पसर जा तू भी इधर। चारों तरफ तकिए ही तकिए हों तो नींद अच्छी आती है! अभी मेरी नींद पूरी कहाँ हुई ?' और वह किनारे की ओर कुछ सरक गया, तो कैकसी उठ कर उसकी बगल में ही बैठ गई। फिर उसके सिर पर प्यार से बालों को सहलाते हुए बोली 'अच्छा-अच्छा, नींद पूरी नहीं हुई तो और सो ले जी भर कर!' फिर चारों ओर उसके तकिए लगा दिए तथा हँस कर कहा, 'इनसे लिपट कर सो गहरी नींद। बेचारे पास-पड़ोस के लोग, वे क्या जानें कि कित्ती बड़ी जिम्मेदारी के कामों का बोझा लदा रहता है तुझ पर ?—पर वे भी करें ही क्या ?—अपना दुखड़ा रोएँ तो किसके आगे ?'

'क्यों ?—अब और क्या हुआ ?'—वणि ने उत्सुक होकर पूछा।

'होगा क्या ?—वही नित्त का रोना।—छोड़ अभी इस परपंच को। चिन्ता करने को भौत समय पड़ा है।—कुछ खाए-पिएगा ?'

वणि उठ बैठा, चुटकियों के साथ जम्हाई ली, दोनों हाथों को इधर-उधर फैलाया, मोड़ा और आलस्य को भगाते हुए कहा, 'पिऊँगा पर कुछ देर बाद। कुछ आदत ऐसी पड़ गई है कि आर्यों का पेय पिए बिना शरीर और मन में स्फूर्ति जमती ही नहीं। पर अभी तो यह बता,—तू अपनी सभा करके ही आ रही है न ?—क्या कह रहे हैं लोग ?'

'अरे, लोगों का क्या है ?–जब देखो तब रोते ही रहते हैं। महादेवजी की सिरिष्टी जो हुई। पानी बहुत बरस जाए तो रोना, कम बरसे तो रोना। गए बरस अनाज खलिहानों में पड़ा सड़ता रहा तो रोना, कि मुखियाओं ने कुछ परबन्ध नहीं किया। इस बार मुखियाओं ने आप ही सब अनाज मोल ले लिया तो भी रोना, कि हमारे लिए इत्ता भी नहीं छोड़ा कि आयों-गयों की ठीक तरह आव-भगत कर सकें ?—चित भी मेरी, पट भी मेरी!'

'पर इसके बदले उन्हें परिषद की परचियाँ मिलती हैं न!—जितना और जो चाहे भंडारे में परचियाँ जमा कर ले नहीं आ सकते ?'

'करते तो यही हैं, और उपाय ही क्या है ?—पर अखरता है कि अपना ही माल, और उसीकी भीख माँगो। अपनी जूती और अपना ही सिर।—उधर भंडारे पर महाजन के कारिन्दे अलग टाँग अड़ाएँ, इसका भी रोना। दाढ़ीजार पूछते हैं, 'इत्ते अनाज का क्या करोगे ? इत्ते सारे के लिए महाजन की खास परची लानी होगी, इसे बेच कर कहीं तुम सोने के निसक कमाओगे इसलिए नहीं दिया जा सकता।'—माने, बीच में उनको पूजा चढ़ा दो तो देवता परसन्न।'

वणि ने मुस्करा कर कहा, 'देवता के प्रसन्न होने से तो बड़े-बड़े काम सध जाते हैं भाग्यवान्!—तू भी तो एक देवता ही है, तभी तो तेरे दरबार में लोग अरदास पहुँचाते

हैं, रोना-धोना करते हैं, और फिर पूजा भी तो चढ़ाते हैं।—जैसा देवता वैसी पूजा।'

'मेरी क्या पूजा चढ़ाएँ वे ? उल्टे मुझे ही कई बार उनकी पूजा करनी पड़ती है। वो तुम्हारा बुग्दू है न, उसकी घरवाली को ही अभी एक पसेरी धान दिया है। रो रही थी। घर में बच्चा सबेरे से ही भूख से बिलबिला रहा है।'

'क्यों ?—बुग्दू तो मोरट के खेत पर काम करता है न! सभी किसानों को अपने सेवकों के लिए पूरे बरस भर का शस्य रखने की परवानगी है।'

'मोरट ने तो दो दिन पहले ही उसे छुट्टी दे दी है। कहता था, खेती की सारी ही निपज जब महाजन या समाज ले ले, तो बेसी निपजाने की किसे क्या पड़ी है ?—कल तलक तो किसी तरह बेचारी ने चूल्हा जलाकर रूखा-सूखा कुछ पेट में भकोसा, पर आज चूल्हा जलाकर क्या अपने हाड़ पकाती ?—अब घर गई है आँसू पोंछ कर। पीसेगी-पोएगी, तो बच्चे के मुँह में दाना पड़ेगा।'

'जो इस तरह पसीज कर प्रसाद देता है, वही तो देवता होता है !' और कैकसी के गले में हाथ डालकर अपनी ओर सटाते हुए वणि ने कहा, 'मुझ पर कब पसीजेगा मेरा देवता ?'

कैकसी ने मान से हाथ हटा कर कहा, 'परे को हट कर बैठ। अभी से ये छेड़छाड़ अच्छी नहीं लगती मुझे।'

'तो कब से अच्छी लगेगी ?' और कैकसी के कपोल पर हाथ रख कर उसका मुँह अपनी ओर करते हुए उसने कहा, 'मोरट के यहाँ का छूट गया तो बुग्दू महानायक के पास जाकर सेना में क्यों नहीं भरती हो जाता ?—कितने सारे लोग भरती हुए हैं इन दिनों वहाँ ?'

'लो, उसकी उमर है अब ? पैंतालीस-पचास का होने आया। कौन उसे सेना में भरती करेगा ? घर वाली कहती थी, गया भी था वहाँ बुग्दू।'

'तो कर्मशाला में दृमीक के पास जाता। काम की क्या कमी है इस समय दुर्योण में ?—कल मैं लिए जाऊँगा उसे अपने साथ। कह देना उसकी घर वाली से। और उसकी घर वाली तो अभी अच्छी खासी दिखनौटी जवान है न! वह भी तो महिला-वाहिनी में भरती हो सकती है !'

'हाय दैया !' और कैकसी ने वणि की पीठ पर एक धौल जमाते हुए कहा, 'निगोड़े, तुझे कैसे मालूम कि वह दिखनौटी जवान बछेरी है ? लाग-लपेट है क्या कुछ तेरी उससे ?—बहाना बना कर आई थी क्या वो छिनाल ?—पहले तो कभी आई नहीं थी राँड ! मुझे ही क्या मालूम कि मेरी नाक के नीचे मेरा भतार ही इस तरह साँड बन कर राँडों में रोता-फिरता है।—ठहर अभी, तेरी खबर लेने को तो भौत समय है, पहले उस राँड के पसेरी धान की कसर निकालती हूँ।' और चंडी रूप धारण किए कैकसी पलंग पर से नीचे उतर पड़ी।

किन्तु उससे भी शीघ्रता से नीचे उतर कर हक्के-वक्के वणि ने कैकसी के पाँव पकड़ लिए और कहा, 'अरी भाग्यवान्, जरा समझ से तो काम ले। पहले बुग्दू की घर वाली अपने ही खेतों पर तो काम करती थी। इतना जल्दी भूल गई ? तू ही तो उस दिन उसे लेकर मेरे पास आई थी कि मैं बुग्दू को मोरट के यहाँ काम दिलवा दूँ ?—आग लगे तेरे इस रूप और जवानी को, इनकी चकाचौंध में आँख कहीं ठहरना दूर, लग भी सकती है ?—और भई, मान गए। उसके बेचारे बच्चे के ऊपर तो तरस खा।' और देखा कि कैकसी एकाएक नरम पड़ रही है, तो पैर छोड़ कर वह उठ खड़ा हुआ और कैकसी को पुनः पलंग पर अपने पास बैठाते हुए बोला, 'मुझ पर तेरा इतना भी विश्वास नहीं है कैकसी ? मैं तो यों ही बहुत बाहर रहता हूँ। स्वर्ग की अप्सराओं की बात तो तूने सुनी ही होगी। जानती है स्वर्ग कहाँ है, और किसे कहते हैं ?—देवराज इन्द्र जहाँ रहते हैं, वही तो स्वर्ग है, उन्हींका दरबार तो अप्सराओं से भरा रहता है। उसी दरबार में मुझे बार-बार जाना-आना पड़ता है। देवराज इन्द्र मुझ पर बहुत अधिक कृपालु हैं। यदि मेरा मन ऐसी बेकार की बातों में कभी उलझता तो, जानती है, तुझे इस घर में बसाने के पहले मैं अच्छी-से-अच्छी किसी अप्सरा को लाकर अपना घर बसा सकता था। तुझे विश्वास नहीं होता ?'

कैकसी नीची दृष्टि किए अतीत में खो गई थी। वणि जो कुछ कह रहा है, सच ही तो कह रहा है।—कल तक वह स्वयम् क्या थी और कहाँ थी ?—जब कि वणि, सुरग की अप्सरा न सही, यहीं पर नगर के भीतर से किसी भी महाजन की, बुग्दू की बहू से कहीं अधिक सलोनी लड़की के साथ घर बसा सकता था। और सच ही तो उस बार बुग्दू की बहू रोते-रोते उसके पास आई थी कि वणि से कह कर वह बुग्दू को किसी के खेत पर काम दिलवा दे। तभी देखा होगा वणि ने उसको! खैर, उसकी ही गलती हो तब भी मरद की नकेल कभी ढीली नहीं छोड़नी चाहिए। इसलिए जब वणि ने पूछा, 'तुझे विश्वास नहीं होता ?' तो उसने कहा, 'मेरी बला से। देस-बिदेस घूमते-घामते कहाँ-कहाँ मुँह मारता फिरता है तू, यह मैं कैसे जान सकती हूँ ?—अपना धरम अपने साथ। घर का आदमी ही कुपात्र हो तो दोष किसे दिया जाए ?'

रुष्ट गृहिणी को मनाने के लिए वणि ने उसे दोनों हाथों से आलिंगन में लेते हुए कहा, 'मैं तो कहता हूँ, दिन भर यहाँ बैठी तू करती भी क्या है ?—ऐसी बेकार बातें तभी तो सूझती हैं।—क्यों नहीं तू भी महिला-वाहिनी के प्रशिक्षण-केन्द्र में अपना नाम लिखा लेती ?'

उसके आलिंगन में ही कैकसी फिर अपने आपको भूल बैठी। हुंकार कर उसने कहा, 'अरे वाह! मैं वहाँ रहूँ और तू इधर बे-नकेल साँड बन कर डकारता फिरे! अब तुझे

ऐसी कमी क्या है कि अपनी घर वाली से भी काम करवाना चाहता है ?—इत्ता लोभ करके करेगा क्या ?—अभी तलक किसी पूत का मुँह देखना तक तो फला नहीं है ।'

'समय आने दे, भाग्य में होगा तो वह भी फलेगा भागवान !—मैं इसलिए तुझे भरती होने के लिए नहीं कह रहा हूँ कि मुझे कोई तेरी कमाई का लोभ है । अब तो देवराज इन्द्र मेरा सखा है, इन्द्र इन्चरतःसखा !—इधर हिरण्य-कोश महाश्रेष्ठि अर्बुद का वरद-हस्त मेरी पीठ पर है । मुझे क्या कमी है ? मैं तो इसलिए कह रहा था कि वहाँ आते-जाते रहने से, वहाँ क्या होता है, युद्ध के सम्बन्ध में क्या-क्या योजनाएँ बनती हैं, इसका बराबर पता लगता रहेगा, और आवश्यकता हुई तो उनको बेच कर अच्छे खासे स्वर्ण-निष्क कमाए जा सकते हैं ।—निष्क ही नहीं भागवान्, एक दिन हो सकता है, मैं यहाँ दुर्योण का इन्द्र बन जाऊँ और तू मेरी इन्द्राणी............।'

'अरे लोग तो सोते-सोते सपना देखते हैं, तू जागते हुए ही सपना देख रहा है ?' पर खिलखिलाती हुई कैकसी सहसा रुक गई और बोली, 'ये घंटिया तो किसी रथ के बैलों की हैं न ?'

वणि ने भी ध्यान दिया और कैकसी के आलिंगन से छिटक कर पलंग से नीचे उतर आया । सच ही तो रथ के वृषभों के गले की घंटियाँ हैं ।—कौन हो सकता है इस समय ? महानायक या स्वयम् महापणिक हो सकते हैं !—महाश्रेष्ठि तो इधर रथ लाने के पहले ही वृषभों के गले की घंटियाँ उतरवा लेते हैं न । और अभी इतनी रात भी कहाँ हुई है ?—आवश्यकता हो, तब भी इतनी बेला आकर वे आसपास के लोगों की दृष्टि में आना नहीं चाहते ।

'महापणिक या महानायक हों तो जा रहे होंगे अपने किसी काम से ! यहाँ इधर क्यों आएँगे ?' कैकसी ने कहा ।

'यहाँ क्यों नहीं आ सकते ?—भला तू समझती क्यों नहीं ? आजकल अपने नगर के ऊपर लड़ाई के बादल नहीं मँडरा रहे हैं ?' बणि ने कहा, 'चिन्ता के मारे रात-रात भर नहीं सो पाते बेचारे । बड़ा क्या यों ही हुआ जा सकता है ?'

'फिर तू ही इन्दर राजा बनने का सपना क्यों देखता रहता है ? अभी जो टाँग पसार कर थोड़ी-भौत निचन्त नींद निकालने को मिल जाती है, वही क्या कम है ?—इत्ता लोभ किसलिए ?—अरे, यह रथ तो अपने ही दुआरे आ लगा है । देखूँ नीचे चलकर............।'

'तू बैठ । मैं ही चल कर देखता हूँ । जहाँ तक बन सके, सत्ताधीशों के अगाड़ी और घोड़ों के पिछाड़ी जाने से बचना चाहिए, स्त्री जाति को तो और भी अधिक ।' और कैकसी को अपनी ओर आँखें फाड़े देखती छोड़ कर वह खटाखट नीचे उतर आया । कैकसी भी उसके पीछे दुबकती हुई उतर आई ।

द्वार खोलते ही वणि ने साश्चर्य देखा, सामने महाश्रेष्ठि अर्बुद खड़े हैं, 'अरे प्रभु, आप ?'

'हाँ वणि, एक आवश्यक कार्य आ पड़ा है ।'

'तो सेवक को बुला भिजवाया होता । आपने कष्ट किया.......।'

'कष्ट कुछ नहीं है । सोचा, अभी दो दिन पहले ही तो लौटा है तू, तेरे विश्राम में बाधा क्यों डाली जाए ? वैसे भय की कोई बात नहीं है ! काम भी अपना नहीं, परिषद का ही है और परिषद का है तो अपना भी होना ही चाहिए !' शायद वे कुछ मुस्कराए भी, फिर कहा, 'चल, भीतर चल कर परामर्श होगा । तू ठीक तो है न ?'

'आपका आशीर्वाद है स्वामी ! उस दिन आपके दर्शन के उपरान्त, वस थकावट दूर करने के लिए सोता ही रहा हूँ ।—लगता है, इधर कुछ नए समाचार हुए हैं ।' और उसने महाश्रेष्ठि को भीतर प्रवेश करने के लिए मार्ग दिया ।

'हुए हैं, नए समाचार बहुत हुए हैं ।' भीतर प्रवेश करते-करते महाश्रेष्ठि बोले, 'घटनाएँ जिस तेजी से घट रही हैं, उसमें समाचारों की क्या कमी ?—तेरा भी शायद सिर चकराने लग जाए ! आज ही महापणिक के यहाँ गम्भीर मन्त्रणा हुई है, सीधा वहीं से चला आ रहा हूँ । दुपहर से वहीं था ।'

'अच्छा ।—मन्त्रणा इतने समय तक चलती रही ?—अवश्य ही कुछ महत्वपूर्ण बात होनी चाहिए ।'

'बात तो महत्वपूर्ण है ही, पर मन्त्रणा इतने समय तक नहीं चलती रही । महापणिक के उद्यान में उर्वशी का कुछ आयोजन था ।'

'उर्वशी मृगम्मदा का आयोजन ?—पर ऊपर चलें स्वामिन्, वहाँ एकान्त है । मैं कैकसी को कहता हूँ, आपके लिए सोम प्रस्तुत करे ।'

'सोम-ओम कुछ नहीं वणि ! तू तो जानता है, मैं वह सब कुछ नहीं लेता । हमारे सिन्धुनद का शुद्ध शीतल-जल ही मेरे लिए अमृत है । तू उसीकी व्यवस्था कर । बाहर मैंने सारथी को कह दिया है, वृषभों को कहीं दूर न ले जाए । मुझे जल्दी ही लौट जाना है ।'

जिस कक्ष में पहले पलंग पर लेटा वणि नींद ले रहा था, उसी में दोनों आ पहुँचे । वणि ने महाश्रेष्ठि को पलंग पर बैठा दिया और स्वयम् उनके पैरों के पास नीचे फर्श पर ही बैठ गया । कुछ उसकी चापलूसी के लिए महाश्रेष्ठि ने उसे अपने पास ही ऊपर बैठने लिए कहा भी, किन्तु वणि अर्बुद के मन की अचेतन-अतल गहराइयों तक से परिचित था । ऐसे विषयों में उनका अनुरोध मानने की अपेक्षा न मानने से ही वे प्रसन्न होते हैं । आवश्यकता पड़ने पर वणि तो गदहे को भी अपना बाप बना लेता है ताकि गदहा स्वयम् ही लज्जित होकर उसे अपने ऊपर चढ़ने के लिए प्रेरित कर दे । कैकसी समझ-बूझ कर

पहले ही नीचे चली गई। वह जानती है कि वणि को जो प्रतिष्ठा मिलती है, वह उसके गुण, और महाश्रेष्ठि के स्वार्थ में उसकी उपयोगिता के कारण। शुरू-शुरू में वणि कैकसी जैसे लोगों में से ही तो था। कैकसी तो कल तक भी इन्हीं लोगों में से थी, जो घर-घर की धूल झाड़ कर किसी तरह अपना पेट भरते हैं। आज वणि की पत्नी बन गई है तो क्या हुआ ?—महाश्रेष्ठि ने तो उस जैसी अनेक दासियाँ खरीद कर बेच दी हैं। कुलिशा जैसी होती तो भी एक बात थी —वणि के सामने वह कैसी भी हेंटी बघारे, अब तो वह उसका घर वाला है, और वह उसकी घर वाली—पर दूसरे बड़बोले लोगों से उसे अपनी औकात समझ कर दूर ही रहना चाहिए। रहती ही है। कौन इनके मुँह लगे ?—चाँद पर थूको, तो वह अपने ऊपर ही गिरता है न।

'तो इस मन्त्रणा में उर्वशी भी थी ?' वणि ने पूछा। 'मैंने तो सुना था कि गई कई मन्त्रणाओं में उसने भाग ही नहीं लिया। प्रशिक्षण-केन्द्रों में भी, सुना, उसने जाना बन्द कर दिया है।'

'सेलकेत भी साथ थी न !—वैसे मन्त्रणा में उसने विशेष उत्साह से भाग नहीं लिया, किन्तु उसके बाद उद्यान में अपने नृत्य के आयोजन से उसने उसकी कसर पूरी करदी।'

'कहते क्या हैं प्रभु ?—वह तो मातृदेवी के सामने भी कभी-कभी ही नाचती है।—और आपने भी देखा उसका नृत्य ?—आप तो नृत्य के नाम से ही घृणा करते हैं न ?' साश्चर्य वणि ने पूछा।

'अब भी करता हूँ।—अंग-विन्यास के नाम पर वे अपने अंगों का प्रदर्शन ही तो करती हैं ! हाथों और अंगुलियों की भिन्न-भिन्न मुद्राएं, लय-ताल पर पद-संचार, यहाँ तक तो फिर भी ठीक है, किन्तु भ्रुवों का कुंचन, नेत्रों के कटाक्ष, कटि का विक्षेप, वक्ष का स्फूर्जन-उत्तोलन, श्रोणियों का आलोड़न-विलोड़न, ये सब क्या हैं ? इससे क्या इन इंद्रियों के प्रति वासना और आसक्ति नहीं पैदा होती ?—आसक्ति भी कैसी, जो व्यक्ति को और किसी काम का ही न रक्खे ! मानों नृत्य और नर्तकी के सिवा इस जगत में प्रेय कुछ और है ही नहीं। नृत्य के नाम पर सब कहीं यही तो होता है ! मुझे पहले पता होता कि नृत्य का आयोजन है तो मैं जाता ही नहीं, कुछ भी बहाना बना कर अलग ही रहता। पर मुझे स्वीकार करना चाहिए वणि, नहीं जाता तो सचमुच एक अतीन्द्रिय अनुभूति से वंचित और अपरिचित ही रह जाता। अद्भूत नृत्य था उसका। मैं नहीं जानता था कि नृत्य से भी मन को सात्विक और पूजा के योग्य बनाया जा सकता है।'

'मुझे भी एक बार उसे मातृदेवी के सम्मुख नृत्य करते देखने का अवसर मिला है स्वामी।'

'नृत्य क्या था, श्रद्धा और भक्ति की प्रवाहशीला तरंगायित स्रोतस्विनी थी, और

नृत्य करती उर्वशी ?—मनुष्य-देह कहाँ रही वह ?—वह तो सिन्धुनद का मूर्तिमान् तरल-शृंगार सदेह सरस्वती हो गई थी। उर्वशियों की यदि नृत्य के लिए ख्याति है तो वह ऐसा ही नृत्य होगा। ऐसे नृत्य से घृणा कैसे की जा सकती है ?—वह अनुभूति तो शब्दों से परे है।'

वणि दृष्टि नीची करके हँस दिया और बोला, 'आज तो गुरु, आप सहस्र जिह्वा से प्रशंसा कर रहे हैं। यदि आपने कभी देवराज इन्द्र की सभा में किसी उर्वशी का नृत्य देखा होता—'

अर्बुद ने कहा, 'ऐसी उर्वशी इन्द्र की सभा का गौरव ही हो सकती है रे ! यहाँ तो यह बंदर के गले की मोहनमाला है। मुंडक-यति क्या समझें ऐसे नृत्यों के रहस्य को ?—जो हो, अपने को उर्वशी से क्या लेना-देना ?—यह तो प्रसंग आ गया, वरना मैं तो कभी उनकी छाया भी न छुऊँ !—सार-तत्व की बात यह है कि अब तू शीघ्र से शीघ्र देवराज के पास कब जा सकता है ?'

'जब आप आज्ञा दें स्वामिन् !—अभी रात है, पर आपका आदेश और कार्य की अपेक्षा हो तो अभी तत्काल प्रस्थान कर सकता हूँ। आधी रात के बाद तो चाँद भी उग आएगा। आप तो जानते ही हैं, देवराज की सभा से ही एक मन्त्र सीखा है मैंने, चरैवेति, चरैवेति।'

महाश्रेष्ठि हँसा। वणि ने समझ लिया, आज बूढ़ा आवश्यकता से अधिक मगन है। हँसना दूर, मुस्कराना भी उसके लिए इतना कठिन है मानों अपने दाँत नहीं, मणि-माणिक्य प्रदर्शित करने पड़ रहे हों ! उधर महाश्रेष्ठि कह रहे थे, 'तू तो अब उनकी भाषा भी अच्छी तरह बोल लेता है रे ! कहीं उनके ऋषियों की तरह ऋचा-गान मत करने लग जाना।'

'वह मैं क्या खाकर करूँगा गुरु ?—उनकी एक हिरण्य जैसी ऋचा सुनाई थी न मैंने आपको ?—हिरण्य के पात्र से सत्य का मुख अपिहित ! हाऽ हाऽ हा ! जो परम सत्य है, एकदम उसका उद्घाटन है !'

'उसी की दिशा में प्रस्थान करना है रे तुझे !—इतनी शीघ्रता की भी आवश्यकता नहीं है। अभी उसी दिन लौटा है, तो एक दिन और विश्राम कर ले।' फिर आदत के अनुसार इधर-उधर देख कर, अर्थात् उनकी बातचीत अन्य कोई सुन नहीं रहा है, इसका निश्चय करके, स्वर को और भी धीमा करते हुए अर्बुद ने कहा, 'देवराज से कहना होगा कि अगली अमावस्या तक, बल्कि उसी रात को हरयूपिया पर आक्रमण करने के लिए अभ्यावर्ती चायमान को आदेश दे दे। वहाँ की रक्षापंक्ति दृढ़ करने के लिए इलिवश के नेतृत्व में एक प्रशिक्षित गुल्म नियुक्त हो गया है। अमावस्या के बाद वह गुल्म वहाँ पहुँच जाएगा। मैं देख लूँगा कि इसके पहले वह वहाँ नहीं पहुँचे। फिर

बाद में कोई अवसर नहीं मिलेगा। मन्त्रणा-सभा में नहीं, यह निश्चय उस समय लिया गया जब उर्वशी का नृत्य चल रहा था और महानायक ने समझा कि मैं उसमें खो गया हूँ !'

'ओह ! तो वह नृत्य आपको भुलाने के लिए एक छल था।'

'इतना सहज भूलने वाला मैं भी कहाँ हूँ रे ?' और अर्बुद फिर कुछ मुस्कराया।

'पर महाप्रभु, अभी भी वह प्रचंड योद्धा चुमुरी वहीं है न ?—चायमान उससे बहुत घबराता है।'

'यह तूने अच्छा स्मरण दिलाया। ठीक है, इस बीच मैं उसे ही नहीं, सुष्प को भी विचार-विमर्श के लिए यहीं बुलवाने की व्यवस्था करता हूँ। देवराज से कहना कि इस अवसर को वह चूके नहीं। यहाँ युद्ध की तैयारियाँ पूरे वेग और उत्साह से चल रही हैं, और लोगों का मनोबल आकाश को छू रहा है। हरयूपिया की पराजय से उनका मनोबल टूट जाएगा। वरना, देवराज ने शीघ्रता नहीं की तो इनकी प्रतिरक्षात्मक शक्ति तो बढ़ती ही जाएगी।, बहुत सम्भव है कि महानायक शुष्ण जैसे उग्र-पन्थियों को स्वयम् आक्रमण करने से महापणिक बृबु, भी अधिक समय तक रोक न सके।'

'अच्छा, स्थिति यहाँ तक आ पहुँची ?' वणि ने आश्चर्य के साथ कहा।

'यहाँ तू इतना रहता ही कहाँ है कि सारी गतिविधि तुझे मालूम हो ?—और इस बार तो यहाँ की महिलाएँ भी इन विदेशिनियों के प्रभाव से इस तरह उठ खड़ी हुई हैं कि मानों अंजसी और कुलिशा के वध का पूरा बदला लेकर ही चैन लेंगी। उनके प्रशिक्षण-केन्द्रों में प्रतिदिन क्या-क्या नई योजनाएँ बनती हैं, इसका कुछ पता ही नहीं चलता।—अरे, अपनी बहू, इस कैकसी से कह न ! यदि यह उनके केन्द्र में जाया-आया करे तो—'

वणि उठ कर दरवाजे तक जाकर देख आया कि कैकसी ओट में खड़ी हुई उनकी बातें तो नहीं सुन रही है। बोला, 'मैंने भी उससे कहा था प्रभु, पर वह एक ही अड़ियल है। अक्खड़ तो है ही, साथ में मूढ़ भी है। कहीं अपनी ही बात बतादे तो उल्टे लेने के देने पड़ जाएँ।—उसे रहने ही दें।'

'ठीक है। मैंने भी वैसे ही चलते हुए कह दिया था। महिलाओं की योजनाओं से अपने लिए विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मुझे कुछ भय है तो इस महानायक की मिस्री पत्नी से है। गर्भवती है, पर चाहती है कि उसका बच्चा पेट में ही युद्ध-विद्या सीख ले। जैसे लड़का या लड़की जनना उसके हाथ की ही बात हो। अगर लड़की हुई तो—'

'और यह उर्वशी क्या कम भयानक है ?—मैंने तो सुना है कि अपने देश में यह सेनापति थी, और अपने राजा का अपने हाथों इसने वध किया है।'

'वहाँ जाकर देखा किसने ?—जो यह बात फैलाते हैं, उन्होंने ही तो ।—पर उसकी बात छोड़ । उसकी नस मैंने पहचान ली है । उसके नृत्य-गान की कुछ प्रशंसा और थोड़ी लल्लो-चप्पो की, कि वह उलझ जाएगी । इस बृबु पर वह प्राण देती है । छल-बल से मैं ही अबतक उनके विवाह को रोके रहा हूँ । अब सोचता हूँ अगर यह विवाह हो जाए तो नई-नई रँगरेलियों में दोनों ही कुछ समय के लिए यह युद्ध-उद्ध भूल जाएँगे ।—वैसे बृबु स्वयम् तो आक्रमण के विरुद्ध है ही । भरसक उसे रोकने का प्रयत्न मैं भी कर ही रहा हूँ । पर सिर से पानी गुजर जाए इसके पहले ही देवराज को आक्रमण कर के प्रारम्भ कर देना चाहिए । मनोबल पहली विजय से ही बनता है !'

'इसका दायित्व मुझ पर छोड़ें आप । इधर आप अपनी सारी योजना पुंखानुपुंख पूरी करें, आगामी अमावस्या की रात हरयूपिया पर चायमान का आक्रमण, मुझ से रहा । किन्तु इस आक्रमण की सफलता तभी निश्चित होगी स्वामी, जब आपकी योजना कहीं गड़बड़ाए नहीं ।'

'उसकी तू चिन्ता मत कर । अर्थ की व्यवस्था जब तक मेरे नियन्त्रण में है, मैं उनकी किसी भी चाल को जब चाहूँ तभी विफल कर सकता हूँ । और महाश्रेष्ठि के रूप में ही नहीं, अब तो अपने मूल नागरिक-अर्बुद के रूप में भी अपनी आर्थिक-क्षमता से मैं पलड़ों को जिधर चाहूँ उधर झुका सकता हूँ ।—मेरी ओर से देवराज को तू आश्वासन दे सकता है कि वे मुझ पर पूरी तरह निर्भर कर सकते हैं । शंख और श्येन के प्रति किए गए दुर्व्यवहार का प्रतिशोध लेने का अगर कोई अवसर है तो वह यही है । भविष्य में कदाचित बात मेरे हाथ में इतनी न रहे !'

'मैं उन्हें खूब अच्छी तरह समझा दूँगा महाप्रभु !'

'अच्छा । यह तो एक बात हुई । इसके पहले एक और आवश्यक कार्य करना है तुझे ।'

'आज्ञा दें ।'

'किसी तरह आठ-दस टट्टुओं की व्यवस्था करनी होगी । जितना शीघ्र हो सके, अमावस्या के पहले उन्हें यहाँ पहुँच जाना चाहिए ।'

'टट्टुओं की व्यवस्था ?' आश्चर्य से वणि ने पूछा, 'उनका क्या होगा ?'

'ये जानते हैं न कि अश्व-बल के बिना अपना सैन्य-बल अधूरा ही है ।'

'सो तो समझ में आता है, पर टट्टुओं को ये क्या करेंगे ? माल तो वृषभ ढो ही रहें हैं । उनसे अच्छा तो टट्टू ढो नहीं सकते ।' वणि ने कहा ।

'वृषभ के स्थान पर नहीं वणि, अश्वों के स्थान पर । अश्व उनको इस समय मिल ही कहाँ सकते हैं ?—आर्यों से ही तो मिल सकते हैं ! मुझसे कहा है कि जैसे भी हो, चोरी-छिपे या तस्करी से तेरी सहायता लेकर यह कार्य किया ही जाए ।'

'तो यों कहिए न !—पर्याप्त हिरण्य की व्यवस्था होने पर क्या नहीं हो सकता ?—सत्य के मुँह को ढाँकने का उपाय उन्होंने ही तो बता रखा है। कितने अश्वों की व्यवस्था करनी होगी ?'

'पागल हुआ है वणि ?—अश्वों की व्यवस्था करके देवराज के लिए समस्या खड़ी करेंगे हम ?—यह तो अच्छा ही हुआ कि इसका दायित्व मुझ पर ही डाला गया है। मैंने अपनी ओर से कह भी दिया है कि इस समय अश्वों का प्रबन्ध बहुत ही कठिन है, फिर भी प्रयत्न करूँगा। और हम अश्व नहीं, अश्वकों, टट्टुओं को बता कर उन्हें विश्वास दिला देंगे कि प्रयत्न करने में हमने कोई कसर नहीं रखी है।'

'और गुरु, उन्हें यह कहकर भी तो बहलाया जा सकता है कि प्रबन्ध तो हमने कर लिया था, मूल्य चुका कर अश्वों की खेप दुर्योण के लिए चल भी पड़ी थी। परन्तु न जाने कैसे उनके नेताओं को पता चल गया और बीच मार्ग में आक्रमण करके—'

पैरों पर बैठे वणि की ओर महाश्रेष्ठि ने आश्चर्य के साथ देखा, कैसे उसे उनके मन की इतनी गूढ़ सन्धि का पता लग गया ? उसे क्या प्रेत सिद्ध है ? बड़ा घाघ है। गुरु डाल-डाल पर, तो चेला पात-पात पर। प्रकट में बोले, 'अरे वाह, बलिहारी है तेरी बुद्धि की वणि !—यह तो और भी अच्छा अवसर हुआ हिरण्य बटोरने का। तब तू तो सब समझ ही गया है। मैं क्या समझाऊँ तुझे ? बस, दो-चार मरियल टट्टू या घोड़े ही सही, इनके सामने आजाएँ तो इन्हें हमारे प्रयत्न पर सन्देह न हो।—अच्छा तो अब मैं चलूँगा। कल आकर तू मार्ग के लिए और अश्वों के इस व्यवहार के लिए आवश्यक स्वर्णकोष से ले लेना।' और वे उठ खड़े हुए।

वणि ने भी उठ खड़े होकर कहा, 'पर प्रभु, एक अच्छा अश्व मैं अपने लिए अवश्य खरीदूँगा। इन वृषभों से यात्रा में बड़ा विलम्ब हो जाता है।'

'अवश्य अवश्य।—बल्कि, घबराता क्यों है ? समय आने दे। कुछ दिनों में तू अश्वों के रथ पर आरूढ़ महारथी बनकर घूमना।'

'यदि कभी ऐसा सम्भव हुआ तो वह आपके ही चरणों का प्रताप होगा भगवन् !' और दोनों नीचे उतर आए। कैकसी ने एक ओर हट कर कपाट उन्मोचित कर दिए।

वणि ने भी इस बीच मन-ही-मन हिसाब लगाया। महाश्रेष्ठि से भी एक कदम आगे चलती है उसकी वणिक-बुद्धि।—एक अश्व अधिक से अधिक बीस या पच्चीस निष्क का होना चाहिए। युद्ध-काल में उनकी उपयोगिता देखते हुए और फिर चोरी-चोरी गुप्त-व्यवहार, यदि पचास निष्क भी बता दिए जाएँ तो किसी को सन्देह नहीं हो सकता। सन्देह हो, तब भी जाँच की सुविधा कहाँ है ? सौ अश्व भी हों, तो हुए पाँच सहस्र निष्क।—किन्तु—हाय ! यहीं तो वणि चूक गया। उसे क्या मिलेगा सिवा महाश्रेष्ठि की कृपण उपहार-राशि के ? सचमुच व्यवहार तो आठ-दस अश्वकों का ही करना

होगा ! मरियल टट्टुओं के दस निष्क भी नहीं बताए जा सकते। सौ-पचास निष्क में वन ही क्या सकता है उसका अंश ?—मार्ग में अश्वों के अपहरण की युक्ति उसे महाश्रेष्ठि पर व्यक्त ही नहीं करना थी। तब तो सौ क्यों, वह दो सौ अश्वों के सौदे की बात भी बना सकता था, और पचास न सही, तीस निष्क प्रति अश्व के हिसाब से भी पाँच-छह सहस्र सहज ही डकार जाता ! इतनी उतावली उचित नहीं थी। अब हो ही क्या सकता है ? महाश्रेष्ठि को अब इस व्यवहार में चूना नहीं लगाया जा सकता।—सोचना होगा, यदि अब भी कोई उपाय निकल सकता हो !

महाश्रेष्ठि न सही, आर्य-नेता चायमान से क्यों न इसकी क्षतिपूर्ति करवाई जाए ? अमावस्या के पहले ही जब चुमुरी और सुष्प परामर्श के लिए दुर्योण के मार्ग पर हों, चायमान उन पर अकस्मात् आक्रमण करके अपनी राह के काँटे को सदा के लिए उखाड़ फेंके। वह घात में रहेगा और ठीक समय पर चायमान को सूचना दे देगा। तीन न सही, इन प्रचंड वीरों का मूल्य दो सहस्र निष्क तो होना ही चाहिए। महाश्रेष्ठि के रुष्ट होने का भी कोई कारण नहीं है। स्वयम् चायमान क्यों नहीं ऐसा निर्णय ले सकता ? केवल एक ही समस्या उत्पन्न हो सकती है। मूल्य तो कार्य सम्पन्न हो जाने पर ही मिलेगा। तब यदि चायमान अस्वीकार करदे ? लोभ बहुत बुरी बला है।—पर वणि मन ही मन मुस्कराया। कच्ची गोली वणि नहीं खेलता।—अमावस्या तो तब भी दूर भविष्य के गर्भ में, अर्थात् बहुत-कुछ वणि के हाथ में ही तो रहेगी। चायमान यदि मूल्य निष्कों में न चुकाए, तो अमावस्या को अपने प्राणों से चुकाएगा।—आर्य लोग मृत्यु से बहुत डरते हैं न ! प्रत्येक प्रातःकाल उठकर सबसे पहले अपने इष्ट से माँगते हैं, जीवेम् शरदः शतम्।—उत्साह के साथ उसने कैकसी से कहा, 'जल्दी से सोमरस प्रस्तुत कर भाग्यवान् ! कंठ प्यास के मारे सूख गया है, जला जा रहा है !'

● ● ●

नगर-प्रान्त से कुछ हट कर उत्तर-पूर्व में सिन्धुनद से काट कर जो नहर नगर में लाई गई है, वह सैन्धवों के स्थापत्य और शिल्प का अन्यतम आदर्श प्रस्तुत करती है। नगर-कोट के भीतर ही है वह स्थान। प्रवाह के पश्चिम तट पर एक विशद दीवार का बाँध है, जो पश्चिमी किनारे पर क्रमशः उठता हुआ और प्रवाह के साथ उसी तरह क्रमशः नीचा होता गया है, जिससे महानद के मूल-प्रवाह को संयत किया जा सकता है। पश्चिम में कुछ और हट कर एक दीवार का निर्माण किया गया है, और इन दोनों बाँधों के बीच एक सरोवर बना दिया गया है, जो प्रर्याप्त शान्त और निश्चल है। पश्चिम की भीतरी दीवार में चार द्वार बनाए गए हैं, जिनके कपाट घाट पर बनी हुई चरखियों की सहायता से खोले और बन्द किए जाते हैं। इन्हीं में से एक द्वार से नगर के लिए पेय जल की, दूसरे से नगर की सफाई की, तीसरे से मातृदेवी के सरोवर के

लिए तथा चौथे से नगर के भीतर बने नागरिकों के उद्यानों, खेतों आदि के लिए जल की प्रणालियाँ बनाई हुई हैं। उपान्त के खेतों और नगर-प्राचीर को परिवृत करने वाली प्राकार के लिए एक अलग नहर उत्तर में नगरकोट के बाहर निर्मित की गई है। यदि कभी बाहर की इस नहर को क्षति पहुँच जाए तो भीतर के इसी घाट पर ऐसी व्यवस्था है कि एक गुप्त द्वार से उसे इस सरोवर से संयोजित कर दिया जा सके। नगर-प्राचीर के भीतर होने से बाँध का सारा क्षेत्र सुरक्षित है, और इन दिनों तो सुरक्षा की दृष्टि से अतिरिक्त प्रबन्ध किया हुआ है। रात-दिन पूरे समय के लिए एक सशस्त्र-दल चारों ओर सजग-दृष्टि रखता है, और विशिष्ट नागरिकों तथा सम्बद्ध अधिकारियों को छोड़ कर हर किसी को यहाँ प्रवेश की अनुमति नहीं है।

सन्ध्या बीतते न बीतते, आज मृगम्मदा का रथ इसी घाट पर आ लगा है। प्रहरियों ने सावधान होकर रथ को घेर लिया, किन्तु महादेवी उर्वशी को पहचान कर स-सम्भ्रम अभिवादन के पश्चात् महादेवी के संकेत पर वे अपने-अपने स्थान पर लौट गए। रथ से उतर कर उर्वशी ने सारथी को रथ लौटा लेजाने का आदेश दिया। कहा कि कुछ समय खुली हवा में बैठ कर वे स्वयम् पैदल लौट आएँगी। मातृ-सरोवर अधिक दूर नहीं है। कुमुन्निशा उनकी प्रतीक्षा न करे और सान्ध्यपूजादि से निपट ले।

रथ जब लौट गया तो मृगम्मदा आगे बढ़कर सरोवर के किनारे-किनारे प्रथम जल-स्तम्भ बाँध के किनारे पहुँच गई। वहाँ नदी की ओर नीचे उतरने के लिए सोपान बने हुए थे। ऊपर ही खड़ी रहकर मृगम्मदा ने सामने फैले हुए महानद के विस्तृत पाट पर अपनी दृष्टि फैला दी।—कृष्ण पक्ष था और आकाश में एक-एक कर तारे चमकने लगे थे। बयार बहुत तेज न थी, अतः सामने का जल-सम्भार बहुत चंचल नहीं था, प्रतिफलित आकाश उसमें चमक उठा था। सामने बहुत दूर छिटके हुए वृक्षों की घनच्छाय-पंक्ति से घिरी क्षण-क्षण सन्ध्या की कालिमा में धुँधली होती जा रही क्षीण सी तट-रेखा ही उसे आकाश से पृथक होने की प्रतीति देती थी। चंचल लहरें नीचे सीढ़ियों को छूकर लौट जाती थीं। उनके स्पर्श से जो रह-रह कर छप-छप ध्वनि हो उठती थी, वह मृगम्मदा के कानों तक पहुँचती थी या नहीं, किन्तु वातावरण अवश्य उससे मुखरित था। कुछ देर तक निर्निमेष जल के विस्तार को देख चुकने पर मृगम्मदा धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरने लगी और फिर जल-स्तर से दो-तीन सोपान ऊपर एक सीढ़ी पर वह बैठ गई।

कैसी क्रूर नियति में आ फँसी है? वह एक उर्वशी—सामान्य उर्वशी नहीं! जो सम्भवतः उर-प्रदेश की अधिष्ठात्री-साम्राज्ञी हो सकती थी, वह उर्वशी यहाँ एक माँ बनने की विडम्बना ओढ़ बैठी है। वह कोई अपहृत दासी नहीं जिससे आर्य-दस्यु मित्र और वरुण ने मिल कर एक नहीं, दो-दो सन्तानें, एक पुत्र—वसिष्ठ और दूसरी पुत्री अरुन्धती, पैदा की

हैं। वह तो वृबु की दयिता है।—पर दयिता है तो उर्वशी कहाँ रही? विवाह न हुआ हो तो क्या हुआ? सैन्धवी तो वह हो ही गई है। दुर्योण ने उसे पूरे भाव से स्वीकार किया है। उसे यहाँ न केवल संरक्षण, बल्कि इतना महान सम्मान, गहरा विश्वास और स्वयम् महापाणिक वृबु का अतल-अनन्य प्रेम प्राप्त हुआ है, यह क्या किसी साम्राज्य से कम है?—किन्तु यह अयाचित मातृत्व? अब तक उसने अपने को अक्षय यौवन की मूर्द्धा पर खड़ी पाया है। नहीं, अब भी उसके शरीर की गठन में कहीं रंच मात्र कुंचन नहीं है। उसके त्वक्स्पर्श में स्निग्धता और मार्दव दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। सूक्ष्म-मन के प्रत्यन्तरों की बात जाने दी जाए, स्थूल शरीर के पारद-चांचल्य या अंग-संचालन में कहीं लेश-मात्र भी तो अवस्था का प्रभाव नहीं आया है। आज प्रमोद-उद्यान में नृत्य के माध्यम से उसने परीक्षा तक ले ली है। उर्वशियाँ इसीलिए तो अक्षय-यौवना कहलाती हैं! पर यह मातृत्व का अभिशाप क्या उस ख्याति को रहने देगा?—ख्याति की उसे चिन्ता नहीं है, वह दूसरों के मन की भावना है, किन्तु काया का काठिन्य और सौंदर्य की अभिज्ञता तो स्वयम् उसके मन की भावना है। दूसरे उस पर मुग्ध हों या न हों, किन्तु दर्पण में अपनी छवि पर यदि वह आप मुग्ध नहीं हुई तो? कुछ ही दिनों में उदर का आकार बढ़ने लगेगा।—सेलकेत गर्व के साथ उसका प्रदर्शन कर सकती है, वह एक दूसरे ही भिन्न वातावरण की उपज है, जहाँ संस्कार ही मातृत्व पर गर्व करने के हैं। अद्भुत-अद्भुत रुचियाँ होती हैं लोगों की भी। फूले हुए श्लथ और आलस्य की क्लान्ति से प्रच्छायित-शरीर में भी उन्हें सौंदर्य दिखाई देता है। उष्ण और पुरुष-स्पर्श के लिए उत्कंठ रक्त से नहीं, दूध से भर कर पीन हो उठने में पिले-पिले स्तन-मंडलों की सार्थकता समझते हैं वे!

और आज प्रमोद-उद्यान में अकस्मात् यह नृत्य का क्या आडम्बर कर बैठी? सामान्यतः प्रतिष्ठित नागरिकों के यहाँ अतिथियों का सत्कार गृह-देवियाँ ही करती हैं। वृबु ने सहज ही उस पर यह भार सौंपा था। अपने पर वृबु का इतना अधिकार वह प्रारम्भ से ही स्वीकार करती आई है, और पहले भी उसने यह दायित्व कई बार निभाया है।—मैरेय या सोम का आपानक, कुछ खाद्य-फलों का उपाहार, निर्दोष द्यूत या ऐसी ही कोई आभ्यन्तरीण क्रीड़ा, हास-परिहास या फिर मनोविनोद के लिए समस्यापूर्ति! बस आतिथ्य में इन्हीं की कुछ व्यवस्था कर देनी होती है, जिनमें सभी समान रूप से भाग लें। पर आज तो न जाने किस आन्तरिक-प्रेरणा से विवश होकर देखते-देखते उसने उद्यान के गर्भ-कक्ष में वाद्य और वादकों की व्यवस्था कर डाली। कक्ष के कुट्टिम को देखकर ही पैरों में कदाचित सुरसुरी फूट आई हो!- किसको रिझाना था उसे?—वृबु उसे अप्राप्य नहीं है। आज तो उसने विधिवत विवाह के लिए भी अपनी उत्सुकता दिखाई है। मातृदेवी के सम्मुख भी वह इतनी तन्मयता से नहीं नाची—

उसका महादेव तो बृबु ही है न ।—किन्तु उसके लिए भी पहले कब उसने नृत्य प्रस्तुत किया है ?

ओह ।—समझी वह । बृबु को नहीं, स्वयम् अपने आपको रिझाने के लिए अभिप्रेत था वह नृत्य ! मातृत्व के इस उपसर्ग से वह रुष्ट हो गई है न अपने आपसे ? शरीर यदि इतनी उन्मुक्ति के साथ समर्पित न होता तो कौन उस पर मातृत्व थोप सकता था ? —वह भी तो एक मिथ्या गर्व ही था कि उसे अपनी निरपेक्षता प्रमाणित करने की जिद होजाए ! दंड ही तो देना चाहा था इस नृत्य के मिस उसने अपने शरीर को !—बृबु ने तो पहले ही कान में सावधान भी कर दिया था न ! कदाचित इसलिए भी मन ने हठ पकड़ ली हो ।—कितने नहीं उल्टे-सीधे पैर पटके हैं उसने, कम उछल-कूद की है क्या उसने ? किसी तरह स्खलित हो तो ।—किन्तु शरीर निर्बल कहाँ है अभी ? वश में तो वह है ही, यदि इसी तरह उसका निरालस संस्कार चलता रहा तो सहज ही वह अनन्त काल तक अक्षययौवना बनी रहेगी । उम्र नहीं, उर्वशियों को मृत्यु ही शरीर से अलग करती है । पर मृत्यु है कहाँ ? वह तो मात्र पट-परिवर्तन है ! इसीलिए तो उर्वशी अजर है, अमर है !

विवाह हो बृबु से, पर किसलिए ? बृबु की पहले की झिझक चाहे समझ में नहीं आई हो, पर आज की चाह तो समझ में आती है । अतिथियों के सत्कार की प्रतिष्ठा के लिए ही नहीं, घर और वंश के उत्तराधिकार के लिए भी वह सन्तान की कामना करेगा । पर अधिकार की यह उत्तरजीविता क्यों ?—श्रमण होकर यह परिग्रह ? इसी के साथ तो परिग्रहों की शृंखला प्रारम्भ होती है । सन्तान हुई तो उसे ममत्व देकर पालो-पोसो । वह निगृही नहीं रह सकता, इसलिए एक गृह भी आवश्यक है, जो धीरे-धीरे गृहस्थि में परिणत होजाए । जबतक वह स्वयम्-समर्थ न हो जाए, उसके लिए सुविधाएं संग्रह की जाएँ, मम-ता का विस्तार होता रहे और उत्तराधिकार में उसे वह सब कुछ मिले जो हमें प्राप्त था ! हमारे प्रयत्नों का, स्वत्व का जन्म-जन्मान्तर तक विस्तार होता रहे । उसी मम-ता में से तो अंहकार पैदा होता है, और उस अंहकार की प्रेत-छाया ही तो अपने उपार्जन को अपने स्वत्व में संचित रखने की प्रवृत्ति पैदा करती है !—बृबु को समझाए वह सबकुछ यह ?

पर यह भी किसलिए ?—सन्तान को यदि वह अस्वीकार करती है तो बृबु ही क्यों उसके जीवन-प्रवाह का तट बने ? यह बन्धन है, बाँध है, प्रकृत-जीवन की स्वच्छन्द प्रचंड धारा का अवरोध है । यह बाँध है न ।—महानद की इस धारा को स्वाभाविक गति से समुद्र की ओर प्रधावित होने से रोक कर क्या किया है तुमने ? नगर में लाकर क्या तुमने उसे गन्दगी और सड़ाँध का कर्दम ही नहीं दिया ?—क्यों बँधे वह स्वयम् भी किसी घाट पर, चाहे वह बृबु ही हो ? शुल्गी से नहीं बँधी, वह

उसके मन का सत्स्वास्थ्य था। वह स्त्री है, क्या इसीलिए उसका जीवन सापेक्ष्य होना चाहिए ? अपने चरम-रूप में संश्लिष्ट जीवन-तत्व चाहे सापेक्ष्य हो, पर वह पुरुष-सापेक्ष्य या स्त्री-सापेक्ष्य ही क्यों हो ? पुरुषों के बारे में वह साधिकार कुछ नहीं कह सकती, पर स्त्री तो वह है ही। क्यों न वह निरपेक्ष जीवन का आदर्श प्रस्तुत करे ?—असम्भव क्या है ?—उर्वशियां यही तो करती आई हैं !

मृगम्मदा उठ खड़ी हुई। अँधेरी काली रात में अब सामने का किनारा भी स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा था। ऊपर सिर पर तारों की जगमगाहट निरभ्र-आकाश को एक अनवद्य सौन्दर्य की आभा दे रही है। समीर भी कुछ चंचल हो उठा है, लहरें भी उच्छृङ्खल होकर तट-भूमि से कल्लोल-क्रीड़ा करने लगी हैं। अपने आपमें खोई हुई मृगम्मदा को पता ही नहीं चला कि कब से महानदी का ब्रह्मनाद सम्पूर्ण वातावरण को गुंजरित-निनादित किए हुए है ! उसे अब परिसर लौट चलना चाहिए। कुमुद यदि चिन्तित हो गई तो सबको साथ लेकर उसकी खोज में दौड़ पड़ेगी। पूजा से तो निपट ही चुकी होगी वह !—सीढ़ियाँ चढ़ने लगी मृगम्मदा। प्रहरी सजग था, उसने दीप दिखाकर मृगम्मदा का मार्ग प्रशस्त किया। मृगम्मदा ने कोई बाधा न दी, मार्ग यों भी अँधेरा था। और वह विचारों में, अपने में ही खोई हुई भी थी।

नहीं, इस उपसर्ग को लेकर भी चिन्ता का क्या प्रयोजन है ?—यौवन है, पर स्त्रीत्व के बाहर वह भी क्यों हो ?—उसका स्वयम् का व्यक्तित्व क्या इतना अपदार्थ है कि वह यौवन की अपेक्षा रखे ? वह अपने-आपका अभिज्ञान बराबर बनाए रखेगी। इसके बावजूद यदि उदर में कोई उपसर्ग पल रहा है तो उससे क्या ? वह निर्मम है, और निर्मम बनी रहेगी। प्रसव के तुरन्त बाद, शरीर से उत्सर्जित अन्य अवांछित मल-पदार्थ की भाँति निर्मम होकर इसे भी त्याग दिया जाना चाहिए, ताकि चेतना प्राप्त कर दुःख-बोध सहन करे इसके पहले ही वह नष्ट हो जाए !

परिसर में प्रवेश करते ही कुमुन्निशा से सामना हुआ। मेषपाल तुरल को साथ लेकर वह मृगम्मदा की खोज में निकलने ही वाली थी। उसने सूचना दी कि महापणिक उसके कक्ष में बैठे प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'महापणिक ?—उन्हीं के वहाँ से तो लौट कर आई थी !—कब से प्रतीक्षा कर रहे हैं ?—स्वस्थ तो हैं न ?—कुछ कह रहे थे ?'

उत्तर की अपेक्षा किए बिना वह अपने कक्ष की ओर बढ़ी। द्वार से ही देखा कि बृबु उसके पर्यंक पर आँखें मूँदे लेटा पड़ा है। शायद निद्रामग्न हो गया है इसलिए उसके प्रवेश की आहट से भी सजग नहीं हो सका। अस्वस्थ तो वह है ही—श्येन के साथ मल्ल-युद्ध के बाद आज प्रथम बार बाहर आया है। आज का कार्यक्रम ही शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूप में कम क्लान्तिकर नहीं था। मृगम्मदा ने संकेत से ही

उसका महादेव तो बृबु ही है न।—किन्तु उसके लिए भी पहले कब उसने नृत्य प्रस्तुत किया है ?

ओह।—समझी वह। बृबु को नहीं, स्वयम् अपने आपको रिझाने के लिए अभिप्रेत था वह नृत्य ! मातृत्व के इस उपसर्ग से वह रुष्ट हो गई है न अपने आपसे ? शरीर यदि इतनी उन्मुक्ति के साथ समर्पित न होता तो कौन उस पर मातृत्व थोप सकता था ? —वह भी तो एक मिथ्या गर्व ही था कि उसे अपनी निरपेक्षता प्रमाणित करने की जिद होजाए ! दंड ही तो देना चाहा था इस नृत्य के मिस उसने अपने शरीर को !—बृबु ने तो पहले ही कान में सावधान भी कर दिया था न ! कदाचित इसलिए भी मन ने हठ पकड़ ली हो।—कितने नहीं उल्टे-सीधे पैर पटके हैं उसने, कम उछल-कूद की है क्या उसने ? किसी तरह स्खलित हो तो।—किन्तु शरीर निर्बल कहाँ है अभी ? वश में तो वह है ही, यदि इसी तरह उसका निरालस संस्कार चलता रहा तो सहज ही वह अनन्त काल तक अक्षययौवना बनी रहेगी। उम्र नहीं, उर्वशियों को मृत्यु ही शरीर से अलग करती है। पर मृत्यु है कहाँ ? वह तो मात्र पट-परिवर्तन है ! इसीलिए तो उर्वशी अजर है, अमर है !

विवाह हो बृबु से, पर किसलिए ? बृबु की पहले की झिझक चाहे समझ में नहीं आई हो, पर आज की चाह तो समझ में आती है। अतिथियों के सत्कार की प्रतिष्ठा के लिए ही नहीं, घर और वंश के उत्तराधिकार के लिए भी वह सन्तान की कामना करेगा। पर अधिकार की यह उत्तरजीविता क्यों ?—श्रमण होकर यह परिग्रह ? इसी के साथ तो परिग्रहों की श्रृंखला प्रारम्भ होती है। सन्तान हुई तो उसे ममत्व देकर पालो-पोसो। वह निगृही नहीं रह सकता, इसलिए एक गृह भी आवश्यक है, जो धीरे-धीरे गृहस्थि में परिणत होजाए। जबतक वह स्वयम्-समर्थ न हो जाए, उसके लिए सुविधाएं संग्रह की जाएँ, मम-ता का विस्तार होता रहे और उत्तराधिकार में उसे वह सब कुछ मिले जो हमें प्राप्त था ! हमारे प्रयत्नों का, स्वत्व का जन्म-जन्मान्तर तक विस्तार होता रहे। उसी मम-ता में से तो अंहकार पैदा होता है, और उस अंहकार की प्रेत-छाया ही तो अपने उपार्जन को अपने स्वत्व में संचित रखने की प्रवृत्ति पैदा करती है !—बृबु को समझाए वह सबकुछ यह ?

पर यह भी किसलिए ?—सन्तान को यदि वह अस्वीकार करती है तो बृबु ही क्यों उसके जीवन-प्रवाह का तट बने ? यह बन्धन है, बाँध है, प्रकृत-जीवन की स्वच्छन्द प्रचंड धारा का अवरोध है। यह बाँध है न।—महानद की इस धारा को स्वाभाविक गति से समुद्र की ओर प्रधावित होने से रोक कर क्या किया है तुमने ? नगर में लाकर क्या तुमने उसे गन्दगी और सड़ाँध का कर्दम ही नहीं दिया ?—क्यों बँधे वह स्वयम् भी किसी घाट पर, चाहे वह बृबु ही हो ? शुल्गी से नहीं बँधी, वह

उसके मन का सत्स्वास्थ्य था। वह स्त्री है, क्या इसीलिए उसका जीवन सापेक्ष्य होना चाहिए ? अपने चरम-रूप में संश्लिष्ट जीवन-तत्व चाहे सापेक्ष्य हो, पर वह पुरुष-सापेक्ष्य या स्त्री-सापेक्ष्य ही क्यों हो ? पुरुषों के बारे में वह साधिकार कुछ नहीं कह सकती, पर स्त्री तो वह है ही। क्यों न वह निरपेक्ष जीवन का आदर्श प्रस्तुत करे ?—असम्भव क्या है ?—उर्वशियां यही तो करती आई हैं !

मृगम्मदा उठ खड़ी हुई। अँधेरी काली रात में अब सामने का किनारा भी स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा था। ऊपर सिर पर तारों की जगमगाहट निरभ्र-आकाश को एक अनवद्य सौन्दर्य की आभा दे रही है। समीर भी कुछ चंचल हो उठा है, लहरें भी उच्छृङ्खल होकर तट-भूमि से कल्लोल-क्रीड़ा करने लगी हैं। अपने आपमें खोई हुई मृगम्मदा को पता ही नहीं चला कि कब से महानदी का ब्रह्मनाद सम्पूर्ण वातावरण को गुंजरित-निनादित किए हुए है ! उसे अब परिसर लौट चलना चाहिए। कुमुद यदि चिन्तित हो गई तो सबको साथ लेकर उसकी खोज में दौड़ पड़ेगी। पूजा से तो निपट ही चुकी होगी वह !—सीढ़ियाँ चढ़ने लगी मृगम्मदा। प्रहरी सजग था, उसने दीप दिखाकर मृगम्मदा का मार्ग प्रशस्त किया। मृगम्मदा ने कोई बाधा न दी, मार्ग यों भी अँधेरा था। और वह विचारों में, अपने में ही खोई हुई भी थी।

नहीं, इस उपसर्ग को लेकर भी चिन्ता का क्या प्रयोजन है ?—यौवन है, पर स्त्रीत्व के बाहर वह भी क्यों हो ?—उसका स्वयम् का व्यक्तित्व क्या इतना अपदार्थ है कि वह यौवन की अपेक्षा रखे ? वह अपने-आपका अभिज्ञान बराबर बनाए रखेगी। इसके बावजूद यदि उदर में कोई उपसर्ग पल रहा है तो उससे क्या ? वह निर्मम है, और निर्मम बनी रहेगी। प्रसव के तुरन्त बाद, शरीर से उत्सर्जित अन्य अवांछित मल-पदार्थ की भाँति निर्मम होकर इसे भी त्याग दिया जाना चाहिए, ताकि चेतना प्राप्त कर दुःख-बोध सहन करे इसके पहले ही वह नष्ट हो जाए !

परिसर में प्रवेश करते ही कुमुन्निशा से सामना हुआ। मेषपाल तुरल को साथ लेकर वह मृगम्मदा की खोज में निकलने ही वाली थी। उसने सूचना दी कि महापणिक उसके कक्ष में बैठे प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'महापणिक ?—उन्हीं के वहाँ से तो लौट कर आई थी !—कब से प्रतीक्षा कर रहे हैं ?—स्वस्थ तो हैं न ?—कुछ कह रहे थे ?'

उत्तर की अपेक्षा किए बिना वह अपने कक्ष की ओर बढ़ी। द्वार से ही देखा कि वृबु उसके पर्यंक पर आँखें मूँदे लेटा पड़ा है। शायद निद्रामग्न हो गया है इसलिए उसके प्रवेश की आहट से भी सजग नहीं हो सका। अस्वस्थ तो वह है ही—श्येन के साथ मल्ल-युद्ध के बाद आज प्रथम बार बाहर आया है। आज का कार्यक्रम ही शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूप में कम क्लान्तिकर नहीं था। मृगम्मदा ने संकेत से ही

कुमुन्निशा को उष्ण दुग्ध तैयार करने के लिए कहा, और जब वह चली गई तो निकट आकर बृबु के चेहरे को ध्यान से देखा। दीपक सामने नहीं है। उसने दीपाधार से उसे उठा लिया और चेहरे के पास लाकर देखने लगी, लौ को भी उसने कुछ उकसा लिया। पलकों पर जब प्रकाश की परत बिछ गई तो वे चमक कर खुल गईं। एक बार और भींच कर बृबु ने पुतलियों को संयत किया और हड़वड़ाकर वह उठ बैठा, 'कौन मृगम्मदा ?—कहाँ चली गई थी भई ?'

'मैंने तुम्हें जगा दिया।—लेटे रहो न ! बड़े क्लान्त लग रहे हो।' पुनः दीपक को यथा-स्थान रखते हुए बोली, 'यों ही कुछ खुली हवा के लिए घाट पर चली गई थी प्रमोद-उद्यान से सीधे ही।—इसी अन्तराल में क्या कुछ नई वात हो गई ?—बाहर निकलने योग्य अभी स्वस्थ कहाँ हुए हो ?'

बृबु ने मुस्कराने की चेष्टा की और कहा, 'वाहर निकलने योग्य हुआ हूँ या नहीं, इसकी परीक्षा भी तो किसी-न-किसी दिन करनी ही थी। रही वात किसी नए घटना-क्रम की, उसका भी अभाव नहीं है। समय बड़े वेग से भाग रहा है, उसे किसी के स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य की परवाह है ? पर उसके लिए भी नहीं। मैं आया हूँ मृगम्मदा, अपने लिए, तुम्हारे लिए। चाहता था कि कार्यक्रम के बाद तुम्हें वहीं रोक लूँगा, किन्तु तुम्हारे मनोभावों को देखकर सबके सामने तुम्हें रोकने का साहस नहीं कर सका, और तुम भी तो कहने का कुछ अवसर दिए बिना ही सबके साथ खिसक आईं !'

'मुझे कैसे मालूम होता कि तुम्हें मुझसे कुछ प्रयोजन है ?' और मन ही मन वह मुस्कराई !'

'मुझे तुमसे कब प्रयोजन नहीं था मृगी ?—जाने दो, तुम इसे विवाद का विषय समझ सकती हो, मैं नहीं।—और, देर ही से सही, अव निर्भ्रान्ति हो गया हूँ मृगम्मदा, कि तुम्हारे अभाव में मैं रह नहीं सकता।' और बृबु ने उसकी ओर अपना हाथ वढ़ा दिया।

बढ़ाए हुए हाथ को पकड़ने की कोई इच्छा प्रकट न कर मृगम्मदा कुछ पास अवश्य आ गई और बोली, 'मेरा अभाव कहाँ है ?—मैं हूँ तो। छूकर ही देखना चाहते हो ? कुछ रुको। कुमुद तुम्हारे लिए उष्ण दूध लिए आ रही है।'

'यही देखो न। बिना कहे केवल देख कर यह कौन समझ सकता था कि मुझे उष्ण दूध की आवश्यकता है ?'

द्वार पर कुमुन्निशा के आने की आहट पाकर उसका हाथ आप ही नीचे आ गिरा। मृगम्मदा कह रही थी, 'महापणिक को देखने वालों की क्या कमी है ?' और उसने, पास आ खड़ी हुई कुमुद के हाथ से दूध का पात्र ले लिया। फिर पात्र को बृबु के मुँह के पास ले जाकर कहा,

'पी लोगे या यह भी अपने हाथ से पिलाऊँ ?'

दृष्टि हटा कर वृबु ने कुमुन्निशा की ओर देखा, वह दाँतों से ओठ दबाकर अपनी मुस्कराहट रोक रही थी। वृबु की दृष्टि से दृष्टि मिलते ही वह उल्टे पैरों बाहर निकल आने का उपक्रम करने लगी, तो मृगम्मदा ने पुकार कर कहा, 'अरे, भागती क्यों है पगली ? महापणिक हैं तो क्या हुआ ?—देखती नहीं ? अभी बच्चे ही हैं। दूध पिलाने वाला कोई न हो तो क्या किया जाए ?—तू पिलाएगी ?—जानती है, अगली पूर्णचन्द्र की रात्रि को तेरा अभिषेक हो रहा है।'

मृगम्मदा के अन्तिम मन्तव्य को कुमुन्निशा समझी नहीं। आँखें फाड़ कर वह मृगम्मदा की ओर देखती रही। वृबु ने इस बीच मृगम्मदा के हाथ से दूध का पात्र ले लिया था। कुमुन्निशा को लक्ष्य कर स्वयम् वृबु ने ही समझाया, 'मुझे खेद है भगवती मेरे अस्वास्थ्य के कारण गई पूर्णिमा को आपका अभिनन्दन स्थगित करना पड़ा। अगली पूर्णिमा को वह आयोजन अवश्य सम्पन्न होगा। मैं अब किसी को मेरे अस्वास्थ्य का लाभ नहीं उठाने दूँगा।' और वह कुछ मुस्करा दिया।

'आप पूर्णतः स्वस्थ हो उठें, यही मेरा सर्वोत्तम अभिनन्दन है महापणिक ! मुझे इससे बढ़कर और क्या चाहिए ?' और श्रद्धा के साथ वृबु को झुक कर प्रणाम करती हुई वह बाहर निकल गई।

मृगम्मदा ने कोने में रखी एक आसन्दी खींच ली और वृबु के सामने बैठ कर बोली, 'जब तक गरम है, दूध पीलो। कुछ ताजगी अनुभव कर सकोगे।—अब रात को घर लौटने की आवश्यकता नहीं है। चाहो तो उष्ण-स्नान की व्यवस्था करवा दूँ ?'

'नहीं मृगे ! स्नान आज नहीं। रात को भी ठहर नहीं सकूँगा। मेरा घर पर विद्यमान रहना आवश्यक है। न जाने कब कौनसी सूचना आ जाए ?

'क्या मतलब ?—तुम कह तो रहे थे, इस बीच कुछ नई घटना घट चुकी है ?' मृगम्मदा ने पूछा।

'वह सबकुछ सुना कर तुम्हें ही क्यों परेशान करूँ ?—स्वयम् ही परेशान, कहूँ कि किंकर्तव्य-विमूढ़ ही हो गया हूँ।—और जाने को था ही कहाँ ?—इसीलिए अनजाने ही इधर आ गया—'

'सो तो देख ही रही हूँ।' और उसने आसन्दी और पर्यंक के पास खींच ली, 'छिपाने की न हो, और केवल परेशानी ही की बात हो तो चिन्ता मत करो। मुझसे कहो। चिन्ता यदि दुर्योण के सम्बन्ध में है, तो हम सबको उसे बँटाने का अधिकार है, किन्तु यदि तुम्हारी स्वयम् की भी हो—नहीं जानती, उसे बँटाने का अधिकार है या नहीं, पात्रता भी तो होनी चाहिए न ?—तब भी कहने मात्र से भी मन भारहीन तो होता है।'

बृबु कुछ क्षणों तक एकटक मृगम्मदा की ओर देखता रहा, मृगम्मदा की आँखों में केवल जानने की उत्सुकता ही नहीं, बँटाने की अभीप्सा भी स्पष्ट हैं, तो वह बोला, 'तुम्हारे सिवा अपना कहने को मेरा यहाँ है ही कौन ? इसीलिए तो सोचा था कि अपने-आपको तुम्हें सौंप कर कुछ तो निश्चिन्त हो सकूँगा। किन्तु आवर्जना समझ कर ही तो उस भार को तुमने अस्वीकार किया होगा !'

मृगम्मदा उठ खड़ी हुई और बृबु के सिर पर हाथ रखते हुए बोली, 'उसे तुम अभी नहीं समझोगे बृबु ! समय आने दो।—भार ही कहते हो, तो एक भार तो अनिच्छा होते हुए भी वहन कर ही रही हूँ तुम्हारा। अस्वीकार किया है तो अधिकार का ही अस्वीकार किया है, दायित्व का नहीं।—जाने दो इन बातों को, इन्हें सुलझाने को बहुत समय मिलेगा। तुम बताओ, नई घटना क्या घटी है ?' और वह उसके पास ही बैठ गई। सिर को सहलाता हुआ हाथ उसके कन्धे पर आ रहा।

बृबु ने एक लम्बी साँस ली और कहा, 'प्रमोद-उद्यान की सभा-विसर्जन के कुछ ही क्षणों बाद आप सबके चले जाने के बाद ही एक चर ने सूचना दी है कि शतद्रु के तट पर एक बसती का आर्यों ने अकारण अग्निदाह कर दिया और वहाँ के शस्याढ्य-उर्वर खेतों को नष्ट कर अन्न-गाय-स्वर्णादि के भांडार के अतिरिक्त उनके अश्व भी वे लूट ले गए हैं। महानायक को मार्ग से ही बुलवा कर इलिवश के नेतृत्व में शीघ्र एक गुल्म वहाँ भेजने की व्यवस्था अवश्य कर दी है।'

मृगम्मदा ने आश्चर्य से पूछा, 'अश्व ?—अश्व थे उनके पास ?'

'सुना है, वहाँ का नायक पिठीनस कुछ अश्वों की व्यवस्था करने में सफल हो गया था ! अश्व-संग्रह का हमारा प्रयत्न नया तो नहीं है न !' बृबु ने समाधान प्रस्तुत किया।

'इसका मतलब है कि उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गए हैं।' और फिर कुछ रुक कर मानों अपने आप ही से बोली, 'और चूँकि प्रारम्भ वे करते हैं, इसलिए स्थान, अवसर और समय चुनने का लाभ वे उठाते हैं। जब तक कि हम सावधान हों, तब तक तो उनका उद्देश्य सम्पन्न हो चुका होता है, वे विजयी हो चुके होते हैं। स्मशान या खँडहरों को पुनः हस्तगत करने में क्या सार्थकता है बृबु ?'

बृबु ने एक लम्बी साँस ली और कहा, 'यही तो दुविधा है।—वे युद्ध कहाँ करते हैं ? वे तो नृशंस डकैत हैं, लुटेरे हैं। शान्त, निरीह, निरपराध बसतियों को अकस्मात् अग्निसात कर देते हैं। शस्य, गौ, स्वर्ण आदि ही नहीं, सुना है, अब तो वे स्त्रियों का भी अपहरण करने लग गए हैं।'

मृगम्मदा ने जैसे व्यंग्य से कहा, 'और इधर हम अहिंसा का आश्रय लेकर अपने अश्मन्मयी, जिह्मवार, वृकद्वरस नगर-परकोटे के भीतर का-पुरुषों की तरह उनके आक्र-

मण की प्रतीक्षा करते रहते हैं।—दूध पियो बृबु, ठंडा हो जाएगा। तुम यही तो पी सकते हो! शत्रु के उष्ण रक्त को पीने का साहस और उत्साह मृगराज को ही हो सकता है! कुमुन्निशा के अभिषेक की बात क्यों दबा गए तुम? मैं अत्याचार और उत्पीड़न को प्रोत्साहन देने वाली इस अहिंसा के अभिनय से ऊब चुकी हूँ। मुझे चली जाने दो यहाँ से!' और वह पर्यक पर बृबु से कुछ दूर सरक आई।

विना ओठों से छुआए बृबु ने दूध का पात्र नीचे फर्श पर रख दिया और शान्त किन्तु वेदना-विन्हल स्वर में बोला, 'यही तो मूढ़ता है मन की! शरीर से उतना नहीं, जितना मैं मन से अवस्थ होता जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम मृगराज-दुहिता हो किन्तु तुम भी तो मुझे छोड़ कर—'

'मृगराज नहीं बृबु, मैं मृगपति की दुहिता हूँ। और कहूँ?—श्रमणराज बृबु मुझे अपनी दयिता बनाने के लिए व्यग्र हैं'। और व्यंग्य से वह मुस्करा उठी।

बृबु ने सुन भर लिया, फिर एक लम्बी साँस ली और कहा, 'क्या करूँ, संस्कार तो मेरे श्रमणों ने ही निर्मित किए हैं। समझ भी नहीं पाता, श्रम की इस सहज श्रमण-संस्कृति में अहिंसा की यह आत्यन्तिक भावना कब और कैसे आ मिली और उसमें घुल-मिल गई? इन आर्यों ने सचमुच मेरे विश्वास को डगमगा दिया है। किसी को कष्ट मत दो, यह विधायक-तत्त्व, तो अवश्य अहिंसा की कसौटी होना चाहिए, किन्तु यदि कोई किसी को कष्ट पहुँचाए, तो उसका निषेधक-तत्त्व, विवर्जक तत्त्व क्या हो? सचमुच इन आर्यों ने अहिंसा की कसौटी को अपर्याप्त प्रमाणित कर दिया है!'

मृगम्मदा उठ खड़ी हुई और सतेज स्वर में बोली, 'यही तो मैं कहती हूँ। यही तो महानायक शुष्ण और महादेवी सेलकेत कहती हैं। आर्यों के निकट तुम्हारी यह अहिंसा तुम्हारा क्लैव्य है! छेड़े जाने की प्रतीक्षा में गुंजल्क में अपना फण छिपाए सोया हुआ सर्पराज, यदि तब उठे जब उसका फण कुचल दिया जाए, तो उसके दंश की, उसके शौर्य की क्या सार्थकता है?'

सिर झुकाए बृबु ने कहा, 'तुम ठीक कहती हो मृगम्मदे!—मार्ग तो है, पर मैं ही नहीं खोज पा रहा हूँ।—महाश्रेष्ठि अर्बुद को तुम जानती ही हो—'

'उसकी चिन्ता क्यों करते हो?—वह वृद्ध है—'

'पर लोभी है, उसने नगर के सारे साधन अपने नियन्त्रण में कर रखे हैं।'

'तुम महापणिक हो। यदि वह तुम्हारी अवहेलना करे तो तुम उसे मार्ग से हटा सकते हो पदमुक्त करके, अनिवार्य हो तो जीवन-मुक्त करके।'

'मृगम्मदा!—महाश्रेष्ठि अर्बुद दुर्योण के एक प्रतिष्ठित नागरिक हैं।'

'चौंक उठे?—क्या उनकी प्रतिष्ठा का मूल्य दुर्योण की प्रतिष्ठा से चुकाया जाएगा?'

'पर यह क्या अधर्म नहीं होगा मृगम्मदा ?'

'अधर्म ?—इस निषेधक-तत्त्व को लेकर क्यों चलते हो ?—चलना ही है कुछ लेकर, तो यह लेकर क्यों नहीं चलते कि धर्म क्या है ? और तब प्रश्न है कि धर्म का यह बन्धन मानव के साथ ही क्यों लगा है ?—सृष्टि के और किसी जीवधारी के साथ तो नहीं ?'

'मनुष्य सोच सकता है, उसमें बुद्धि है, इसलिए। केवल अपनी सहजात-प्रवृत्तियों से शासित-नियंत्रित होने वाले प्राणियों के सम्मुख एक ही विकल्प, एक ही सम्भावना, एक ही मार्ग है। मनुष्य सोच सकता है, बुद्धि ने उसके सामने विपुल सम्भावनाएं खोल रखी हैं।—किन्तु इस तरह तो तुम अहिंसा को भी निषेधक-तत्त्व कह दोगी ?'

'यह प्रश्न तो तब पैदा होता है वृबु, जब धर्म-अधर्म और हिंसा-अहिंसा का द्वन्द्व प्रस्तुत किया जाता है। अपने-आप में ये कोई निरपेक्ष-मूल्य कैसे हो सकते हैं ? सम्भावनाएं विपुल हों, तो बुद्धि को चुनाव का अवसर देना क्या अधर्म हो जाएगा ? किसी को कष्ट मत दो, यदि यह धर्म है, तो किसी के कष्ट का निवारण या अपवर्जन कैसे अधर्म हो सकता है ?—सेवा, करुणा और दया से पीड़ाएँ केवल कम की जा सकती हैं, वे पीड़ा के कारण को वर्जित नहीं करतीं।—सत्य, दम, अस्तेय, अहिंसा, क्षमा, तितिक्षा, दया आदि अक्रिय-धर्मों के उपदेश तो तुम्हें किसी भी मुंडक से कौड़ियों के मूल्य मिल जाएँगे। इनके लिए कुछ करना दूर, हाथ-पैर तक नहीं हिलाने पड़ते। मनुष्यता का अभिषेक कुछ नहीं करने के लिए नहीं, उसका अभिषेक हुआ है कुछ करने के लिए, !—कुछ ही क्यों ? बहुत-कुछ करने के लिए। और बुद्धि की पराकाष्ठा केवल सृजन में ही नहीं, संहार में भी अपूर्व लीला रचती है। यदि संहार न हो तो नव-निर्माण की आवश्यकता ही क्या है ? मृत्यु न हो, तो जन्म को कोई पूछेगा ही, क्यों ?—मूल्य की, धर्म की सत्ता एकान्तक नहीं, वह द्वन्द्व में ही पाई जाती है भाई !'

—और फिर एक क्षण रुक कर बोली 'मुझे क्षमा करदो, आवेश में मैं बहुत थक गई हूँ। यह तो भूल ही गई कि तुम स्वयम् अशेष बुद्धिशाली हो, और यह सारी शिक्षा मुझे मिली तो तुम्हीं से है।' सहसा उसे वृबु का ध्यान हो आया था, जो स्वयम् स्तम्भित होकर निर्निमेष मृगम्मदा की ओर आँखें फाड़े ताक रहा था।

'तुम बहुत ठीक कह रही हो मृगम्मदे !' वृबु ने अपने में लौट आकर कहा, 'मेरे मार्ग की गहरी धुन्ध व्यंग्य के ऐसे ही प्रखर-क्रूर किरण-प्रहारों से कटेगी। बुद्धि के इस आयाम की मैंने कभी प्रतीति नहीं की। मैं कर्म-बन्धन से मुक्ति को ही मानव-जीवन का प्रमाण मान बैठा था।'

'कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त तो ये जड़ पदार्थ हैं, जितने जड़, उतने ही अक्षुण्ण।—न उनमें मृत्यु हमें दिखाई देती है, न जन्म। इसीलिए कर्म-बन्धन भी नहीं हैं उनमें। तुमने ही तो श्रमणों में एक अक्रियावादी सम्प्रदाय की चर्चा की थी न ? चैतन्य होते

हुए भी क्या वे जड़ नहीं हैं, निरे पदार्थ ?—परिरमण की बात हो, तो वह तो नद-नदी-वृक्ष ही में नहीं, पहाड़ों में भी होता है।—कर्म तो प्राणि मात्र का धर्म है बृबु, यदि वह कर्म नहीं करेगा, तो ही अधर्म है। प्राणियों में भी मानव को कर्म के लिए केवल इन्द्रियाँ ही नहीं मिलीं, इन पर शासन करने के लिए बुद्धि भी मिली है, जिससे उसे अपने आस-पास के स्थान का ही नहीं, आगे-पीछे के समय का भी ज्ञान संचित होता रहता है। यह ज्ञान और विवेक ही उसके कर्मों का दिशा-निर्देश कर सकते हैं, हिंसा-अहिंसा या धर्म-अधर्म के पूर्वाग्रह नहीं।—बन्धन से डरते हो ?—तो छोड़ो अपने लिए कर्म-फल की वासना ! फिर तुम्हें कौन बाँधने वाला है ?—अपने लिए नहीं बृबु, अपने देश के लिए, हमारे आश्रय में हमारी क्षमता के विश्वास पर जो शान्तिकामी, निरपराध-प्रजा, बिना किसी के स्वत्वापहरण की इच्छा लिए स्वयम् अपने श्रम के उपार्जन पर, हमसे जीवित रहने का अधिकार माँगती है, उनके अभय के लिए मैं तुमसे कहती हूँ।—ये दुर्वृत्त आर्य या महा-श्रेष्ठि अर्बुद ही क्यों, यदि मैं भी तुम्हारे उद्देश्य में बाधक प्रतीत होऊँ, तो निर्मम होकर मुझे भी काट फेंको। धर्म-अधर्म का विचार सामान्य बुद्धि नहीं कर सकती। धर्म का कहीं सीधा-सधा पक्का राजमार्ग मार्ग नहीं है। उसे प्रत्येक बार स्थान और समय देख कर निश्चित करना पड़ता है। हिंसा-अहिंसा को प्रमाण मान कर कभी कर्मण्य नहीं हुआ जा सकता, वह केवल जड़ता का ही लक्षण है। उससे ऊपर उठो।—एक चिकित्सक अपने ही विषाक्त दाहिने हाथ की ममता नहीं कर सकता। वह उसे काट फेंकता है। तुम स्वयं एक कृतविद्य चिकित्सक रह चुके हो।—यह मत भूलो बृबु, कि सत्ता के इन प्रासादों में इतिहास-पुरुष और पूजा के मन्दिरों में भगवान विचरण करते हैं, सामान्य व्यक्ति नहीं।' फिर सहसा उठ कर बोली, 'ठंडा हो गया होगा, मैं दूध गरम करवा लाती हूँ।' और उसने फर्श पर से पात्र उठा लिया।

बृबु ने हाथ पकड़ कर उसे रोक लिया तथा पुनः अपने पास बैठाते हुए बोला, 'बैठो मृगम्मदा, दूध की अब तुमने आवश्यकता ही कहाँ रखी है ?—यह जो कठोर-कषैला-तिक्त क्वाथ तुमने मेरे गले में उढ़ेल दिया है, उससे मेरी शिराएँ, उपशिराएँ तक भभक उठी हैं। शत्रु का न हो चाहे, जैसे मैं अपना ही रक्त पीने लग गया हूँ।—राह तो तुम मुझे दिखा रही हो मायाविनी, किन्तु मँझधार तक ले आकर हाथ क्यों छोड़े दे रही हो ? मैंने क्या अपराध किया है तुम्हारा ?—डूब जाने का मुझे भय नहीं है, किन्तु अकेला मैं ही तो नहीं हूँ। इन सबको, जिन्होंने मुझे अविचल-विश्वास दिया है, अभय कैसे दूँ ?—अपने निज के लिए नहीं, इस दुर्योण के लिए, इन निरपराध समर्पित नाग-रिकों के लिए ही सही, मुझे सहारा दो। अपराध यदि मेरा है, तो उसका दण्ड ये क्यों सहें ? मैं अपने इस घोर सूचीभेद्य अन्धकार में तुम्हारे हाथ की भीख माँग रहा हूँ मृगम्मदा।'

वृबु के स्वर में उत्पन्न कम्प से मृगम्मदा उदासीन नहीं थी, उसने वृबु के हाथ पर अपना हाथ रख दिया। किन्तु अपनी सहजता खोए बिना कहा, 'हाथ ही क्यों, अपना सारा शरीर भी तो दे चुकी हूँ। वरिता न सही, दयिता हूँ, यह तो सभी जानते हैं। यदि चाहते हो कि तुम्हें छोड़ कर कहीं न जाऊँ तो वही हो।—और कुछ ?'

'इस पूर्णिमा को मुझे वरण कर तुम मेरे सूने मन्दिर में प्रतिष्ठित होओ, और मैं तुम्हारे स्थान पर कुमुन्निशा को अभिषिक्त-अभिनन्दित करूँ !'

इस बार मृगम्मदा ने एक दीर्घ निश्वास परित्याग किया और कहा, 'अभी नहीं वृबु ! तुम जानते हो, मेरे उदर में एक उपसर्ग पल रहा है।'

'वह मेरा सौभाग्य है प्रिये, मेरे जन्म-जन्मान्तरों के तप की सिद्धि, मेरी वंश-परम्परा की बेल का अमर-फल !—और कुछ नहीं, तो इसके लिए ही तुम मेरी वरिता बनो मृगम्मदे !'

मृगम्मदा मुस्कराई, 'इसी के लिए न तुम्हें मेरी कामना है ?—वह तुम्हें मिल जाए तो मेरी आवश्यकता नहीं रहेगी न ?'

'क्या कहती हो तुम ?—तुम्हारी आवश्यकता मुझे कब नहीं रहेगी ?—तुम्हारे बिना मैं अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता।'

'एक दिन वही वास्तविकता थी वृबु !—और मृत्यु की कठोर-अनिवार्यता के सम्मुख तो हम सभी परवश हैं, वह किसी भी सम्भव-कल्पना को सहज वास्तविकता बना देती है।—किन्तु मैं उसकी भी बात नहीं कहती। जब वह उपस्थित होगी तब मैं ही क्या, तुम भी क्या कर सकोगे ?—किन्तु तुमने जब अपनी वंश-परम्परा की बात कही है तो मेरी वंश-परम्परा की बात भी तो तनिक सोचो।'

'इसीलिए तो मेरी याचना है कि विधिवत मेरी वरिता बन कर मुझे सौभाग्यशाली वनाओ। तुम्हारी वंश परम्परा मेरी वंश-परम्परा में समाहित होकर समृद्धि पाए।'

'यह सम्भव नहीं है वृबु !—अपना सबकुछ मैंने निस्संकोच तुम्हें दे दिया है, केवल इसीलिए नहीं कि तुमने मेरे प्राण बचाए थे, बल्कि इसलिए भी कि मेरी कामना का और कोई पुरुष हो नहीं सकता था।—पर इससे आगे यदि मैं अपने आपको भी तुम्हें दे दूँ, तो मेरे अस्तित्व की सार्थकता ही क्या रहेगी ?—मान्स-मज्जा-वसा की यह चर्म-थैली ही चाहते हो, तो वह तो तुम्हारी हो ही चुकी है। अपनी न रह कर तो मैं तुम्हारे ऊपर भी एक भार ही बनी रहूँगी न ?'

'अन्तर्मन से, आत्मा से क्या तुम किसी दूसरे की हो ?' रोष नहीं, उसके स्वर में वेदना थी।

मृगम्मदा ने भी सहज ही मुस्करा कर कहा, 'दूसरे की हो पाती, तो तुम्हीं कौन दूर हो ?—अन्तर्मन से अन्य किसी की नहीं वृबु, मैं अपनी ही हूँ और समग्र चैतन्य के साथ सदा अपनी ही बनी रहना चाहती हूँ। हम सभी तो अन्तर्मन से अपने लिए ही

हैं। अन्तर है तो केवल यही कि कुछ इस तथ्य को समझते हैं और अनेक नहीं। तुम्हीं अपने में लौट कर देखो न !'

'वहीं तो घोर अन्धकार देख रहा हूँ, इसीलिए तो तुम्हारे वरद-हस्त की कामना है।'

वृबु का हाथ मृगम्मदा के हाथ में था, उसे कस कर दबाते हुए मृगम्मदा बोली, 'और तब भी यदि न देख पाओ, तो यह हस्त वरद कैसे होगा ?'

'इसलिए, कि नहीं देख पाता तब भी विश्वास है कि यह हाथ मुझे ठीक पथ पर ले जा रहा है !'

'तो फिर संशय क्यों करते हो ?—वरिता न सही, दयिता तो हूँ ही। और सहन ही नहीं, वहन भी कर रही हूँ। विवाह में और अधिक क्या पा लोगे ?'

'अपने प्राप्य का अधिकार, जो तुम्हारे जठर में अंकुरित हो रहा है !'

'वह मेरे जीवन की गाँठ है वृबु !—उसे मैं नहीं रक्खूँगी।—तुम्हें दोनों में से किसी एक को चुनना होगा।'

'किसी एक को ?—मैं तुम्हें, तुम्हारे समग्र रूप में चुनता हूँ।'

'नहीं, यदि समग्र से तुम्हारा तात्पर्य मेरा गर्भ भी हो।—वह मेरा श्रेय नहीं है—प्रेय भी नहीं। मुझे उससे मुक्ति पाना है।'

'पर क्यों ?'

'उर्वशियाँ अपने व्यक्तित्व में किसी बाधा को सहन नहीं करतीं।'

'यह तुम्हारी बाधा कहाँ है, कैसे है ?'

'इसका प्रमाण तो आज ही मिल गया था। स्मरण है न, अपने प्रमोद-उद्यान में तुमने मुझे नृत्य से रोकने की चेष्टा की थी।'

'वह तो तुम्हारे ही हित के लिए थी मृगी।'

'इतनी भोली मैं नहीं हूँ वृबु।—मेरे हित के लिए नहीं, वह थी तुम्हारी वंश-बेलि के भावी फल की हित-रक्षा के लिए—और यह तो अभी प्रारम्भ ही है।'

कुछ क्षण चुप रह कर वृबु ने पूछा, 'इस गर्भ को लेकर तुम क्या करना चाहती हो तब ?'

'जो अनिवार्य है उसे तो स्वीकार करना ही पड़ा है, किन्तु मैं अपने व्यक्तित्व को इससे सीमित या बाधित नहीं होने दूँगी। शाख पर पक कर ही यदि फल को गिरना हुआ, तो मैं अपनी परम्परा के अनुसार अपने शरीर से निक्षिप्त पुरीष की भाँति ही निर्मम होकर उसे सिन्धु में प्रवाहित कर दूँगी। जलचर या नभचर उसे न स्वीकार करें, तो किसी श्रमण की करुणा का आश्रय पाकर वह एक वातरशना मुनि हो सकता है ! पर इस नियति से तो अच्छा है कि वह ऋष्य-पिंड शीघ्र ही ऋष्ट हो जाए, नष्ट हो जाए। वातरशना होकर भी कुछ तो कर्म-बन्धन में फँसना पड़ता है न !'

मृगम्मदा के निष्कम्प स्वर की सहजता से आश्चर्य-चकित होकर वृबु ने कहा, 'मृगम्मदा, तुम मेरी दयिता हो, और यह गर्भ मेरा है !'

मृगम्मदा हँस पड़ी, हाथ छुड़ा कर उसने कहा, 'किन्तु वरिता नहीं हूँ। मुझ पर, मेरे गर्भ पर मेरा अक्षुण्ण अधिकार है। दयिता होकर मैंने यह अधिकार नहीं खोया है, वरिता होकर भी मैं इसे कदापि नहीं खोऊँगी।—क्या इसीलिए तुम मुझे अपनी वरिता बनाना चाहते हो ?'

व्यथित होकर वृबु ने कहा, 'मुझे गलत क्यों समझ रही हो मृगम्मदा ?—मैं तुम्हारे किसी अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। तुम स्वयम् इतनी तेजस्विनी हो कि कोई चाह कर भी यह साहस नहीं कर सकता।—तुम मेरी परीक्षा क्यों ले रही हो ?'

'यह परीक्षा तुम्हारी नहीं, मेरी है वृबु ! उर्वशियाँ तो पुरुषों में उलझती ही नहीं हैं। उलझती हैं तो पितृ-सत्ता को नहीं, मातृ-सत्ता ही को पोषित करती हैं। मैं तो तुममें उलझ ही नहीं, रम भी गई हूँ। इसीलिए तो कहती हूँ, तुम मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो। मेरी और परीक्षा न लो। अपने पैरों पर अब मैं और नहीं लड़खड़ाना चाहती !'

वृबु भी कई क्षणों तक गम्भीर उदासी में खोया रहा।—कैसा विचित्र भाग्य है उसका भी ?—आज ही यह सम्वाद पाकर कि वह भी पितृत्व का गौरव पाने जा रहा है, कैसी प्रसन्नता में फूल गया था ? अस्वास्थ्य से मुक्ति क्या, वह तो नया जन्म ही था ! यहाँ जो कुछ घड़ियों पहले वह भागा आया है, क्या मन की उन्हीं उमंगों पर तैर कर नहीं आया था ?—और अव ?—क्या एक दिन का सुख भी नहीं है उसके भाग्य में ?—कातर तो वही नहीं है, मृगम्मदा भी है।—कहाँ से जानेगी बेचारी, कि माँ होना क्या होता है ?—पर माताएँ तो उसके देश में भी होती ही हैं, वरना वह स्वयम् ही आज कहाँ होती ?—उसने साहस एकत्र कर कहा, 'किन्तु मृगम्मदा, यदि तुम्हारी माँ भी तुम्हारी ही तरह निर्णय कर बैठती तो ?'

मृगम्मदा ने तुरन्त उत्तर दिया, 'तो मुझे आज यह अपमान नहीं सहन करना पड़ता। और तुम नहीं जानते, मेरी माता ने मुझसे पहले एक पुत्र भी प्रसव किया था। यदि मेरे स्वनामधन्य पिता उस समय ही मेरी माता को रोक देते, तो उन्हें पुत्री नहीं, पुत्र का सम्वल रहा होता। और मैं ?' वह हँसी, 'यदि जन्म लेने को ही आतुर थी, तो मुझे किसी अन्य कोंख की खोज करनी पड़ती !'

'मैं समझा नहीं मृगम्मदा।'

'तभी तक अच्छा है वृबु !—मेरी माँ ने मेरे अग्रज के साथ वही किया, जो मैं अपने भावी गर्भ के लिए निश्चित कर रही हूँ। नया मैं कुछ नहीं कर रही हूँ।—मेरे पिता ने तव पुत्र को नहीं, माँ को चुना था। माँ फिर गर्भवती हुई, पर इस बार पिता ने माँ

को नहीं, मुझे चुना और स्वाभिमानिनी माँ हम दोनों को सदा के लिए छोड़ कर कहीं चली गई।'

'चली गईं ?—क्या सम्भव नहीं कि अब भी वे जीवित हों ?'

'उस प्रलयंकर बाढ़ में कौन बच रहा है ?—बल्कि, आज तो सोचती हूँ, वह उसके पहले ही मर-खप गई होगी।'

'ऐसा क्यों सोच रही हो ?'

'ऐसा आज ही सोच पा रही हूँ बृबु !—अब तक तो जिसे कभी देखा ही स्मरण नहीं पड़ता, उसके बारे में सोचना ही क्या था ?—किन्तु आज ? उसी व्यूह में तो मैं भी आ फँसी हूँ। कितनी मनोव्यथा को पार कर मेरी माँ मेरे पिता को छोड़ सकी होगी ?—जिसे कभी नहीं जाना उस अदृष्ट को लेकर मेरे मन में कोई दुविधा नहीं है, किन्तु जो दृष्ट है, अपने स्वप्न-राज्य में मूर्त पा कर जिस पर अपना सर्वस्व निछावर कर सुखी हुई हूँ, उस प्राणों के प्राण से बिछुड़ कर कब तक जीवित रहा जा सकता है ?—' मृगम्मदा और अपने आपको रोक न सकी, हाथ छुड़ा कर वह उठ खड़ी हुई कि बाहर निकल जाए।

बृबु ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा, 'मुझे क्षमा करो मृगम्मदा ! मुझे मार्ग मिल गया। मैं तुम्हें चुनता हूँ। यह गर्भ तुम्हारा है, तुम चाहे जो करो इसका, मैं बाधा नहीं दूँगा।—किन्तु कह चुकी हो तुम, यह शरीर तुमने मुझे समर्पित कर दिया है। इस गर्भ को लेकर अपने शरीर के साथ तुम ऐसा कुछ नहीं करोगी जिससे इसे क्षति पहुँचने की सम्भावना हो।—मैं सोचता हूँ, तुमसे इतना-सा आश्वासन पाने का तो मुझे अधिकार है !'

मुड़ कर मृगमम्दा ने आँखें फाड़े बृबु की ओर देखा। तराइयों से भरी आँखों में सामने का दीपक प्रतिभासित हो उठा था। पर यह प्रकाश दीपक का नहीं, भीतर के विस्मय, श्रद्धा, आसक्ति, प्रगाढ़ प्रेम—किसका नहीं है ?—रोरुद्यमान स्वर में वह बोली, 'यह क्या चुना तुमने बृबु ? इतना मोह मेरे लिए ?—मर कर भी तुम्हें छोड़ना मेरे लिए शायद सहज न हो, पर तुम्हारे लिए यह हाड़-माँस का शरीर कहाँ रहेगा कि तुम्हें सहारा दे ?' और पलट कर वह फर्श पर बृबु के लटकते पैरों के पास बैठ गई और उसने अपना सिर बृबु की गोद में रख दिया।

उसके सिर के घने बालों में अपनी अँगुलियाँ चलाते हुए बृबु ने कहा, 'शरीर से तो मैं भी नहीं रहूँगा एक दिन प्रिये !—तब तो शरीर की सीमाएं अतिक्रमण कर एक दूसरे में समाए हुए हम एक होकर रह सकेंगे न ?—और आश्वस्त होओ मृगी, इस दयिता-वरिता का आग्रह भी मुझे नहीं रहा।—कौन किसका दयित या वरित है ?—हम अपने में सर्वथा मुक्त रह कर ही तो बँध सकते हैं।—यह आँसू तुम जैसी वीरांगना की शोभा नहीं देते। अब उठो, मुझे रथ तक पहुँचा दो।'

'नहीं। इतनी रात हुई, अब कहाँ जाओगे ?—और ठहरो, मैं तुम्हारे लिए दूध गरम कर लाती हूँ।—बल्कि गरम करने की भी आवश्यकता क्या है ?—मैं मेष का धारोष्ण दूध लिए आती हूँ, वह तुम्हारे स्कन्ध के अस्थि-व्रण के लिए भी लाभदायक होगा।'

'उसकी अब आवश्यकता नहीं है मृगी।'

'तुम्हारी क्या आवश्यकता है यह तुम नहीं, मैं जानती हूँ।' और वह पात्र हाथ में लेकर उठ खड़ी हुई।

'मुझे घर लौटने दो भई ! न मालूम कोई महत्त्वपूर्ण समाचार प्रतीक्षारत हो !'

'महत्वपूर्ण समाचार मैं दूँगी, उसे लेकर तुम रात भर व्यस्त रह सकते हो। पहले दूध पी लो।' बूबु सतृष्ण नेत्रों से मृगम्मदा की ओर देखता ही रहा, और वह बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए बाहर निकल आई। कक्ष में बूबु अकेला रह गया।

एक गहरा निश्वास लेकर बूबु ने अपने चारों ओर देखा। सम्पूर्ण कक्ष में न होकर भी जैसे मृगम्मदा का प्रश्वास ही छाया हुआ है।—कक्ष ही में क्यों, उसका समस्त अन्तर भी तो उसी से भरा हुआ है !—क्या करे बेचारी ? संस्कारों से यदि वह स्वयम् इतना परवश है, तो मृगम्मदा ही कैसे अपवाद हो ?—मृगम्मदा या सन्तान, कैसा कठोर विकल्प है ? लोग विवाह करते हैं, गृहस्थि बसाते हैं, सन्तान के लिए ही तो ! प्रकृति का उद्देश्य ही है प्रजोत्पत्ति ! आर्यों ने तो पितृ-ऋण कह कर इसका परिशोध अनिवार्य कर दिया है। यही नहीं, पुं-नाम नरक की भीति तक प्रस्तुत कर दी है, यदि पुत्र नहीं हुआ तो प्रेत-योनि से पिंड-दान द्वारा कौन मुक्ति देगा तुम्हें ?—और यदि पुत्र न होकर पुत्री हुई ?—अलक्ष्य में ही बूबु के अधर खिल गए। एक और नन्ही-सी मृगम्मदा उसकी आँखों के सामने होगी। नर्क का भय क्या, वह तो उसके लिए प्रत्यक्ष दुहरा स्वर्ग होगा !—अभी भी तो आठ-नौ माह शेष हैं !—मृगम्मदा ही का विचार बदल जाए, क्या यह सम्भव नहीं है ?—राह उसने स्वयं अपना उदाहरण देकर प्रस्तुत कर दी है। विचार न बदले और इस शिशु को नष्ट ही कर दे वह, तब भी दूसरा शिशु क्यों बहुत दूर हो ?—चुनाव में दुविधा कहाँ है ? खंड स्वर्ण की तुल्यता में कौन स्वर्ण-खानि का ही परित्याग करेगा ?—स्वर्णांड या स्वर्ण-कुक्कुटी !—किन्तु यदि कुक्कुटी ही स्वयम् अंडों को खाती चली जाए, तो क्या प्रयोजन रहा कुक्कुटी का ? यही तो मृगम्मदा स्वीकार करना नहीं चाहती, और न चाहे तो इसमें उसका दोष कहाँ है ? स्त्री कुक्कुटी नहीं है, वह स्थूल-जड़ स्वर्ण-खानि भी नहीं है। वह इन सबसे ऊपर मनुष्य है, और मनुष्यता का सहज अधिकार ही तो मृगम्मदा माँग रही है। किसी का क्या साहस जो उसे इस प्रकृत अधिकार से वंचित करे ?

वह विचारों में खोया ही था कि मृगम्मदा दूध का पात्र लिए लौट आई। पास बैठ कर दूध का पात्र बूबु के मुँह की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा, 'बड़ी निष्ठुर हूँ, यहीं

सोच रहे हो न ?—वह स्त्री ही हो सकती है वृबु ! उसे सहना भी क्या कम पड़ता है ? यदि सहज नम्य हो और टूटे भी नहीं, तो निष्ठुर तो उसे होना ही पड़ता है ।—लो, मैं ही पिला देती हूँ । धारोष्ण है ।'

'अभी दुह कर लाई हो ?—मेषपाल मिल गया इतनी रात गए ?'

'केवल दुहने के लिए उसे क्यों कष्ट देती ?—दिन भर ही तो बेचारा व्यस्त रहता है ।'

'कृतज्ञता जता कर तुम्हें छोटा नहीं करूँगा प्रिये । इतनी आत्मीयता देकर कभी छोड़ मत जाना, यही प्रार्थना करता हूँ भाई ।' और उसने सहज ही सारा दूध पी लिया । मृगम्मदा ने पात्र पर्यंक के नीचे ही खिसका दिया ।

सहज होकर पर्यंक पर बैठते हुए, बल्कि लेटते-से हुए वृबु ने पूछा, 'क्या महत्वपूर्ण समाचार देना चाहती हो मृगे ?—मैं अब स्वस्थ हूँ ।'

'समाचार तो केवल एक ही है । अपने प्रमोद-उद्यान में सन्ध्या को यदि तुमने लक्ष्य किया होता तो मुझे कहना भी नहीं पड़ता, किन्तु तुम तो तब नृत्य के कारण मेरी चिन्ता में ही खो रहे थे न ?' और वह मुस्कराई ।

'तुम अपना मन्तव्य स्पष्ट करो ।'

'मुझे लगता है कि हरयूपिया को सहायता भेजने की तुम्हारी योजना महाश्रेष्ठि ने सूँघ ली है ।'

'यह कैसे ?'

'तुमने लक्ष्य नहीं किया, मेरे नृत्य के कार्यक्रम में आज महाश्रेष्ठि भी विद्यमान थे, विद्यमान ही नहीं थे, बड़ा रस ले रहे प्रतीत हो रहे थे ।'

'अच्छा ?—मैंने लक्ष्य नहीं किया । मैं तो शुष्ण के साथ मन्त्रणा में व्यस्त था न !—नृत्य के समय अर्बुद वहाँ बना रहा ?—नृत्य का नाम सुन कर ही उसे तो ज्वर हो उठता है, यही समझ कर तो तुमने वह आयोजन किया था !—मैंने तो तुम्हें इससे विरत करने की चेष्टा भी की थी ।'

'उसे शायद सन्देह हो गया हो कि उस समय ऐसी कोई मन्त्रणा की जा सकती है ! वह क्या कम घाघ है ? महानायक और तुम जब पास बैठे, तभी उसे सन्देह हो गया होगा, तभी तो सूँघने के लिए ही वह जहाँ बैठा था वहाँ से हट कर ठीक तुम्हारे पीछे आ बैठा था । मुझसे तो छिप नहीं सकता था न ?—नृत्य में स्पष्ट ही रस भी वह ले रहा था, किन्तु तब भी सुध-बुध उसने खोई नहीं थी, आँखें उसकी मेरी ओर थीं, पर कान तुम्हारी मन्त्रणा में लगे हुए थे ।'

'यदि उसने, जैसा कि तुम सोचती हो, इलिवश को हरयूपिया भेजने की योजना सूँघ ली है, तो शायद इसमें परिवर्तन करना आवश्यक हो जाए । शुष्ण से परामर्श करना होगा !'

'समझ नहीं पड़ता, मुख्यतया हरयूपिया से उन्हें ऐसी क्या चिढ़ है ?'

'मैं जानता हूँ। चायमान के आक्रमण को मैंने ठीक समय पर पहुँच कर विफल कर दिया था न ! पहले वहाँ महाश्रेष्ठि की तूती बजती थी, आर्थिक साम्राज्य ही नहीं, उनका आर्थिक जाल भी फैला हुआ था। चुमुरि को जो हमने वहाँ सुष्प की सहायतार्थ नियुक्त कर रखा है, वह भी उन्हें सहनीय नहीं है। चुमुरि उनके प्रभाव का व्यक्ति नहीं है। मुझे तो सन्देह होता है, उस समय महादेवी अंजसी को प्रेरित कर विश्पला को वहाँ भेजना, फिर उसकी रक्षा के बहाने मुझे वहाँ भिजवाना, महाश्रेष्ठि की ही किसी बड़ी योजना का अंग थी। भगवती कुलिशा के माध्यम से महापणिक के अन्तःपुर में उनका प्रवेश ही नहीं, प्रभाव भी था ही। क्या तुम समझती हो, मेरी अनुपस्थिति में दुर्योण पर आर्यों का वह आक्रमण आकस्मिक था ? हरयूपिया में चायमान को मैं परास्त कर यदि ठीक समय यहाँ नहीं पहुँच पाता तो,—पिप्रु तो तब भी बचाया नहीं जा सका, पर कौन कह सकता है, और क्या-क्या नहीं हो जाता ?'

'इस सारे कपट को तुम समझते थे ?'

'समझता था, किन्तु तब तो मैं दूसरों के आदेश पर ही कार्य करने के लिए बाध्य था, और फिर वह घर की फूट ही तो थी, जो घटने के स्थान पर प्रकट हो कर बढ़ती ही।'

'किन्तु घटने के स्थान पर तो वह बढ़ी ही है। तुम समझते क्यों नहीं बृबु ?'

'समझता हूँ मृगम्मदा, सब समझता हूँ। किन्तु हिंसा और रक्तपात से मुझे सदा घृणा रही है, वह रहेगी भी। अब भी मैं इन्हें, धर्म दूर रहा, मनुष्य की प्रकृति भी नहीं मानता। किन्तु देखता हूँ, उसके अन्तर में पैठा हुआ पशु अब भी उतना ही सजग है, जागृत है। इस पाशवता से मनुष्यता को कभी मुक्ति मिलेगी या नहीं, कह नहीं सकता, किन्तु प्रयत्न तो हमें करते ही रहना होगा न !—तुम कहती हो, यदि फल की चिन्ता न की जाए तो शायद इसी प्रयत्न का नाम मनुष्यता है।'

मृगम्मदा ने कहा, 'और इसीलिए अपने आपमें कर्म किसी अलक्ष्य-फल का साधन नहीं, सिद्धि है, वह स्वयम् अपना फल है !—तुम कहते हो आर्यों ने पिठीनस की वसती को आग लगा कर लूट लिया है, तो हरयूपिया को सहायता पहुँचाने के लिए अमावस्या तक क्यों प्रतीक्षा की जाए ?'

'अर्थात् तुम्हें आशंका है कि विजय-मदान्ध आर्य अब किसी भी समय हरयूपिया पर आक्रमण कर सकते हैं ? किन्तु सुष्प की सहायतार्थ चुमुरि वहाँ है। भय की ऐसी कोई बात नहीं है मृगम्मदा।'

'भय की बात हमारे लिए नहीं है इसका कोई महत्व नहीं है बृबु ! महत्व इसका है कि भय की बात आर्यों के लिए हो !'

'अपना मन्तव्य स्पष्ट करो मृगम्मदा ।'

'दभीति के नेतृत्व में तुमने जिस गुल्म को भेजा है, वह अब उन दग्ध-भग्न खँड़हरों का उद्धार करके क्या पालेगा ? वह शक्ति का व्यर्थ अपव्यय है !—अब अधिक विलम्ब न करके इलिवश का गुल्म हरयूपिया की ओर प्रस्थान कर दे, और राह में दभीति के गुल्म को साथ लेकर हरयूपिया से आगे बढ़ जाए । अपनी विजय के मद में सुदास सिन्धु के पश्चिम देशों को विजय करने के लिए जा चुका है । यदि आवश्यकता समझे, तो इलिवश हरयूपिया से चुमुरि को भी साथ ले ले, और इस तरह अपनी सम्बलित पूरी शक्ति के साथ सुदास के उत्तर पांचाल पर आक्रमण कर दे । आर्यों को भी अनुभव तो हो, कि उन्हें आतंकित करने वाला भी कोई है !'

'महाश्रेष्ठि इसे स्वीकार करेंगे ?'

'यदि इलिवश को हरयूपिया भेजने की योजना में तुमने उनकी स्वीकृति की आशा और अपेक्षा नहीं की, तो इसमें कैसे और क्यों करोगे ?'

बृबु ने कुछ सोच कर कहा, 'कह सकती हो, वह निर्णय आपात-कालीन था । और तब भी, क्या यह उनके प्रति अविश्वास नहीं है ?'

'इतिहास के प्रति अविश्वास के सामने उसका कोई मूल्य नहीं है बृबु ! मैं तो चाहती हूँ, कि इधर जब इलिवश के आक्रमण की सूचना पाकर सुदास कुछ दिग्भ्रमित हो, तभी तुम या महानायक पश्चिम में पूरी शक्ति के साथ सुदास पर आक्रमण कर दो । सिन्धुनद को पार कर उसका सैन्य लौट सके, उसके पूर्व सिन्धु का जल उनके रक्त से तृप्त हो जाए । आर्य फिर कभी इस ओर आँख उठा कर देखने का साहस नहीं कर सकेंगे । उन्हें समुचित शिक्षा तभी मिलेगी ।'

'इतने बड़े नर-संहार की योजना पर तुम्हें झिझक नहीं होती मृगम्मदा ?' बृबु ने पूछा ।

'हमारे यहाँ तो यह योजना ही है बृबु, किन्तु दाशराज्ञ-युद्ध में उन्होंने इससे भी बहुत नृशंस और व्यापक संहार का उद्यापन किया है । यह भूलने से काम नहीं चलेगा बृबु, कि जब कोई अंग विषाक्त हो जाए और दूसरी औषधि सफल न हो, तो इसके पहले कि विष दूसरे अंगों में फैले, उसे निर्मम होकर काट फेंकना होता है । यदि तुम इसके उद्योक्ता नहीं होना चाहते, तो तुम्हें इसका भोक्ता बनना होगा । यह नियति अनिवार्य है बृबु ।'

'ऐसे दूरगामी गम्भीर निर्णय को सब स्वीकार करेंगे ?'

'यह आपात-काल है बृबु ! मैं कहती हूँ तुम शीघ्र एक आपातकालीन युद्ध-परिषद की स्थापना करो, जिसके केवल दो सदस्य हों, तुम और महानायक शुष्ण, जो परिस्थिति के अनुसार तत्काल निर्णय लेकर आवश्यक कार्यवाही करे । तुम कल ही सदस्यों को

एकत्र करो। उन्हें विस्तार में योजनाएँ बताने की आवश्यकता नहीं है। केवल रात्रि में घटित पिठीनस पर आक्रमण का सन्दर्भ प्रस्तुत कर ऐसी अधिकार-सम्पन्न परिषद की आवश्यकता बताई जाए। मैं कहती हूँ, महाश्रेष्ठि को छोड़ कर कोई इस योजना का विरोध नहीं करेगा। यदि हम कौशल के साथ अपनी योजना का कोई आभास न होने दें, तो बहुत सम्भव है, महाश्रेष्ठि भी विरोध न करें। कूटनीति उनका विषय नहीं है!'

'तुम्हें भी उस परिषद में रहना होगा मृगम्मदे!'

बृबु के सिर में हाथ सहलाते हुए मुस्करा कर मृगम्मदा ने कहा, 'तुममें समाई हुई नहीं हूँ क्या? वैसे मैं अपने लिए एक अलग ही भूमिका सोच रही हूँ। तुम्हें मुझको छुट्टी देना होगी।'

'छुट्टी देना होगी तुमको?' और वह आवेश और आकुलता में कुहनियों के बल उठंग गया तथा मृगम्मदा की आँखों में अपनी आँखें गड़ा दीं। मुस्कराती हुई मृगम्मदा सिरहाने कुछ और पास सरक आई, ताकि बृबु का सिर ठीक उसकी जंघाओं के नीचे आ जाए। फिर थामे हुए सिर को जंघाओं का उपधान देकर उसने कहा, 'सदा के लिए नहीं भाई, इस आपात-काल में जब कोई भी अहिंसा को कुछ समय के लिए भी भूलने को तैयार नहीं है, तो दुर्योण के लिए मैं ही कछ करना चाहती हूँ।'

'मेरा उपहास ही तो?'

'उपहास नहीं बृबु, तुम्हें कुछ उपहार देना चाहती हूँ। तुमने अवश्य सुना होगा कि इस दाशराज्ञ-युद्ध में सुदास के कुल-पुरोहित वसिष्ठ ने आगे रहकर न केवल शास्त्र-ज्ञान से, बल्कि शस्त्र-ज्ञान से भी उसका नेतृत्व किया है। मैं उससे मिलना चाहती हूँ।'

'उससे मिलोगी?—यदि सहज भी हो जाए, तो क्या करोगी उससे मिल कर?—यह सम्भव नहीं है कि वह हमारे दल में मिल जाए! जानती हो?—वह देवराज इन्द्र के अन्यतम सखा वरुण और मित्र का पुत्र है, और इन्द्र की प्रेरणा से ही उसने सुदास का पौरोहित्य स्वीकार किया है! कितनी धन-सम्पत्ति मिली है उसको इस युद्ध में? इन्द्र से अधिक देने को हमारे पास क्या है?'

'तुम्हारे होते हुए वह हमारे दल में मिले, इसका प्रयोजन ही क्या है?—इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए कि सुदास से वह फट जाए, ताकि दिशाहारा सुदास को सहज ही पदस्थ किया जा सके।'

बृबु ने प्यार से मृगम्मदा का हाथ अपने वक्ष पर टिका लिया और मुस्करा कर कहा, 'वह आर्य-रक्त का गौरव है मृगी! आर्य-गणों के स्वामी देवराज उस पर अत्यन्त प्रीत हैं। और कुछ नहीं तो भी वह युगन्धर वसिष्ठ अपने आर्य-रक्त को कैसे भुला देगा?'

'शायद तुम नहीं जानते, जन्मा हो वह चाहे वरुण या मित्र, किसी के औरस से,

किन्तु वह मांस-खंड है एक उर्वशी के गर्भ का। हो आर्य-रक्त का गौरव, किन्तु रक्त की अपेक्षा मान्स अधिक गाढ़ा होता है बृबु !—स्मरण है ? यह वही उर्वशी है, जिसका तुम्हारे उर पहुँचने से बहुत पहले इन दोनों शठों ने अपहरण कर लिया था, और जो उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात् उसे अपनी दासी बनाए हुए हैं।

'हाँ, हाँ। तुमने ऐसा कुछ कहा भी था ! किन्तु मैंने तो सुना है इस वसिष्ठ ने अपनी ही बहन अरुन्धती से विवाह किया है ! क्या तुम्हारे देश में भी यह प्रथा प्रचलित थी ? मैं तो समझता था कि यह प्रथा कवल सेलकेत के देश मिस्र ही में प्रचलित है !'

मृगम्मदा ने हँस कर कहा, 'यह वर्बर आर्यो की भी प्रथा है। तुम्हें मालूम नहीं ?—देवराज-जैसा क्रूर और प्रतापी उनका एक और नेता है यम ! उसने भी अपनी बहन यमी की काम-याचना स्वीकार कर उससे विवाह किया है ! काम-याचना के उस संवाद को उनके ऋषि बड़ा रस लेकर गाते हैं।—यौथ-परिवारों की बात छोड़ दी जाए तो हमारे यहाँ अभिजात-परिवारों में एक से अधिक सन्तान रहने ही नहीं दी जाती थी। ऐसे परिवार प्रायः ही निस्सन्तान समाप्त हो जाते रहे हैं। कह नहीं सकती, इस प्रलय-विध्वंस के बाद अब वहाँ क्या मूल्य विकसित हो रहें हैं—मूल्यों के विकास के लिए कोई समाज भी वहाँ है या नहीं।' और एकाएक उसकी दृष्टि न जाने कहाँ खो गई।

विषय बदल कर बृबु ने पूछा, 'पर उस पुरोहित से तुम मिलोगी कैसे ?'

'इलिवश के साथ ही मैं चली जाना चाहती हूँ। महानायक या तुम सुदास पर आक्रमण करो उससे पहले ही यह प्रेष सम्पन्न हो जाना चाहिए।'

'इलिवश के साथ ?—प्रतिरक्षा की बात दूसरी है मृगम्मदा, किन्तु बाहर के आक्रमण पर मैं किसी महिला को कदापि नहीं भेजना चाहूँगा।'

मृगम्मदा ने सहज ही कहा, 'महिलाओं को घर में ही रहने दो महापणिक, मैं पुरुष बन कर जाऊँगी।'

'पुरुष बन कर ?'

'हाँ।' और वह मुस्करा दी, 'पुरुष बन कर अर्थात पुरुष-वेश में। मेरा उद्देश्य विग्रह नहीं, जिसे तुम प्रशासन की भाषा में कहते हो सन्धि-विग्राहक, मेरा उद्देश्य यही होगा और मेरी भूमिका !'

'पुरुष-वेश और तुम ?' बृबु भी मुस्कराया, तुम्हारी क्षीण-कटि, उन्नत-उरोज, पीन-श्रोणि—'

उत्तर में मृगम्मदा भी मुस्कराई; 'यह गर्भ सब कुछ तो समतल करता जा रहा है।—ठीक स्थान पर पहुँच कर मैं क्या करूँगी, जानते हो ? इलिवश की सहायता से,

या तो सम्मुख-युद्ध हो, या चौर्य हो, एक आर्य-योद्धा का युद्ध-वेश और उसका एक अश्व जुटाया जाएगा, सम्पूर्ण वेश, शिरस्त्राण और वर्म भी। उस वेश में अपने आपको कस कर तब मिलेगा आर्यश्रेष्ठ कुलगुरु वसिष्ठ से हिरण्यपुर, असुरपुर या बाबुल का एक युवा अश्वारोही मृगकुमार।—समझे ?'

'देखना चाहता हूँ, उस रूप में तुम लगोगी कैसी ?'

'युद्ध-वेश का वह उपस्कर जुट जाने दो। लौट आकर उसी रूप में तुम्हारी अभ्यर्थना करूँगी।'

वृबु ने आँखें बन्द कर लीं। मन ही मन सोचा, वेश-परिवर्तन के छल की विडम्बना क्यों ले रही हो मृगम्मदा ?—जन्म क्यों नहीं लेने देती अपनी कोंख से उस मृगकुमार को ? वह तो दोनों के जीवन का अनायास ही नयनोत्सव हो जाएगा !

वृबु की आँखें बन्द देखकर मृगम्मदा ने कहा, 'नींद आ रही है ? सोओगे न ?'

'नहीं, वैसी कोई बात नहीं है। सोच रहा था, तुम्हारे, उस आपात-कालीन युद्ध-परिषद के निर्माण की बात। और यदि तुम इस तरह युद्धभूमि में जाने को उद्यत हो तो शुष्ण-प्रिया सेलकेत क्या चुप बैठेगी ?'

'उसे तुम अपनी युद्ध-परिषद में ले लो न ! स्त्रियों का प्रतिनिधित्व भी तो होना चाहिए। वह तो शुद्ध विग्रह के लिए तैयार बैठी है !—देखना, यदि सुदास पर आक्रमण के लिए तुमने महानायक को नहीं नियुक्त किया तो वह इलिवश के साथ का यह अवसर ही नहीं छोड़ेगी।'

'और जैसा कि तुम चाहती हो, यदि मैं भी सुदास के पीछे लग जाऊँ तो यहाँ हमारे बाद दुर्योण की रक्षा कौन करेगा ?'

मृगम्मदा ने मुस्करा कर कहा, 'महाश्रेष्ठि तो रहेंगे न।—उनको भी अपनी शक्ति का प्रत्यय तो हो जाने दो।—और फिर रक्षा किससे ? आर्यों को तो अपनी ही रक्षा की पड़ी होगी न। वैसे कर्म-शालाओं के अधिकारी दृमीक को तो यहाँ बना ही रहना होगा।—लो, बहुत हुआ। अब सोओ। इस तरह तो सारा जीवन ही बातों में बिताया जा सकता है। कन्धे के नीचे ये दो तकिए रख लो। निश्चिन्त सोओ, सवेरे उठने की कोई जल्दी नहीं है।' और उसने मुँह को आगे बढ़ा कर दीपक को बुझा दिया।

१९

असिक्नी के उत्तर में वितस्ता के भी पार उत्तर-पांचाल में आर्यों के प्रतापी राजा सुदास का राज्यत्व है। उस पर देवराज इन्द्र की इस समय बड़ी कृपा है। उन्हीं के प्रभाव से सुदास को आर्यावर्त के उदीयमान युवा-ऋषि वसिष्ठ का पौरोहित्य सुलभ हुआ है, जिनकी सूझबूझ और सक्रिय-सहायता के वल पर सुदास ने गत युद्ध में दस राजाओं की सम्मिलित-शक्ति को परास्त किया था। इस समय वह सिन्धु के पश्चिमी देशों को जय करने के अभियान में गया हुआ है। आचार्य वसिष्ठ वस्तुतः युयुत्सु प्रवृत्ति के नहीं हैं। उनकी वृत्ति तो मनन-चिन्तन, काव्य-दर्शन आदि सूक्ष्म विषयों में ही रमण करती है। समाज में बड़े उत्साह के साथ उनकी ऋचाओं का साम-गान किया जाता है। सुदास की इस पश्चिम की विजय-यात्रा के वे यदि विरोध में न थे, तो पक्ष में भी नहीं थे। प्रारम्भ में तो दाशराज-युद्ध भी सुदास की विजयाकांक्षा का कारण नहीं था, वस्तुतः उसे वह युद्ध आत्म-रक्षा के लिए लड़ना पड़ा था। स्वयम् आर्यों में भीतर ही भीतर परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, लोभ आदि के कारण बड़ी अशान्ति थी। सुदास के पिता अतिथिग्व दिवोदास ने अपने राज्यकाल में अपने पड़ोसी तुर्वंश-वंश के किशोर राजा सुश्रवस को परास्त किया था। दिवोदास की मृत्यु हो जाने पर उसी तुर्वंश-वंश के पाँचों भाइयों ने मिल-कर सुदास पर आक्रमण कर दिया था। इन पाँच भाइयों की एक माता,ययाति की पत्नी, अनार्य-कन्या थी, शायद इसीलिए पश्चिम के अनार्य-कुलों की भी उन्हें सहा-यता प्राप्त हुई थी। स्पष्ट ही उस समय सुदास का पक्ष न्याय का पक्ष था। किन्तु अव, अन्याय के पक्ष पर विजय पा लेने के बाद, पश्चिम के छोटे-छोटे अनार्य-गणों पर आक्रमण करने का न तो कोई औचित्य है और न गौरव ही। वसिष्ठ इसीलिए सुदास के इस अभियान से अलग ही हैं। राज्य-मद और लोभ में गहरी मित्रता है, वसिष्ठ यह मानते हैं और इन प्रपंचों से यथासाध्य अलग रह कर अपनी काव्य-साधना तथा ऋचाओं के दर्शन में ही समय बिताना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।

वसती से दूर वितस्ता के दक्षिणी-तट पर एक विस्तृत-भूमिखंड पर सब सुख-सुविधाओं से भरा पूरा उनका आत्मनिर्भर आश्रम बना हुआ है। एक ओर हरित-तृणभूमि में उनके गोष्ठ में एक सहस्र हृष्ट-पुष्ट गौएँ उनकी समृद्धि का प्रतीक हैं। उनके गोष्ठ में श्रेष्ठतम गौएँ हैं, गौओं में युवा ऋषि वसिष्ठ की आसक्ति की

भी सीमा नहीं है। कई शिष्यों और अन्तेवासियों की सुलभता के बावजूद कतिपय विशिष्ट गौओं की परिचर्या वे स्वयम् करते हैं। कामधेनु, कपिला, नन्दिनी, कई प्यार के नाम उन्होंने अपनी गौओं को दे रखे हैं। एक-एक से उनका दूध ही का नहीं, मानों रक्त का नाता है। जो उन्हें बचपन से जानते हैं, वे इसमें अस्वाभाविक कुछ नहीं पाते। वसिष्ठ को अपनी माँ की कुछ भी स्मृति नहीं है। वसिष्ठ के बाद एक कन्या अरुन्धति को जन्म देकर प्रसव में ही वे काल-कवलित हो गई थीं। वसिष्ठ ने अवश्य अपनी जननी का दूध पिया होगा, किन्तु उसकी असमय मृत्यु के बाद उनकी बहन का तो प्रारम्भ से ही और तब से उनका भी, सारा जीवन गाय के दूध पर पल्लवित-पुष्पित हुआ है। वे गाय को ही अपनी माता मानते हैं और उतनी ही प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति के साथ उसकी सेवा और पूजा करते हैं। उनके आश्रम में गो-वध दूर, अनावश्यक कोई भी हिंसा सहन नहीं की जाती। माँ के अभाव में अपनी अनुजा बहन अरुन्धति का लालन-पालन उन्हें ही करना पड़ा है, अतः वह अनायास ही वसिष्ठ के अन्यतम स्नेह और आसक्ति की भाजन हो गई थी। अवश्य ही दो-दो प्रतापी नर-रत्न उनके पिता हैं, किन्तु देवराज की सेवा से उन्हें अवकाश ही कहाँ मिलता था? सेवकों का अभाव नहीं था, किन्तु उनसे तो सेवा ही ली जा सकती है, स्नेह तो नहीं! पहले तो दायित्व-बोध, फिर आसक्ति, और आगे बढ़कर गहरा स्नेह, दोनों एक दूसरे से क्षणभर भी अलग नहीं रह सकते थे। गुरु-गृह में दोनों की शिक्षा भी साथ ही सम्पन्न हुई और जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश का समय आया तो दोनों ने गुरुजनों का आशीर्वाद लेकर, एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए एक ही आश्रम में प्रवेश किया। शस्त्र और शास्त्र-ज्ञान में आचार्य वसिष्ठ ने कीर्तिमान स्थापित किया ही था, शीघ्र ही अन्तेवासियों का समूह चारों ओर से उनसे शिक्षा प्राप्त करने के लिए खिंच कर आने लगा। यश, समृद्धि और सफलता भी उनके चरण चूमने लगीं। इस दाशराज-युद्ध में सुदास की विजय के साथ वसिष्ठ की आर्यों के श्रेष्ठतम व्यक्तियों में गणना होने लग गई है।

रात तो घने बादल छाए हुए थे और सम्भावना थी कि प्रातःकाल होते-होते परसों जैसी ही घनघोर वृष्टि हो जाएगी। किन्तु प्रभात होते-होते आकाश निरभ्र हो गया। आकाश के निरभ्र हो जाने से आश्रम के प्रातःकृत्य भी जल्दी ही सम्पन्न हो गए थे। आचार्य के सन्ध्या-वन्दनादि कार्य तो सूर्योदय के पहले ही निष्पन्न हो जाते हैं। श्रेणियों में बँटे हुए शिष्य अलग-अलग कार्यों में जुटे हुए हैं। उधर आश्रम-सीमान्त के निपान्त में सुश्रूषु-छात्रों ने गौओं के परिचालन का भार अपने ऊपर ले रखा है। उधर ही नदी-तट से हटकर माणव-छात्र अपने अध्याय

की समाप्ति पर गौ-वत्सों के साथ खेल भी रहे हैं और इसी बहाने उनकी देखभाल भी कर रहे हैं। महानाम्नी वरिष्ठ छात्रों के ऊपर पश्चिम के उपान्त की केदार और सीत्य कृषि-भूमि का दायित्व है। किन्तु ये गृहकार्य उनकी सम्यक् शिक्षा-सत्रों के बाद अवकाश के क्षणों के हैं। सभी छात्रों का समवेत-उपवेशन प्रातःकाल ब्रह्म विद्या, पूर्व-मध्यान्ह में वेद शिक्षा और सन्ध्योपरान्त समाज-शिक्षा, तीन सत्रों में सम्पन्न होता है। आचार्य के अतिरिक्त आश्रम में कुछ और उपाध्याय हैं। प्रारंभिक माणव-छात्रों की शिक्षा का दायित्व तो स्वयम् आचार्य-पत्नी अरुन्धति ने ले रखा है। समवेत शिक्षा-उपनिषदों के अतिरिक्त शस्त्र-ज्ञान की शिक्षा भी स्वयं आचार्य देते हैं। एक अल्पकालीन शस्त्र-शिक्षा-सत्र प्रातःकाल ब्रह्म-शिक्षा-उपवेशन के साथ ही होता है, जिसमें सभी छात्र सम्मिलित होते हैं, किन्तु शस्त्र-शिक्षा के दो विशिष्ट-सत्र केवल इच्छुक छात्रों के लिए ही होते हैं, जो पूर्व-मध्याह्न में वेद-सत्र के पूर्व और सायाह्न में गोधूलि के पहले समाप्त हो जाते हैं। शिष्य अपनी अवस्था एवं बोध के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बँटे हुए हैं। ऋचाओं के अध्येता महानाम्नी-छात्रों का शिक्षण स्वयम् आचार्य लेते हैं। छात्रों की संख्यावृद्धि को ध्यान में रखकर अब आचार्य कुछ और अध्यापकों की खोज में हैं। जिस समय जो छात्र-वृन्द अध्ययन में व्यस्त नहीं होता वह आश्रम के कार्यों में जुट जाता है। गृहकार्य तथा आश्रम-व्यवस्था की अधिष्ठात्री देवी स्वयम् आचार्य-पत्नी अरुन्धति है। आश्रम-शिक्षा का एक अपरिहार्य अंग है व्यवहार। अपनी सुचारु व्यवस्था के लिए वसिष्ठाश्रम दिन-प्रतिदिन प्रसिद्ध होता जा रहा है।

महानाम्नी-शिष्यों की उपनिषद् समाप्त हो ही रही थी कि एक सुश्रूषु छात्र अग्नीध्र ने आचार्य-पद के सम्मुख उपनीत होकर प्रणाम किया तथा सूचना दी कि आश्रम-द्वार पर आचार्य के मातृकुल से आगत एक अश्वारोही आचार्य के दर्शन की प्रतीक्षा कर रहा है।

मातृकुल ?—अपने मातृकुल का पता स्वयम् आचार्य को नहीं है। केवल सुना ही है, कि वह उत्तर-पश्चिम उत्तुङ्ग पर्वत-श्रेणियों के पार उफ्रातु-सागर-संगम के तट पर कहीं था। मातृपद की स्मृति दे ही कौन, जब कि यह पहली बार सुन रहे हैं कि उस कुल में कोई है। माँ के जीवन की इधर-उधर से जो कथा उन्होंने इस बीच सुनी है, वह बड़ी करुणा और वेदना जगाती है। कहते हैं अपने अप्रतिम सौन्दर्य और अथक सेवा-निष्ठा के बावजूद पितृपद से वह हतभागिनी गृहिणी का सम्मान नहीं प्राप्त कर सकी—पितृपद कहते हैं कि उस कुल की कन्याएँ निर्मम होकर अपनी सन्तान को नष्ट कर देती हैं। इस सत्य की प्रतीति उन्होंने नहीं की, किन्तु पति का अविचार पत्नी को कैसी निर्ममता से नष्ट कर देता है, इसका

प्रमाण तो माँ छोड़ ही गई है। आचार्य वसिष्ठ अब आर्य-कुल के पुरोधा हैं! पितृ-पद आर्य-धर्म में प्रभु-पद के तुल्य पूजनीय है, किन्तु विद्रोह चाहे न हो, वेदना तो होती ही है।—उसी मातृकुल से कोई आया है। आचार्य उठे। छात्रों को विसर्जित किया और अग्नीध्र के साथ अतिथि का हार्दिक स्वागत करने के लिए स्वयम् त्वरित पद द्वार की ओर दौड़े आए।

द्वार से कुछ हट कर एक वृक्ष की शाखा से बँधे तृण चरते हुए अपने अश्व के पास योद्धा-वेश में एक सुदर्शन व्यक्ति खड़ा अश्व की पीठ थपथपा रहा था। द्वार पर पहुँचते-पहुँचते वसिष्ठ ने आगन्तुक की वयस का कुछ अनुमान लगाना चाहा, ऊँचाई में इधर आर्य-जाति के पुरुषों की तुलना नहीं है। यह यौधेय-परिवेश भी इधर देखा नहीं गया। आर्यों का नहीं है, किन्तु इधर के अनार्यों का भी नहीं है। सिर पर शिरस्त्राण नहीं है, वह अश्वपीठ पर आसन के साथ लटक रहा है, किन्तु कपर्दिन की तरह केश शीर्ष पर बँधे हुए हैं। काली पट्टी से उन्हें और भी संयत किया गया है शायद। दृढ़कवच में छिपे वक्ष की पुष्टता उसके शौर्य की व्यंजना करती है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

आचार्य ने आगन्तुक का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा, 'आर्यवीर, इस आश्रम में मैं मैत्रावरुण वसिष्ठ आपका स्वागत करता हूँ। आप बाहर क्यों खड़े हैं? यदि मेरे शिष्य ने आपको भीतर पधारने का अनुरोध न किया हो, तो उसके गुरु के रूप में उसकी दुर्विनय और दुश्शील का अपराध मैं अपने सिर लेता हूँ और क्षमा-याचना के साथ आपसे भीतर पधारने का निवेदन करता हूँ।'

अपने अश्व से ध्यान हटाकर आगन्तुक ने प्रसन्न-मुद्रा से द्वार की ओर दृष्टि मोड़ी। वसिष्ठ के आकर्षक व्यक्तित्व और विनय से मन ही मन प्रमुदित-प्रभावित होकर उसने कहा, 'नहीं आचार्य! तुम्हारे शिष्य ने कोई दुर्विनय या अभद्रता नहीं की। किसी अपरिचित के प्रति कुछ सावधानी तो स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है। क्षमा चाहने जैसी कोई बात उसमें नहीं है।'

और जब आगन्तुक द्वार की ओर बढ़ा तो वसिष्ठ ने लक्ष्य किया कि आगन्तुक की अंगाकृति न तो आर्यों की है और न ही अनार्यों की। यौधेय-परिवेश के बावजूद मुख-मंडल पर काठिन्य की अपेक्षा सौष्ठव ही का प्राचुर्य देख पड़ता है—सौष्ठव तो उसके पिता वरुण के मुख-मंडल पर भी कम नहीं है, किन्तु यह कमनीयता वहाँ अवश्य नहीं है। हाथ में भी अंगुस्त्राण पहने हुए है। उम्र के बारे में तो कुछ अनुमान किया ही नहीं जा सकता। चेहरे के भोलेपन का प्रश्न हो तो वह वसिष्ठ से कम उम्र ही होना चाहिए, किन्तु चाल में तो प्रौढ़त्व है ही। मातृकुल का हो, तो क्या उर-देश की रणसज्जा इतनी उन्नत है?—आर्यों में इसका प्रचलन

करना चाहिए। किन्तु अपने इन आभ्यन्तर भावों को मन ही मन दुहराते हुए भी प्रकट में वह कह रहा था, 'अपरिचित ही तो अतिथि-देव होता है भगवन ! फिर आपने तो मेरे मातृकुल से सम्बन्धित होने का परिचय भी दिया है, मातुल कह कर या मातृष्वस्रेय कह कर पुकारूँ, निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। किन्तु आप आत्मीय तो हैं ही, इस नाते इस आश्रम पर आपका पूरा अधिकार है। पधारें और इसे पवित्र करें।'

'स्वस्ति आयुष्मान् ! वयस में, कदाचित मैं तुमसे ज्येष्ठ ही हूँ, किन्तु आचार्य-पद तो वयस से नहीं, ज्ञान ही से अभिहित होता है और सबके लिए समान-भाव से पूज्य है। तुमने मुझे आत्मीय मान लिया है, तुम्हें जो प्रीत हो उसी भाव से पुकारो वसिष्ठ ! यों, मातुल के लिए भागिनेय से वयःज्येष्ठ होना आवश्यक तो नहीं है।' और आगन्तुक के अधर-पल्लवों में कमल-दल का हास खिल उठा।

दुर्निवार आकर्षण से ग्रस्त वसिष्ठ ने झुक कर आगन्तुक के चरणों का स्पर्श करना चाहा, किन्तु आगन्तुक ने बीच ही में उसे रोक कर अपने हृदय से लगा लिया और कहा, 'जैसी ख्याति सुनी थी तुम्हारे शील और विद्या-विनय की, उससे कहीं बढ़ कर पाया है आयुष्मान् ! आर्या अरुन्धति और तुम प्रसन्न और स्वस्थ तो हो न ?'

'अरुन्धति आपके दर्शन कर कृतकृत्य होगी आर्य मातुल। आश्रम में चलें।' फिर अपने शिष्य की ओर सम्मुखीन होकर वसिष्ठ ने कहा, 'अग्नीध्र, तुरन्त जाकर आर्या भगवती को सूचित करो, आर्य मातुल के लिए अर्घ्य और मधुपर्क प्रस्तुत करें।—और सुनो, उधर से किसी अपने सहपाठी को भेजो, वह आर्य के अश्व को भीतर ले आकर'—

आगन्तुक ने रोक कर कहा, 'नहीं आयुष्मान्, अश्व को वहीं कसा रहने दो। मुझे शीघ्र ही लौट जाना है। एक आवश्यक-प्रेष पर इधर से जा रहा था सोचा इतना निकट आ गया हूँ तो ख्याति प्राप्त अपने भागिनेय से भी मिलता चलूँ।' अग्नीध्र जब आचार्य का सन्देश लेकर चला गया तो आगन्तुक ने कहा, 'अवश्य मैं तुम्हारी दिवंगता माता का सहोदर भाई नहीं हूँ, किन्तु हूँ तुम्हारी माता के भृगुकुल का ही वंशज'—

'किन्तु मातुल, मुझे तो कहा गया है कि मेरी माता भृगुकुल की उर्वशी थी ?'

'देश-विदेश की यात्रा से व्यक्तियों ही के नहीं, शब्दों के रूप भी घिस-मँज जाते हैं न !—मेरा नाम मृगांक है। गई प्रलयंकरी बाढ़ में अपने वंश का कुछ नहीं बचा ! मैं किसी तरह सिन्धु-तट के पणिकों के एक पोत से वहाँ से निकल

भागने में सफल हो गया था, वरना मेरी भी जल-समाधि निश्चित थी। मुझे यही खेद है वसिष्ठ, कि जब इन बर्बर आर्यों ने तुम्हारी माता के सौन्दर्य पर रीझ कर उसका अपहरण किया था, तब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था'—

'आर्य मातुल ! पितृपद के लिए अपशब्द सुन कर मुझे मानसिक कष्ट होता है—आप तो जानते ही हैं, मेरी माता भी जीवित नहीं हैं। जो क्षत अतीत हो गया है अब उसे कुरेदने से मन का सन्ताप ही बढ़ेगा, लाभ कुछ होगा नहीं।—मेरी दुर्विनय क्षमा करें।'

'साधु आयुष्मान् ! तुम्हारी पितृ-भक्ति प्रशंसनीय है। आर्यों और देवराज से जो समृद्धि और सम्मान तुम्हें प्राप्त है, उसके लिए इतने से आत्म-सम्मान का मूल्य अवश्य कोई बहुत बड़ा मूल्य नहीं है। किन्तु अपनी जन्मदात्री माँ की स्मृति तो किसी भी मूल्य की अपेक्षा नहीं करती।—पिता से अपनी माँ के विषय में तुमने कदाचित कुछ न सुना हो, पर उनके बारे में जानने की कुछ उत्सुकता भी तुम्हें कभी नहीं हुई ?'

'अवसर ही कहाँ था और उपाय भी क्या था मातुल ? राजसी और महीयसी परिवारों में परिचारक-परिचारिकाएँ तो नित्य ही बदलते रहते हैं। कुछ बोध होने पर तो गुरु-गृह में ही समय बिताने की व्यवस्था हो गई थी।—जीवन में माँ की उपयोगिता का हमारा बोध केवल शास्त्रीय ही तो है।—अब कुछ-कुछ वैश्विक-अनुभूति का बोध होने लगा है तो सोचता हूँ कि वह प्रतीति भी होती तो मन को शायद कोई नया आयाम मिलता !, आपको तो वात्सल्यसुख की प्रतीति होगी ही ?'

'नहीं आयुष्मान् ! सामान्यतः उर्वशियाँ वात्सल्य को अपना भूषण नहीं मानतीं। अभिजात कुल के उर्वशों के मन का निर्माण अवश्य मानवता का दुग्ध करता है, किन्तु उनके तन का निर्माण सिंहिनी के दुग्ध से होता है— 'वे आचार्य-निवास के सम्मुख पहुँच चुके थे। द्वार पर भगवती अरुन्धति अतिथि के स्वागतार्थ पूजा का उपस्कर लिए प्रतीक्षाकुल खड़ी थी। देख कर मृगांक ने कहा, 'भगवती अरुन्धति ही हैं न ?'

'आये मातुल तुम्हारे कक्ष-द्वार पर उपस्थित है अरु ! आशीर्वाद ग्रहण करो।' वसिष्ठ ने कहा।

अरुन्धति ने आगे बढ़ कर मृगांक का चरण-स्पर्श किया, दोनों हाथों में दीप लेकर उनकी आरती उतारी। एक पीठ पर उन्हें बैठा कर मृगांक के चरण धोए। हाथ धोने के लिए अर्घ प्रस्तुत किया और फिर दोनों हाथ जोड़ कर नत दृष्टि से कहा, 'कृतार्थ हुई आर्य ! भीतर पधारें, आसन प्रस्तुत है। अपना यह

यात्रिक-वेश उतार कर विश्रब्ध-विश्राम करें। मैं मधुपर्क उपस्थित करती हूँ। यदि स्नान-सन्ध्या-वन्दन आदि से निवृत्त होना हो तो वैसा आदेश दें, उसकी व्यवस्था की जाए।'

मृगांक ने खड़े होकर कहा, 'सौभाग्यवती होओ आर्ये! तुम्हारी सजगता, तुम्हारा शील और यह आत्मीयता से भरा व्यवहार तुम्हारे योग्य ही है। मेरे लिए विशेष चिन्ता न करो पुत्री! मैं तो तुम्हारी तरह आर्य नहीं हूँ कि सन्ध्या-वन्दन करूँगा। हाँ, जिनका इष्ट है उनका चिन्तन अवश्य कर लिया है। मैं अधिक ठहर भी नहीं सकूँगा, जिस विशेष प्रयोजन से यहाँ आया हूँ उसे पूरा करके ही मुझे लौट जाना है। यदि मेरा प्रयोजन सफल हुआ और तुम बुलाओगी तो फिर कभी लम्बा अवकाश लेकर आऊँगा।'

मुस्करा कर अरुन्धति ने कहा, 'आर्य मातुल, आपका प्रयोजन जो भी हो, उसकी निष्पत्ति आर्यपुत्र का दायित्व है। आपकी बहू के रूप में मेरा दायित्व तो केवल भवदीय और भगवदीय सेवा है। भोजन किए बिना मैं आपको जाने न दूँगी, यह निश्चित है। और उसके कारण आपको अनुचित विलम्ब न हो, इसका दायित्व मैं सहर्ष लेती हूँ।'

'तुम्हारा मिष्ट-सम्भाषण और मृदुल-स्वभाव किसी को भी अटकाए रखने में समर्थ है बहू! तुम्हारे इन उच्च और भद्र संस्कारों पर मुझे गर्व है, क्योंकि प्रकारान्तर से तुममें उर्वशी का, मेरा ही तो अंश है! तुम निश्चय ही आयुष्मान् वसिष्ठ की कुल-मर्यादा का गौरव प्रमाणित हो सकोगी। मुझे सचमुच बहुत प्रसन्नता होती, यदि तुम्हारे साथ बिताने को मेरे पास इस समय पर्याप्त अवकाश होता। अब यदि तुम सोचती हो कि मैं बिना भोजन किए नहीं जा पाऊँगा, तो तुम्हारी इच्छा ही सही। किंतु बेटी, आतिथ्य की औपचारिकता से नहीं, परिजन की आत्मीयता से ही मुझे सुख मिलेगा!'

'यह कह कर तो आपने मेरे दायित्व को भी मेरा आन्तरिक सुख कर दिया मातुल! मैं धन्यम्मन्य हुई।—आप विश्रब्ध होकर आराम से बैठें।' और अरुन्धति ने बड़े उत्साह से दो-तीन तकिए बटोर कर मृगांक के आसपास रख दिए और वह सुखी-सुखी भीतर कक्ष में चली गई।

अपने सिर के कपर्दक का कौषेय-बन्ध खोलते हुए मृगांक ने कहा, 'भगवती अरुन्धति सचमुच एक रत्न है वसिष्ठ! तुमने उसे जिस मस्तक की शोभा के योग्य गढ़ा है, वह सचमुच तुम्हारा ही उच्च मस्तक हो सकता था।'

'अत्यन्त शैशव से ही हम एक दूसरे के प्राण रहे हैं मातुल! अन्य कोई

उसके साथ कैसा व्यवहार करे, यह मेरे लिए कदापि सह्य न होता। अरु भी कदाचित ऐसा ही अनुभव करती है। जितना घनिष्ट हम परस्पर एक-दूसरे को जानते-समझते हैं, और एक-दूसरे के लिए कर सकते हैं, करते आए हैं, उतना तो और कोई कर नहीं पाता। मैं समझता हूँ, आपके आशीर्वाद से हमारा सुख, यह मिलन-सुख सहज ही आध्यात्मिक गहराई भी पा गया है—अरे मातुल, आपकी यह तरंगायित प्रलम्ब केश-राशि—'

गाँठ खुलते ही मृगांक की केश-राशि लहरा कर पीठ पर बिखर गई थी। मुस्करा कर उसे हाथ में लेते हुए मृगांक ने कहा, 'स्त्रियों जैसी प्रतीत होती है। है न?' उसने अपने आयत-नेत्रों को और भी विस्तार देकर वसिष्ठ की ओर देखा, उनमें एक कौतुक-भरा प्रच्छन्न-हास्य भी छलछला उठा था। मृगांक ने हाथों से अपने अगुंस्त्राण भी निकाल लिए और उच्छ्वल-हास्य से कहा, 'वेश को छोड़ कर देखो न, सब कुछ स्त्रियोचित है! आश्चर्य न करो आयुष्मान्!—मातुल या मातृ-श्वसा, लिंग-भेद के अतिरिक्त और कुछ अन्तर है क्या?—प्रयोजन-सिद्धि के लिए यहाँ तक पहुँच सकूँ, इसलिए वेश का यह छद्म अपनाना पड़ा है वत्स! मैं सचमुच उर्वशी हूँ, उर्वशी मृगम्मदा!—मातुल नहीं, किन्तु तुम्हारी मौसी! और सब कुछ तो वही सत्य है जो पहले बता चुकी हूँ। पर, अपने शिष्य-वृन्द पर इस रहस्य को स्पष्ट करना तो आवश्यक नहीं है न!'

'वह आपके लिए शोभनीय भी नहीं होगा आर्ये, किन्तु अरु तो—'

मृगम्मदा ने हँस कर कहा, 'वह तो पहली दृष्टि में ही समझ गई होगी, कम-से-कम अव्यक्त मन में तो अवश्य ही। लिंग-भेद में नारी की दृष्टि को सहज ही कोई धोखा नहीं दे सकता। और जिस उन्मुक्त भाव से वह मुझसे मिली है, वह क्या इसका प्रमाण नहीं है?'

अन्य औपचारिकताओं से निपट कर तीनों आश्रम के भीतरी कक्ष में बैठे हुए थे। सामान्यतः मृगम्मदा का वही पुरुष-वेश था।

अरुन्धति ने कहा, 'आर्ये! मैं आपको मातृश्वसा न कह कर 'माँ' सम्बोधन से पुकारूँ?'

मृगम्मदा ठठाकर हँस पड़ी और कहा, 'उर्वशियाँ इस पद की इच्छुक नहीं होतीं बहू, किन्तु तुम्हें जो प्रिय लगे, मुझे निश्चय से वही प्रिय होगा।—मैं जानती हूँ, आर्य-महिला के जीवन की सार्थकता मातृत्व में ही तो समझी जाती है। न? तुमने मुझे वह गौरव, मेरी उम्र के बावजूद, अनायास दे दिया है। पर सावधान बेटी, इससे तुम मुझे आर्य-धर्म में दीक्षित नहीं कर सकोगी?' और उसने एक साभिप्राय दृष्टि वसिष्ठ के ऊपर डाली।

वसिष्ठ कुछ उत्तर दे उसके पूर्व ही अरुन्धति ने कहा, 'उसका प्रयोजन आपके लिए कहाँ है माँ ? माँ के साथ तो केवल आत्म-धर्म का, आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है। आर्य-धर्म आर्यों के लिए ही पर्याप्त है।' और मानों समर्थन के लिए उसने भी वसिष्ठ की ओर देखा।

मृगम्मदा ने कहा, 'उनके लिए भी पर्याप्त कहाँ है बेटी ? वे क्या अपने ही शत्रु नहीं बने बैठे हैं ? अपने आपको 'आर्य' तो वे अब कहने लगे हैं, मानों इस नाम के छद्म में वे प्राचीन 'देव' नाम से किए हुए अपने वर्वर कृत्यों पर परदा डाल सकेंगे। किन्तु इतिहास कहाँ चुप रहता है ?—उधर पारस्य-देश में इन्हीं के दायाद-बन्धु प्रतापी असुरों को तो चुप नहीं किया जा सकता।'

वसिष्ठ ने कहा, 'इतिहास चुप तो नहीं रहता माँ, किन्तु क्या उसके शवों की साक्षि पर किसी नए इतिहास की रचना सम्भव है ?—सम्भव हो, तब भी उचित तो नहीं कही जा सकती। इस तर्क से तो सारा मनुष्य-समाज ही अतीत में एक दिन निरा पशु था। नई दिशा में विकास के लिए किसी-न-किसी बिन्दु से हमें नई प्रस्थानिका ग्रहण करनी ही पड़ती है।—क्षमा करें, आपने व्यंग्य किया था कि यह सम्मान, यह समृद्धि मैंने आत्म-सम्मान के मूल्य पर प्राप्त की है। मैं आपके लिए नया हूँ, अतः आपके लिए ऐसी प्रतीति सम्भव है। यह अस्वीकार मैं कैसे करूँ कि यह सब कुछ सुदास या देवराज इन्द्र का अवदान नहीं है ? किन्तु इसे आप मेरा उपार्जन क्यों नहीं कहना चाहेंगी ? आप ही सोचें, क्या इस अर्जन में मेरा पर्याप्त श्रम नहीं लगा है ?—मैं आर्यों के या उनके पूर्वज देवों के कृत्यों का समर्थन नहीं कर रहा हूँ। देवराज इन्द्र से अब तक मेरा कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं है। उसका शौर्य चाहे प्रशंसनीय हो, किन्तु उसका औद्धत्य मेरे निकट निन्दनीय ही है। —सुदास के भी सभी कार्यों का समर्थन मैं नहीं करता—उसकी इस पश्चिम की विजय-यात्रा में मेरी उदासीनता क्या इसका प्रमाण नहीं है ?—दाशराज-युद्ध में मैंने अवश्य उसका पौरोहित्य किया था, इसलिए कि उसे निस्सहाय किशोर और अनुभवहीन समझ कर ययाति के पाँचों पुत्रों ने मिलकर उसे पदस्थ करना चाहा था। तर्क के लिए कहा जा सकता है कि उसके पिता दिवोदास ने संवर्त सुश्रवस के साथ यही अन्याय किया था, और अब वे पाँचों भाई उसी अन्याय का प्रतिशोध लेना चाह रहे थे ! किन्तु इस तर्क स तो दुष्कृत्यों की शृंखला कभी समाप्त ही नहीं की जा सकती। नई प्रस्थानिका के लिए कहीं न कहीं तो मोड़ लेना होगा !'

'परम्परित-पथ पर मोड़ लेना सहज नहीं होता वत्स ! सिन्धु-तट पर पणिकों ने जिस पथ की रचना की है, उसे तुम अपने लिए बहुत अनुकूल पाओगे।'

'स्वयम्-निर्मित पथ पर चलने का जो सुख है माँ, वह मैंने यहाँ पा लिया है। हमारा तो आग्रह ही नहीं, निवेदन है कि आप यहाँ रहें और स्वयम् देखें कि आर्यों की अकारण-हिंसा में यहाँ किसी को रुचि नहीं है। इस आश्रम के गौ-वंश की समृद्धि आसपास पहले तो ईर्ष्या की वस्तु थी, अब वह स्पर्द्धा की वस्तु है। आश्रम के यज्ञानुष्ठानों में बलि भौतिक-पशुओं की नहीं, मानव-मन के आन्तरिक-जगत की पशु-प्रवृत्तियों की दी जाती है, और संकल्प सम्पूर्ण जगत के कल्याण का किया जाता है।'

मृगम्मदा ने मुस्करा कर कहा, 'बच्चे यदि माँ की ओर धावित न हों, तो माँ बेचारी रँभाने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती है?—मेरा आश्रय तो, केवल मेरा आश्रय ही नहीं, धर्म का आश्रय भी है। मुझे जो सम्मान और जो समृद्धि मिली हुई है, वह किसी सेवा या श्रम का पुरस्कार भी नहीं है। उन्होंने मेरे प्राण किसी आशा से भी नहीं बचाए थे। तुम एक बार मेरे साथ पणिकों की बसती में चल कर देखो न, तुम्हारा यह शिव-संकल्प किस सहजता से वहाँ चरितार्थ हो रहा है?'

'पर वे अयज्विन, अव्रत—'

'यज्ञ नहीं करते, अग्निमीले पुरोहितम् कहकर अग्नि को किसी भौतिक-प्राणी की आहुति से संतृप्त नहीं करते। हाँ, यदि किसी निरपराध प्राणी को उससे बचाना सम्भव हो तो उसके स्थान पर स्वयम् सहर्ष आहुत हो जाते हैं। यही न?—अग्नि उनके लिए अब कोई दिव्य तत्व नहीं रह गया है भाई! तुम्हारे अंगिरा को वे बहुत पीछे छोड़ आए हैं, वे बिना बलि-कर्म के ही संकल्प करते हैं। तुम उनका साथ देकर सहज ही न केवल अन्याय के पक्ष का और अधर्म का प्रतिकार कर सकोगे, बल्कि सद्धर्म का सहज ही विस्तार कर सकोगे वसिष्ठ!'

'किन्तु मेरा स्वधर्म?—माँ, क्षमा करें, अधर्म और सद्धर्म क्या कोई निर-पेक्ष तत्व हैं? यदि धर्म का ही आग्रह हो, तो स्वभाव के अनुकूल स्वधर्म ही सद्धर्म हो सकता है, और भयावह परधर्म की अपेक्षा उस स्वधर्म में निधन भी श्रेयस्कर है। नहीं क्या?'

मृगम्मदा मुस्कराई, 'अपनी माता के प्रति किए गए अविचार का प्रतिशोध क्या तुम्हारे लिए स्वधर्म नहीं है?'

'उस अविचार का प्रत्यक्ष प्रमाण तो मैं नहीं हूँ माँ!-और जरा सोचिए, अवि-चार में नहीं, मेरा जन्म यदि सु-विचार में होता, तो जैसा कि आप कहती हैं अपनी उर्वशी माँ के लिए मैं क्या त्याज्य नहीं होता?'—फिर मुस्करा कर उसने, कहा, 'अपने जीवन के लिए तो मुझे उसी अविचार के प्रति ही कृतज्ञ होना चाहिए न?—अब आप ही बताएँ, मेरा स्वधर्म क्या है?'

मृगम्मदा ने कहा, 'तुम्हारा स्वधर्म मैं कैसे बता सकती हूँ ? वह तो अपनी निजी वस्तु होती है। सामान्य धर्म की जो बात हो सकती है, वही बताने के लिए मैं आई थी।—अपना नया नाम 'आर्य' तो इन्होंने अब स्वीकार किया है, किन्तु नाम में ऐसा है ही क्या ? तथ्य यह है कि वे सदा से उरवासियों के और मुख्यतया उनकी स्त्री-जाति उर्वशियों के घोर-शत्रु ही रहे हैं, उर्वशियों को उन्होंने सदा से अपने लिए निर्विवाद विलास और उपभोग की निष्प्राण वस्तु समझा है। आज भी तुम देख सकते हो, तुम्हारे देवराज इन्द्र की रंग-सभा की शोभा बढ़ाने के लिए कितनी उर्वशियाँ बन्दी पड़ी हैं ?'

'बन्दी ?' वसिष्ठ ने व्यंग्य से मुस्करा कर कहा, 'मैंने तो सुना है आर्ये, कि उस सभा में वे बराबर राग-रंग और नृत्य-गान के अनवरत उत्सवों में डूबी ही जीवन की समस्त वेदनाएँ भूलकर अक्षययौवन का उपभोग करती हैं !'

'मैं नहीं कहती कि तुमने मिथ्या सुना है। किन्तु तुम जैसे ज्ञानी-विज्ञानी को उनके अक्षय-यौवन के मिथ्या-बोध का रहस्य खोलने की भी अपेक्षा शायद नहीं है।'

'मुझे बताइए न माँ, मैं तो वह रहस्य नहीं जानती !' अरुन्धति ने सहज ही पूछ लिया।

मृगम्मदा ने विहँस कर कहा, 'वसिष्ठ ने तुमको बताया नहीं ?—वह रहस्य तो तुम स्वयं ही हो न बेटी।—जिसके लिए तुम्हारे यौवन की सार्थकता है, महत्व तो उसके बोध का है। तुम उसके लिए चिरन्तन नहीं हो क्या ?—इन्द्र की सभा में तुमने यह भी सुना ही होगा, नित्य नई अप्सराएँ और उर्वशियाँ आती रहती हैं, तो प्राचीनाओं का क्या होता है ?—नवागताओं को सोमोन्माद और ऐश्वर्य की चकाचौंध में अपने वर्तमान का पूर्वापर कहाँ दिखाई देता है ?—यौवन के जिस अक्षय-आसन पर आज वे आरूढ़ हैं, उस पर कल तक कोई अन्य आसीन थी, और कल वे भी धकेल दी जाएँगी, परदे के बाहर यह कौन जानता है ?—क्षणों के इस निरन्तर प्रवाह में अक्षुण्ण कौन है सिवा भ्रान्ति के ?—अक्षय-यौवनों का उपभोक्ता लम्पटराज वह इन्द्र क्या स्वयं अक्षय रहा है ?'

वसिष्ठ ने कहा, 'कह चुका हूँ माँ, देवराज के कृत्यों का मैं समर्थन नहीं करता।—देवराज ही क्यों ?—किसी के भी किसी गर्हित-कर्म का मैं कभी समर्थन नहीं करूँगा। सुदास के साथ मेरा कोई बंधन नहीं है। मैं एकदम स्वतन्त्र-चेता हूँ। यह जो भौतिक-सम्पदा आप यहाँ देख रही हैं, वह मेरी नहीं, आश्रम की है, यद्यपि मैंने स्वयं उसका सश्रम उपार्जन किया है, हम स्वयं भी तो आश्रम ही

को समर्पित हैं ! आसक्ति हमारी इसमें भी नहीं है । यदि हमें कभी कोई दूषण या बन्धन का इसमें अनुभव हुआ तो तत्काल इसे छोड़ कर हम चल देंगे । आप माँ हैं, सन्तान की कोई बात उनसे छिपी नहीं रहती, तब भी मैं कहना चाहता हूँ कि मैं तो अपने ही ढंग से आत्म-दर्शन करना चाहता हूँ । दूसरों का ढंग उसमें काम कहाँ देता है ?—आपने सच ही कहा, अरु में मुझे वह चिरन्तन ब्रह्म दिखाई देता है, जो यौवन ही क्यों, इस सृष्टि के समस्त सार-तत्व, संसार में अजर-अमर आनन्दमूर्ति वन कर अक्षुण्ण विद्यमान है—'

अरुन्धति उठ खड़ी हुई और बोली, 'माँ के सामने मुझे क्यों लज्जित कर रहे हो ?—मैं एक स्थूल अपदार्थ-जीव, पलकों की ओट ही पर्याप्त है मेरे अनस्तित्व के लिए ।—मैं चली—'

'कहाँ जाओगी अरु ?—माँ तो हमारी दोनों की है । कौन किससे लज्जित हो रहा है यहाँ ? मेरे रक्त के कण-कण में व्याप्त हो न !—जब तक वह कण है, उसमें तुम हो । तुम और मैं, सहजात इसीलिए तो हैं कि हम सहमृत हैं ।—मिथ्या कहता हूँ माँ ?' और उसने समर्थन के लिए मृगम्मदा की ओर देखा ।

मृगम्मदा ने अरुन्धति का हाथ पकड़ लिया, असावधान वह लुढ़की, प्रायः मृगम्मदा के अंक में ही । मृगम्मदा ने भी उसे अपने हृदय से लगा लिया और कहा, 'यही तुम्हारा अक्षय-सौभाग्य है बेटी !—मेरा प्रेष सफल हुआ हो या नहीं, मैं तुम जैसे पुत्र-पुत्री की अप्रयास माँ बन जाने का गौरव पाकर निष्फल नहीं रही ।'

अरुन्धति ने मृगम्मदा के गले को अपनी बाहुओं में भर कर उसकी आँखों में आँखें डालते हुए मुस्करा कर कहा, 'उर्वशी माँ, क्या हम बच्चों को बहलाने के लिए ही तो नहीं कह रही हैं आप ? इस पद को तो आपने गौरव का पद नहीं कहा है ।—इस पद की आपको इच्छा तो नहीं है न ?'

मृगम्मदा के उदर में अकस्मात् मानो किसी ने करवट ली । अपनी विडम्बना पर उसे कुछ झुँझलाहट भी हुई, किन्तु अपने को संयत कर उसने कहा, 'ऐसे ही तो अवसर होते हैं बेटी, जब इच्छाओं पर अंकुश लगाना भी प्रिय लगता है !—लो बेटा, बातों ही बातों में कितना समय बीत गया ? यदि अभी ही नहीं चल दूँगी तो मार्ग में ही मुझे सन्ध्या हो जाएगी और मेघ भी तो मँडराने लगे हैं ।' और मानों अनायास सुझाए गए इस मातृत्व के भार से अपने आपको बचाने के लिए वह उठ खड़ी हुई । उसके उठते ही वसिष्ठ और अरुन्धति भी उठ खड़े हुए ।

वसिष्ठ कह रहे थे, 'बातों ही बातों में बीत गया समय ?—नहीं माँ ! मुझे तो अनुभव हो रहा है जैसे आपको पाकर जीवन को एक नई अद्भुत और अपूर्व दिशा मिल गई है ।'

अरुन्धति की तो आँखें ही डबडबा आईं। उसने कुछ बोलने का प्रयत्न भी किया, पर ओठ काट कर ही रह गई। मृगम्मदा ने लक्ष्य किया तो वह भी अभिभूत हो गई। उसे अपने हृदय से लगा कर वसिष्ठ के उद्देश्य से कहा, 'मुझे भी जीवन की एक नई दिशा का बोध हुआ है वत्स!—तुम्हें अपनी ओर मिला न सकी, इसका भी क्षोभ नहीं रहा। तुम्हें पाकर ही मैं तृप्त हूँ, सन्तुष्ट हूँ।'

'आपकी ओर कैसे नहीं मिला हूँ माँ? सन्तान कभी माँ से विमुख हो सकती है?—माँ को क्या गर्व नहीं होता कि वयस्क होने पर उसका पुत्र स्वयम् कुछ निर्णय ले सकने योग्य हुआ है?—उचित-अनुचित भी तो उसके विवेक की कसौटी है?—तब भी मैं आपको आश्वासन देता हूँ माँ, कि पणिकों के विरुद्ध मैं किसी भी अभियान में तब तक कोई भाग नहीं लूंगा जब तक कि मुझे यह विश्वास न हो जाए कि उनका मार्ग अन्याय का है। बल्कि प्रयत्न करूँगा कि आर्यगण भी इस व्यर्थ की हिंसा से विरत हों!'

'यही आश्वासन मेरी बहुत बड़ी सफलता है वत्स।'

'माँ, फिर कब दर्शन दोगी?' रुँधे हुए गले से अरुन्धति ने कहा।

मृगम्मदा ने उसके कपोल को छूकर मुस्कराते हुए कहा, 'तू जब मातृत्व का गौरव लेकर मुझे स्मरण करेगी।' और वह द्वार की ओर उन्मुख हुई।

● ● ●

आकाश में मेघ तो घिर ही आए थे, सन्ध्या भी काफी बढ़ चुकी थी। अँधेरा चारों ओर फैला हुआ था, किन्तु आश्रम के आसपास बाहर और भीतर तो सघन वृक्ष कुंजों में वह निविड़ होकर पैठा पड़ा था। केवल आश्रम-द्वार पर एक दीपक अभी भी टिम-टिमा रहा है, जिससे कोई कह सकता है कि सूचीभेद्य अन्धकार भी नीरन्ध्र नहीं होता! इसी दीपक के रन्ध्र को लक्ष्य किए हुए ही एक अश्वारोही बहुत दूर से बिना भटके हुए इस समय आश्रम के द्वार तक आ पहुँचा है। इसी बीच मेघ भी टपक पड़ने को उद्यत हो गए हैं। सम्भावना यही है कि वर्षा का वेग बढ़ता ही जाएगा। और अब तो बिजली भी कौंधने लगी है, जिसकी क्षण-प्रभा में वृक्ष अनेक रूप बनाकर दिप-छिप रहे हैं।

द्वार पर नियुक्त व्यक्ति ने द्वार बन्द कर लिया था और दीपक उठा कर वह भीतर जाने को उद्यत हुआ ही था कि अश्वारोही ने पुकारा, 'रुको भाई, यही है न वसिष्ठ ऋषि का आश्रम?'

'हाँ आर्य, आप किसे पूछ रहे हैं?'

अश्वारोही कूद कर अश्व से उतर आया। शायद अश्वारोही को पहचानने की चेष्टा में दीपक ऊपर उठा, किन्तु तभी हवा के एक झोंके में वह बुझ गया। चारों ओर अन्धकार और घना हो गया।

अश्वारोही ने कहा, 'क्या किसी एकाकी निरुपाय पथिक को ऐसे कठिन समय में भी किसी सन्दर्भ की आवश्यकता होगी ? वसिष्ठ ऋषि के आश्रम की यह अच्छी रीति है !'

'आर्य, क्षमा करें। मुझसे अविनय हुई। आप अपेक्षा करें। मैं दीपक जला लेता हूँ। मैं स्वयम् आपको आश्रम-कुल के अतिथि-गृह लिए चलता हूँ। उसका द्वार उधर पूर्व में है।'

'अतिथि-गृह में ?' फिर कुछ सोच कर अश्वारोही ने कहा, 'तुम्हारे आचार्य से क्या मिला नहीं जा सकेगा ?'

'क्या आप उनसे अभी मिलना चाहेंगे ?—इस समय वे शिष्यों का रात्रि-कालीन शेष सत्र ले रहे हैं।'

'जाकर उनसे कहो द्वारिक—'

'आर्य, क्षमा करें, मैं द्वारिक नहीं, आश्रम का एक अन्तेवासी हूँ।'

'उससे कुछ अन्तर पड़ता है ? द्वारिक होते तो शायद इतनी धृष्टता न करते।—ठीक है, जाकर अपने आचार्य से कहो, कान्यकुब्ज–नरेश विश्वरथ उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

उत्तर देना अनावश्यक समझ कर द्वार खोले बिना ही शिष्य सूचना देने के लिए भीतर चला गया। विश्वरथ को रोष हो आया था, शिष्य पर उतना नहीं जितना गुरु पर। शिष्य ही तो गुरु की मनोवृत्ति का सच्चा दर्पण होता है !–द्वार के नाम पर कुछ काष्ठों को आड़े-तिरछे जोड़-गाँठ कर एक आड़ ही तो बनाई गई है, ताकि जंगली पशु भीतर न घुस सकें। अँधेरा है, नहीं तो इसे तोड़ कर वह भीतर बलात् प्रविष्ट हो जाता, और यदि वह ढीठ बाधा प्रस्तुत करता तो सहज ही उसे किसी राजपुरुष की अवज्ञा करने की शिक्षा मिल जाती ! सुदास को माध्यम बना कर आने विजय पा लेने से इस गायक-ऋषि का अभिमान आकाश चूमने लगा है ! समय आने पर इसका अभिमान चूर करने में लगेगा ही क्या ?–किन्तु इस समय उसे धैर्य से काम लेना है ! यहाँ आने का उसका वैसे प्रयोजन ही क्या था यदि इलिवश से महादेवी मृगम्मदा के यहाँ होने की सूचना उसे नहीं मिलती ? यह भी यदि ज्ञात होता कि वर्षा उसे मार्ग में ही पकड़ लेगी, या मार्ग भूल कर वह इतने विलम्ब से यहाँ पहुँचेगा, तो कल के लिए वह अपनी यात्रा स्थगित कर सकता था। पर महादेवी को ही यहाँ इसके निकट आने की ऐसी क्या आवश्यकता पड़

गई ? रण-क्षेत्र में सहायता की ही अपेक्षा थी तो गाधिपुत्र विश्वरथ को क्यों नहीं स्मरण किया ?—क्या वे उसे अब भी वैसा ही अवयस्क किशोर समझती हैं ?—या कि उस पर विश्वास नहीं है ? और महापणिक विभांडक वृवु के होते हुए रण-क्षेत्र में किसी की सहायता की आवश्यकता ही क्या है ?—तात कहते हैं, इस ओर उसके साहस और शौर्य की तुलना नहीं है। वह स्वयम् भी तो देख चुका है, किशोर था उस समय तो क्या हुआ ? उसी की उदारता, साहस और शौर्य से ही तो उस प्रलयंकर बाढ़ में उनके प्राणों की रक्षा सम्भव हुई है !—नहीं, ईर्ष्या नहीं है। कहाँ कान्य-कुब्ज-नरेश विश्वरथ और कहाँ एक सामान्य-से राजन्य से दान में मिले आश्रम का अपने आपको स्वामी समझने वाला भिक्षुक ?—कि सामने से उसे दीपक लिए दो व्यक्ति आते दिखाई दिए। दूसरा अवश्य वह ब्राह्मण वसिष्ठ होगा। ब्राह्मण किसी राजा की उपेक्षा करे, यह संभव नहीं है। दीपक लिए हुए वह उद्धत अन्तेवासी ही होगा !—आने दो !—अपने शिष्य के औद्धत्य के लिए क्षमा वह माँगेगा ही, किन्तु शीघ्रता से सदय नहीं होना चाहिए।—विश्वरथ कोई उसका शिष्य या यजमान सुदास नहीं है, कि सामान्य लल्लो-चप्पो से सन्तुष्ट हो जाए।

दीपधारी शिष्य द्वारा खोले उसके पहले ही उसके नवागन्तुक साथी ने कहा, 'कान्यकुब्जाधिपति महाराज विश्वरथ का वसिष्ठाश्रम में सादर स्वागत है। आपको द्वार पर प्रतीक्षा करनी पड़ी, उसके लिए मैं लज्जित हूँ और क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरा यह साथी अजामीढ़ इस आश्रम में नया ही प्रविष्ठ हुआ है, अतः आश्रम की मर्यादा तथा अतिथि की प्रतिष्ठा के अनुकूल शिष्टाचार में अभी पूर्णतः दीक्षित नहीं हो पाया है।' अजामीढ़ द्वार खोल चुका था। उसके हाथ से दीपक लेकर उसने कहा, 'अश्व की वल्गा इसे थमा दें आर्य, यह उसकी समुचित व्यवस्था कर देगा। आप मेरे साथ पधारें, आचार्यपाद आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं—'

'तो तुम वसिष्ठ नहीं हो ?' विश्वरथ ने आश्चर्य तथा रोष से भरे स्वर को यथासाध्य नियन्त्रण में रखते हुए पूछा।

'मैं अग्नीध्र हूँ महाराज, आचार्य-कुल का एक सामान्य अन्तेवासी।—आचार्य पाद स्वयम् पधारते—यह समय उनके रात्रि-कालीन शेष-सत्र का है, किन्तु आपके पधारने की सूचना पाते ही वे उसका समापन कर रहे हैं। आप पहुँचेंगे तब तक वे उससे निवृत्त हो चुके होंगे।'

'हूँ', कहकर विश्वरथ ने पृथिवी पर पैर पटक कर अपना रोष व्यक्त किया, अश्व की रास अजामीढ़ को पकड़ाई और अग्नीध्र को लक्ष्य कर कहा, 'तुम्हारा यह बन्धु अजामीढ़ सचमुच अज-बन्धु है, शिष्टाचार बिलकुल नहीं जानता।'

अश्वारोही कूद कर अश्व से उतर आया। शायद अश्वारोही को पहचानने की चेष्टा में दीपक ऊपर उठा, किन्तु तभी हवा के एक झोंके में वह बुझ गया। चारों ओर अन्धकार और घना हो गया।

अश्वारोही ने कहा, 'क्या किसी एकाकी निरुपाय पथिक को ऐसे कठिन समय में भी किसी सन्दर्भ की आवश्यकता होगी ? वसिष्ठ ऋषि के आश्रम की यह अच्छी रीति है !'

'आर्य, क्षमा करें। मुझसे अविनय हुई। आप अपेक्षा करें। मैं दीपक जला लेता हूँ। मैं स्वयम् आपको आश्रम-कुल के अतिथि-गृह लिए चलता हूँ। उसका द्वार उधर पूर्व में है।'

'अतिथि-गृह में ?' फिर कुछ सोच कर अश्वारोही ने कहा, 'तुम्हारे आचार्य से क्या मिला नहीं जा सकेगा ?'

'क्या आप उनसे अभी मिलना चाहेंगे ?—इस समय वे शिष्यों का रात्रि-कालीन शेष सत्र ले रहे हैं।'

'जाकर उनसे कहो द्वारिक—'

'आर्य, क्षमा करें, मैं द्वारिक नहीं, आश्रम का एक अन्तेवासी हूँ।'

'उससे कुछ अन्तर पड़ता है ? द्वारिक होते तो शायद इतनी धृष्टता न करते।—ठीक है, जाकर अपने आचार्य से कहो, कान्यकुब्ज–नरेश विश्वरथ उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

उत्तर देना अनावश्यक समझ कर द्वार खोले बिना ही शिष्य सूचना देने के लिए भीतर चला गया। विश्वरथ को रोष हो आया था, शिष्य पर उतना नहीं जितना गुरु पर। शिष्य ही तो गुरु की मनोवृत्ति का सच्चा दर्पण होता है !–द्वार के नाम पर कुछ काष्ठों को आड़े-तिरछे जोड़-गाँठ कर एक आड़ ही तो बनाई गई है, ताकि जंगली पशु भीतर न घुस सकें। अँधेरा है, नहीं तो इसे तोड़ कर वह भीतर बलात् प्रविष्ठ हो जाता, और यदि वह ढीठ बाधा प्रस्तुत करता तो सहज ही उसे किसी राजपुरुष की अवज्ञा करने की शिक्षा मिल जाती ! सुदास को माध्यम बना कर आने विजय पा लेने से इस गायक-ऋषि का अभिमान आकाश चूमने लगा है ! समय आने पर इसका अभिमान चूर करने में लगेगा ही क्या ?–किन्तु इस समय उसे धैर्य से काम लेना है ! यहाँ आने का उसका वैसे प्रयोजन ही क्या था यदि इलिवश से महादेवी मृगम्मदा के यहाँ होने की सूचना उसे नहीं मिलती ? यह भी यदि ज्ञात होता कि वर्षा उसे मार्ग में ही पकड़ लेगी, या मार्ग भूल कर वह इतने विलम्ब से यहाँ पहुँचेगा, तो कल के लिए वह अपनी यात्रा स्थगित कर सकता था। पर महादेवी को ही यहाँ इसके निकट आने की ऐसी क्या आवश्यकता पड़

गई ? रण-क्षेत्र में सहायता की ही अपेक्षा थी तो गाधिपुत्र विश्वरथ को क्यों नहीं स्मरण किया ?—क्या वे उसे अब भी वैसा ही अवयस्क किशोर समझती हैं ?—या कि उस पर विश्वास नहीं है ? और महापणिक विभांडक वृबु के होते हुए रण-क्षेत्र में किसी की सहायता की आवश्यकता ही क्या है ?—तात कहते हैं, इस ओर उसके साहस और शौर्य की तुलना नहीं है। वह स्वयम् भी तो देख चुका है, किशोर था उस समय तो क्या हुआ ? उसी की उदारता, साहस और शौर्य से ही तो उस प्रलयंकर बाढ़ में उनके प्राणों की रक्षा सम्भव हुई है !—नहीं, ईर्ष्या नहीं है। कहाँ कान्य-कुब्ज-नरेश विश्वरथ और कहाँ एक सामान्य-से राजन्य से दान में मिले आश्रम का अपने आपको स्वामी समझने वाला भिक्षुक ?—कि सामने से उसे दीपक लिए दो व्यक्ति आते दिखाई दिए। दूसरा अवश्य वह ब्राह्मण वसिष्ठ होगा। ब्राह्मण किसी राजा की उपेक्षा करे, यह संभव नहीं है। दीपक लिए हुए वह उद्धत अन्तेवासी ही होगा !—आने दो !—अपने शिष्य के औद्धत्य के लिए क्षमा वह माँगेगा ही, किन्तु शीघ्रता से सदय नहीं होना चाहिए।—विश्वरथ कोई उसका शिष्य या यजमान सुदास नहीं है, कि सामान्य लल्लो-चप्पो से सन्तुष्ट हो जाए।

दीपधारी शिष्य द्वारा खोले उसके पहले ही उसके नवागन्तुक साथी ने कहा, 'कान्यकुब्जाधिपति महाराज विश्वरथ का वसिष्ठाश्रम में सादर स्वागत है। आपको द्वार पर प्रतीक्षा करनी पड़ी, उसके लिए मैं लज्जित हूँ और क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरा यह साथी अजामीढ़ इस आश्रम में नया ही प्रविष्ट हुआ है, अतः आश्रम की मर्यादा तथा अतिथि की प्रतिष्ठा के अनुकूल शिष्टाचार में अभी पूर्णतः दीक्षित नहीं हो पाया है।' अजामीढ़ द्वार खोल चुका था। उसके हाथ से दीपक लेकर उसने कहा, 'अश्व की वल्गा इसे थमा दें आर्य, यह उसकी समुचित व्यवस्था कर देगा। आप मेरे साथ पधारें, आचार्यपाद आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं—'

'तो तुम वसिष्ठ नहीं हो ?' विश्वरथ ने आश्चर्य तथा रोष से भरे स्वर को यथासाध्य नियन्त्रण में रखते हुए पूछा।

'मैं अग्नीध्र हूँ महाराज, आचार्य-कुल का एक सामान्य अन्तेवासी।—आचार्यपाद स्वयम् पधारते—यह समय उनके रात्रि-कालीन शेष-सत्र का है, किन्तु आपके पधारने की सूचना पाते ही वे उसका समापन कर रहे हैं। आप पहुँचेंगे तब तक वे उससे निवृत्त हो चुके होंगे।'

'हूँ', कहकर विश्वरथ ने पृथिवी पर पैर पटक कर अपना रोष व्यक्त किया; अश्व की रास अजामीढ़ को पकड़ाई और अग्नीध्र को लक्ष्य कर कहा, 'तुम्हारा यह बन्धु अजामीढ़ सचमुच अज-बन्धु है, शिष्टाचार बिलकुल नहीं जानता।'

अपने ऊपर पड़ती वक्रोक्ति को सहज झेल कर अग्नीध्र ने कहा, 'आप ठीक ही कहते हैं महाराज ! उसे क्षमा कर दें। आचार्यपाद से यदि कहेंगे तो वे दुःखित होंगे। उसके दुर्विनय के लिए मैं आपसे क्षमा की प्रार्थना करता हूँ।'

'ठीक है, ठीक है। अपने गुरु के पास जाने के लिए मुझे राह दिखाओ।'— एक बार विश्वरथ के मन में आया भी कि अग्नीध्र से मृगम्मदा के बारे में पूछे, किन्तु एक राजपुरुष के लिए किसी सामान्य-से अन्तेवासी के साथ सम्भाषण उसे उचित नहीं लगा, और वह मौन ही उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। अजामीढ़ उसका अश्व लेकर दूसरी दिशा में जा चुका था।

आश्रम-परिसर काफी बड़े क्षेत्र में अवस्थित है। विभिन्न विषयों के भिन्न-भिन्न सत्रों के लिए अलग-अलग अध्ययन-क्षेत्र हैं। कृषि, शस्त्राभ्यास आदि के लिए विस्तृत खुले मैदान हैं। एक ओर गौओं और अश्वों के लिए शालाओं के अतिरिक्त हरित चर-भूमि है। उत्तर में नदी-तट पर, अध्ययन-कक्षों को परिवृत करते हुए एक ओर अध्यापक-कुल के लिए तथा दूसरी ओर शिष्य-कुल के लिए आवासों की व्यवस्था है। इन्हीं के मध्य में है आचार्य वसिष्ठ की मनोरम पर्णशाला, जिस पर आम्र-कुंज सदा सघन छाया किए रहता है। पूर्व दिशा में नदी-तट से कुछ हट कर एक विशाल अतिथि-गृह है आश्रम और कुलगुरु की प्रतिष्ठा के सर्वथा अनुरूप। आश्रम में समय-समय पर प्रतिष्ठित भद्र-नागरिक ही नहीं, शास्त्र-चर्चार्थ अनेक कविर्मनीषी और परामर्श अथवा अपने राजकुमारों की शिक्षा के लिए अनेक राजपुरुष भी आते रहते हैं। उन सबके योग्य समुचित आतिथ्य की व्यवस्था आश्रम में उपलब्ध है। कभी-कभी तो कोई राजा ऐश्वर्य प्रदर्शन के लिए ही सही, अपने सारे ताम-झाम परिषद्-पार्षद के साथ आ टपकता है। किसी तरह की असुविधा उन्हें भी नहीं होती। आश्चर्य की बात तो यह कि इतनी बड़ी सर्वांगीण व्यवस्था के लिए आश्रम में किसी परिचारक या भृत्य की अपेक्षा नहीं है। सारी व्यवस्था के सुचारु संचालन का भार आश्रम के शिष्य-कुल पर ही है—शिष्यों की शिक्षा-योजना का यह भी एक अनिवार्य अंग है। वसिष्ठाश्रम के यम-नियम और संयम की इसीलिए बड़ी ख्याति है।

अतिथियों के लिए अतिथि-गृह का मुख्य प्रवेश-द्वार बाहर ही से है। अजामीढ़ ने पहले विश्वरथ को उसी का संकेत दिया था। आश्रम-वासी अतिथि-गृह में भीतर ही से आते-जाते हैं। विश्वरथ के मनोभाव को समझ कर अग्नीध्र उन्हें भीतर के मार्ग से ही अतिथि-गृह की ओर ले चला। विश्वरथ भी यहाँ पहली बार आया है, उसे यह कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि मृगम्मदा उसे कहाँ मिलेगी ? उसे तो यह भी पता नहीं था कि आश्रम कितने बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है ?

अतिथि-गृह पहुँच कर अग्नीध्र ने एक राजपुरुषोचित-कक्ष का द्वार खोला तथा विश्वरथ को भीतर आने का अनुरोध करते हुए बोला, 'भगवन्, जरा देख लें। इसमें आपको असुविधा तो न होगी ?– कक्ष के भीतर ही से उधर नदी-तट पर पहुँचा जा सकता है और एक वातायन से उन्मुक्त वायु कक्ष को आपूर्य रखती है। यदि पसन्द न हो तो दूसरा कक्ष खोलूँ ?'

विश्वरथ ने उस ओर ध्यान न देकर पूछा, 'तुम्हारे आचार्य कहाँ हैं ?'

द्वार के पीछे से बड़े धीर और शान्त स्वर में उत्तर आया, 'कान्यकुब्जेश्वर को मैत्रावरुण वसिष्ठ का सादर प्रणाम निवेदित है।–इस वर्षा और अन्धकार में आर्य की यात्रा तो निर्विघ्न हुई न ?–आप कुशल से तो हैं ?' और उत्तर की अपेक्षा न कर वसिष्ठ ने अग्नीध्र से कहा, 'अब तुम जाओ वत्स ! महाराज के लिए शीघ्र अर्घ प्रस्तुत करो। और भोजन की व्यवस्था के लिए भी कहते—'

विश्वरथ ने बीच ही में उन्हें रोक कर कहा, 'नहीं आचार्य वसिष्ठ, इस असमय में मैं भोजन नहीं करूँगा।'

हँस कर वसिष्ठ ने कहा, 'अतिथि के लिए कब असमय होता है महाराज ?'

'नहीं नहीं, मैं भोजन से निपट चुका हूँ।'

'तो कपिला के धारोष्ण दुग्ध की व्यवस्था करो अग्नीध्र !'

'यह औपचारिकता रहने दो वसिष्ठ !'

सम्बोधन की तुच्छता पर ध्यान न देकर वसिष्ठ ने अग्नीध्र से कहा, 'तुम जाओ वत्स ! महाराज यात्रा-श्रम से क्लान्त हैं। अर्घ के बाद धारोष्ण दूध उनकी श्रान्ति को दूर कर देगा।'—उसके चले जाने पर वे विश्वरथ से बोले, 'इसमें यदि आपको मेरी मात्र औपचारिकता ही प्रतीत हो रही हो, तो यह मेरा दुर्भाग्य है राजन् !—आपके रोष का कारण यदि जान सकूँ, तो प्रायश्चित करने का भी प्रयत्न करूँ ! जानने न देंगे तो मेरा अपराध बढ़ता ही जाएगा न ?'

विश्वरथ ने देखा कि कक्ष में अब वे ही रह गए हैं, तो उसने जरा ध्यान से वसिष्ठ की ओर देखा।—घनी कृष्ण-चिक्कण केश-राशि और विरल दाढ़ी-मूँछ से परिवृत्त गौर मुख-मंडल पर सामने रखे दीपक का प्रकाश दिव्य आभा बन कर चमक उठा है। वयस उनसे अधिक अवश्य ही होगी, किन्तु उतनी भी नहीं, जितनी उसकी फैली हुई कीर्ति का अनुमान करके की जाती है।—यदि सावधान न रहा जाए तो इस व्यक्ति को सम्मान दिए बिना नहीं रहा जा सकता।—परिधान अत्यन्त सामान्य, कटि-वस्त्र के ऊपर उत्तरीय से सारा वक्ष परिवृत, किन्तु तब भी वक्ष का प्रकृत-विस्तार उसमें छिप नहीं पा रहा है। नम्रता और उच्चाशयता का

यदि कहीं मिश्रण सम्भव हो, तो वह ऐसा ही हो सकता है ! अपने आपको कहीं भूल न जाए, इसलिए विश्वरथ ने सीधा प्रश्न किया, 'इस आश्रम में आज दुर्योण की महादेवी उर्वशी मृगम्मदा आई हुई हैं न ?'

'आई अवश्य थीं ।'

'तो, अब नहीं हैं क्या ?'

'वे तो सायाह्न में ही लौट गईं ।'

'लौट गईं ?—कहाँ ?' विश्वरथ के स्वर में निराशा और क्षोभ उभर आए ।

'हरयूपिया लौटने को कह रही थीं ।'

'हरयूपिया ?—तब मार्ग में भेंट होती भी तो कैसे ?' मन ही मन विश्वरथ ने हिसाब लगाया, हरयूपिया के लिए यहाँ से जाना होता है दक्षिण-पूर्व को और वह आ रहा है इलिवश के शिविर दक्षिण-पश्चिम से । विश्वरथ भूल ही गया कि कक्ष में वसिष्ठ भी विद्यमान है। बाँईं हथेली पर दाहिने हाथ का मुक्का मार कर वह सामने की शून्य दीवार की ओर बढ़ा । वसिष्ठ ने पूछा,

'आपको महादेवी से कुछ विशेष प्रयोजन था ?'

'उनसे भेंट करने के लिए ही तो मैं यहाँ आया हूँ ।'

'वे यहाँ होंगी, इसकी पूर्व-सूचना क्या उन्होंने आपको दी थी ? निश्चय ही आप हरयूपिया से तो नहीं आ रहे हैं !'

विश्वरथ को एकाएक ध्यान आया कि वह कहाँ है और इन प्रश्नों का कितना और कैसा महत्त्व हो सकता है !—वसिष्ठ के प्रश्न का उत्तर न देकर उसने कहा, 'तो यहाँ ठहरने का मेरा कोई अर्थ नहीं है ।—अपने शिष्य से कहो, मेरा अश्व तैयार रखे । वर्षा रुकते ही मैं यहाँ से चल देना चाहूँगा ।'

'इतनी रात को और इस अँधेरे में ?—नहीं महाराज । वर्षा तो अभी भी बड़े वेग से हो रही है ! रुक भी जाए, तब भी मार्ग कीचड़ से भरे होंगे और नदी-नालों में भी बाढ़ होगी ।—चाहे जितना आवश्यक कार्य हो, मेरा भी कुछ धर्म है। इस अँधेरे में मैं आपको नहीं जाने दूँगा ।'

'नहीं जाने दोगे ?—मैं बन्दी नहीं हूँ वसिष्ठ ! देखता हूँ मुझे कौन रोक सकता है ?'

'हे भगवान् ।—यह आप क्या कहते हैं राजन् ? आप तो मेरे सम्मान्य अतिथि हैं ! और यदि कहने की आज्ञा दें तो कहना चाहूँगा कि महादेवी उर्वशी में

आपके मनोभाव के कारण आप हमारे लिए आदर ही नहीं, आत्मीयता के भी अधिकारी हैं। अवश्य ही आप उनसे सौहार्द्र-भाव से मिलने आए हैं न ?'

'तुम्हें सन्देह होता है ?—वे मेरे लिए माता से भी अधिक पूजनीया हैं वसिष्ठ ! उन्हीं के द्वारा मेरी और मेरे पिता की उस प्रलयंकर बाढ़ में प्राण-रक्षा सम्भव हुई है।'

'तो क्या आप भी उर—'

'हाँ। मेरा भी उर-देश का ही जन्म है।' वह अपने कुल-गौरव को बचा गया। उर-प्रदेश में तो जो उच्च-कुल हैं, वे मातृ-कुल होते हैं न।

वसिष्ठ ने मानों अधिकार-भाव से कहा, 'तो राजन्, अपना रोष और यह त्वरा अपने मन से उतार फेंकिए। महादेवी उर्वशी हमारी भी पूजनीया माता ही हैं, और तब आप भी—'

'माता हैं ?—क्या बकते हो ?'

वसिष्ठ ने बुरा नहीं माना और विहँस कर कहा, 'वे मेरे मातृ-कुल की हैं महाराज ! यह मर्म हमें भी आज ही स्पष्ट हुआ। उन्हें कदाचित आपके यहाँ आने की पूर्व-सूचना नहीं थी, वरना आपसे मिले बिना चली कैसे जातीं ?—आप निश्चिन्त होकर रात्रि यहीं बिताइए। यदि न ही ठहरना चाहें तो प्रातःकाल हो जाने दीजिए। मैं अधिक आग्रह नहीं करूँगा।—महादेवी के सम्बन्ध से तो आप पर हमारा अधिकार भी हो जाता है।—क्या कहूँ, मातुल या मातृष्वस्रेय ?'

यह क्या, विश्वरथ अपने आपको खोता क्यों जा रहा है ? उसके चरित्र की दृढ़ता क्यों पिघलती जा रही है ?—उसने एक उदास-दृष्टि वसिष्ठ पर डाली, क्या कहीं छल का कुछ लेश दिखाई देता है ?—क्यों होती है, मन ही मन इसके प्रति ईर्ष्या ? रोष नहीं, ईर्ष्या ही तो है ! यदि इसमें तुमसे कुछ अधिक महत्वशील है, तो उसकी स्पर्द्धा करो, उससे श्रेष्ठतर होने का प्रयत्न करो विश्वरथ !—और यदि घनिष्ठता है, तो उसका भी लाभ उठाया जा सकता है। वसिष्ठ के प्रश्न को लेकर ही उसने प्रकट में कहा, 'वयस में तो मैं तुमसे छोटा ही होऊँगा न—'

'वयस में नहीं राजन्, व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा में बड़ा होता है। आप राजा हैं, अपने अधीन सहस्राधिक प्रजाजनों की हित-कामना के पूरक और उनके उज्ज्वल भविष्य के अन्वेषी ! मैं अपने आत्मन् से ही अनजान, एक दीन-हीन ब्राह्मण, अपने ही ब्रह्म का अन्वेषी।—तो भी आप मेरे मातृष्व बन्धु तो हैं ही।—यात्रा का यह वेश उतारें। यदि स्नान करना चाहें, तो उसकी व्यवस्था भी कर दी जा सकती है। ब्राह्मणोचित सामान्य उत्तरीय, कटि-वस्त्र आदि तो सुलभ होंगे ही—'

—तभी अग्नीध्र एक और सहपाठी के साथ अर्घ और उष्ण दुग्ध के पात्र लेकर उपस्थित हुए।

विश्वरथ ने देख कर कहा, 'यदि तुम्हारा यही आग्रह है—'

'आग्रह नहीं भाई, अब तो यह मेरा सौभाग्य है।' फिर नए शिष्य को सम्बोधित कर वसिष्ठ ने कहा, 'कुन्तल महाराज के हस्त-प्रक्षालन के बाद तुम एक जोड़ी शुद्ध उत्तरीय और कटि-वस्त्र ले आओ। महाराज शयन से पूर्व स्नान करना चाहेंगे।'

'नहीं आचार्य' स्नान तो इस वर्षा में मार्ग में यों ही हो चुका है!—आवश्यकता दूध की भी नहीं थी।' फिर कुन्तल से पात्र लेकर उन्होंने हाथ और मुँह का प्रक्षालन किया, कुन्तल द्वारा प्रस्तुत वस्त्र से मुख पोंछ कर अग्नीध्र से दूध का पात्र लिया और गटागट पी लिया। फिर तृप्ति की साँस लेकर कहा, 'यह दुग्ध तो अमृत-तुल्य है बन्धु वसिष्ठ!—ऐसा गौ-दुग्ध मैंने पहले कभी नहीं पिया।'

आचार्य ने अग्नीध्र की ओर दृष्टि डाली तो उसने सगर्व कहा, 'यह हमारी कामधेनु का दुग्ध है महाराज? आचार्यपाद स्वयं उसकी परिचर्या करते हैं। और जब चाहो तब दुह लो, ऐसी तो अनेक गौएँ हैं आश्रम-गोष्ठ में महाराज।'

'यदि अवसर मिला तो तुम्हारा गोष्ठ देखना चाहूँगा बन्धु! मेरी इच्छा है कि अपने गोष्ठ में भी ऐसी कुछ गौएँ अवश्य हों।—अच्छा, अब इन बेचारे शिष्यों को क्यों त्रस्त करते हो?—इन्हें विश्राम करने दो बल्कि तुम भी—'

वसिष्ठ ने मुस्करा कर कहा, 'सेवा, आश्रम के विद्यार्थियों को त्रस्त नहीं, तुष्ट करती है बन्धु!' फिर शिष्यों को सम्बोधन कर कहा, 'तो तुम अब जा सकते हो। और आयुष्मान कुन्तल, तुम कल प्रातःकाल अरुणोदय से ही महाराज की सेवा में प्रस्तुत रहोगे। सन्ध्या-वन्दन के बाद तो मैं स्वयम् उपस्थित होऊँगा ही।'

जब दोनों शिष्य चले गए, तो विश्वरथ ने पलंग पर बैठते हुए पूछा, और अब स्पष्ट ही उनके स्वर में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक नम्रता थी, 'अच्छा भाई, महादेवी उर्वशी अकस्मात् इधर कैसे आ टपकीं?—तुम खड़े क्यों हो?—बैठो न!'

'वह भी मेरा सौभाग्य ही था भाई!' कहते हुए वसिष्ठ पास रखी हुई एक आसन्दी खींचने लगे। विश्वरथ ने खड़े होकर उनका हाथ पकड़ लिया और अपने पास ही पलंग पर बिठाते हुए कहा, 'यहाँ बैठो मेरे पास। अब हमारा सम्बन्ध राजा-प्रजा का नहीं, भाई-भाई का है।—और अब कहो, महादेवी के अकस्मात् यहाँ आने का क्या प्रयोजन था?'

'मेरे लिए वह सौभाग्य अवश्य अकस्मात् था, किन्तु वे तो पहले से योजना बना कर ही आई होंगी।—आप जानते ही होंगे—'

विश्वरथ ने हाथ उठाकर वसिष्ठ को रोकते हुए कहा, 'नहीं। अब यह 'आप-वाप' नहीं चलेगा। उम्र में बड़े होने पर भी तुम्हें जब मैं 'तुम' कह कर सम्बोधित कर रहा हूँ तो तुम क्यों नहीं—?'

विहँस कर वसिष्ठ ने कहा, 'अच्छा भाई, वही सही।—तो तुम भी कदाचित् जानते ही होगे, उन्हें आशंका है कि आर्यगण अपने विजयोन्माद में शीघ्र ही उनके प्रियजन सिन्धु-तट के समृद्ध पणिक-नगर पर आक्रमण कर देंगे। छुट-पुट लूट-खसोट के परिवाद तो आए दिन रहते ही हैं।'

'हाँ हाँ' मैं जानता हूँ।—तो क्या तुम्हारे पास वे सहायता के लिए आई थीं?'

वसिष्ठ ठठाकर हँसा, 'मुझसे सहायता?—मैं शास्त्र-जीवी हूँ भाई, तुम्हारी तरह शस्त्र-जीवी नहीं।'

'मुझसे जिस प्रकार की सहायता की अपेक्षा थी, वह मैंने पूरी कर दी है, यही सूचित करने के लिए मैं यहाँ आया था। तुमने क्या उन्हें निराश कर दिया?'

'मुझसे कोई आशा लेकर ही आई होंगी वे, यह कैसे मान लूँ?'

'महाराज सुदास पर तुम्हारा प्रभाव है यह तो स्पष्ट ही है। और प्रसिद्ध तो यह भी है कि गत दाशराज–युद्ध में तुमने स्वयं शस्त्र धारण कर उसकी सैन्य का नेतृत्व किया था!'

'वह आपद्धर्म था भाई!—रही महाराज सुदास की बात—मुझे क्षमा करना भाई, आक्षेप अपने ऊपर न ले लेना—सामान्यतः ये क्षत्र धारण करने वाले विश्वास के योग्य नहीं होते।—अब यही देखो, मेरी इच्छा के विरुद्ध ही सुदास पश्चिम-विजय के लिए चल पड़ा है।'

'तुमने उसे रोकने का प्रयत्न किया था?'

'वह अवश्य नहीं किया, अवहेलित होने का संकट क्यों लेता?—मैंने महादेवी को अवश्य आश्वस्त किया है कि पणिकों पर यदि आर्यगण, मुख्यतया महाराज सुदास, आक्रमण का विचार करेंगे, तो मैं उन्हें अवश्य विरत करने का प्रयत्न करूँगा।—वैसे आर्यगण पणिकों के शत्रु हैं और शत्रु से इस आश्वासन से अधिक की क्या आशा की जा सकती है?'

'यदि आर्यगण विरत न हुए, तो क्या तुम पणिकों की ओर से उनके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण नहीं करोगे?

वसिष्ठ ने कुछ सोच कर कहा, 'पहले तो भाई, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, स्वभाव से मैं शस्त्र-जीवी नहीं, शास्त्र-जीवी हूँ।—दूसरे, तुम जानते हो, मेरे पिता आर्य-कुल के भूषण हैं, मैं उनके प्रति विश्वासघात करने की कल्पना भी नहीं कर सकता।—मैंने महादेवी को यह आश्वासन भी दिया है कि मैं स्वयं पणिकों के बिरुद्ध कभी शस्त्र धारण नहीं करूँगा।—और तुम जैसे क्षत्र-धारी योद्धा के होते हुए अन्य किसी की उन्हें अपेक्षा ही क्या है ?'

'सचमुच होनी नहीं चाहिए। कठिनाई यही है बन्धु, कि वे मुझे अब भी निरा किशोर ही समझती हैं, मेरे शौर्य पर पूरा विश्वास नहीं करतीं। यही देखो, कैसी कठिन परीक्षा में उन्होंने मुझे डाल दिया था, किन्तु उसमें भी मैं उत्तीर्ण हुआ हूँ। यही तो सूचना देने आया था उन्हें !'

'कैसी कठिन परीक्षा भाई ?' वसिष्ठ ने सहज ही पूछ लिया।

'अब तुमसे क्या छिपाना ?—पणिकों के पास अश्व-बल नहीं है न ! किसी तरह उस अभाव की पूर्ति हो इसका दायित्व मुझ पर डलवाया गया था !'

'तुम्हें इससे सफलता मिली, मैं सुखी हुआ। मेरा हार्दिक अभिनन्दन तुम्हें !'

'पर तुम क्या जानो, कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा है मुझे ?—अश्व इतनी सहजता से उपलब्ध कहाँ हैं ?—जानते हो, मुझे क्या करना पड़ा है ?'

'क्या करना पड़ा भाई ?'

'मुझे अपनी बहन की बलि देनी पड़ी है।'

'बलि ?—यह कैसी अघटनीय बात कह रहे हो ?—स्त्री की बलि तो यज्ञ में भी वर्जित है।'

विश्वरथ मुस्कराया, 'वह बलि नहीं भाई !—तुम आर्यों को यज्ञ के सिवा और भी कुछ सूझता है ?—मैं उस बलि की बात नहीं कहता। इन अश्वों के लिए मुझे अपनी बहन का विवाह एक प्रौढ़ व्यक्ति के साथ कर देना पड़ा है। यह क्या उसकी बलि नहीं है ?'

'पूरी बात समझा कर कहो।'

'सुन कर सुखी नहीं होओगे भाई !—वह तुम्हारे इन तथाकथित आर्य ऋषियों की काम-लिप्सा की कहानी है।'

'अश्वों से ऋषियों का क्या सम्बन्ध ?—किसी अश्वमेध-यज्ञ की बात है ?'

'वह भी होती तो एक बात थी। उधर पूर्व में सरस्वती के तट पर आश्रम-वासी एक ऋषि ऋचीक का नाम शायद तुमने भी सुना होगा। सुनते हैं वे वेदर्षि हैं।'

'महर्षि ऋचीक ?' वसिष्ठ का हृदय धड़कने लगा, उन्हीं के आश्रम में तो उसकी सर्वांग शिक्षा सम्पन्न हुई है। अपवाद-स्वरूप उनके विषय में कुछ होना क्या सम्भव है ?

विश्वरथ कह रहा था, 'सुना था कि किसी आर्य-वीर ने अपने पुत्र की सम्यक् शिक्षा से प्रसन्न होकर उन्हें गुरु-दक्षिणा में सहस्रों श्यामकर्ण अश्व दिए हैं। अभी तुम्हीं ने पूछा था न, कि ऋषियों और अश्वों में क्या सम्बन्ध ? यही प्रश्न मैंने अपने आप से भी किया था और सोचा कि क्यों न ऋषि को उनके उपयोग की कोई वस्तु दे दी जाए और इन अश्वों के बोझ से उन्हें मुक्ति दिलवा दी जाए ?'

'किन्तु वे तो शस्त्र-ज्ञान में भी धुरन्धर हैं भाई।'

'जैसे तुम हो !—होंगे भाई। मुझे तो वे शास्त्र और शस्त्र दोनों से बढ़कर काम-धुरन्धर प्रतीत हुए !—मैंने उनसे पूछा कि क्या लेकर वे अपने अश्व मुझे दे सकते हैं ?—मुझे स्वीकार करना चाहिए बन्धु बसिष्ठ, और कुछ हो, किन्तु हैं बेचारे बड़े सरल, एकदम छल-छिद्रों से परे !—छूटते ही बोले, देखो, शिष्यों को लेकर ही मैं अकेला, बड़ी असुविधा में था, अब इतने सारे अश्व और ऊपर से देखरेख के लिए आ पड़े हैं। हाँ, गृह में गृहिणी होती तो भी एक बात थी !—और मैंने कहा, आपको गृहिणी भी मिल जाए और अश्वों के इस भार से मुक्ति भी, तो ?—वे बोले, गृहिणी सुन्दर, युवती और मनको लुभानेवाली हो तो इन अश्वों से वे सहज ही उसे बदल लेंगे।'

'और तुमने उनके मन को लुभानेवाली गृहिणी के रूप में अपनी बहन समर्पित कर दी ?'

'और कर ही क्या सकता था ?—पणिकों का मुझ पर कम ऋण नहीं है भाई। प्राण ही नहीं बचाए हैं उन्होंने हमारे, हमें गंगा के पार उर्वर भूमि देकर बसाया भी है। यह जो मैं कान्यकुब्ज का राजा बन गया हूँ, बाहुबल अवश्य मेरा हो, किन्तु अवसर तो सब उन्हीं के जुटाए हुए हैं।'

'वृद्ध न हो, तब भी महर्षि ऋचीक प्रौढ़ तो हो ही रहे हैं, यह तो तुमने स्वयम् देखा ही होगा।'

'ऐसों ही को तो काम सताता है। वरना तुम्हीं तो कह रहे हो, शस्त्र-ज्ञानी को अश्वों की महिमा बतानी नहीं होती।'

'और तुम्हारे पिता सहमत हो गए ?'

'सहमत क्यों न होते ? पणिकों के ऋण से मैं अकेला ही नहीं बँधा हुआ हूँ।'

और तुम्हारी वह अभागिन बहन ?—उसकी माता ?'

'वे क्या कहेंगी बेचारी ? इस देश की स्त्रियों में व्यक्तित्व कहाँ रख छोड़ा है आर्यों ने ? अन्य सम्पत्ति की तरह ही उन्हें भी क्या तुम नहीं लूटा करते हो ?–मेरे पिता ने भी यहाँ आकर वृद्धावस्था में विवाह किया था। सत्यवती भी तो इसी देश की उपज है !'

वसिष्ठ ने एक लम्बी साँस ली, 'तुम ठीक कहते हो भाई ! हम आर्यों का यदि नाश होगा तो वह स्त्री-जाति के इस अपमान के कारण ही होगा।—तुम स्वयम् क्या सोचते हो ?'

'मैं क्या सोचूंगा !—हाँ, यदि विवाह करूँगा तो किसी उर्वंशी से ही करूँगा। वह कम-से-कम मांस का ऐसा निर्जीव पिंड तो नहीं होगी।'

'तो वे अश्व तुम्हें मिल गए ?'

'इसी की शुभ सूचना तो मैं महादेवी को देना चाहता था, बल्कि अपने साथ ले जाकर उन्हें प्रत्यक्ष सौंप कर ही निश्चिन्त होता।'

'हरयूपिया नहीं हैं क्या वे अश्व ?'

'नहीं। मैं उन्हें इधर इलिवश के शिविर में छोड़ आया हूँ।'

'इस आँधी-पानी में, वहाँ उनकी उचित व्यवस्था होगी ? आश्रम है वहाँ कोई ?'

'यह लो ! तुमने एक और चिन्ता खड़ी कर दी। आश्रम नहीं, वह तो नदी-तट पर एक अस्थाई शिविर है। किन्तु सैन्य-शिविर है इसलिए कुछ व्यवस्था इलिवश अवश्य कर देगा।'

—सैन्य-शिविर ?—वसिष्ठ का माथा ठनका, किन्तु अपने आपको संयत कर उसने पूछा, 'कहाँ है यह शिविर ?'

'वहीं दक्षिण-पश्चिम में असिक्नी के दक्षिण-तट पर अश्व-वेग के अनुसार छह-सात घटी दूर।'

वसिष्ठ सहसा उठ खड़ा हुआ। बोला, 'भाई, अब तुम थके हुए हो। विश्राम करो। मैं कुन्तल से कहता हूँ, एक चषक सोम वह तुम्हें प्रस्तुत करे। उससे नींद अच्छी और गहरी होगी। अश्वों की चिन्ता छोड़ो। तुमने अपना कर्त्तव्य पूरा किया। प्रातःकाल नित्यकर्म से निपट कर मैं तुम्हें सारा आश्रम दिखा लाऊँगा। यह भी चाहता हूँ कि यहाँ के शिष्य तुम्हारा उद्‌बोधन सुनें। आखिर ऐसे अवसर उनके जीवन में भी बार-बार कहाँ आते हैं ? कुन्तल वैसे पीछे के बहिर्कक्ष में ही सोता है और अरुणोदय के पहले ही यहाँ समुपस्थित रहेगा।'

'हाँ, एक चषक सोम अवश्य क्लान्ति दूर कर देगा वसिष्ठ !—वैसे मैं अब एकदम स्वस्थ हूँ।—तुम्हें असमय में कष्ट दिया—'

वसिष्ठ ने विश्वरथ की पीठ थपथपाते हुए कहा, 'कष्ट नहीं, असमय में सुख दिया, यह कहो।' और वसिष्ठ कक्ष से बाहर निकल आया। वर्षा उस समय भी हो रही थी। कुन्तल को उचित आदेश देकर वह आवास के लिए चल पड़ा। इधर विश्वरथ भी थका हुआ था ही। कुन्तल द्वारा प्रस्तुत एक के स्थान पर दो चषक सोम पीकर वह भी गहरी नींद में सो गया।

अरुन्धति सो गई थी। आश्रम में समय-असमय अतिथि आते ही रहते हैं, और अतिथि की मर्यादा के अनुसार आचार्य को भी कभी-कभी समय देना पड़ता है। कभी-कभी तो अरुन्धति को भी उपस्थित होना पड़ता है यदि अतिथि सपत्नीक हो, किन्तु अरुन्धति को कब उपस्थित होना चाहिए यह निश्चय स्वयम् आचार्य ही करते हैं। बहुधा अरुन्धति को पता भी नहीं चलता कि आश्रम में कौन अतिथि कब आया और कब गया ?

वसिष्ठ को प्रयत्न करने पर भी नींद नहीं आई। लेटे-लेटे ही उनका मन आज की घटनाओं पर मँडराने लगा।—महर्षि ऋचीक ने अश्व देकर पत्नी प्राप्त की, इसमें कोई विशेष बात तो नहीं है ! अश्व तो उनके हो ही गए थे, चाहे गुरु-दक्षिणा में ही मिले हों ! मनचाहे व्यवहार में उनके उपयोग का उन्हें पूरा अधिकार प्राप्त था।—किन्तु मूल्य चुका कर पत्नी खरीदना ! यह क्या कुछ असंगत नहीं प्रतीत होता ? क्या इसे पत्नीत्व के अपमान की संज्ञा दी जा सकती है ? वसिष्ठ को अपने परम प्रतिष्ठित, ज्ञान और प्रज्ञा के आगार गुरु से ऐसे व्यवहार की आशा नहीं थी। पर क्यों ?—अरुन्धति को मालूम होगा तो अवश्य ही उसे भी आघात लगेगा। पत्नीत्व के साथ संस्कार ही ऐसे जुड़े हैं न !

और यह विश्वरथ ?—इसका क्या दोष हो सकता है इस व्यापार में ?—उद्धत है, आग्रही है, कुछ क्षिप्र भी है। किन्तु जो महत्वाकांक्षी होते हैं, वे ऐसे हो ही जाते हैं, उन्हें वैसा हो जाना पड़ता है। युवा रक्त है, दृढ़-साहसी है और कृतघ्न नहीं है, ये कोई कम गुण नहीं हैं।—और जिसमें बाहर विकास करने की क्षमता है, वह सहज ही भीतर भी विकास कर सकता है। आवश्यकता है केवल मोड़ की।—और अभी तो बहुत जीवन पड़ा है, मोड़ कब नहीं आ जाता, कौन कह सकता है ?

सब कुछ यथावत है, नया कुछ नहीं, फिर भी अश्वों का यह प्रकरण क्यों मन को कुरेद रहा है ?—क्या इसलिए कि किसी समय वे अश्व उसके स्वयम् के थे ? किन्तु पैतृक-सम्पत्ति का लोभ उसने किया ही कब है ? उसका स्वयम् अपना उपार्जन कम नहीं है, और दिए हुए दान के बारे में कोई स्पृहा कब उसके मन में उदित हुई ? अश्वों ही की बात हो, तो इसी समय आश्रम की अश्वशाला में रण-

सज्जा के उपयुक्त एक सहस्र अश्व उपलब्ध हैं !—क्या पणिकों को उनका हस्तान्तरण कुछ संकट प्रस्तुत कर सकता है ? पणिक कोई युद्ध जीवी समूह तो नहीं है। उन बेचारों को अपने व्यवसाय से ही कहाँ अवकाश है ? यदि उन्हें अच्छा मूल्य मिल जाए, तो वे इन अश्वों को भी पण्य बना लेंगे —स्वयम् आर्यों ने ही उनसे कितना शस्य और कितने वृषभ क्रय नहीं किए हैं ? और यह भी तो एक प्रकार का व्यवसाय ही था,–अश्व देकर पत्नी क्रय करना। अनैतिक इसमें क्या है ?—पत्नी को एक वस्तु की तरह खरीदना—व्यवहार का माध्यम क्या अनादि काल से वस्तुओं या श्रम का विनिमय ही नहीं रहा है ?–मनुष्य सभ्य होता जा रहा है तो माध्यम स्थूल, जड़ वस्तु होती जा रही है। पशु तो क्रय-विक्रय हो ही रहे हैं, कई स्थानों पर पत्नी के रूप में न सही, दास-दासी के रूप में मानवों का क्रय-विक्रय भी प्रचलित है।—पर मन समझौता क्यों नहीं करना चाहता ? क्या यही व्यवहार किसी दूसरे रूप में हो सकता था ?—विश्वरथ की बहन स्वयम्वरा होती—महर्षि ऋचीक कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं, और तब अश्व भी उपहार के रूप में भेंट किए जाते। विनिमय के विचार से नहीं, केवल सद्भावना और पारस्परिक आत्मीयता के प्रतीक के रूप में !—आखिर विचारों और भावनाओं का आदान-प्रदान होता है, वस्तुओं का भी होता है, किन्तु कन्या का तो सम्प्रदान ही होना चाहिए।—वसिष्ठ को इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी—अरुन्धति उसको जन्म से ही प्राप्त थी न ! पर विश्वरथ भी तो यही कर सकता था ! सत्यवती उसकी सहोदर बहन नहीं है, क्या इसीलिए वह प्रौढ़ महर्षि को सौंप दी गई ? उनके यहाँ शायद यह प्रथा नहीं है। विश्वरथ की आवश्यकता भी तो विशेष प्रकार की है ! वह किसी निर्जीव मांस-पिंड से नहीं, किसी स्वतन्त्र-चेता तेजस्विनी उर्वशी से विवाह करेगा। आवश्यकता ही तो व्यवहार की जननी है !—वसिष्ठ को हँसी आई—क्या अरुन्धति निर्जीव-मांस पिंड है ?—क्या वह किसी से कम तेजस्विनी है ?—यही तो मानव-स्वभाव की विशेषता है ! यदि रुचियों में पार्थक्य न होता तो पशु से भिन्न मानव की पहचान ही क्या थी ?

तब भी अश्वों का यह व्यापार मन में समा क्यों नहीं रहा है ?—अच्छा, यदि महादेवी मृगम्मदा ही स्वयं वसिष्ठ से इन अश्वों की माँग कर बैठती तो ?—मातृत्व का मूल्य तो वे दे ही चुकी थीं, मान लो, और भी मूल्य ऊपर से देने को तत्पर हो जातीं ?—अनजाने ही सही, आत्मीयता का एक अंकुर इस व्यवहार में भी तो उभर आया है ! महादेवी उर्वशी यदि वसिष्ठ की माता हैं, तो अब महर्षि ऋचीक भी विश्वरथ के बहनोई हैं !—सम्बन्धों का यह जाल है वसिष्ठ, इसमें फँस कर व्यक्ति उलझता ही है, सुलझता नहीं। इसीलिए तो जिसे हम संसार

कहते हैं, ज्ञानी पुरुष उसे असार कह कर पहचानते हैं। सोने की चेष्टा करो भाई, उषःकाल अभी बहुत दूर है।

वसिष्ठ ने करवट बदली।—किन्तु यह क्या, कक्ष के बाहर कोई प्रविष्ठ हुआ है क्या?—वर्षा का वेग कम हुआ हो, पर वह थमी नहीं है।—कोई है अवश्य! पद-ध्वनि को बूंदों की टपाटप से पृथक करके देखा जा सकता!—अरुन्धति की नींद में किसी तरह का व्याघात न पहुँचे, इसीलिए वह निशशब्द शैया से उठा। अर्गला हटा कर द्वार के कपाट खोले और फुसफुसाया, 'कौन?—अरे तृत्सु तुम?'

'आचार्यपाद क्षमा करें। बड़े असमंजस में था कि किस तरह आपको जगाऊँ? एक आवश्यक व्यापार ने यदि विवश न कर दिया होता तो आपको कदापि कष्ट न देता।'

'मेरे कष्ट की चिन्ता न करो वयस्य, शीघ्र कहो, भीमा-प्रकृति के आँधी और पानी से भींगे इस अँधेरे में क्या अघटनीय घट गया है कि तुम्हें इस समय भी विश्राम नहीं है?'

भीतर कक्ष में अरुन्धति की नींद भी खुल गई थी, दीपक की लौ उकसा कर वह भी द्वार पर आ खड़ी हुई। तृत्सु ने देखकर अभिवादन करते हुए कहा, 'भगवती, आपकी निद्रा भी भंग हो गई?—मेरी विवशता को क्षमा करें—'

वसिष्ठ ने उस ओर ध्यान न देकर तृत्सु से पुनः पूछा, 'अवश्य कोई गम्भीर व्यापार है न?'

'ऐसा ही सोचने को मैं बाध्य हुआ हूँ आचार्य! अभी असिक्नी के दक्षिण-पश्चिम की बसतियों से एक अश्वारोही रक्षक सूचना लाया है कि उस पार जिस अपरिचित सैन्य-दल का शिविर पड़ा हुआ था, अकस्मात् आज मध्याह्न वहाँ कई अश्व आ जुटे हैं।'

वसिष्ठ ने एक क्षण सोच कर कहा, 'सम्भवतः वह पणिकों का दल है। उनका नेता कोई इलिवश है न?—उस पार ही उनकी कुछ बसतियाँ भी तो हैं। उनकी चिन्ता मत करो तृत्सु! वे कदाचित यों ही वर्षा-विहार के लिए नदी-तट पर जमा हो गए हों।'

'हमारे रक्षकों का भी यही अनुमान था ऋषिवर, किन्तु आज सन्ध्या के अन्धकार के साथ ही देखा गया कि वे नदी पार करने का उपक्रम कर रहे हैं। नव-आयातित अश्वों पर आरूढ़ इस पार आ गए कतिपय सैनिकों को जब हमारे रक्षकों ने ललकारा, तो वे संघर्ष के लिए प्रस्तुत हो गए और हमारे एक रक्षक को उन्होंने आहत भी कर दिया। उनका मन्तव्य शुभ न देखकर ही एक अश्वारोही

हमें सूचना देने के लिए यहाँ भाग आया है। वहाँ हमारे रक्षकों की संख्या बहुत ही कम है आचार्य, मुझे बड़ी चिन्ता हो गई है। महाराज की अनुपस्थिति में यहाँ की सुरक्षा का दायित्व हमारा है न !'

'तुम्हारा कथन यथार्थ है तृत्सु !—कुछ न हो तो भी सतर्कतामूलक कुछ कार्यवाही तो करना ही चाहिए—तुम्हारी क्या योजना है ?'

'कुछ सशस्त्र रक्षकों का एक गुल्म तो तत्काल उनकी सहायता के लिए यहाँ से जाना चाहिए ताकि उन्हें रोकने के लिए यदि आवश्यक हो तो बलप्रयोग किया जा सके।'

'नदी पार कर रहे हैं तो आगे तो बढ़ेंगे ही वयस्य ! उन्हें रोकना ही होगा।'

'और अब तो उनके पास अश्व भी हैं।' तृत्सु ने कहा।

'मैं नहीं कह सकता, अश्वों से वे इस समय कितना लाभ उठा सकेंगे, किन्तु हम चुप कदापि नहीं बैठे रह सकते।—तुम तत्काल कितने अश्वारोही तैयार कर सकते हो ?'

'रण-श्रृंग-उद्घोष कर अधिक से अधिक दो घटिका में एक सहस्र तक सैनिक सरलता से अश्वपीठ पर आरूढ़ प्रस्तुत हो सकते हैं आचार्य।'

'नहीं। रण-श्रृंग उद्घोष दूर, सम्बन्धित सैनिकों के अतिरिक्त किसी अन्य को कानों-कान कुछ भी आहट, कुछ भी आभास नहीं होना चाहिए। अतिथि-गृह में कान्यकुब्जेश्वर विश्वरथ विश्राम कर रहे हैं। आवश्यक ही नहीं; यह अनिवार्य है कि अन्य किसी को इस अभियान की भनक न हो।—जितना शीघ्र हो सके, तुम दो सौ अश्वारोही लेकर उस दिशा में कूच कर दो। मैं स्वयम् चलता, किन्तु विश्वरथ के यहाँ उपस्थित रहने से मैं नहीं जा सकूँगा। उसे यहाँ अटकाए रखना है।'

'आप उधर से निश्चिन्त होकर यहाँ की व्यवस्था सम्हालें आचार्यवर, किन्तु केवल दो सौ अश्वारोही क्या अपर्याप्त नहीं होंगे ?—पता नहीं, उनका अश्व-दल ठीक कितना है ?'

'चाहे जितना हो तृत्सु, उसकी चिन्ता मत करो। युद्धभूमि में विजय अश्व नहीं, अश्वारोही प्राप्त करते हैं। उन्हें वे अश्व आज ही तो उपलब्ध हुए हैं। महर्षि ऋचीक के आश्रम से चल कर पहुँचे हैं, अतः क्लान्त तो इस यात्रा में वे हो ही चुके होंगे। और अश्व होने से ही तो अश्वारोही नहीं हो लिया जा सकता ! अपने शिष्यों को अश्व-संचालन के प्रशिक्षण में तुम्हें स्वयम् कितना परिश्रम करना पड़ता है ? यदि आक्रमण ही उनका उद्देश्य है तो उनका नेता, साहसी हो सकता है, किन्तु बुद्धिमान नहीं।—यों भी, तुम्हारे इस अभियान की प्रगति का विवरण मुझे प्रत्येक

प्रहर में मिलना चाहिए, इसकी सम्यक् व्यवस्था हो जाए। यदि आवश्यक हुआ तो तुम्हें शीघ्र पर्याप्त सहायता पहुँचाई जाएगी। युद्धाभ्यास के नाम पर यहाँ पाँच सौ अश्वारोही कसे हुए तब तक तैयार रहेंगे, जबतक तुम विजयी होकर अपने अभियान से न लौट आओ।'

'आपके आदेश का अक्षरशः पालन होगा आचार्य ! आपकी योजना इतनी अच्छी है कि विजय के बारे में किसी को संशय नहीं हो सकता। तो मैं आज्ञा लूं ?'

'और देखो तृत्सु, यह सारा अभियान सतर्कता-मूलक है। यदि उनका इरादा आक्रमण का न हो तो किसी की व्यर्थ शत्रुता से बचे रहना होगा। बल-प्रयोग यदि अनिवार्य ही हो जाए, तो वह कम-से-कम हो, और चेष्टा किसी भी तरह रक्त-पात को रोकने की हो। यदि वे संघर्ष के लिए उत्सुक ही प्रतीत हों, तो अश्व उनके अवश्य छीन लिए जाएँ।'

'आपकी इच्छाओं का पालन होगा आचार्य !' और वह जाने को उद्यत हुआ तो वसिष्ठ ने कहा,

'और देखो, किसी से कह कर अतिथि-गृह से अग्नीध्र और कुन्तल को मेरे पास भिजवा दो।—एक बार और, किसीको इस अभियान का पता न पड़े इसके लिए विशेष अनुरोध है मेरा।'

तृत्सु ने स्वीकृति और सम्मान में वक्ष तक सिर झुका कर अभिवादन किया और द्रुत-पद कक्ष से बाहर निकल आया तो द्वार-देश से अरुन्धति आगे बढ़ी। वसिष्ठ तब भी बाहर द्वार की ओर तृत्सु के निष्क्रमण-पथ पर टकटकी लगाए निर्वाक खड़ा था। अरुन्धति ने उसके कन्धे पर हाथ रख कर पूछा, 'यह कान्य-कुब्जेश्वर कौन है वसू ?'

वसिष्ठ ने अरुन्धति का हाथ अपने हाथ में ले लिया और कहा, 'तुम्हारी निद्रा भंग करने का प्रयोजन तो नहीं है अरु !' और बलात् मुस्करा कर उसने यह दर्शाने की चेष्टा की कि प्रस्तुत प्रसंग कोई बहुत गम्भीर प्रसंग नहीं है।

अरुन्धति ने भी प्रत्युत्तर में मुस्करा कर कहा, 'संभोक्ता ही नहीं, हम संयोक्ता, सहोदर भी हैं वसू, यह भूलने से काम नहीं चलेगा। जो प्रयोजन तुम्हारा है, वह स्वतः मेरा भी हो जाता है।'

'बताना तो था ही सब कुछ तुम्हें।—अभी ही जानना चाहती हो तो यही कहूँगा कि हमारे लिए आज का दिन कुछ विशिष्ट ही रहा है मातृकुल के उच्छ्वास का !—और उसके द्वारा कुछ समस्याएँ खड़ी कर देने का।—कान्यकुब्जेश्वर यह विश्वरथ भी अब कान्यकुब्ज का राजा हो, पर जन्मा था उर-प्रदेश की प्रजा होकर ही—'

'सो हो ! राजाओं का हमारे यहाँ अभाव कहाँ है ?—देख रही हूँ, तुम चिन्तित भी हो। क्या समस्याएँ खड़ी हो गई हैं इनके कारण ?'

'यों तो विशेष कुछ नहीं है, किन्तु महाराज सुदास की अनुपस्थिति में यहाँ की सुरक्षा का दायित्व जो मुझ पर हो जाता है !—तब भी समस्या छूत की नहीं है अरु, कि संसर्ग से तुम भी आकुल हो उठो।—लो, वह अग्नीध्र और कुन्तल भी आ गए।'

पहले अग्नीध्र और उसके बाद कुन्तल ने भीतर प्रवेश कर बारी-बारी से गुरु और गुरु-पत्नी के चरण स्पर्श कर आशीर्वाद ग्रहण किया। अग्नीध्र ने कहा, 'आचार्यपाद तृत्सु से सब प्रकरण ज्ञात हुआ है भगवन् ! हम आपके आदेश की प्रतीक्षा में प्रस्तुत हैं।'

'स्वस्ति वत्स, जब आचार्य तृत्सु ने तुम्हें सब कुछ वता दिया है तो विशेष मुझे भी कुछ कहना नहीं है। आतंक या चिन्ता की भी कोई बात नहीं है। हमें एक तो इसकी पूरी सावधानी रखनी है कि आचर्य तृत्सु के गुल्म के चुपचाप प्रस्थान के बाद भी उसका यहाँ किसी को पता न चले, और इसका सारा दायित्व तुम पर है। वस्तुतः चिन्ता का कोई प्रयोजन नहीं है, उसका अवसर ही नहीं है, किन्तु आवश्यक यह है कि हमारे सम्मान्य-अतिथि को किसी भी व्याज से इस अभियान का तनिक भी आभास न हो।'

'किन्तु आप तो उन्हें आश्रम के निरीक्षण का प्रस्ताव कर चुके हैं !'

'उनको बहलाए रखने के लिए वह एक उत्तम विकल्प प्रमाणित होगा। आश्रम के निरीक्षण के बाद उन्हें छात्रों को सम्बोधित करने के लिए भी निमन्त्रित किया है। अभियान के बाद जो छात्र उपलब्ध हों, वे यथासमय सभागार में एकत्र हो जाएँ।—वह सब मैं देख लूंगा।—आशा तो यही है कि इसमें सहज कोई समस्या नहीं प्रस्तुत होगी, किन्तु यदि कभी कुछ हो, तो हमें यह मान कर चलना होगा मानों विश्वरथ तबतक हमारे बन्दी हैं, जब तक कि आचार्य तृत्सु का अभियान लौट न आए। प्रयत्न हमारा यही होना चाहिए कि विश्वरथ अपने को विवश अनुभव न करें। वातावरण में यदि अस्वाभाविक कुछ प्रकट न हो, तो वे वैसा कुछ अनुभव भी करेंगे नहीं तुम स्वयम् समझदार हो।'

'मैं समझ गया आचार्य ! आपके आदेश का बड़ी सतर्कता और सावधानी से पालन होगा।'

'और वत्स कुन्तल, जब तक मैं सन्ध्या-वन्दन आदि से निपट कर स्वयम् वहाँ न पहुँच जाऊँ, तब तक महाराज विश्वरथ तुम्हारे अतिरिक्त और किसी से न मिलने पाएँ इसका भार तुम पर है। उनके मन को व्यस्त रखने के लिए सोम-

मैरेय आदि ही नहीं, आमोद-प्रमोद के अन्य विहित साधनों को भी उन्हें प्रस्तुत किया जाए !'

'आप निश्चिन्त रहें आचार्यपाद !' कुन्तल ने वसिष्ठ को आश्वस्त किया।

एक बार पास खड़ी अरुन्धति की ओर देख कर आचार्य ने अपने दोनों शिष्यों की ओर देखा और कहा, 'मुझे खेद है वत्स, आज की रात तुम्हारे विश्राम की रात नहीं हुई !'

अग्नीध्र ने हाथ जोड़ कर कहा, 'हमारा विश्राम तो प्रभु, इसी में है कि हमारे होते हुए आपको इस तरह रात भर जागना न पड़े। हम तो अब तक पर्याप्त विश्राम ले भी चुके हैं, किन्तु आप—'

वसिष्ठ ने हँसकर कहा, 'आचार्य की चर्या, दिनचर्या ही नहीं, निशिचर्या भी होती है वत्स ! तुम जाओ अब। अतिथि के आमोद-प्रमोद में यदि तुम्हारा भी कुछ आमोद-प्रमोद सध सके तो मुझे सन्तोष होगा, किन्तु ध्यान रहे, उसमें अपने आपको भुला न दिया जाए !'

दोनों शिष्यों ने दोनों को पुनः प्रणाम किया और बाहर निकल आए।

अरुन्धति ने कहा 'चलो वसू।—अभी तो उषा भी सोई हुई है। तुम कुछ नींद ले लो। मैं तुम्हारा सिर सहला दूंगी।'

वसिष्ठ ने उसे बाहुओं में भर कर कहा, 'तुम सो जाओ अरु मैं गुल्म के प्रस्थान का सम्वाद न आने तक यहाँ प्रतीक्षा करूँगा।'

वसिष्ठ की आँखों में आँखें डाल कर अरुन्धति ने कहा, ' तुम्हारा दायित्व क्या मेरा दायित्व नहीं है वसू ? मैं तो अब तक खूब सो भी चुकी हूँ। चलो, अब तुम चल कर सोओ । तुम्हारी ओर से मैं प्रतीक्षा करूँगी । यदि एक घटी तक भी गुल्म के प्रस्थान का सम्वाद न आया' तो मै तुम्हें जगा दूँगी '।

'किन्तु मुझे नींद आ जाएगी ?' हँस कर वसिष्ठ ने पूछा।

'सिर पर चन्दन का लेप करके तुम्हें सुलाने का दायित्व मैं लेती हूँ। चलो।'

' वह तो दूर की बात है अरु, तुम्हारे शरीर-स्पर्श की कोमल सुगन्धि क्या किसी चन्दन की अपेक्षा रहने देती है ?—चलो, प्रतीक्षा करने की तुम्हें भी आवश्यकता नहीं है। आचार्य तृत्सु की तत्परता का परिचय दाशराज-युद्ध में मिल चुका है। उन पर पूर्णत: निर्भर किया जा सकता है।' और अरुन्धति को अपने पार्श्व में सटाए हुए ही वह भीतरी कक्ष की ओर मुड़ गया।

● ● ●

सूर्योदय होते-होते वर्षा थम गई थी। प्रकृति ने मानों स्नान करके एक नया ही रूप धारण कर लिया था। वृक्षों के हरित पर्ण, मानों वर्षा से नहीं, आंतरिक करुणा में भींगे हुए नयनों से अपनी श्रद्धा के अश्रु टपका रहे हैं। चारों ओर सद्यस्नाता का हरित दुकूल फैला हुआ है, जिसे प्रकाश की रश्मियाँ भी मानों छूने में संकोच कर रही हैं। धुल कर आश्रम का आँगन एकदम स्वच्छ हो गया है और वातावरण में सौंधी मिट्टी की सुगन्ध फैली पड़ी है। कहीं-कहीं अवश्य पानी के डबरे भरे रह गए हैं, जिनमें ऊपर का आकाश झाँक कर मानों अपना रूप सँवारने की चेष्टा कर रहा है। वह अभी भी मटमैला जो है! धरा का मैल वही तो धोता आ रहा है। क्या वही मैल छूट कर तो नहीं उसके अंगों पर छिटक गई है? उसमें छिपा हुआ सूर्य कितने दंड ऊपर चढ़ चुका है, यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता—लगता है, बादल अभी भी खूब भरे हुए हैं, कम-से-कम अपनी काया का मैल तो धोए बिना रहेंगे नहीं!

चाहे जैसी रही हो वर्षा, आश्रम के नैमित्तिक कार्यक्रम में उससे कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ है। आचार्य वसिष्ठ अपने प्रिय शिष्य अग्नीध्र और कुन्तल को साथ लिए हुए सम्मान्य-अतिथि कान्यकुब्जेश्वर विश्वरथ को अपना आश्रम दिखा रहे हैं।-आवश्यक सतर्कता बरत ली गई है। दक्षिण-पश्चिम के उपान्त पर रक्षक नियुक्त है, कि इस बीच कोई सन्देश-वाहक आए तो उसे सावधान करके ही आचार्य के पास भेजा जाए। यहाँ पर भी अग्नीध्र आगे बढ़ कर उससे बातचीत करे, और यदि कोई विशेष प्रयोजन न हो तो संकेत से ही आचार्य को अवगत करा दिया जाए। इस बीच यदि अभियान ही लौट आए, तो उपान्त में रुके रहकर बसती में प्रवेश के आदेश की प्रतीक्षा करे। जब तक मान्य अतिथि का आश्रम-निरीक्षण समाप्त नहीं हो जाता, तब तक किसी भी प्रकार की हलचल लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

गौशाला का परिचय कराते समय आचार्य ने प्रत्येक गाय का नामोल्लेख करके परिचय दिया। वसिष्ठ को देखते ही गौशाला में मानों प्राण-वायु की एक लहर दौड़ गई। सभी गौएँ थूथन उठा कर उनकी ओर देखते हुए मचल उठीं। वसिष्ठ ने भी किसी की पीठ पर, किसी के मुँह पर, किसी के सींग, किसी के कान, किसी की पूँछ और किसी का गल-कम्बल सहला कर अपनी आत्मीयता प्रकट की। नीचे से हरित दुर्वा के पूलक उठा कर कई गौओं को प्यार से खिलाया, और कई गायों ने जीभ से उनके हाथ चाट कर अपना मूक स्नेह प्रदर्शित किया। गायों के प्रति

वसिष्ठ की ऐसी आसक्ति देख कर विश्वरथ को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा, 'इतने व्यस्त कार्यक्रम में भी इनके लिए तुम्हें समय मिल जाता है?,

'अपने लिए यदि समय मिल जाता है तो इनके लिए क्यों नहीं मिलेगा?— यह देखो, यह कपिला है, जिसे जब चाहो दुह लो। सबको अपना बच्छ समझती है, केवल इसकी आँखों में पुत्र-भाव से देख लेना होता है, और इसके थन दूध से छलक उठते हैं।—यह है तेजस्विनी नन्दिनी, जो सिंह का भी भय नहीं करती, किन्तु वात्सल्य का प्रसाद उसको भी देने में नहीं झिझकती।—यह है कामधेनु, जिसका अमृतोपम दुग्ध पीकर रात्रि को तुमने तृप्ति अनुभव की थी। दिन में जब तक एक बार हम परस्पर भेंट नहीं लेते तब तक न इसे चैन पड़ती है न मुझे।' और वसिष्ठ ने आगे बढ़ कर कामधेनु के आगे बढ़ाए हुए गले पर अपना गला रख दिया। गाय ने भी कान फड़फड़ाकर मुग्ध-भाव में अपनी आँखे मूँद लीं।

'इस गाय को मैं क्रय करना चाहता हूँ वसिष्ठ! बोलो, कितने निष्क स्वर्ण चाहिए?' विश्वरथ ने लोलुप दृष्टि से गाय की ओर देखते हुए सहसा पूछ लिया।

वसिष्ठ ने हँस कर कहा, 'मैं गाय कभी बेचता नहीं भाई! यह तो माता है, माँ को कहीं बेचा जाता है? – हाँ सुपात्र हो, और माँ की सेवा करने का अभिलाषी हो, तो उसे दान दे देता हूँ।'

'मुझे यह गाय बहुत पसन्द है भाई!'

'पसन्द है तो तुम्हें भी इसकी सेवा करने का अधिकार है। माँ पर किसी एक ही सन्तान का अधिकार क्यों हो?—क्रय करके नहीं, माँ समझ कर अवश्य ले जा सकते हो!'

विश्वरथ ने ठठाकर हँसते हुए कहा, 'ऐसी भावुकता तुम्हें ही अभिनन्दनीय है वसिष्ठ! माँ बन कर तो जन्म देने वाली भी मुझे नहीं बाँध सकी। रही बात दान की, सो मैं राजा हूँ वसिष्ठ! गायों का मेरे गोष्ठ में भी अभाव नहीं है, और यह गाय मैं कोई यज्ञ के लिए भी नहीं माँग रहा हूँ। बदले में तुम जो चाहो माँग लो।'

वसिष्ठ को विश्वरथ की प्रगल्भता से कष्ट हुआ किन्तु अपने मन के भावों का दबा कर उसने कहा, 'विनिमय का प्रश्न नहीं है भाई!—तुम्हें यह गाय यदि पसन्द है, तो मेरी ओर से इसे उपहार स्वरूप ग्रहण करो।—बस, एकही बात है—'

इसके पहले कि वसिष्ठ अपनी बात आगे कहे, अग्नीध्र ने आगे बढ़कर कहा 'किन्तु आचार्य, कामधेनु तो किसी अन्य व्यक्ति के पास रह कहाँ सकती है?'

वसिष्ठ ने कहा, 'आर्य महाराज को यह रुच गई है अग्नीध्र!—वे इसे बड़े प्यार के साथ रखेंगे।'

विश्वरथ ने अग्नीध्र से पूछा, 'तुम कहना क्या चाहते हो आयुष्मान् ?'

अग्नीध्र ने नम्रतापूर्वक कहा, 'महाराज, यह जितनी सीधी दिखाई देती है, उतनी ही रौद्ररूप भी धारण कर सकती है ! यहाँ भी आचार्य को छोड़ कर यह किसी की वश्यता नहीं मानती । एक बार आचार्य की अनुपस्थिति में कुछ दस्यु इसे शायद अर्क जैसी कुछ वस्तु खिलाकर भगा ले गए थे । किन्तु सचेत होते ही इसने वहाँ दक्ष-यज्ञ ही मचा दिया। एक ने पकड़ने की चेष्टा की तो अपने उत्तुंग शृंग से उसका उदर विदीर्ण कर मार डाला, दूसरा भी उसे रोकने की चेष्टा में बुरी तरह आहत हो गया । तीसरे दिन जब दौड़ती रँभाती आश्रम में पहुँची तो अर्द्धमृत थी । तीन दिन से न कुछ खाया था, न पिया था । आचार्य ने दिनरात इसकी अपने कक्ष में रख कर सेवा की थी ।'

विश्वरथ ने हँस कर कहा, 'वे दस्यु थे अग्नीध्र! अपहरण की वस्तु थी, अतः कदाचित उपद्रव में पकड़े जाने के भय से इसे रोक रखने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया ही न होगा । मैं तो इसे बड़े यत्न और प्रेम के साथ ले जाऊँगा । और इसके बदले उपहार स्वरूप मैं अपने अन्यतम बन्धु वसिष्ठ को दस श्रेष्ठ गौएँ भेंट करूँगा' ।

वसिष्ठ ने प्रतिवाद करते हुए कहा, 'नहीं भाई, परिवर्त की बात हो तो मैं इस कामधेनु से कभी नहीं बिछुड़ सकूँगा । उपहार में भी यदि प्रति-उपहार की भावना हो तो वह व्यवहार हो जाता है, सौदा हो जाता है । मुझे क्षमा करें ।'

विश्वरथ ने हँसकर कहा, 'अरे भाई, मैंने तो इसलिए कहा कि यह धर्मध्वज ऋषि के आश्रम की एक धर्म-प्राण गाय है, तो व्यवहार में यह भी अपना नैतिक कर्त्तव्य समझ कर मेरे साथ निरुपद्रव चली जाएगी । वैसे तुम प्रत्युपहार में कुछ नहीं लेना चाहते, तो मैं आग्रह नहीं करूँगा । हम परस्पर मातृष्व बन्धु तो हैं ही । हमारे बीच व्यवहार या सौदेबाजी का प्रश्न ही कहाँ है?'

वसिष्ठ ने अग्नीध्र से कहा, 'जब आर्य महाराज लौटें, तो कामधेनु उनके अश्व की वल्गा के साथ बाँध दी जाए!'

अग्नीध्र ने कहा, 'जैसी आज्ञा आचार्य'

वसिष्ठ ने विश्वरथ को उद्देश्य कर कहा, 'देखो भाई, इसे मैंने प्राणों से अधिक बढ़ कर पाला है । मेरा उपहार यही होगा कि यह तुम्हारे गोष्ठ में भी वही प्यार और दुलार प्राप्त करे, जो इसे यहाँ मिलता रहा है ।'

'निश्चिन्त रहो वसिष्ठ ! मेरे प्रासाद में भी किसी वस्तु का अभाव नहीं है । तुम्हारी कामधेनु शीघ्र मेरे साथ समझौता कर लेगी, और देखना, कुछ ही समय में तुम्हें भूल ही जाएगी ।'

वसिष्ठ ने कोई उत्तर नहीं दिया और वे अपने दल के साथ आगे बढ़ गए । पूर्व योजना के अनुसार सिखाया हुआ कुन्तल सामने आकर आचार्य से बोला, 'आर्य महाराजा क्लान्त हो गए होंगे । अतिथि-गृह लौट कर कुछ विश्राम करें, तब तक भोजन भी तैयार हो जाएगा ।'

वसिष्ठ ने पूछा, 'क्या कहते हो भाई ?- देखने को अब विशेष कुछ है भी नहीं । लौट चलें ?'

'अरे, अभी तो तुम्हारी अश्वशाला देखनी है न ।' विश्वरथ ने कहा, 'और तुमने छात्रों को सम्बोधित करने का प्रस्ताव भी तो किया था । विशेष कहीं छात्र दिखाई तो नहीं देते ? क्या इस वर्षा ने तुम्हारे नियमित-सत्रों को भी अस्तव्यस्त कर दिया है ?'

'ऐसी बात नहीं है भाई, हमारे सत्र आर्तव हैं, ऋतुओं के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं । आज वर्षा हुई है तो सत्र खुले खेत पर चल रहा होगा, जल को संचित रखने के लिए खेत में थाले और आल-बाल बनाए जा रहे होंगे ।–उधर चलें ?'

'पहले तो तुम्हारी अश्वशाला देखना चाहिए । सुना है, तुम्हारे अश्व युद्ध के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित किए गए हैं । आपत्ति न हो तो वही दिखाओ । कृषि-कक्ष या छात्रोद्‍बोधन, जैसी तुम्हें सुविधा होगी, बाद में कर लिया जाएगा ।'

'आपत्ति और तुमसे कैसी भाई ?- रात्रि को मैंने स्वयम् ही तो प्रस्ताव किया था ।—जैसा कि तुमने स्वयम् अभी कहा है, युद्ध के लिए विशेष प्रशिक्षण का एक अंग यह भी है, कि वे सभी सम-विषम ऋतुओं में समायोजन कर सकें, तभी उनकी दक्षता सार्थक हो सकती है । आज इस वर्षा ने ऐसा ही प्रसंग प्रस्तुत कर दिया है और इसका लाभ उठाने के लिए अनेक अश्व युद्धाभ्यास के लिए आश्रम से वाहर चले गए हैं ।- हाँ, उद्‍वोधन के लिए तो छात्रों को एक संकेत मात्र से सभा-गार में एकत्र होने के लिए कहा जा सकता है ।'

विश्वरथ ने मुस्कराते हुए कहा, 'तुम्हारे जैसे कृतविद्य पंडित-आचार्य के होते हुए मैं उन्हें क्या विशेष उद्‍बोधन दे सकूँगा ?- मेरा ही क्यों, उनके समय का, भी तो यह दुरुपयोग ही होगा ।'

'नहीं भाई यह बात नहीं है । यह राज्य-व्यवस्था एकदम नई है न, और तुमने तो अपने बाहुबल से स्वयम् अपना राज्य स्थापित किया है । इस सम्बन्ध में तुम्हारे विचार हम सबके लिए न केवल सूचनात्मक होंगे, बल्कि बोधवर्धक भी होंगे । छात्रों में कई राजकुमार भी हैं । विविध समस्याओं में तुम्हारे अनुभव का लाभ उन्हें भी मिलेगा ।'

'सब समस्याओं का प्रभावशाली समाधान है शक्ति ।' 'हँस कर विश्वरथ ने कहा, 'तुम अपनी प्रथम सन्तान का नाम शक्ति रखना, चाहे पुत्र हो या पुत्री । समस्याओं का समाधान ही नहीं, प्रकृति के समस्त व्यापारों का मूल मन्त्र है यह शक्ति ।–और मैं नहीं मान सकता कि तुम यह तथ्य नहीं जानते ।- और इसलिए चलो, पहले तुम्हारी अश्वशाला ही देखी जाए ।'

कुछ आगे बढ़े तो विश्वरथ ने जैसे कुछ स्मरण कर कहा, 'अच्छा, अब समझ में आया ।–स्मरण आ रहा है, गहरी रात में वह अनवरत, अश्वों की ह्रेषा ही होगी, जिससे मेरी नींद खुल गई थी । मैं समझ नहीं पा रहा था कि मेघ-गर्जन में आँधी-पानी का वह हींसना कैसा है ?' फिर मानों अपनी अज्ञता पर ही हंसते हुए बोला, 'सब अश्व तो अभ्यास में नहीं गए होंगे न ?-या सभी चले गए ? न हो तो खाली अश्वशाला ही दिखा दो भाई ! उनके लिए तुम्हारे यहाँ कैसी व्यवस्था है, कम-से-कम इसका तो अनुमान हो सकेगा । तुम तो जानते ही हो, इधर तो हमारे लिए यह अश्व एक नया प्राणी ही है ।'

वसिष्ठ की अश्वशाला भी उनकी गौशाला जितनी ही विशाल है । उसमें भी एक सहस्र हृष्ट-पुष्ट और युद्ध के लिए पूर्ण रूप से प्रशिक्षित अश्व हैं । गौशाला की तरह यह अश्वशाला भी आश्रम की. उनकी स्वयम् की सम्पत्ति है, राज्य की नहीं । राजकीय अश्वशाला अलग ही है । यह बात दूसरी है कि राजा को जब अतिरिक्त अश्व-बल की आवश्यकता हो, और यदि कुल-गुरु भी स्वयम् उसकी ओर से किसी युद्ध में सक्रिय भाग लें, तो इनका भी उपयोग हो सकता है । वैसे जिन गुरुकुलों में शस्त्र-शिक्षा का भी विधान हो, वहाँ साधन के रूप में अश्व अनिवार्य आवश्यकता होती है, और कभी-कभी अपने यजमान राजा को सन्मार्ग पर लाने के लिए भी कुल- गुरु इनका उपयोग कर लेते हैं । वस्तुतः राज गुरु की प्रतिष्ठा और संस्था अपने आप में किसी राजा से कम नहीं होती, बल्कि अधिक ही होती है, यद्यपि गुरु स्वयम् प्रायः राज्यकर्म में हस्तक्षेप नहीं करते । शास्त्र-चर्चा और प्रजाजन के पुत्रों को समुचित सर्वांगीण शिक्षा देकर उन्हें राज्य का योग्य नागरिक बनाना, यही उनके जीवन का उद्देश्य रहता है । इस तरह आश्रमों की समाज-व्यवस्था में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है, जिसे न केवल समाज से बल्कि राजा से भी पूर्ण सम्मान प्राप्त है । सार्वजनिक-हित के प्रत्येक व्यापार में राजा अपने कुल गुरु से मार्गदर्शन पाए बिना आगे नहीं बढ़ता, और यह उसका दायित्व है, कि इस परम्परा की गरिमा बढ़ती रहे, तथा आश्रमों को अपनी व्यवस्था के लिए पूरी सुविधाएँ प्राप्त हो । एक प्रकार से आश्रम स्वावलम्बी संस्थाएँ हैं, और उनका महत्त्व किसी राज्य से कम नहीं है ।—वसिष्ठ ने अपने आश्रम को इधर, विशेष कर दाशराज-युद्ध

में अपनी ऐतिहासिक विजय के बाद, अल्प-काल में ही ख्याति के शिखर पर पहुँचा दिया है।

अश्वशाला में प्रत्येक अश्व के लिए आमने-सामने एक-एक पृथक कोष्ठ हैं, और दोनों पंक्तियों के बीच में उनकी सानी-पानी के लिए द्रोणियों से युक्त एक प्रणाली निर्मित की गई है। प्रत्येक अश्व की देखरेख, सफाई, मर्दन आदि का भार उसके आरोही पर है। छात्रों की तरह ही उनका भी निश्चित कार्यक्रम है, कि कब-कब उनकी सफाई होगी, कब मर्दन होगा, कब उन्हें मैदान में युद्धाभ्यास के लिए ले जाया जाएगा, आदि। इस तरह अश्व और अश्वारोही दोनों का अभ्यास साथ-साथ चलता है। वसिष्ठ से यह सब कुछ समझते हुए विश्वरथ ने देखा कि आधे से अधिक अश्व अपने कोष्ठों में कसे-कसाए पूर्ण रूप से सज्जित, मानों किसी अभियान पर तुरन्त चल पड़ने के लिए खड़े हैं। उनके आरोही सैनिक भी उनके आस-पास ही मँडरा रहे हैं, उसी तरह शस्त्रास्त्र से सम्पृक्त! मानों केवल नायक के संकेत की प्रतीक्षा है। संकेत मिलते ही वे वल्गा अपने अश्व के मुँह में फँसा देंगे और कूद कर उसकी पीठ पर चढ़े आनन-फानन में हवा से बातें करने लगेंगे।—इधर एक छोर पर कई कोष्ठ एकदम से रिक्त हैं उनके अश्व क्या हुए?—कोष्ठ के सामने द्रोणी में उनका चारा-पानी भरा हुआ है किन्तु उसकी अस्तव्यस्तता स्पष्ट बता रही है कि कुछ समय पूर्व तक इन कोष्ठों में भी अश्वों की पर्याप्त हलचल थी। विश्वरथ के उर्वर मन में कई तरह के तर्क-वितर्क प्रस्तुत होने लगे। उसने पूछा, 'भाई, ये अश्व और अश्वारोही तो इस तरह सन्नद्ध खड़े हैं, जैसे किसी अभियान पर प्रस्थान करने वाले हों।'

'मैंने इनके युद्धाभ्यास की बात बताई थी न?'

'और ये रिक्त कोष्ठ?'

'इस खेप के अश्व अभ्यास के लिए चले गए हैं। सभी अश्वों का अभ्यास सदा एक साथ नहीं होता। कभी-कभी होता है; पर प्रायः खेपों में ही होता है। युद्ध कोई एक प्रकार का तो होता नहीं। किसी खेप को किसी विशेष प्रकार के युद्ध में शिक्षित करना होता है। और फिर नए-नए अश्व भी तो आते रहते हैं। वह खेप लौट आएगी, तो अभ्यास के लिए यह दूसरी खेप चल पड़ेगी।'

वसिष्ठ समझा ही रहा था कि विश्वरथ, की चौकन्नी आँखों ने लक्ष्य किया दूर एक अश्वारोही को कहीं दूर से आते और उतर कर पास खड़े एक दूसरे अश्वारोही से बातचीत करते! नवागन्तुक ने फिर अपने अश्व की रास उस सैनिक को थमाई और उन्हीं की ओर आगे बढ़ा। व्यवस्था समझाते-समझाते शायद वसिष्ठ ने भी उसके आगमन को ताड़ लिया है, इसीलिए वह अग्नीध्र से पूछ रहा है—

'क्या बात है अग्नीध्र ?'

शायद अग्नीध्र का ध्यान पहले ही उस ओर था। उसने कहा, 'मैं देखता हूँ आचार्य !—शायद उनका युद्धाभ्यास समाप्त हो गया है।'

विश्वरथ ने देखा कि अग्नीध्र आगे बढ़कर उस नवागन्तुक से वार्तालाप में मग्न हो गया है। वसिष्ठ भी जो कुछ समझाता जा रहा है, वह उखड़े-उखड़े मन से कुछ तो भी कहता जा रहा है, पर विश्वरथ को ही क्या प्रयोजन है उस सबके सुनने का ? वह एक दूसरी ही कल्पना में खोया हुआ था। वसिष्ठ की अश्व-शाला के सभी अश्व श्यामकर्ण अश्व हैं, वैसे ही जैसे महर्षि ऋचीक से उसे अपनी बहन के बदले में मिले हैं। कई अश्व तो अभी कसे-कसाए हैं।—कहीं ये वही अश्व तो नहीं हैं ? विश्वरथ ने आते ही वसिष्ठ को अपनी अश्व-प्राप्ति की बात बता दी थी। वे कहाँ हैं यह भी बता दिया था। क्या रातों-रात छल कर के वसिष्ठ ने उन अश्वों का अपहरण कर लिया है ?—रात को वह हलचल और हो ही क्या सकती थी ? इसीलिए क्या वसिष्ठ अश्वशाला दिखाने से झिझक रहा था ?—युद्धाभ्यास का तो बहाना अभी सूझा है उसे, वरना रात को ही नहीं कह सकता था यह बात ?

हाथ से टोहका मार कर वसिष्ठ ने पूछा, 'क्या सोच रहे हो भाई ?'

'हँ ?' चौंक कर विश्वरथ ने कहा, फिर व्यंग्य से हँसकर बोला, 'विशेष कुछ नहीं। यही सोच रहा था कि तुम्हारे ये अश्व भी वैसे ही श्यामकर्ण हैं, जैसे मुझे महर्षि ऋचीक से मिले हैं—लगता है जैसे वे ही अश्व रातोंरात उड़, कर यहाँ आ पहुँचे हों।—क्या यह संयोग है या सच ही —'

वसिष्ठ विश्वरथ के मनोभाव को समझ गया। उसने उत्तर दिया, 'नहीं बन्धु, इसमें कोई दुरभिसन्धि नहीं है, और न ही कोई संयोग ही है।—तुम शायद नहीं जानते कि महर्षि ऋचीक को वे अश्व मेरी ही गुरुदक्षिणा में प्राप्त हुए थे। एक समय ये अश्व और वे अश्व, सब मेरे पिता की अश्वशाला का गौरव बढ़ाते थे। स्पष्ट हुआ न तुम्हारे मन का संशय ? या अभी कुछ शेष है ?'

अग्नीध्र ने भी तभी लौट आकर कहा, 'महाराज के भोजन का समय तो हो गया है, अब तो लौटा जाए न आचार्य ?'

विश्वरथ देख रहा था कि वह अश्वारोही, शायद अपना सन्देश अग्नीध्र को पहुँचा कर पुनः कूद कर अपने अश्व पर आरूढ़ हुआ और देखते-देखते शर-वेग से दौड़ते हुए ओझल हो गया है ! अवश्य ही कहीं कुछ रहस्यमय घटित हो रहा है ! इलिवश का शिविर कुशल पूर्वक तो है न ?—उसने कहा, 'नहीं वसिष्ठ, अब भोजन-वोजन नहीं। आवश्यकता से कहीं अधिक मैं यहाँ ठहर लिया हूँ। महादेवी

उर्वशी यहाँ न थी तो मुझे रात को ही लौट जाना था।—अग्नीध्र, तुम्हारा वह साथी अजबन्धु—नहीं नहीं, अजामीढ़—उससे कह कर मेरा अश्व ले आओ, मैं शीघ्र ही प्रस्थान कर देना चाहता हूँ।'

'यह कैसे हो सकता है भाई?—भोजन किए विना तुम्हें कैसे जाने दिया जा सकता है?—चलें हम, पहले वही सम्पन्न कर लिया जाए।'

'नहीं वसिष्ठ, मुझे शीघ्र ही महादेवी को सूचना पहुँचानी है।'

'उन्हें सूचित करने के लिए मैं अपना अश्वारोही भेज दूं?—किन्तु वे तो हरयूपिया गई हैं न?'

'तो मैं पहले इलिवश के शिविर, असिक्नी के तट पर जाऊँगा। मुझे सन्देह है, वहाँ कुछ अघनीय घट गया है।'

'ऐसे आँधी-पानी में क्या अघट घट सकता है विश्वरथ?—आओ चलो, भोजन के लिए तुम्हारी प्रतीक्षा हो रही है।'

'वल्कि वसिष्ठ, मेरा वह अश्व तुम रख लो। श्यामकर्ण न हो, किन्तु अश्व वह भी प्रशिक्षित है! तुम्हारे ये अश्व कसे-कसाए तैयार खड़े हैं, इन्हीं में से किसी एक पर मैं चला जाता हूँ। यदि चाहोगे तो लौटते समय इसे वापस कर मैं अपना अश्व ले लूंगा।' और उसने अश्वों की दिशा में पाँव बढ़ाया।

वसिष्ठ ने उसका हाथ पकड़ कर रोक लिया और कहा, क्या पागलपन कर रहे हो विश्वरथ? ये अश्व अपने आरोही को पहचानते हैं, किसी दूसरे को अपनी पीठ छूने भी नहीं देते।' और विश्वरथ ने देखा कि अग्नीध्र और कुन्तल ही नहीं, सामने खड़े सैनिकों में से भी दो-चार उसके पास आ खड़े हुए हैं। यदि वह आगे बढ़ा, तो सभी मिल कर उसे घेर लेंगे। उसकी आँखों में आग बरस पड़ी।

लगभग चीखते हुए उसने कहा, 'तुम मुझे बन्दी बना रहे हो वसिष्ठ?'

वसिष्ठ ने विश्वरथ को कमर से घेर कर अपने आश्लेष में लेने का प्रयत्न करते हुए कहा, 'क्या कह रहे हो भाई? मैं तो तुम्हारे हित के लिए कह रहा हूँ। पशु कहाँ समझते हैं कि कौन आत्मीय है, कौन नहीं?'

विश्वरथ ने वसिष्ठ का हाथ झटक दिया और कहा, और मैं पशु नहीं हूँ, खूब समझता हूँ कि कौन आतमीय है और कौन नहीं है? तुम्हारे छल को मैं कभी पूरा नहीं होने दूंगा। देखता हूँ तुम्हारे अश्वों में कितनी समझ है, किन्तु तुम यह समझ लो वसिष्ठ, कि यदि किसी ने मुझे रोकने की चेष्टा की तो मैं उसको मिट्टी में मिला दूंगा। मैंने अपनी इन्हीं भुजाओं के बल से अपना राज्य स्थापित किया है, तुम अपने आश्रम के बल पर फूले न रहो।'

वसिष्ठ ने उसी तरह नितान्त शान्त स्वर में कहा, 'तुम्हें भ्रम हुआ है विश्वरथ! छल मेरी ओर से नहीं, यदि हुआ है तो वह तुम्हारी ओर से हुआ है। मैंने यदि कुछ किया है तो केवल उसे निष्फल करने की चेष्टा की है। तुम यहाँ ठहर कर स्वयम् ही देख लोगे। किन्तु इस समय तत्काल मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। मेरे सामने प्रश्न आश्रम का नहीं, सारे राज्य की सुरक्षा का है।'

'अर्थात्' मैं बन्दी हूँ तुम्हारा?—देखता हूँ कौन रोकता है मुझे?'

'अग्नीध्र।' वसिष्ठ ने अग्नीध्र को उद्देश्य कर कहा, 'आर्य महाराज सहसा अस्वस्थ हो गए हैं! उन्हें सम्हालो।—सावधान, वे हमारे अतिथि हैं, बन्दी नहीं। सम्मान के साथ उन्हें अतिथि-गृह पहुँचाया जाए।'

विश्वरथ ने देखा कि वह चारों ओर सशस्त्र सैनिकों से घेर लिया गया है। एक दृष्टि उसने घृणा और रोष की वसिष्ठ के ऊपर डाली और कहा, 'यह दर्प?—देखता हूँ कब तक टिक पाता है?' और जब उसने अतिथि गृह की दिशा में पाँव बढ़ाया तो सैनिकों ने एक ओर हट कर उसे मार्ग दिया। अग्नीध्र ने आगे बढ़ कर मार्ग दिखाया। चार सैनिक विश्वरथ के पीछे हो लिए। उनके पीछे कुन्तल को साथ लिए वसिष्ठ अतिथि-गृह की ओर आगे बढ़ने लगे।

अतिथि-गृह पहुँचते ही वशिष्ठ ने कुन्तल से कहा, 'तुम अर्घ प्रस्तुत करो कुन्तल, और महाराज के भोजन की व्यवस्था यहीं हो'।

विश्वरथ ने तमक कर कहा, 'तुम मेरे घोर शत्रु हो वसिष्ठ, मैं तुम्हारे यहाँ अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा!'

'मैं हो सकता हूँ, पर तुम तो मेरे शत्रु नहीं हो न?' वसिष्ठ ने मुस्करा कर कहा, 'क्रोध सबसे पहले अपने को ही कष्ट देता है विश्वरथ! इसे त्याग दो। मैं तुम्हें सारी बात स्पष्ट समझा सकता हूँ। मैंने तुमसे यदि छिपाया है तो केवल इसलिए कि कठोर-सत्य सदा अप्रिय होता है। मैं अवसर देख रहा था कि उसे कैसे प्रिय बनाया जा सकता है! मैंने जो कुछ भी किया है, अपने दायित्व-बोध के कारण मुझे विवश होकर करना पड़ा है।' फिर विद्रूप की हँसी हँस कर उसने कहा, 'इधर तुम मुझे महादेवी उर्वशी का आधार लेकर आत्मीयता की बातों में उलझाए रहो, और उधर महाराज सुदास की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर तुम्हारे सैनिक नव-अर्जित अश्वों के बल पर उनके राज्य पर आक्रमण करदें, यह मैं कैसे देखता रह सकता था? तुम जितना समझते हो, उतना भोला मैं अवश्य नहीं प्रमाणित हुआ, पर यह तो कोई क्रोध का कारण नहीं है भाई!—'मैं अब भी विश्वास करना नहीं चाहता, कि कहीं महादेवी उर्वशी का भी इस छल में हाथ है।'

'क्या बक रहे हो वसिष्ठ?—किसने आक्रमण किया है तुम्हारे राज्य पर?—मिथ्या कथाएँ गढ़ कर अपने दुष्कृत्य पर परदा डालना चाहते हो?—स्पष्ट यह क्यों नहीं कहते कि दान में दिए हुए अश्वों को पुनः प्राप्त करने का लोभ रोक नहीं सके? थूक कर चाटना तुम्हें ही शोभा दे सकता है! शिष्ट नहीं, तुम तो मूर्तिमान् दुष्ट हो!'

वसिष्ठ फिर भी पूर्ववत शान्त बने रहे, बोले, 'दिए हुए दान को लौटा लाने के लिए नहीं भाई, सम्मुख युद्ध में युद्ध के उपकरणों को शत्रु के उपयोग का न रहने देने का प्रयत्न ही मैंने किया है। उन्होंने जब नदी पार कर हमारी भूमि का अतिक्रमण किया तभी उन्हें ललकारा गया है। उनका प्रतिरोध करने के सिवा हम और करते ही क्या?'

'तुम्हारे इस मनगढ़न्त आख्यान पर विश्वास कौन करेगा वसिष्ठ?—इलिवश उन नव-प्राप्त अश्वों को लेकर किसी पर आक्रमण की मूर्खता कर सकता है? जब कि उसके पास प्रशिक्षित दूर, पर्याप्त संख्या में आरोहण के लिए ही सैनिक न हों?'

'यही तो मुझे भी आश्चर्य में डाल रहा था! तुम्हारा नायक इलिवश साहसी हो सकता है, किन्तु बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। आक्रमण इलिवश ने किया इसका प्रमाण तो यही है, कि यह युद्ध नदी के इस पार हुआ है, उस पार नहीं। मुझे आदेश ही तब देना पड़ा जब मुझे सूचना मिली कि तुम्हारे ये अश्व नदी पार कर इस ओर बढ़ रहे हैं।—मैंने तो यह भी आदेश दिया था कि जब तक अनिवार्य न हो जाए तुम्हारे सैनिकों को हताहत न किया जाए, व्यर्थ रक्तपात बिलकुल न हो। और मुझे प्रसन्नता है विश्वरथ, कि मेरे इस आदेश का पालन हुआ है, तुम्हारे सभी सैनिक सकुशल अपने शिविर को लौट गए होंगे।—हाँ, आक्रमण का तुम्हारे लिए जो आधार बना था, वे अश्व अवश्य छीन लिए गए हैं।—अश्वशाला में जिस अश्वारोही को तुमने आते और जाते देखा है, वह यही सन्देश लाया था। अब तक वह अभियान यहाँ लौट भी आया होता वह—मेरे आदेश ही की प्रतिक्षा कर रहा था।- किन्तु अब वह अभी नहीं लौट रहा है। इसी बीच एक और आपातिक प्रसंग आ टपका है-नहीं, उसका तुमसे या तुम्हारे शिविर से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुनना चाहोगे तो तुम्हें भी सुना दिया जा सकता है, किन्तु पहले तुम्हें भोजन करके अपने चित्त को स्वस्थ कर लेना होगा। -इस अप्रत्याशित तथा आकस्मिक आक्रमण से तुम पहले ही मेरा पर्याप्त अपमान कर चुके हो, भोजन को अमान्य कर अब और मेरे आतिथ्य को कलंकित नहीं कर सकोगे। मैं तुम्हें आश्वासन देता हूँ कि इस दूसरे प्रसंग के कुछ निश्चित सम्वाद प्राप्त हो जाते ही

मैं तुम्हे स-सम्मान यहाँ से बिदा होने दूंगा। सम्भव है, तब तक इलिवश से छीने गए वे अश्व भी यहाँ आ पहुँचें।'

'क्या वे अश्व मुझे लौटा दोगे ?'

हँस कर वसिष्ठ ने कहा, 'सम्मुख-युद्ध में विजय किए हुए युद्ध के उपकरण विजेता के होते हैं, यह तो नीति भी कहती है विश्वरथ ! किन्तु यदि महर्षि ऋचीक यह आश्वासन दे दें कि ये अश्व पुनः किसी दूसरे दल को हस्तान्तरित नहीं किए जाएँगे, तो सम्भवतः उन्हें ही लौटा दिए जाएँ। 'अपने मन को संयत करो विश्वरथ, तुम हमारे बन्दी नहीं, वही सम्मान्य अतिथि हो। और यदि स्वीकार करना चाहो तो मैं वही तुम्हारा मातृष्वस्रेय भाई हूँ—भोजन किए बिना तो मैं तुम्हें कदापि जाने नहीं दूँगा।'

'पर तुम सोचते हो, इतना सब कुछ हो जाने पर भी मैं तुम्हारे यहाँ भोजन कर सकूँगा ?'

'क्यों नहीं कर सकोगे ?— ऐसा हुआ ही क्या है ?—और भोजन पर तो किसी का अधिकार नहीं होता मेरे भाई, उस पर अधिकार होता है केवल भूख का। हम सबकी जो माँ है, वह धरित्री अपनी सन्तानों के लिए दोनों हाथ फैलाए उनमें भोजन लिए खड़ी है। मैंने उठाकर यदि वह तुम्हें थमा दिया तो इसी से वह मेरा नहीं हो जाता।'

'पर मेरी भूख तो तुमने नष्ट कर दी।'

वसिष्ठ ने हँस कर कहा, ' और मेरी जो तुमने रात से ही नष्ट कर रखी है ?—और जिस अन्य प्रसंग के घटित होने की सूचना मुझे मिली है, उससे भूख क्या, प्यास तक नष्ट हो गई है। किन्तु तुम हो, तो चलो, हम दोनों एक साथ मिल कर भोजन के साथ अपना बैर मिटा दें और अपने पाप का प्रक्षालन करें।'

किसी तरह खाना-पीना समाप्त कर जब पुनः दोनों बैठे तो विश्वरथ बहुत कुछ स्थिर हो चुका था ! और कुछ उपाय भी तो न था ! प्रतिशोध के लिए बहुत समय है। वसिष्ठ महाराजा सुदास जैसे प्रतापी राजा का पुरोहित है तो हुआ करे। विश्वरथ कौन उससे कम है ?— उसने अपने बाहुबल और आत्मविश्वास से राज्य प्राप्त किया है, इच्छा करने पर वसिष्ठ से भी बड़ा पौरोहित्य वह क्या नहीं प्राप्त कर सकता ? किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

विश्वरथ ने पूछा, 'यदि आपत्ति न हो, तो अब बताओ वसिष्ठ, वह दूसरा प्रसंग क्या है ?'

-आपत्ति हो तो यही है कि वह एक दूसरे मोर्चे पर हमारी विफलता का प्रसंग है।'

'तुम्हारी विफलता का ?' विश्वरथ ने कुछ उत्साहित होकर पूछा।

'मेरी नहीं। पर एक तरह से मेरी भी समझ सकते हो ! आखिर महाराज सुदास के और मेरे स्वार्थ पृथक-पृथक तो हो ही नहीं सकते।'

'वे तो सिन्धु-पश्चिम के देशों में अपना विजय-अभियान ले गए हैं न ? वहाँ क्या उन्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा है ?

'वैसे तो वे विजय लाभ करते हुए पक्थ तक पहुँच गए थे। अपरिचित भू-भाग में उन्हें दुस्साहस करना उचित नहीं था। मैं होता तो कदाचित यह स्थिति पैदा नहीं होने देता। भूगोल, प्रकृति और मनुष्य, जब तीनों मिल कर तुम्हारे सामने खड़े हों तो विजय की आशा एक चमत्कार ही हो सकती है, मानव का कौशल नहीं। क्यों, मिथ्या कहता हूँ ?'

'भूगोल और प्रकृति पर विजय भी मानव ही पाता रहा है वसिष्ठ !—पर तुम पूरी वात बताओ न ?—जब मानवों के ही दो पक्ष हों तो यह क्यों भूलते हो कि भूगोल और प्रकृति एक पक्ष की सहायक तो होती ही है। उसे सहायक बनाना पड़ता है।'

'उसके लिए समय चाहिए, अवसर चाहिए,। तुम शायद नहीं जानते, पक्थ एक पार्वत्य प्रदेश है, उसके मार्ग गिरि-गव्हर और नदी-नालों से अत्यन्त दुर्गम हैं। वर्षा में नदी-नाले शीघ्र ही भयानक हो उठते हैं। एक ओर अलंघ्य पर्वत-श्रृंखला हो, दूसरी ओर बाढ़ में उफनती हुई पहाड़ी नदी हो, और आमने-सामने तथा पीछे दोनों ओर से शत्रु आक्रमण कर दें तो क्या हो ?'

'महाराज सुदास की सेना क्या ऐसी ही कठिनाई में फँस गई थी ?—सामने तो खैर, पक्थ का सैन्य-दल होगा किन्तु पीछे से किसने उनका मार्ग रोक कर आक्रमण कर दिया ?—अतिक्रमित भू-भाग पर तो उनकी विजय हो ही गई थी न ?'

'पार्वतीय - प्रदेश में घात में छिप कर कोई बैठ रहे तो किसे पता लग सकता है ?'

'दाशराज-युद्ध में पराजित कोई राजा या गण का दल हो सकता है !' विश्वरथ ने कहा।

'नहीं। उनमें से किसी को इतना साहस नहीं हो सकता। कहते हैं, यह तो कोई नया ही दल था, उसका नेतृत्व पति और पत्नी दोनों मिल कर कर रहे थे। क्या यह अनुमान सही हो सकता है कि वे सिन्धु तट वासी पणिक हों ?'

'उनके सिवा इतना साहस और कौन कर सकता है वसिष्ठ ?—निश्चय ही उस दल का नेतृत्व उनका महानायक शुष्ण और उसकी मिस्री पत्नी सेलकेत कर रही होंगी।'

'किन्तु स्त्री भी क्या इतनी साहसी हो सकती है ?—कहते हैं, वह तो सगर्भ भी प्रतीत होती थी।'

'महादेवी उर्वशी को तो तुमने देखा ही है। जो हो, ये तो फिर भी बाहर की महिलाएँ हैं वसिष्ठ, किन्तु स्वयम् दुर्योण की महिलाएँ अदम्य साहसी हैं। कुत्स और ऋजश्विन ने जब कई बार दुर्योण पर आक्रमण किया था तब उन्हें महिलाओं की वाहिनी ने ही ललकारा था।—क्या हुआ फिर ? तुम्हारे महाराज कैसे बचे तब ?

'भागने की चेष्टा में उनकी बहुत कुछ सेना नदी में डूब कर मर गई। अधिकांश सैनिक तो रणक्षेत्र में ही काम आ गए थे। कुछ मुट्ठी भर अश्वारोहियों के साथ ही महाराज नदी में डूबने से बचाए जा सके हैं। तुम्हारे इन पणिकों ने उनका पीछा भी किया बताते हैं। यह तो संयोग ही था कि कुभा के उत्तरी तट पर सिन्धु-संगम से कुछ ही दूर देवराज इन्द्र शिविर डाले मिल गए। मैंने अपने अश्वारोहियों को सिन्धु-तट पर पहुँच कर महाराज को लिवा लाने के लिए भेजा है।'

विश्वरथ के स्वर में उल्लास और उत्साह स्पष्ट ही लक्ष्य किया जा सकता था। उसने कहा, 'तो आर्यों को भी पता चल गया है कि वे अजेय नहीं हैं।—पीछा करने वाले उन पणिक सेनाओं का भी कुछ समाचार मिला है ?'

'सुना है, वे भी कुभा के इस तट पर डटे हुए प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

'मुझे अब अपने रुक जाने का कोई क्षोभ नहीं रहा वसिष्ठ ! तुम अपने आतिथ्य में अब कृपणता मत करना। पर शायद अब तुम भी मुझे अधिक रोकना न चाहो।' और वह मुस्करा दिया।

'वह तुम पर निर्भर है बन्धु !—और लो देखो, शायद यह कोलाहल तुम्हारे उन अश्वों के लौट आने का प्रतीत होता है।' फिर अग्नीध्र को सम्बोधित कर कहा, 'आर्य महाराज जब आदेश दें उनका अश्व तैयार कर दिया जाए। और भूल न जाना, कामधेनु उसके साथ उपहार-स्वरूप जाएगी।'

२०

सिन्धु-संगम से कुछ दूर पश्चिम में कुभा नदी के उत्तरी तट पर देवराज इन्द्र का सन्निवेश जमा हुआ है, जहाँ इस समय वर्षा-काल का चातुर्मासायणी यज्ञ चल रहा है। अश्वों की खोज में जगह-जगह सूँघता हुआ वणि भी यहाँ आ पहुँचा है। अधिक न हो, तो भी कुछ अश्व तो उसे खरीदना ही है। आर्यों को छोड़ कर अश्व और कहाँ मिल सकते हैं, इसका उसे पता नहीं है, किन्तु इन्हीं दिनों आर्यों ने ही इतने अश्व कहाँ से जमा कर लिए हैं?—जिसे देखो वही अश्व पर आरूढ़! नायकों के रथ में एक-दो नहीं, चार-चार अश्व जुते हुए हैं!—सूर्य तो अपने रथ में सात-सात घोड़े जोत कर गर्व से फूला नहीं समाता! किसी की समृद्धि का पैमाना अब गोधन नहीं, अश्वधन हो गया है।—किसी का लड़का गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त कर आया है तो दो गुरु को गुरु-दक्षिणा में अश्व!—गौ और वृषभ तो भोज्य मात्र रह गए हैं।—इतने अश्व पा कहाँ गए ये?—घुमन्तु हैं न! घूमते ही रहते हैं। जहाँ कुछ घास-फूस, हरियाली दिखाई दी, वहीं डेरा डाल दिया। पशु-सम्पत्ति चरने और बढ़ने के लिए मैदान में छोड़ दी और निकल गए आप धनुष-बाण लेकर आसपास के जंगल में वन्य-प्राणियों का शिकार करने के लिए! खेल का खेल, मनोरंजन और क्षुधा का समाधान! उधर डेरे पर स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े, यज्ञ के बहाने बीच में आग लगाकर नाचते-कूदते, गाते-बजाते, सोम के कलश खाली करते, मान्सोदन की प्रतीक्षा में व्यस्त! यदि शिकार पर्याप्त न मिला तो गाँठ के पशु–गौ, अश्व, अज, अवि आदि की बलि से उदर-पूर्ति कर ली।–कुछ दिनों में हरियाली चर डाली, तो उठाया डेरा-डंडा और आगे कूच— चरैवेति चरैवेती!–कहीं किसी ने कुछ रुक कर जुताई-बुवाई कर डाली तो रह जाएँ वे अपने वैलों को लेकर वहीं। इसी तरह पहुँच गए होंगे कहीं किसी देश में, जहाँ अश्वों की वहुतायत हो।—काश, उसे भी वह स्थान मिल जाए!

वणि मन-ही-मन हँसा, अश्वों को लेकर करेगा क्या वह?—उसे तो चाहिए यही पाँच-दस अश्व महाश्रेष्ठि अर्बुद को, बल्कि महापणिक और महानायक को वताने के लिए कि उसने अच्छी संख्या में अश्व संग्रह कर लिए थे। अव इसका

वह क्या करे कि मार्ग में शत्रुओं को उनका पता चल जाए और वे उससे छीन लिए जाएँ ?—हाँ, यदि उसे ये वह स्थान बता सकें, जहाँ से खोद कर चाहे जितनी मात्रा में स्वर्ण निकाला जा सके, तो कुछ बात भी है ! आर्यों को ऐसा स्थान विदित अवश्य है, सब को न हो, पर उनके कतिपय नायकों को तो अवश्य ही है, नहीं तो इतना स्वर्ण-भांडार ये बनाते कैसे ?—चाहे जितना दिए जाओ, कभी समाप्त ही नहीं होता !

यहीं अपना आधार-शिविर स्थापित कर युवा-महाराज सुदास ने पश्चिम-दिग्विजय का शुभारम्भ किया था, देवराज का इन दिनों उसे आशीर्वाद जो प्राप्त है ! युद्ध के उपकरण, शस्त्रास्त्र, अश्व आदि की सम्पूर्ति आवश्यकतानुसार यहीं से की जाती रही है ।—थके-माँदे पाँच दस अश्व ही मिल जाएँ तो अर्बुद के निकट उसकी प्रतिष्ठा रह जाएगी, उससे भी बढ़ कर पणिक-नेताओं में उसकी धाक जम जा सकती है !—उनमें एक बार अगर उसकी धाक जम जाए, तो अर्बुद को तो वह चुटकी बजाते धकेल देगा !—पर यह क्या सुन रहा है वह ? दाशराज-युद्ध के विजेता पराक्रमी महाराज सुदास़ सम्मुख युद्ध में पराजित होकर भाग आए हैं ?—कौन ऐसा प्रतापी गण हो गया है पथ के पहाड़ी अंचल में ?—इस भगदड़ में पाँच-दस अश्व चुरा लेना कोई कठिन नहीं है, किसी को कुछ देना भी नहीं पड़ेगा । किन्तु ये क्या वृषभ हैं कि इन्हें सीधे-सादे हँका लिया जाए ? पीठ पर किसी का स्पर्श पाते ही तो ये सरपट हवा हो जाते हैं ।—कैसे जमे रहते हैं ये सवार उन कौंधती-सरसराती पीठ पर ?—वह स्वयम् तो अश्व की पहली कुदान पर ही धरती पर आ रहेगा और हाथ-पैर तुड़वा बैठेगा ।—घुड़सवारी भी तो एक कला है, उसे सीखना पड़ता है कई बार हाथ-पैर-सिर तुड़वा कर ।—चुरा भी ले तो चोरी-छिपे ही इन्हें लिए जाना कम समस्या नहीं है । मुँह उठाकर हिनहिनाते हैं, तो सहज ही आश्चर्य में लोगों की आँखें उठ जाती हैं और भय से अपने ही शरीर में सिहरन फैल जाती है ।

आहा, यही तो है देवराज इन्द्र की अश्वशाला !—उसके सारथी मातलि का बड़ा नाम है । यदि उससे किसी तरह भेंट हो जाए, तो कुछ राह निकाली जाए !—बाप रे बाप !—सीधे देवराज के सम्मुख जाने का वह साहस कर सकता है ? महाश्रेष्ठि अर्बुद तक जिसके नाम से काँपते हों ।—हाँ, अगर उसके वे दोनों चर, श्येन और शंख मिल जाएँ, पता नहीं बेचारा शंख अपनी दृष्टि पुनः पा सका है या नहीं । वे न हों, पर महाभाग मरुद्वान, कुत्स, ऋजश्विन—कोई भी हो ! मातलि सबको अवश्य पहचानता होगा ।—अरे, इतना ऊँचा यह अश्व है या हाथी ?—इतने लम्बे कान, सीधे खड़े हुए, कभी झुकते ही नहीं, मानो अपने

आरोही-योद्धा के विजय-केतु हों। जरा-सी आहट पाकर ही गर्दन तान कर देखने लग जाता है। लम्बी गर्दन खिंचे हुए धनुष-जैसी बल खा कर तन जाती है और विपुल अयाल का सम्भार तरंगायित हो उठता है ! यह जो उसका मर्दन कर रहा है उसीसे पूछना चाहिए !

'तुम नहीं जानते ?—यह स्वयम् महा महेन्द्र देवराज का अश्व है, उच्चैः श्रवस्।' पूछने पर उस व्यक्ति ने वणि की ओर विस्मय से देखकर उत्तर दिया।

'उच्चैःश्रवस् ! वाह, जैसा नाम वैसा ही गुण !' वणि ने कहा, 'बिलकुल गजराज प्रतीत होता है !'

'गजराज ?—गजराज कभी देखा है तुमने ?—आओ तुम्हें दिखाता हूँ, गजराज किसे कहते हैं !—वह देखो, वह है महा महेन्द्र का गजराज ऐरावत ! यह मत कह बैठना अब, कि वह कोई पर्वत है !' और वह वणि की अज्ञता पर मन ही मन मुस्करा उठा।

वणि ने भी उसे तुष्ट करने के विचार से कहा, 'तुम ठीक कहते हो भाई, यदि न बता दिया होता तो मैं इसे पर्वत ही समझता !—अच्छा भाई, तुम्हारी अश्वशाला में इतने अश्व हैं—देवराज के इस अश्व की बात छोड़ दो, इतने सारे अश्वों का क्या होता है ?—क्या तुम इन्हें बेचते भी हो ?'

परिचारक ठठा कर हँस पड़ा, बोला, 'निरे बैल हो ! कन्धे पर रखा जूआ किस खेत पर छोड़ आए हो ?—यहाँ अश्व बिकते नहीं, खरीदे जाते हैं। यह योद्धाओं के योद्धा, महाप्रतापी देवराज इन्द्र की अश्वशाला है।—और नहीं जानते ?—इन दिनों युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं।—कौन हो और कहाँ से आए हो तुम ?'

—अच्छा हुआ कि यह परिचारक वणि को नहीं पहचानता ! कई नई बातें मालूम की जा सकती हैं इससे।—टेंटँ में से एक स्वर्ण-निष्क निकाल कर परिचारक के सामने करते हुए वणि ने कहा, 'क्या करूँ भाई, प्रिया का सन्देश पाकर घर लौट रहा था, पर आँधी-पानी में सब मार्ग एकाकार हो गए हैं न !—भटक कर इधर आ पहुँचा हूँ। भटकते-भटकते थक भी गया हूँ। यदि एक छोटा मोटा अश्व का टट्टू ही मिल जाए—यह लो, वर्षा की इस सुहावनी ऋतु में अपनी प्रेयसी के लिए मुझ जैसे विरही की ओर से एक छोटा-सा उपहार—'

'मुझे उत्कोच देना चाहते हो ?—मुझे जानते नहीं तुम, मैं देवराज इन्द्र का सारथी मातलि हूँ। निष्कों का क्या मेरे पास अभाव है ?'

'ओ हो हो ! तो आप ही हैं देवराज इन्द्र के सारथी महमना मातलि ! मुझसे भूल हुई भाई ! क्षमा करना। और यह उत्कोच नहीं है भाई, देवताओं की

पूजा की जाती है, अर्घ्य चढ़ाया जाता है न ?—पर हाँ, वह अवश्य देवता की प्रतिष्ठा के अनुकूल होना चाहिए ।'—उसने फिर टेटँ में से निकाल कर पाँच निष्क उसके सम्मुख किए और कहा, 'देवराज की सभा में मुझे पहचानने वाले कई मेरे सखा हैं : श्येन, शंख, महाभाग मरुद्वान्, कुत्स, ऋजश्विन—'

सभा के बड़े-बड़े नायकों का नाम सुन कर मातलि कुछ प्रभावित हुआ, उसने कहा, 'सभा में श्येन या शंख जैसे किसी व्यक्ति को मैं नहीं जानता, किन्तु महाभाग मरुद्वान, कुत्स, ऋजश्विन, ये तो देवराज के अत्यन्त प्रिय सखाओं में हैं। —परन्तु, आप स्वयम्, आपका परिचय जान सकता हूँ ?'

'अरे भाई मेरा परिचय क्या ?—मैं तो उन सबका दासानुदास हूँ। पहले यह पूजा तो ग्रहण करो ।' अपनी प्रेयसी की ।

'मेरी कोई प्रेयसी नहीं है । मैं यह पूजा-ऊजा नहीं लूँगा ।'

'अभी नहीं हैं तो क्या, भविष्य में भी नहीं होगी ?' वणि हँसा,—'क्या तुम नहीं जानते कि पूजा के निमित्त निकाली हुई वस्तु अन्य किसी काम में नहीं लाई जा सकती ? इससे घोर पातक लगता है भाई !—देवता के पास क्या कमी है, किन्तु भक्त की पूजा तो वे भी ग्रहण करते हैं न ! लो ।' और वणि ने वे मुद्राएँ बलात् मातलि के हाथ मे थमा दीं । मातलि ने कुछ झिझक अवश्य दिखाई, पर वणि जानता था, प्रत्येक अच्छी-बुरी वस्तु का एक मूल्य होता है और पर्याप्त मूल्य चुकाने पर कोई वस्तु नहीं, जो खरीदी नहीं जा सकती, फिर चाहे वह किसी का धर्म या ईमान ही हो । मुँहमाँगा मूल्य चुकाने की तत्परता हो, तो वस्तु आप ही खिंची चली आएगी ।—मातलि ने जब निष्क अपनी टेटँ में खोंस लिए तो वणि ने कहा, 'मेरा नाम पणि है, दुर्योण के महाश्रेष्ठि का अभिकर्ता ।'

'दुर्योण का महासेट्ठि अबुर्द ?' मातलि ने चौकँ कर पूछा ।

'हाँ हाँ । तुम जानते हो उसे ?—तुम तो कभी दुर्योण आए नहीं न ?'

'जानता नहीं हूँ और जानना चाहता भी नहीं । नाम ही सुना है ।—जानेगा उसे तुरन्त ही महामहेन्द्र का अमोघ वज्र ।—आप उसके अभिकर्ता–कर्ता जो कुछ हों, अपनी कुशल चाहते हों तो तुरन्त यहाँ से भाग जाएँ । आपके ग्रह अच्छे हैं कि आपकी भेंट और किसी से न होकर मुझसे ही हुई है ।'

'सो तो है ही ।—पर कुछ समझाओ तो, बात क्या है ?—मैंने तो किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा है ?'

'आपने न सही, आपके महासेठ ने क्या कुछ कम किया है ? क्या आप नहीं जानते कि उसके विश्वासघात के कारण ही दाशराज–युद्ध के विजेता महाराज सुदास को यहाँ पथ में भयानक पराभव का मुँह देखना पड़ा है ?'

'यहाँ आने पर मैंने भी सुना है, पर यह हुआ कैसे ? बल्कि उधर सिन्धु-पार तो स्वयं अभ्यावर्ती चायमान के मुँह से मैं उनकी निरन्तर बढ़ती जा रही विजय-यात्रा की बात ही सुनता आ रहा हूँ। महाश्रेष्ठि अर्बूद ने ऐसा क्या विश्वासघात किया है ?'

'विजय महाराज सुदास की यहाँ पथ में भी निश्चित थी यदि उनकी सेना के साथ यह विश्वासघात न होता, पीठ पर उनके छुरी न चलाई गई होती। जब कि उनकी सेना लक्ष्य पर पहुँच ही रही थी, तब आपके इस सेठ की सेना ने पीछे से उन पर आक्रमण कर दिया।—बेचारे आगे बढ़ें कि पीछे लड़ें ! आसपास दोनों ओर भयानक बाधा, एक ओर आकाश-चूमता पहाड़ और दूसरी ओर प्रचंड वेग से बाढ़ में फूली फुँफकारती नागिन जैसी पहाड़ी नदी ! मूषकदान में जैसे मूषक फँस जाते हैं।'

'महाश्रेष्ठि की सेना ?—यह असम्भव है भाई। उनकी सेना यहाँ कैसे आ सकती है ?––वे तो घोर अहिंसावादी हैं। आक्रमण करना दूर, वे तो आक्रमण होने पर हिंसा में रक्त बहाकर अपनी भी रक्षा करना नहीं चाहेंगे।'

'यही कह कर तो देवराज को धोखा दिया गया है।––और देवराज को धोखा देने का क्या फल मिलता है यह शायद आपका सेठ नहीं जानता।–तुरन्त ही जान लेगा। आपने मुझे अनुगृहीत, बाधित किया है, इसलिए आपको सावधान करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। जितना जल्दी हो सके, आप यहाँ से भाग जाइए दूर से दूर।––वरना आप जानें आपका काम जानें।'

'मैं तुम्हारा आभारी हूँ मातलि, पर मुझे सब कुछ ठीक समझा कर कहो न !—देवराज के कोप से बच कर कोई छिप ही कहाँ और कब तक सकता है ?'

'यह आप ठीक कहते हैं, उनके कोप से कोई नहीं बच सकता। महाराज सुदास की पराजय वे स्वयं अपनी ही पराजय जो मानते हैं।'

पर यह हुआ कैसे ? मुझे लगता है कि देवराज को मिथ्या सूचना पहुँचाई गई है या महाराज सुदास को ही कहीं भ्रम हुआ है।'

'भ्रम हुआ है ?––उनकी सेना के जो अधिकांश सैनिक आगे-पीछे दोनों ओर मारे गए हैं, वह भ्रम है ? बचे-खुचे नदी में कूद कर प्राण बचाने के प्रयत्न में जिन्होंने अपने अश्वों सहित प्राण दे दिया, वह भ्रम है ?––सामने के शत्रु से टक्कर की अपेक्षा तो थी ही और उसके लिए साहस था, शक्ति थी, इसी बूते पर तो उनसे युद्ध ठाना गया था। अनेक समरों के विजेता को विजय में संशय ही क्या हो सकता था ? किन्तु पीछे से भी वैसा ही तीव्र प्रतिरोध प्रस्तुत किया जा सकता है, युद्ध-नीति में यह तो एक नया ही प्रकरण है, जिसकी किसी को कल्पना भी

नहीं हो सकती थी ।—बचने का तो नहीं, किन्तु भागने का एक ही मार्ग था, उस उफनती हुई नागिन जैसी प्रचंड नदी के फुंफकारते काल-मुख में कूद पड़ता ! कई अश्वारोही नदी की चट्टानों से अश्व सहित टकरा कर चूर-चूर हो गए, पर और उपाय ही क्या था ? चाहे जितनी क्षीण हो, बच निकलने की कुछ तो आशा थी ही । क्षत-विक्षत होकर भी जो कुछेक सैनिक नदी में बच पाए थे, उन्होंने ही अदम्य साहस दिखा कर महाराज सुदास को घायल अवस्था में नदी से निकाला । आर्य सेना का ऐसा पराभव और समग्र-संहार पहले कभी नहीं हुआ था और यह सब हुआ आपके उस महासेठ के विश्वासघात के कारण ।'

'किन्तु यह निश्चय से कैसे कहा जा सकता है कि पीछे से आक्रमण करने वाले पणिक ही थे ?—कहाँ तो है सिन्धु-तट और कहाँ कुभा का यह तट इतनी दूर ?--इतने लम्बे अभियान के लिए अश्व तक तो हैं नहीं उनके पास--'

'यही तो प्रमाण है कि वे पणिक ही थे । वृषभों के रथ का इधर और तो कोई प्रयोग करता नहीं ।—महाराज सुदास ने चाहे पहले उन्हें देखा न हो; किन्तु हमारे नायक आर्य वीर कुत्स तो उन्हें अच्छी तरह पहचानते हैं न ।' मातलि ने कहा ।

'क्या आर्य कुत्स भी इस युद्ध में महाराज सुदास के साथ थे ?' वणि ने उत्सुकता से पूछा ।

'वे साथ होते तो भी क्या कर लेते ?--युद्ध करने के लिए हिलने-डुलने का स्थान तो हो । व्यूहरचना के बिना क्या युद्ध जय किए जा सकते हैं ?—अभी भी उनका दल उधर पहाड़ की ओट में पड़ाव डाले बैठा है, आर्य कुत्स और ऋजश्विन स्वयम् जाकर छिपे-छिपे देख आए हैं और पहचान गए हैं ।'

'अभी पड़ाव डाले बैठे हैं वे ?' वणि ने आश्चर्य से पूछा ।—यदि पणिक हों तो क्या उसका यहाँ दिखाई पड़ना उचित होगा ?—क्यों नहीं ? वह तो उन्हीं के लिए अश्व खरीदने आया हुआ है । आवश्यक हुआ तो जाकर उनसे स्वयम् मिल सकता है !

मातलि कह रहा था, 'समझे बैठे हैं न, कि महाराज सुदास का यह आधार-शिविर है और यहीं कहीं पड़े हुए वे स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं । आक्रमण करने की ताक में हैं । किन्तु एक तो नदी पार करने के लिए बेचारों के पास अश्व नहीं हैं और यह भी तो अभी नहीं जान पाए हैं कि नदी किस स्थान पर सरलता से पार की जा सकती है ?—उनके चर खोज रहे हैं । खोज लें और आक्रमण करें तो ! क्या मालूम उन्हें कि यहाँ महाराज सुदास नहीं, उनका साक्षात् काल महा महेन्द्र देवराज इन्द्र उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । यदि उन्होंने जरा भी साहस किया तो उनकी समाधि यहीं बनेगी ।'

वणि के लिए ये सब सूचनाएँ अप्रत्याशित ही नहीं बल्कि अकल्प्य भी थीं, और वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो उठा था। आगे क्या करना चाहिए उसे?—महाश्रेष्ठि धोखा दें, यह बात किसी तरह बनती नहीं है। वणि को एक बार दे भी दें, किन्तु देवराज को वे धोखा दे बैठेंगे, यह सम्भव नहीं है। उनके समस्त हिरण्य-कोष का उद्गम और अब तो उसका एक मात्र रक्षक देवराज इन्द्र ही तो है! उसी को वे धोखा देंगे?—पर असम्भव क्या है इस जगत में? मृगम्मदा के नृत्य पर यदि वे मुग्ध हो सकते हैं तो—तो क्या महापणिक ने उन्हें तोड़ने के लिए मृगम्मदा ही को हथियार बना डाला? उन्हीं के कहने से तो वणि भी मूर्ख बन कर अश्व खरीदने के लिए इधर चला आया है। उन्हीं की योजना पर वह चायमान को अमावस्या की रात हरयूपिया पर आक्रमण करने के लिए भी प्रेरित कर आया है। क्या वहाँ पर भी कोई ऐसा ही षड्यन्त्र होगा?—ठीक है महासेठ! तुम डाल-डाल पर, तो मैं पात-पात पर। तुम्हारी जूती तुम्हारे ही सिर पर न बजे तो मेरा नाम नहीं। जिस अवसर की मैं तब से खोज में हूँ, क्या यह वही अवसर नहीं है?—किन्तु इस आक्रमणकारी-दल का नेतृत्व कौन कर रहा है? क्या महापणिक स्वयम् आए हैं? महापणिक यदि यहाँ बैठे आक्रमण का सुयोग देख रहे हों, तो क्यों नहीं देवराज को इसी समय अरक्षित-दुर्योण पर आक्रमण के लिए प्रेरित किया जाए? देवराज से किसी तरह मिलना चाहिए। उसने मातलि से पूछा। 'भाई, अभी भी मेरी समझ में कुछ नहीं बैठ पा रहा है।—अच्छा, पणिकों के इस गुल्म का नेतृत्व कौन कर रहा है, इसका कुछ पता लगा है?'

मातलि की उच्चैःश्रवा की परिचर्या समाप्त हो रही थी। करने को उसके पास चाहे और काम न भी हों, तब भी वह उकता रहा था। इतना खोद-खोद कर पूछने का वणि का क्या तात्पर्य हो सकता है? स्वीकार तो वह स्वयम् ही कर चुका है कि वह शत्रु-पक्ष का व्यक्ति है! न जाने क्या उद्देश्य हो उसका?—यों तो वह उससे बात भी न करता, किन्तु उसे पाँच निष्क जो मिल चुके हैं। पर अब और आगे नहीं। बढ़ावा देने से उसके मुँह से कुछ रहस्य की बात निकल जाए तो गजब हो जाएगा! उसने झल्ला कर कहा, 'भाई, मैं अपनी ओर से बहुत कह चुका। कोई देख भी लेगा कि मैं शत्रु-पक्ष के आदमी से बात कर रहा हूँ तो मुझे ही लेने के देने पड़ जाएँगे।—आपको अपने प्राण प्यारे न हों, पर मेरे प्राण क्यों संकट में डाले दे रहे हैं?'

वणि ने टेंट में से और पाँच निष्क निकाल कर उसके सामने करते हुए कहा, 'तुम्हें क्या भय हो सकता है भाई? तुम मुझे जानते ही कहाँ हो?—तुम्हारे ये वाहन क्या साधारण प्राणी हैं? देखकर कोई भी राह चलता व्यक्ति ठगा-सा

रह जाता है, और प्रशंसा के दो शब्द मुँह से निकाले बिना रह नहीं सकता। यह तो बात में बात निकल पड़ी, वरना मैं रुका तो इन्हीं से प्रभावित होकर ही था। और मैं तो देवराज का सेवक हूँ। पणिकों के दल का हूँ, इसीलिए तो उनकी नस मेरे हाथ में हो सकती है। देवराज उन्हें किस तरह सरलता से नीचा दिखा सकते हैं, यदि सब बातें मुझे मालूम हो जाएँ, तो यह मैं ही बता सकता हूँ।'

इस बार मातलि ने ना-नुकर नहीं की। निष्कों को टेटँ में सुरक्षित किया और कहा, 'देखिए, सुनी-सुनाई बातें ही तो हैं। इन पणिकों को मैंने न तो अब देखा है, न पहले कभी देखा है। सुना है कि उनका नायक बड़ा शूरवीर है। उसके साहस का तो पूछना ही क्या? केवल बैलों के रथों पर इतनी दूर धावा मारना कोई कम साहस की बात नहीं है। वह तो अभी भी घात में है कि कब नदी पार करे और महाराज सुदास को बन्दी बना ले!–सुना तो यह भी है, कि वही नहीं, उसकी पत्नी भी उतनी ही वीर है और उसके साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा करयुद्ध करती है। ऐसा साहस तो हमारी इन्द्राणी महारानी शची में भी नहीं है!'

'अच्छा, उसकी पत्नी भी साथ है और बराबरी का युद्ध करती है?' वणि ने साश्चर्य पूछा।

मातलि ने हँस कर कहा, 'पत्नी है कि क्या, सो तो मैं क्या जानूँ?—पर है स्त्री ही, बहुत सुन्दर। पुरुष-वेश में भी नहीं, अपने ठेठ स्त्री-वेश में ही देखा है उसे लड़ते हुए।'

—उर्वशी मृगम्मदा के सिवा और हो ही कौन सकती है? दुर्योण में उनके बराबर साहस और तो किसी का है नहीं। शत्रु-सैन्य पर अकस्मात् पीछे से आक्रमण करना, यह नई सूझबूझ सेलकेत की भी कैसे हो सकती है? उर्वशी का तो अपने देश में इसका प्रशिक्षण भी हुआ था न।—सहसा उसने पूछा—

'क्या महाराज सुदास सचमुच यहीं रुके हुए स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं?'

यह कैसा प्रश्न?—मातलि ने अचकचा कर वणि की ओर देखा। दस निष्क उसकी अंटी में हैं, पर दस तो क्या सौ निष्क भी हों, अब कोई गरमी उसे इससे आगे नहीं पिघला सकेगी। वह महाप्रतापी देवराज का सारथी है, कोई सामान्य अश्वपाल नहीं। किन्तु दस निष्क की गरमी तो थी ही, उसने नम्रता पूर्वक कहा, 'देखिए, मैं एक सारथी मात्र हूँ। उसकी सीमाएँ हैं। युद्ध-भूमि में अवश्य सारथी अपने रथी का बराबरी का साथी हो सकता है, किन्तु इस युद्ध में तो हमने भाग नहीं लिया न! महा महेन्द्र स्वयम् इस सम्बन्ध में कितना जानते हैं, यह भी मैं नहीं जानता। मुझे क्षमा करें, मैं चलता हूँ।'

'अच्छा तो, एक काम करो न ! मुझे देवराज के पास पहुँचा दो । वे अवश्य मुझे पहचान लेंगे । इसी बहाने उनके दर्शन भी हो जाएँगे मुझे ।'

'उनसे मिलेंगे ?—इस समय जब कि वे आपके गण से जले-भुने बैठे हैं ? मैं तो एक सेवक हूँ, उनसे जा कर निवेदन कर दूँगा, किन्तु मेरी मानें तो अभी उनसे न ही मिलें । और मिलना अनिवार्य ही समझते हों तो—एक परामर्श दूँ ?'

'हाँ हाँ, अवश्य दो । इन्द्र की सभा के बारे में तुमसे अधिक अच्छा परामर्श और कौन दे सकता है ?'

'आपने कहा था, आप आर्य वीर कुत्स को जानते हैं ?'

'उन्हें ही नहीं भाई, आर्य मुरद्वान, बन्धु ऋजश्विन—'

'तो फिर आप आर्य कुत्स से पहले मिलें । वे स्वयम् पणिकों को पहचान कर आए हैं, वे आपको सब सही सूचनाएँ दे सकते हैं और आवश्यक समझेंगे तो सहज ही महा-महेन्द्र से आपकी भेंट भी करवा देंगे । उनके साथ रहने से देवराज का आपके ऊपर का रोष अवश्य कम हो जाएगा ।'

'वाह ! यह तो तुम्हारा बहुत अच्छा परामर्श है भाई ! मुझे पहले ही सूझ जाना चाहिए था । पर इस समय वे मिलेंगे कहाँ ?'

'अपने कक्ष में ही । अभी कुछ ही समय तो हुआ है, वे महा महेन्द्र के कक्ष से लौटे हैं । वह, उधर है उनका कक्ष । द्वार पर उनका भृत्य अजय प्रस्तुत होगा ।'

'धन्यवाद भाई, मैं उपकृत हुआ ।' और वणि निर्दिष्ट दिशा की ओर चल पड़ा ।

● ● ●

सुनसान जंगल में बरसात की रात शीघ्र ही गाढ़ी हो जाती है । मेघों से ढँकी और पानी में भींगी हवा की चादरें पर्त पर पर्त उस पर बिछती रहती हैं । समस्त जीव-जन्तु चारों ओर से वनस्पतियाँ ओढ़ कर अपने कोटरों में निस्तब्ध दुबके पड़ रहते हैं ।—झिल्ली की झंकार और यत्र-तत्र पानी से भरे डबरों-पोखरों या नदी-नालों के तट पर टर्राते हुए दादुरों का स्वर-संग्राम भी सोई हुई पृथुल निशारानी के खर्राटों का संगीत ही प्रतीत होता है । मेघों की घन-कृष्ण निबिड़ता में नक्षत्र तो नक्षत्र, चन्द्रमा का अवशेष भी खोजा नहीं जा सकता । पर्वत, नदी, नाले, वृक्ष, सभी अँधेरे के गहरे गढ़े में भरे, दृश्य, ध्वनि और गन्ध के एकाकार गाढ़े घोल में डूब जाते हैं, इतिहास या भूगोल कहीं ढूँढ़े नहीं मिलता । अँधेरे की प्रवृत्ति तो द्वैध नहीं, अवैध ही है—वह रिक्त भी हो सकता है, ठोस भी । ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, समय और दिशाएँ कहाँ हैं वहाँ ?—रह-रह कर चमक उठने वाले

जुगनुओं से ही प्रतीत होता है कि कोई काल-पुरुष उस घोल को किसी अलक्ष्य मथानी से अनवरत मथता जा रहा है। कभी-कभी बिजली कौंध उठती है तो क्षणांश के लिए ढक्कन खुल जाता है और बता देता है कि घोल में मिश्रण के पदार्थ अभी भी वहुत कुछ अपने मूल रूप में विद्यमान हैं और दूसरे ही क्षण मन्थन और घोटन और भी तीव्र और भी घना हो उठता है। मनुष्य यदि कहीं हो, तो जहाँ कहीं भी वह हो, इस घुटन को अवश्य अनुभव करता है।

कुभा के दक्षिण-तट पर एक पहाड़ी की ओट में पणिकों का सैन्य-शिविर अवश्य ऐसे में सोए हुए इतिहास और भूगोल को इधर-उधर से छेड़-छाड़ कर कुछ-कुछ जागृत रखने का प्रयत्न कर रहा है। वह भी इसलिए कि शिविर अस्थाई है, और भारी वातावरण में आक्रमण की गन्ध मिश्रण को कुछ उग्र बनाए हुए है—करने की ही नहीं, आक्रमण होने की गन्ध भी। अन्धकार और वर्षा आक्रमण के लिए सहायक हो सकते हैं, तो प्रतिक्रमण के लिए वाधक भी। इसलिए प्रकृति को सींठ बताकर उत्कंठा और आशंका से भरे मनुष्य को सजग-सतर्क रहना ही पड़ता है। एक शिविर में यह सजगता उच्छल और मुखर भी है। बाहर द्वार पर अँधेरे में दो सशस्त्र सैनिक पहरे पर नियुक्त हैं और भीतर एक क्षीण दीपक के प्रकाश में देखा जा सकता है सैनिक-पर्यंङ्क पर लेटे दो व्यक्तियों को परस्पर गम्भीर बातचीत में व्यस्त! वे और कोई नहीं हैं, इस सैन्य-दल का सफल नेतृत्व करने वाले पणिकों के महानायक शुष्ण और उनकी वीरांगना पत्नी सेलकेत। चीनांशुक आस्तरण से उन दोनों के शरीर वक्ष-प्रान्त तक ढँके हुए हैं। उपधान के सहारे कुहनी पर सिर उठाए हुए दोनों एक दूसरे के सम्मुखीन हैं। दीपक का प्रकाश सीधा उनके मुँह पर नहीं पड़ रहा है, किन्तु तब भी उनके स्वर से विश्वास की दृढ़ता और उत्साह का अतिरेक छिपा नहीं रह सकता।

सेलकेत ने कहा, 'अश्वों के अभाव में भी जब हमने अब तक इतनी सफलता प्राप्त की है तो अब अधिक प्रतीक्षा से क्या होगा?—या तो हमें लौट चलना चाहिए—आर्यों के छक्के हमने छुड़वा ही दिए हैं और अब आक्रमण करने से पहले दुबारा वे सोचे बिना नहीं रहेंगे—या फिर रथ और शकट यहाँ छोड़ कर वृषभों की सहायता से नदी पार कर शत्रु पर धावा कर दिया जाए। यहाँ यों निष्क्रिय कब तक बैठे रहा जाए? सेना का उकता जाना शुभ नहीं होता शुष्ण!'

'मैं भी समझता हूँ प्रिय, पर किया क्या जाय?—वृषभों से नदी तो पार की जा सकती है, बल्कि—' और वह किंचित हँसा, 'तुम शायद नही जानती, इतने अश्व होते हुए भी ये आर्य, मर कर इसी वृषभ या गाय की पूँछ पकड़ कर उस लोक की वैतरणी पार करने का विश्वास करते हैं,—किन्तु हम तो इसी जीवन

में उनके नेता सुदास को सशरीर पकड़ना चाहते हैं ! सामना करने के लिए उस समय या तो हमारे पास पर्याप्त सैन्य-बल हो या उसका अपहरण करके भाग जाने के लिए शीघ्रगामी अश्व हों। पीछे सेना उन्हें रोके रख सकती है।—अश्व न सही, आसपास नदी पार करने का कोई ऐसा स्थान मिल जाए जहाँ सब नहीं, तो भी कुछ रथ पार किए जा सकें !—मार्ग की खोज में आगे गए हुए हरावल दस्ते के लौटने तक तो हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए न !'

'अरे वह स्थान बड़ा सँकरा था न।—और इन अश्वारोहियों को यह आशा भी हो चली थी कि नदी में कूद कर बच निकलेंगे। नहीं तो मेरा प्रयत्न था कि उन्हें अश्व सहित बन्दी बना लिया जाए। अश्व तो इसी समय उपयोगी हो जाते हमारे लिए, इन बन्दियों को भी दास बना लिया जाता !'

'छिः छिः। अब तो तुम भी समस्त रूप में पणिक हो गई हो सेलू ! तुम्हें मिस्र-देश वासियों की तरह नहीं, पणिकों की तरह सोचना चाहिए।—पणिक मनुष्यों को कभी दास नहीं बनाते।—वे क्या पशु हैं ?'

'यदि मनुष्य पशु से भी गया बीता हो जाए तो ?—पशु कम-से-कम अपने सजातियों को तो नहीं खाते, किन्तु ये आर्य बड़ी प्रसन्नता और समारोह के साथ नरमेध करते हैं। मैं तो सोचती हूँ, इनमें न सही, इनके पूर्व-पुरुषों में कहीं न कहीं नरमान्स भक्षण की प्रवृत्ति अवश्य रही होगी !'

'छोड़ो इन बातों को। नर मान्स भक्षण की प्रथा तुम्हारे देश के आसपास तो अब भी प्रचलित है ! और हम सब के पूर्व-पुरुष चाहे जितनी पीढ़ी पहले हों, एक थे, इसमें तो संशय नहीं किया जा सकता !'

'तो कब तक यहाँ यों ही निष्क्रिय पड़े रहना होगा शुष्ण ?'

'एकाध दिन और राह देख लेते हैं। इस बीच यदि और वर्षा न हुई तो नदी का प्रवाह अवश्य कम होगा और आसपास ही हमारे रथ इसे पार कर सकेंगे।'

'और इतने ही में उधर ही से तुम्हारी चिड़िया फुर्र हो गई तो ?' सेलकेत ने कहा।

'लौटना तो हमें है ही। यही तो होगा कि महापणिक को तब हम कोई गौरवपूर्ण ठोस विजय-उपहार नहीं दे सकेंगे। किन्तु इस शिविर में सुदास ही क्या इतनी शीघ्र यात्रा की कठिनाइयाँ सहन करने योग्य स्वस्थ हो जाएगा ? यहाँ कौन सी ऐसी चिकित्सा और सुश्रूषा-सेवाएँ उपलब्ध होंगी ?—और कुछ ही आगे तो सिन्धु-नद भी पार करना पड़ेगा न।—हमारे चर भी दृष्टि तो रख ही रहे हैं !'

'इस अँधेरे में कितनी दृष्टि रख सकते हैं ?—और यह क्यों भूलते हो कि यह सारा अंचल उनका चप्पा-चप्पा देखा हुआ है ? वे पहले ही छान चुके होंगे कि कौन सी नदी कहाँ उन्हें मार्ग दे सकती है ! उनके पास अश्व हैं, अश्वों से संचालित रथों को पकड़ पाना क्या हमारे लिए सहज है ?—वह तो भाग्य से रण-भूमि का भूगोल ही ऐसा सहायक हुआ कि विजय न पा सकना ही आश्चर्य होता !'

'तो तुम्हारा तात्पर्य क्या है ?—लौट चलना चाहिए ?—तुम स्वस्थ तो हो न ?'

'इतनी स्वस्थ मैं पहले कभी न थी ।—मैं अपने लिए तनिक भी चिन्तित नहीं हूँ शुष्ण ! इस समय हमारी सेना का मनोबल बहुत ऊँचा है और इसका पूरा लाभ उठाने के लिए ही मैं चाहती हूँ कि निष्क्रिय न बैठे रह कर कुछ करना चाहिए ।'

शुष्ण ने हँस कर कहा, 'उनका मनोबल बनाए रखने के लिए ऐसा तो अवश्य कुछ न करना चाहिए न, कि वे स्वयम् क्षय हो जाएँ और मनोबल बना रहे ?'

'तो फिर लौट क्यों न चलें ?—उधर का भी कोई समाचार नहीं है ! दुर्योण में तो खैर, महापणिक हैं ही । स्वस्थ न होते तो इतना तीव्र आग्रह यहाँ आने का न करते, किन्तु मुझे इलिवश के अभियान की चिन्ता है । साहसी तो वह बहुत है, पर अनुभव-हीन और स्वभाव से बड़ा क्षिप्र है न ।'

'महापणिक भी अभी पूर्ण स्वस्थ नहीं कहे जा सकते सेलू ! इस अभियान के नेतृत्व का उनका अत्याग्रह उनके स्वास्थ्य का प्रमाण नहीं हो सकता । आखिर वे महापणिक जो हैं । हाँ, इस समय तक यदि महादेवी मृगम्मदा लौट आईं हों तब तो ठीक ही है ।'

सेलकेत ने कहा, 'मेरी समझ में नहीं आता, मृगम्मदा को उस वसिष्ठ से व्यर्थ ही मिलने की क्या सूझी, जबकि उससे किसी सक्रिय-सहायता की आशा उसे स्वयम् नहीं थी ?—हम लोगों पर चाहे न हो, पर महापणिक के नेतृत्व पर तो उसे विश्वास होना चाहिए ।'

'हम पर विश्वास नहीं है उनका, यह कैसे कहा जा सकता है सेलकेत ? यदि महापणिक का हम पर विश्वास है तो क्या इसे तुम प्रमाण नहीं मानती ?—हम-तुम जिस तरह अलग नहीं हैं, उसी तरह वे भी तो अलग नहीं हैं ।—वसिष्ठ के प्रसंग को तुम शायद गहराई से नहीं सोच पा रही हो । यह जो यहाँ सुदास को पराजित होना पड़ा है, यह क्या वसिष्ठ की अनुपस्थिति के कारण ही नहीं ?—वह होता तो कभी उसे इस समय और ऐसे कुटिल-मार्ग में आक्रमण के लिए प्रयाण

करने नहीं देता । अब भी उसकी उपस्थिति सुदास के लिए चाहे उतनी सहायक न हो, किन्तु उसकी अनुपस्थिति क्या कर सकती है, यह तो प्रमाणित हो ही गया है । इसके अतिरिक्त—मैंने तुमसे कहा था न, कि वसिष्ठ के पिता ने ही उसके गुरु ऋचीक को वसिष्ठ की गुरु-दक्षिणा के लिए सहस्रों अश्व दान दिए हैं ?'

'सो वे अश्व तो ऋचीक के हो गए । उनसे वसिष्ठ का क्या लेना-देना ?—ऋचीक के पास तो उन अश्वों की खरीद के लिए तुमने किसी को भेजा भी है न ?'

'हाँ । उस ज्योतिषाचार्य गाधि के पुत्र विश्वरथ की तो मैं अब भी बड़ी उदग्रता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ । इस समय न भी हो तो भी इन बर्बर आर्यों से भविष्य में हमारी रक्षा के निर्भर-योग्य साधन अश्व ही हो सकते हैं और देवी मृगम्मदा इसे खूब अच्छी तरह समझती हैं । यदि वसिष्ठ को वे थोड़ा भी प्रभावित कर सकीं तो उसके माध्यम से हमें सहज ही पर्याप्त अश्व मिल सकते हैं । जिसका पिता सहस्रों अश्व गुरु-दक्षिणा में दान दे सकता हो, वह अपने पिता से कह कर क्या कुछ सौ अश्व अपनी मौसी को नहीं दिलवा सकता ?'

'अपनी मौसी ?' सेलकेत ने पूछा ।

'तुम भी तो जानती हो, वसिष्ठ एक अपहृत उर्वशी का पुत्र न है ।'

मुस्करा कर सेलकेत ने कहा, 'और वह उर्वशी उसके पिता की पत्नी नहीं, दासी थी—किसी एक स्वामी की नहीं, दो दो स्वामियों की ।—लो, तुम्हें पता नहीं, रात कितनी बीत रही है ? मैं तो अब सोना चाहूँगी । आज वर्षा कुछ थमी है, देखना चाहिए प्रातःकाल तक यदि नदी कहीं कुछ राह दे सके ।' और उसने करवट बदल ली ।

शुष्ण ने भी सिर को उपधान पर रख कर सोना चाहा, किन्तु अभी उसे नींद कहाँ है ? सुदास को पकड़ कर यदि वह ले जा सके, तो आर्यों में तो आतंक फैल ही जाएगा, वहाँ दुर्योण में महाश्रेष्ठि अर्बुद भी उसकी उपेक्षा करने का साहस नहीं करेंगे । उनकी उपेक्षा की उसे परवाह तो नहीं है, किन्तु सार्वजनिक हित के उसके प्रस्ताव उस बूढ़े की उपेक्षा के कारण ही पूरे नहीं हो पाते । अश्व-शक्ति के संगठन के लिए तो वह जबसे महानायक बना है, तभी से बराबर प्रयत्न करता आ रहा है, अब जाकर कहीं उसने जो इस प्रस्ताव में रुचि दिखाई है, वह भी शायद इसीलिए कि कहीं न कहीं इसमें उसका स्वार्थ हो । उसका सहायक वणि भी तो एक ही काइयाँ है ।—उपान्त में ही उसने जो इतना भव्य प्रासाद बना लिया है, वह महाश्रेष्ठि की कृपा का प्रसाद ही तो है ! बाहर से तो किसी को अनुमान ही नहीं हो सकता । वह तो उस दिन जब पूज्य भांडव्य की हत्या के प्रकरण में आहत हो गया था, तब अनायास उसे देखने चला गया था !—यह क्या ? बाहर यह पद-

ध्वनि ! किसी की बातचीत के अस्फुट स्वर भी तो सुनाई दे रहे हैं। उसने पुकारा, 'कौन है बाहर ?—कोई विशेष बात है ?'

द्वार का परदा कुछ हटा कर एक रक्षक ने भीतर झाँका और कहा, 'अपराध क्षमा हो महानायक, आप जाग रहे हैं ? मैंने विघ्न प्रस्तुत किया ?'

'उसकी चिन्ता न करो। बात क्या है, वही कहो।—कोई आया है ?'

रक्षक ने सिर झुका कर कहा, 'दुर्योण से महाभाग वणि आपसे इसी समय मिलना चाहते हैं। कहते हैं, बहुत ही आवश्यक व्यापार है, प्रातःकाल तक अपेक्षा नहीं कर सकता।'

—वणि, इस समय और यहाँ ?—दुर्योण से आ रहा है ! अवश्य ही कोई आवश्यक और गुप्त सम्वाद होगा। उसने अपनी चादर फेंक कर उठ बैठते हुए कहा, 'हाँ हाँ। वणि को भीतर आने दो। और उधर से उसके लिए आसन्दी खींच लो।'

सेलकेत अभी अर्द्धनिद्रा में ही थी, वह भी उठ बैठी, दुर्योण में सब मंगल तो है न ?

प्रवेश करते-करते द्वार से ही वणि कहता आया, 'परम भट्टारक महानायक वीरवर शुष्ण और वीरन्धरा महातेजस्विनी महादेवी सेलकेत के चरणों में मैं वणि प्रणाम निवेदन करते हुए असमय में आप के विश्राम में बाधा प्रस्तुत करने के लिए क्षमा चाहता हूँ—'

'आओ वणि, आओ ! स्वजनों का आगमन कभी असमय नहीं होता। इस समय तुम्हें अप्रत्याशित यहाँ देखकर आश्चर्य हो सकता है, पर हर्ष तो है ही। कुशल तो है न ?' शुष्ण ने कहा।

'आपके प्रताप से कुशल तो है ही, प्रसन्नता की बात है कि वह गौरवपूर्ण भी है। एक पणिक के नाते मैं आप दोनों के अभूतपूर्व शौर्य पर गर्व से फूला नहीं समा रहा हूँ। इन बर्बर आर्यों के बीच आपने सहज ही दुर्योण के पणिकों का मस्तक ऊँचा कर दिया है। अपनी स्वयम् की और सिन्धु-तट के सभी नागरिकों की ओर से मैं आपको हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करता हूँ और आपका अभिनन्दन करता हूँ।—और महादेवि, आपने तो दुर्योण की महिलाओं के लिए एक अलग ही गौरव के इतिहास की नींव डाल दी है। दुर्योण आपके स्वागत की प्रतीक्षा में आँखें बिछाए प्रस्तुत रहेगा।'

सेलकेत ने कहा, 'मैं दुर्योण की कुछ सेवा कर सकी यही मेरे लिए परम सन्तोष की बात है वणि ! तुम क्या दुर्योण से ही चले आ रहे हो ?—वहाँ सब

कुशल है न ?'

'दुर्योण से तो मैं आपके अभियान के पूर्व ही प्रस्थान कर चुका था महादेवि ! महानायक अवश्य जानते होंगे, महाश्रेष्ठि ने मुझे अपने सैन्य-दल के लिए कुछ अश्वों के क्रय का भार दिया था। मेरी प्रसन्नता आज दुगुनी है कि मैं अपने प्रयोजन में सफल हुआ हूँ।—हृदय की समस्त कृतज्ञता और प्रसन्नता तत्काल व्यक्त करने की अदम्य इच्छा के बावजूद इस गम्भीर रात्रि में मैं आपके विश्राम में बाधा पहुँचाने का साहस न करता, यदि मेरे प्रयोजन की कसौटी ऐसे ही निभृत-स्तब्ध समय की माँग न करती तथा मुझे भी यह विश्वास न हो जाता कि आप मेरे प्रयत्न की सफलता पर प्रसन्न हुए बिना नहीं रहेंगे।'

'देश-विदेश की संस्कृतियों से परिचय का लाभ उठाकर वार्तालाप की कला में तुम बड़े प्रवीण हो गए हो वणि, बैठो।' मुस्कराकर शुष्ण ने उसे आसन्दी पर बैठने के लिए संकेत किया।

वणि खड़ा ही रहा और बोला, 'मेरा प्रयोजन अत्यन्त गूढ़ और गोपनीय है महानायक ! मैं एकान्त के लिए निवेदन करना चाहूँगा।'

'यदि सेलकेत से भी तुम्हारा प्रयोजन गोपनीय हो तो मुझे कहने का कोई लाभ नहीं वणि –'

'अन्यथा समझ कर मुझे अपराधी और महादेवी के निकट लज्जित न करें महानायक !—महादेवी तो आपका ही प्रत्यंग है। मेरा तात्पर्य द्वार-रक्षकों से था। और जब कि ठोस दीवारों के भी कान होते हैं तो यहाँ तो शिविर का झीना आवरण ही है। मैं कई व्यक्तियों के प्राणों की सुरक्षा का दायित्व लेकर आपकी सेवा में प्रस्तुत हुआ हूँ।'

ताली बजाकर शुष्ण ने रक्षक को भीतर बुलाया और कहा, 'बाहर शिविर के चारों ओर घूम कर देख लो, बाहर श्रवण-सीमा के भीतर कोई न आने पाए, और तुम दोनों रक्षक भी, जब तक मैं पुनः बुलाऊँ नहीं, उस सीमा के बाहर रह कर ही पहरा दो।'

वणि ने कहा, 'आज्ञा हो तो मैं भी एक बार बाहर इसके साथ जाकर देख आऊँ ?'

'अवश्य अवश्य।—अपने मन को पूर्ण रूप से आश्वस्त कर आओ।'—दोनों बाहर निकल आए।

सेलकेत ने कहा, संशयालु और 'बड़ा विचित्र व्यक्ति है।'

शुष्ण ने कहा, 'शायद अश्वों के बारे में कुछ आशाजनक सम्वाद हैं।'

'यदि पाँच-सात अश्व भी मिल जाएँ तो कल रात को ही उस के अपहरण की योजना बनाई जा सकती है। है न ?'

'यदि शत्रु के शिविर में वणि का प्रवेश हो तभी !—पाँच-सात अश्वों से शिविर से निकल कर सुरक्षित भाग लिया जा सकता है, किन्तु उसका सामना नहीं किया जा सकता।—समय चाहे जो हो और आक्रमण भी चाहे जितना अप्रत्याशित तथा आकस्मिक हो, सैन्य-शिविर में थोड़ी-बहुत सतर्कता तो सदा रहती ही है।—हमारा ही शिविर देखो न—'

इसी समय वणि भी चारों ओर की टोह लेकर लौट आया। आसन्दी को दोनों पलंगों के पैंताने बीच में खींचते हुए फुसफुसाकर बोला, 'शायद आपके अप्रतिम-शौर्य का शुभ शकुन ही हो और उस शौर्य को अभिषिक्त करने के लिए उपहार-स्वरूप मुकुट पहनाने का श्रेय भी मेरे ही भाग्य में लिखा हो, इसलिए मैं आपको सहर्ष सूचित करना चाहता हूँ कि अश्व-संग्रह के प्रयोजन में मैं आशा से अधिक सफल हुआ हूँ।'

'सच वणि ?' हर्ष से प्रमुदित शुष्ण ने कहा, 'अभी सेलकेत कह ही रही थी कि यदि हमें पाँच-सात अश्व भी मिल जाएँ—'

'पाँच-सात नहीं महानायक, मैंने पूरे एक सौ अश्वों का सौदा कर लिया है। आपकी स्वीकृति मिलने पर एक सौ और भी संग्रह किए जा सकते हैं।'

'दो सौ अश्व ?–सेलकेत, सुन रही हो ?–दो सौ अश्व-अश्व सब ठीक तो हैं न वणि ?'

वणि ने मुस्करा कर कहा, 'अश्वों के बारे में मैं क्या जानूं महानायक ?—निरा बैल हूँ, बैलों के बारे में तो कुछ बता भी सकता हूँ। आप स्वयम् अभी चल कर देख लें, इसीलिए तो आया हूँ। उधर कुछ ही दूर अँधेरे में पाँच अश्व आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

'कहाँ, शिविर के बाहर ?' सेलकेत ने उत्साहित होकर पूछा।

'यहाँ तक ले आना कैसे सम्भव होता महादेवि ? कैसे बताऊँ कि यह व्यवहार कितनी गोपनीयता से सम्पादित करना पड़ा है ? आर्यों के कान में यदि जरा भी भनक पड़ जाए तो यज्ञ के हवन-कुण्ड में सबसे पहली बलि उन अश्वों के स्वामी की होगी।'

उत्साह से शुष्ण पलंग से नीचे उतर आया था। बोला, 'कहाँ चलना होगा वणि ?'

'कुछ ही दूर महानायक !—अँधेरे में खड़ा कर आया हूँ। अश्वारोही बेचारे थर-थर काँप रहे हैं। बहुत बड़ा लोभ देकर और उनकी सुरक्षा का पूरा

दायित्व लेकर ही उन्हें ला पाया हूँ। वे बेचारे भी क्या करें, लोभ चाहे जितना बड़ा हो, प्राणों से बड़ा तो हो नहीं सकता न !'

शुष्ण ने कहा, 'अभी चलता हूँ वणि। तैयार हो लूं।' और वह वस्त्र पहनने लगा।

सेलकेत ने पूछा, 'अश्वारोही सब सैनिक हैं?'

'सैनिक ?—कहती क्या हैं? कोई सैनिक तैयार हो सकता है ऐसे कामों में? और मैं ही उनका विश्वास कर लूंगा ?—आपका वणि इतनी कच्ची गोलियाँ नहीं खेला है महादेवि !'

'तुमने अश्वारोही कहा न !'

वणि ने मुस्करा कर कहा, 'अरे, आर्य लोग तो हर उस व्यक्ति को अश्वारोही कहते हैं जो अश्व पर चढ़ लेता है। ये बेचारे सैनिक कहाँ से हो पाएँगे ?—सामान्य अश्वपाल, स्वामी के सेवक अश्वों की परिचर्या ही करते रहते हैं।—अलबत्ता, सब अश्वों में आधे से अधिक आपको प्रशिक्षित मिल जाएँगे। पर यह तो महानायक स्वयम् देख कर ही निर्णय कर सकते हैं। मैं तो केवल सुनी-सुनाई बात ही बता सकता हूँ।'

'पहली खेप के सौ अश्व शीघ्र से शीघ्र कब तक मिल ज़ाएँगे वणि ?' शुष्ण ने पूछा।

'आज रात को तो अब शायद सम्भव नहीं हो, किन्तु कल मध्य-रात्रि तक तो अवश्य ही मिल सकते हैं।'

'मिल सकते हैं, अर्थात् निश्चय से नहीं ?'

'नहीं महानायक, बात ऐसी नहीं है। निश्चय तो इस पर निर्भर करता है कि आप उन्हें देख कर अपनी स्वीकृति दे दें।—और यदि जँच जाए, तो ये पाँच अश्व तो आप अभी ही रख ले सकेंगे।'

'किन्तु वणि,' सेलकेत ने कहा, 'इनका मूल्य तो, जो भी हो वह, यहाँ से तो चुकाया नहीं जा सकेगा। क्यों न शुष्ण ?'

वणि ने मुस्करा कर कहा, 'उसकी चिन्ता आपको नहीं करनी होगी महादेवि !—सैन्य-दल स्वर्ण लेकर नहीं, शस्त्र लेकर चलता है, इतनी बुद्धि मुझ में है। आपके प्रताप से वणि की इधर भी आर्थिक विषयों में पर्याप्त साख है। इसके अतिरिक्त महाश्रेष्ठि ने मुझे अग्रिम-भुगतान के लिए पहले ही पर्याप्त राशि दे रखी थी।—आप मूल्य की चिन्ता बिलकुल न करें। केवल पण्य पसन्द कर लें। बस—'

'तब तो कोई बाधा नहीं है। मुझे सोचना चाहिए था, महाश्रेष्ठि और तुम्हारी व्यवस्था सौ टंच पूरी ही होगी।' फिर उसने शुष्ण को सम्बोधित कर

कहा, 'बाहर घोर अँधेरी रात है और जगह बिलकुल अपरिचित। प्रकाश ले जा सको तब तो ठीक ही है'—

वणि ने बीच ही में बाधा देकर कहा, 'नहीं-नहीं महादेवि, प्रकाश बिलकुल नहीं। देख तो रही ही हैं, उस पार कुछ ही दूर तो उनका शिविर है। उनको यदि कुछ भी सन्देह हो गया तो सारा व्यवहार ठप्प समझिए। मेरा सारा परिश्रम तो व्यर्थ जाएगा ही, बेचारे उन निरपराध अश्वारोहियों के प्राण भी नहीं बचेंगे। अँधेरे में तो प्रकाश का एक कण भी सौ-जिह्व होकर मुखर हो उठता है। वैसे इन जुगनुओं से जितना मार्ग-दर्शन मिल जाए उसी पर निर्भर करना पड़ेगा।'

'प्रकाश न सही। कुछ सशस्त्र सैनिक अवश्य साथ में लिए जाओ।'

'नहीं महादेवि, वह भी नहीं। पत्ता खड़कने से भी डर जाने वाले हैं वे लोग। घोड़ों की मालिश करने में ही तो जीवन बीता है उनका। आप लोगों का विश्वास दिलाने में जितना मुझे समझाना पड़ा है, यदि उसका शतांश भी आप जानती होतीं तो ऐसा प्रस्ताव नहीं करतीं। दो से तीसरे व्यक्ति की छाया दूर से देखते ही वे अँधेरे ही अँधेरे भाग खड़े होंगे।—वैसे आशंका का कोई कारण नहीं है महानायक ! मैं तो आपके साथ रहूँगा ही।'

'तो तनिक रुको। मैं भी तैयार हो लेती हूँ।' कहकर सेलकेत ने चादर अपने शरीर से हटा ली और वह भी पलंग से उतरने का उपक्रम करने लगी।

'आप भी चलेंगी ?' वणि ने असमंजस से पूछा।

'महानायक अकेले नहीं जा सकते।'

शुण्ण ने कहा, 'तुम चिन्ता क्यों करती हो सेलू ? वणि की आशंका यथार्थ है। सन्ध्या से ही तुम बहुत स्वस्थ भी नहीं हो, तुम विश्राम करो, मैं अभी कुछ ही मुहूर्त में लौट कर आता हूँ, कहीं बहुत दूर तो जाना नहीं है।'

वणि मन ही मन सोच रहा था, यदि सेलकेत भी चले तो आपत्ति क्या है ? एक ही तीर में दो शिकार ! अँधेरे में और असावधान, एक के स्थान पर दो हों, तो भी क्या अन्तर पड़ता है ? वे पाँच हैं और टूट पड़ने को बिलकुल कमर कसे हुए। किन्तु कुत्स कम शंकालु नहीं है। अँधेरे में दूर से ही तीन छायामूर्तियाँ देख कर भड़क उठे और भाग खड़ा हो तो ?—नहीं, वृक्ष पर बैठी दो चिड़ियाओं की अपेक्षा हाथ की एक चिड़िया अभी बहुत है। उसने कहा—

'महानायक समस्या को ठीक तरह से समझ रहे हैं महादेवि !—और वे अकेले कहाँ हैं ?—मैं जो साथ रहूँगा।—हाँ, यदि मेरा ही विश्वास न करता हो, तो फिर यह सारा व्यायाम व्यर्थ है। अभी तो प्रारम्भ ही पाँच अश्वों से हो रही है। दो सौ न हों, तब भी मैंने सौदा सौ का कर ही लिया है। सम्पूर्ण व्यवहार

रात्रि के ऐसे ही घोर अन्धकार में सम्पन्न होना है। यदि अभी से अविश्वास हो तो आगे काम कैसे बढ़ेगा ?-मुझे सचमुच खेद है कि मैंने आपके विश्राम में बाधा पहुँचाई। आप विश्राम करें। मैं उन्हें लौट जाने के लिए कह आऊँ।–उनके शिविर में जाने का फिर मेरा भी क्या प्रयोजन है? कहीं मुझे ही वे विश्वासघात का दोषी मान बैठे तो मुझे ही लेने के देने पड़ जाएँगे। आपके दल के साथ ही मुझे भी दुर्योण लौट चलना चाहिए। वैसे उन्हें कहने जाने की भी क्या आवश्यकता है ?—कुछ समय और प्रतीक्षा करके आप ही वे लौट जाएँगे। और जब मेरा विश्वास ही नहीं कर पा रहे हैं तो मुझे भी आप वन्दी करके रख ले सकते हैं।'

शुण्ण ने कहा, 'कैसी बात कर रहे हो वणि ?—तुम्हारा कोई अविश्वास कर रहा है? यह युद्धभूमि है, इसलिए किंचित सावधानी के लिए ही महादेवी ने प्रस्ताव किया था।' फिर कुछ व्यंग्य-सा करते हुए मुस्करा कर कहा, 'युद्ध-भूमि में शत्रु के सम्मुख अद्भुत शौर्य प्रदर्शन करने से ही तो स्त्री की ममतामई प्रवृत्ति बदल नहीं जाती !—चलो मैं तैयार हूँ।—और सेलकेत, तुम तनिक भी चिन्ता न करो।—देखो न। आँखों में तो तुम्हारी नींद भरी हुई है। उनमें नींद आए, उसके पहले ही मैं लौट आऊँगा।—ठीक है न वणि ?'

वणि ने उसी स्वर में कहा, 'क्या करूँ महादेवि, परिस्थिति ही कुछ ऐसी है, वरना मैं तो स्वयं चाहता कि हम रक्षकों के पूरे दलबल के साथ जाकर उनसे मिलें। पर आप चिन्ता न करें। अवसर आने पर महानायक के लिए यह सेवक प्राण देने से भी पीछे नहीं हटेगा। कुछ ही मुहूर्त की तो बात है। और मुझे तो अब कल इसी समय तक के लिए अवकाश दें। अब कल ही दर्शन करूँगा—'

'क्यों, कल तक क्यों ?—अभी तुम महानायक के साथ नहीं लौटोगे ?'

वणि ने स्थिति को सम्हालते हुए, कहा, 'लौटूंगा तो, किन्तु मुझे तो पुनः उन अश्वारोहियों के साथ लौट जाना होगा—सौ अश्वों की अगली खेप की व्यवस्था जो करनी है।—इतनी सी बात के लिए बीच में आपके विश्राम में बाधा क्यों पहुँचाऊँ ?' और कमर तक झुक कर प्रणाम करके वह शुण्ण के साथ ही बाहर निकल आया। सेलकेत ने एक जम्हाई ली, और दूर फेंकी हुई चादर को वह पुनः अपने ऊपर ढाँकने लगी। बाहर महानायक द्वार-रक्षकों को सतर्क रहने के लिए आवश्यक आदेश दे रहा था। कुछ ही क्षणों में वह आहट भी बन्द हो गई। सेलकेत ने भी आँखें बन्द कर लीं।

बाहर पहाड़ी की ओट से निकल कर नदी-तट से कुछ दूरी रखते हुए आगे-आगे वणि और पीछे-पीछे महानायक शुण्ण, मौन-निस्तब्ध, धीरे-धीरे आगे बढ़

रहे थे। अँधेरा वैसा ही घुप्प था, तब भी अतिरिक्त सावधानी के लिए वे वृक्षों की छाया में अँधेरे के साथ एकाकार होकर ही बढ़ रहे थे। पथरीली भूमि थी, किन्तु वर्षा ऋतु थी, जगह-जगह जंगली लताएँ, छोटे-छोटे पौधे, जहाँ जैसी जगह मिली, धरती का पेट फाड़ कर बाहर निकल आए थे। वणि सधे कदमों से चल रहा था, किन्तु शुष्ण के पैरों में रह-रह कर लताएँ उलझ ही जातीं। इससे कुछ आहट भी हो जाती, किन्तु बाहर खुले में और भी कई ऐसी आहटें हैं, जिनमें खोकर किसी विशेष आहट को लक्ष्य नहीं किया जा सकता था। शुष्ण को अवश्य अनुभव हो रहा था कि मार्ग खिंचता ही चला जा रहा है या कि उसके स्वयं के कारण उनकी प्रगति ही मन्द है ?

आगे, जहाँ पीछे रह गए शुष्ण को आ मिलने के लिए वणि को कुछ रुकना पड़ा, पहुँच कर शुष्ण ने ओठों ही ओठों में पूछा, 'क्या अभी और दूर चलना है ?'

'अधिक दूर नहीं महानायक,' और बातों में उलझाए रखने के उद्देश्य से—वणि समझ भी चुका था कि फुसफुसाकर बातें करने में अब कोई वैसा भय भी नहीं है—उसने कहा, 'अधिक से अधिक केवल तीन कूप-रज्जु दूर।'

'यह कूप-रज्जु दूरी क्या होती है वणि ?' कुछ-कुछ मुस्करा कर शुष्ण ने पूछा।

'आप कहाँ से जानेंगे महानायक ?—आपको उधर मरु-भूमि की ओर जाने का काम ही क्यों पड़ने लगा ? सिन्धु तट की भूमि तो बहुत उर्वर है, किन्तु उसके पूर्व में बहुत दूर तक तप्त बालू से भरी मरुभूमि फैली हुई है, यह तो आप जानते ही होंगे। वहाँ पानी का एकदम अभाव ही रहता है। कुछ कूप खोदे अवश्य गए हैं—आखिर पानी के बिना काम तो चल नहीं सकता न !—पानी उन कूपों में इतनी गहराई में मिलता है कि खींचने वाले वृषभ-वाहक को ढोल पीट कर सूचित करना पड़ता है। इसमें जितनी रस्सी लगती है, उधर यही रस्सी दूरी का प्रमाण हो गई है।—क्या महानायक थक गए हैं ?'

'नहीं, थका नहीं। केवल यही चिन्ता है कि कहीं प्रातःकाल न हो जाए।'

'आप चिन्ता न करें। तारे नहीं दिखाई देते, किन्तु अभी बहुत रात शेष है। और लीजिए, हम पहुँच भी गए हैं। वह सामने जो घने अन्धकार का आभास है न, वह एक वट-वृक्ष है। बस वहीं। साँस रोक कर सुनेंगे तो अश्वों की कुछ हलचल भी सुनाई दे जाएगी !' साँस रोक कर ही शुष्ण वणि के पीछे-पीछे चलने लगा। वट-वृक्ष सामने ही था, नीचे घना अन्धकार, क्या पता उसकी शाखाएँ और जटाएँ भी धरती को चूम रही हों !

वृक्ष की सीमा पर पहुँच कर ही वणि रुक गया और हाथ के संकेत से शुष्ण को भी रोक दिया, कुछ आसपास की आहट ली और उसके कान से मुँह लगा कर कहा, 'सुन रहे हैं न ?—यह अश्व हिनहिना रहे हैं। किसी अपरिचित के आगमन को मनुष्य से पहले ही पशु पहचान लेता है।—कोई भय नहीं है। मैं यहीं से बुलाता हूँ, अरे कैवर्त ?'

आहट शुष्ण ने भी सुनी। उत्साह और उत्कंठा में वह देश-काल, अपने-आपको भी भूल गया।

सामने से वणि की पुकार का उत्तर आया, 'आप आ गए वणिराज ?—सब कुशल तो है ? बड़ा विलम्ब कर दिया आपने। हम तो निराश होकर लौटना ही चाह रहे थे।'

शुष्ण ने कहना चाहा,—नहीं भाई, विलम्ब के लिए वणि का कोई दोष नहीं है,—किन्तु वणि ही कह रहा था, 'भय की कोई बात नहीं है कैवर्त।—जैसी व्यवस्था तुम चाहते थे वैसी ही है। अश्व तुम इधर ही ले आओ।'

'मैं आ रहा हूँ।'

शुष्ण सोच रहा था कि इस अन्धकार में अश्वों को ठीक तरह देखना कैसे सम्भव होगा ?—यदि आसपास कोई आड़ हो तो वहाँ जाकर प्रकाश कर लेना उचित नहीं होगा क्या ? वह वणि से कहे—किन्तु वह कह नहीं सका। पीछे से अकस्मात् चार-पाँच हाथों ने उसे पकड़ लिया। उसने कहना चाहा, यह क्या है वणि ?—किन्तु इतने ही में किसी ने उसके मुँह पर तीव्र गन्ध से भरा एक वस्त्र लपेट दिया। आगे का उसका वक्तव्य 'गों-गों' तक सीमित होते-होते निश्शेष हो गया। चेत खोने से पहले उसने अपने चारों ओर रस्सी लपेटे जाने की भी धुंधली-सी अनुभूति ली–अर्थ तो उसका तब है जब वह स्मृति में भी रहे। उस क्षणांश में उसे कही वणि द्वारा प्रयुक्त कूप-रज्जु की सार्थकता का भी बोध अवश्य हुआ होगा।

उधर शिविर में, आँखें खुली रखने के सेलकेत के प्रयत्नों की नितान्त अवज्ञा करके उदंड नींद ने उसके पलकों को मूँद ही दिया और जब वे पुनः खुलीं तो सेलकेत यही समझती रही कि वह सोई नहीं है, एकाध पल के लिए पलक झपक गए तो क्या हुआ ?—प्रमाण यही है कि पास का पलंग खाली है। शुष्ण वणि के साथ अभी ही तो गया है। लौट भी रहा होगा।—अब वह पलकों को झँपकने नहीं देगी।—अश्वों को वह भी एक बार नयन भर कर देख ले, तो फिर लम्बी तान कर सोएगी, सबेरे काफी देर तक।—उसे और काम ही क्या है ? विश्राम की उसे ही नहीं, गर्भ के शिशु को भी तो आवश्यकता है।—गर्भ का

शिशु ! वह देख लेगी अश्व, तो गर्भस्थ शिशु का देखना भी हो ही जाएगा ! माँ के अंगों से ही तो उसका सब काम होता है।'

—पर यह बाहर असमय चिड़ियाँ क्यों चें-चें मचा रही हैं ?—क्या किसी नीड़ में कोई हिंस्रपक्षी घुस गया है ?—पर यह चहचहाहट तो अन्य दिशाओं से भी आ रही है—नहीं भय या त्रास के नहीं, ये तो उनकी प्रभाती के स्वर प्रतीत होते हैं।—तो क्या रात बीत गई ?—शुष्ण—शुष्ण कहाँ है ? वह सूर्योदय के पहले ही उठ जाता है—नित्यकर्म के लिए चला गया क्या ? बिना उसे एक बार जगा कर जताए तो जाता नहीं। उसे क्लान्त देख कर शायद जगाना उचित न समझा हो।—नींद बड़ी बैरन है ! अच्छे—से—अच्छे शत्रु को सम्मुख समर में जीत लिया जा सकता है, पर यह बैरन तो चुपके-चुपके पलकों की ओट से कब उतर आती है, इसका पता ही नहीं लगने देती।—अश्वों को एक नजर देख लेती, तो अभी फिर निश्चिन्त होकर सो जा सकती थी।—नहीं, अब नहीं सो सकेगी, जब तक कि शुष्ण आकर उसे अश्व न दिखा दे।—देखने का आनन्द भी तो उसी के साथ देखने में है। शुष्ण को अनुभव करना चाहिए था कि वह अश्वों के लिए कितनी उत्सुक है ? जगा देता तो क्या होता ? ये पुरुष चाहे जितना प्यार करें पर समझ नहीं सकते कि स्त्री को आखिर सुख किसमें मिलता है ?—नहीं जगा कर जैसे उसने बड़ा तीर मार लिया।

एक काम क्यों न करे वह ? बहाना करके आँखें बन्द कर सोई पड़ी रहे, मानों गहरी नींद में हो।—देखें, कब तक नहीं जगाता है ?—लौट कर यहाँ न आए और सीधा ही चित्र-कक्ष में चला जाए तथा वहीं से किसी को उसे बुलाने के लिए भेज दे तो ? द्वार-रक्षक को पहले से ही सावधान कर देना उचित होगा। उसने ताली बजाकर द्वार-रक्षक को भीतर बुलाया और कहा, 'देखो, महानायक चित्र-कक्ष में आ जाएँ या हों और मुझे बुलाएँ तो कह देना, मैं गहरी नींद में हूँ।'

रक्षक ने कहा, 'जैसी आपकी आज्ञा।—किन्तु महानायक अभी तो लौटे ही नहीं हैं।'

'क्या मतलब ?—रात को वणि के साथ गए थे, क्या तब से नहीं लौटे हैं ?'

'नहीं महादेवी जी।'

'क्या कहते हो ?—सवेरा हो गया है न ?'

'बादलों के कारण धूप अवश्य नहीं दिखाई देती, पर सूर्य तो एक दंड ऊपर चढ़ चुका है।'

'हैं ?—और अभी तक महानायक लौटे नहीं ?' और वह चादर फेंक कर उठ खड़ी हुई, 'उनके साथ गया वणि भी नहीं लौटा न ?'

'जी नहीं ।'

'अच्छा । तुम शीघ्र गुल्म-नायक अहीशुव के शिविर में जाकर देखो । यदि महानायक वहाँ भी न हों तो अहीशुव को मेरा अभिवादन कहो, चित्र-कक्ष में वे मेरी प्रतीक्षा करें । यहाँ और जो कोई रक्षक हो उन्हें कहो, स्कन्धावार में सब ओर जाकर देख आएँ । कहें किसी से कुछ नहीं । यहाँ अब किसी रक्षक की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । मैं स्वयम् कुछ ही मुहूर्त में तैयार होकर चित्र-कक्ष में गुल्म-नायक की प्रतीक्षा करूँगी । तुम जाओ, विलम्ब न हो ।'

'आपके आदेश का पालन होगा महादेवीजी ! मेरे पास यहाँ पर्याप्त सैनिक हैं । एक सैनिक तो यहाँ आपका आदेश पाने के लिए रहेगा ही ।' और कमर तक सिर झुका कर बाहर निकल आया ।

गर्भ-भार से नम्र अब तक शिथिल पड़ी हुई सेलकेत आँधी के पहले झोंके में ही मानों मेघों में सोई पड़ी बिजली की तरह तड़प उठी । एक क्षण भर में उसने अपने आपको, अपनी विषम-परिस्थिति को एकदम भुला दिया । वह सहज ही समझ गई कि वणि ने उनके साथ विश्वासघात किया है ।—वणि और महाश्रेष्ठि,–स्वयं शुष्ण ने कभी उन्हें अपने मन के निकट नहीं पाया !'–वे ही क्यों, महापणिक और मृगंमदा ने ही कब उन पर विश्वास किया ? दुष्ट-ग्रह की तरह ही पूजा देकर ही उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया है । उसका अन्तर्मन तो तभी समझ में आ गया था जब उसने शुष्ण को अपने साथ प्रकाश या सशस्त्र सैनिक ले जाने का आग्रह किया था । वह स्वयम् भी तो साथ जाने के लिए तत्पर हो गई थी । वणि का कहा उसे कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए था । अँधेरा था ही । सैनिक कुछ दूर रह कर पीछे-पीछे जा सकते थे । आवश्यकता होती तो वणि और शुष्ण को भी पता न पड़ता ।

शिविर के चित्र-कक्ष में गुल्म-नायक अहीशुव से परामर्श करते हुए पहली आवश्यकता यह अनुभव की गई, कि महानायक के सहसा अदृश्य हो जाने की सूचना शिविर में बिलकुल न फैलने पाए, नहीं तो सेना का मनोबल गिर जा सकता है, और उनमें भगदड़ मच जा सकती है । कुछ ही दूर सामने ही शत्रु का शिविर है । यद्यपि अभियान का अभिप्राय पूरा हो चुका है—महानायक की विद्यमानता में उसके दुर्योण लौट जाने का पूरा औचित्य था–किन्तु अब जब कि अकस्मात् वे लापता हो गए हैं, उन्हें खोजे बिना उनके लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता ! आवश्यक यह है, कि किसी का मनोबल न गिरे और छिपे तौर पर पूरी शक्ति लगाकर महानायक

की खोज की जाए। इस बीच कोई महानायक के बारे में पूछताछ करे तो उसे यही कहा जाए कि वे विश्राम कर रहे हैं।

खोज में पूर्व की ओर गए चरों ने दुपहर तक लौट आकर सूचना दी कि लगभग दो योजन दूर एक वट-वृक्ष के नीचे कुछ चरवाहों ने रात्रि के घोर अन्धकार में वहाँ कुछ अश्वारोही डाकुओं को देखा था। वे उस पार से एक नौका द्वारा अपने अश्वों सहित इस पार आए थे। नौका उनकी तट पर लगी रही थी। उन्हें देख कर ही चरवाहे भय के मारे वृक्ष की शाखा पर ऊपर चढ़ कर बैठे रहे। इधर कुछ दिनों से उनका उपद्रव बढ़ गया है न! गाँवों में आग लगाकर वे ग्रामवासियों को आतंकित कर देते हैं। उनके पशु-धन, शस्य और स्त्रियों तक को लूट ले जाना उनका सामान्य व्यवसाय हो गया है। बेचारे चरवाहे ठहरे, करते भी क्या? डर के मारे वृक्ष की शाखाओं पर साँस रोके चिपके हुए देखते रहे। उन्होंने अँधेरे में भी लक्ष्य कर लिया कि उनका एक साथी उन्हें और अश्वों को वहीं छोड़ कर सामने चला गया था। काफी समय बाद वह लौटा होगा। उन्होंने ध्यान नहीं दिया, किन्तु जब वे सब वापिस लौटे तो उनके साथ एक भारी लम्बा बोझ भी था, जिसे दो-तीन व्यक्तियों ने मिल कर नौका पर लादा था। अपने घोड़ों को भी वे नौका पर ही लाद कर ले गए। यह तो अच्छा हुआ कि अँधेरा घोर था और उन पर किसी की दृष्टि नहीं पड़ी, नहीं तो डाकू उन्हें भी पकड़ ले जाते।—सुनते हैं, वे एक अग्नि-कुंड जलाए बैठे रहते हैं और किसी भी अजनबी को उसमें झोंक देते हैं।—उन्हें दया-माया तो किसी की है ही नहीं।—बेचारे अब तक भय से काँप रहे थे वे चरवाहे।

स्वयं सेलकेत और अहीशुव उस वट-वृक्ष तक जाकर सारा क्षेत्र देख आए। सेलकेत के आदेश पर कुछ सैनिकों की वहाँ नियुक्ति हो गई। यदि कोई नौका या व्यक्ति उस पार से आए, तो उन्हें पकड़ कर तुरन्त सेलकेत के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। यदि उस पार कोई सामूहिक गतिविधि भी किसी बड़े पैमाने पर दिखाई दे, तो तत्काल उसकी सूचना दी जाए। सूक्ष्म दृष्टि से चारों ओर भली-भाँति देख कर सेलकेत ने यह सम्भावना समझ ली, कि इस स्थान से किसी-न-किसी तरह नदी पार जाया ही जा सकता है। यदि और कोई साधन न मिला तो एक रात वही अपने वृषभ की पीठ पर नदी पार करेगी और शुष्ण को, आकाश-पाताल जहाँ कहीं वह हो, खोज कर ही रहेगी। किसका साहस है कि उसके जीते जी, कोई उसकी आत्मा के स्वरूप को उससे पृथक कर सके?

इसके साथ ही एक विश्वस्त अनुचर के साथ आवश्यक सन्देश दुर्योण भी भेज दिया गया।

● ● ●

आर्यों के स्कन्धावार में बड़ी हलचल है। महाराज सुदास के आक्रमण को व्यर्थ करने वाले जिस अनार्य नेता को आर्यवीर कुत्स ने अपने कौशल से वन्दी बना लिया था, देवराज इन्द्र आज भरी सभा में उसके भाग्य का निर्णय करने वाले हैं। महाराज सुदास यहाँ होते तो अपनी पराजय के उत्कट-प्रतिशोध में स्वयं सक्रिय-भूमिका ग्रहण कर गौरवान्वित होते—उनके पुरोहित वसिष्ठ ने अपनी अश्वारोहिणी सेना भेज कर तभी उन्हें सुश्रूषा के लिए बुलवा लिया था। अब वे सुन कर ही सन्तोष प्राप्त करेंगे। उन्हें तथा उनके पुरोहित तसिष्ठ को इस अवसर पर यहाँ आने के लिए निमन्त्रण भेजा गया था, किन्तु अभी वे पूर्णतया स्वस्थ नहीं हो पाए हैं और इसीलिए ऋषिवर वसिष्ठ भी नहीं आ सकेंगे।—इधर आर्यवीर कुत्स का सम्मान भी बहुत बढ़ गया है। शुष्ण जैसे दुर्धर्ष वीर को, जिसने सहस्रों योजन दूर से आकर दाशराज–युद्ध के विजेता परम प्रतापी महाराज सुदास के छक्के छुड़ा दिए थे, जीवित पकड़ लाना कोई हँसी-खेल नहीं है। स्वयं कुत्स अपने महत्व से अपरिचित नहीं है। गर्व से उसके पैर धरती पर नहीं पड़ते, वह अब आकाश में ही चलने लगा है। किन्तु एक भय तब भी है उसे। स्वयम् वणि कहीं उसके कौशल का भंडाफोड़ न कर दे। प्रचुर द्रव्य उसे दे ही दिया गया है। वह लौट भी जाता, पर उसे भय है शुष्ण की पत्नी का। वह उसे जीवित नहीं छोड़ेगी। और शुष्ण से कम भयानक नहीं है उसका शौर्य। स्वयम् महाराज सुदास प्रमाण हैं। कुत्स ने तो सोचा भी था कि यदि वणि यहाँ से नहीं टलता, तो उसे समाप्त ही क्यों न कर दिया जाए? आर्यों के लिए अब उसकी उपयोगिता ही क्या है?—यहाँ नहीं तो अपने देश में ही तो मारा जाएगा।—पर वह भी एक ही काइयाँ है। चतुर और सावधान न होता तो शुष्ण ही उसके बहकावे में कैसे आ जाता?—आज सभा में जाने से तो उसे विरत करना ही पड़ेगा। देवराज के भीषण रोष की भूमिका तो पहले ही बँध चुकी है। अवास्तविक वह है भी नहीं।

अपने कक्ष में कुत्स वणि को समझा रहा था, 'यह वात ठीक है वणि, कि तुमने बहुत बड़ा कार्य किया है, महाश्रेष्ठि अर्बुद के विश्वासघात का मेरी समझ से भी यह पर्याप्त परिशोध है। किन्तु महत्व मेरी समझ का तो है नहीं। देवराज समझें तब तो?—उनके लिए तो तुम अब भी उसी अर्बुद के अनुचर हो और इसलिए उनका रोष तुम पर भी उतना ही है, बल्कि अर्बुद की अनुपस्थिति से इस समय तुम्हारे ऊपर वह और भी उग्र हो सकता है।'

'मुझे अब भी लगता है आर्य कुत्स, कि महाश्रेष्ठि अर्बुद के प्रति देवराज की धारणा भ्रान्त है और सही परिस्थितियाँ बताकर उस धारणा को दूर किया जा सकता है, उसे दूर किया जाना चाहिए। —मैं मानता हूँ कि उन्होंने आश्वासन दिया था कि पणिक कभी स्वयम् आक्रमण नहीं करेंगे और आर्य यदि आक्रमण करेंगे, तो वे आर्यों की हर तरह से सहायता करेंगे। किन्तु उनकी सीमाएँ भी तो हो सकती हैं! देवराज ही यह न समझेंगे तो और कौन समझेगा? महामना मरुद्वान को विदित है कि उनके दौत्य के समय कैसी विषम परिस्थिति पैदा हो गई थी? जिसमें अनावश्यक महापणिक के वृद्ध पिता की हत्या करना अनिवार्य हो गया था।'

'तुम कहते हो वह ठीक है, किन्तु देवराज को किसी की सीमाओं से क्या लेना-देना? महापणिक के वृद्ध पिता ही क्यों? यदि स्वयम् महापणिक का वध करना पड़ता तो भी देवराज को क्या? उनके तो आदेश का पालन होना चाहिए। यदि ऐसा था तो अर्बुद को कोई आश्वासन नहीं देना चाहिए था। सम्भव है तब देवराज अपनी कोई अन्य व्यवस्था करते। तुम अनुभव नहीं कर सकोगे वणि, महाराज सुदास की पराजय से देवराज की प्रतिष्ठा को कितना आघात पहुँचा है?'

'किन्तु शुष्ण के पकड़ लिए जाने से क्या वह आघात निरस्त नहीं हो गया?'

'वह तो आगे पीछे पकड़ा ही जाता। देवराज थक अवश्य गए हैं—पता नहीं, इस अज्ञात-वास में उन्हें क्या हो गया?—किन्तु वे निस्तेज नहीं हुए हैं।'

'अज्ञात-वास? देवराज इन्द्र ने अज्ञात-वास किया था?' वणि ने आश्चर्य से पूछा।

'कुछ दिन पहले किया था। एकदम अज्ञात-वास नहीं। उनके अन्यतम सखा आर्य मरुद्वान जानते हैं। पाताल की किसी रूपसी अप्सरा पर उनका मन चल गया था। कहते हैं, उसके शाप का प्रभाव लेकर लौटना पड़ा है उन्हें। वृद्ध भी तो हो गए हैं। किन्तु उनका वज्र तो अमोघ है वणि! मैंने तो इस दुर्वृत्त को पकड़ने में तुम्हारी इस विलक्षण सहायता का संकेत भी दिया था उन्हें, किन्तु जानते हो क्या कहा था उन्होंने? जाने दो, वह कर तुम्हारे उत्साह को मैं नष्ट करना नहीं चाहता। तुम्हारे हित के लिए ही कह रहा हूँ, सभा में तुम्हारा जाना तुम्हारे लिए शुभ नहीं होगा। तुम्हें उस सभा में कई आर्य पुरुष पहचानते भी हैं। वैसे निराश होने की भी कोई बात नहीं है। वहाँ जाकर आखिर यह संकट मोल भी क्यों लो? वहाँ की सारी कार्यवाही मैं तुम्हें बता ही दूँगा।'

'अच्छा आर्य कुत्स, यह तो बताइए, शुष्ण के लिए सभा में क्या निर्णय लिया जा सकता है?'

'यह सब कुछ देवराज की उस समय की मनोस्थिति पर निर्भर करता है।

तुम्हारा यह महानायक वीर पुरुष तो है। तुम शायद नहीं जानते, युद्ध में पराजित होकर जिन असुरों ने देवराज की शरण स्वीकार कर ली उनमें से कुछ को उन्होंने दिग्पाल तक बनाकर अपनी उदारता का परिचय दिया है। कुछ उनकी सेवा में भी नियुक्त हैं। वैसे वे अपने शत्रु को कभी क्षमा नहीं करते। यह तो मैं था इसलिए शुष्ण बन्दी ही बनाया गया। सम्मुख-समर में देवराज से उनके शत्रु के लिए दो ही विकल्प हैं, मरण या शरण।'

वणि ने कहा, 'किन्तु अभी उसकी वीरांगना पत्नी जीवित है आर्यवीर ! शत्रु का रक्त पीने के लिए उसका कंठ यों ही सूखा रहता है। अब तो वह छेड़ी हुई प्रचंड सिंहिनी हो गई होगी। मैं शुष्ण से उतना नहीं, जितना उसकी पत्नी से भय खाता हूँ।'

'किन्तु देवराज महामहेन्द्र इन्द्र किसी का भय नहीं करते वणि ! हाँ, उस रात यदि तुम उसको भी पकड़वा देते तो बहुत सम्भव है देवराज की तुम पर कृपादृष्टि हो जाती।'

वणि केवल हँस कर रह गया तो कुत्स ने पूछा, "तुम हँसे क्यों ?"

'यही भाग्य की विडम्बना पर ! मैंने कहा था न। वह तो स्वयम् ही आने के लिए तैयार हो गई थी। किन्तु उसके साथ होने पर क्या हो सकता था इसकी कल्पना कर सकते हैं ?'

'क्या हो सकता था ?'

'कई विकल्प हैं आर्यवीर, किन्तु एक भी हमारे लिए सहायक नहीं होता। स्त्रियों की दृष्टि बहुत दूर ही नहीं, बहुत गहराई में भी जाती है, अँधेरा या रहस्य हो तो और भी दूर और भी गहरे। वह आती तो उसके पीछे एकाध रक्षक अवश्य आता, मेरे प्रतिवाद का शुष्ण पर भी तब कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त दूर से ही दो के स्थान पर तीन छाया मूर्तियाँ देख कर आप भी तो भड़क जा सकते थे। यह तो आपने मेरी अनुपस्थिति में शुष्ण को बिना अवसर दिये पीछे से अकस्मात् पकड़ कर रस्सियों से बाँध लेने की योजना बना डाली थी—'

कुत्स ने बीच ही में कहा, 'हाँ, तुम्हारे जाने के बाद हमने सोचा कि अश्व दिखाने पर यदि कहीं वह किसी पर एकाएक उछल कर चढ़ बैठा तो न केवल हमारा परिश्रम ही व्यर्थ हो जाएगा, हमें मूर्ख और लज्जित भी होना पड़ेगा। और हमारी वह योजना सफल भी हुई।'

'सो तो ठीक ही हुआ आर्यवर, किन्तु मुझे तो इस योजना का पता नहीं था न ! मैं जिस योजना से अनभिज्ञ था उसके अनुसार तो एक शुष्ण के लिए ही अतिरिक्त अश्व की व्यवस्था थी। नौका भी तो हम अतिरिक्त सुविधा के लिए ले

आए थे। शत्रु द्वारा उसे उलट दिये जाने की सम्भावना भी थी। और शुष्ण की ही तरह ही पीछे से सहसा किसी और एक को पकड़ लेने के लिए हमारे पास पर्याप्त जन-बल भी कहाँ था ?'

'जो हो गया, उसकी आलोचना करने से अब कोई लाभ नहीं वणि ! उनका दल तो अब दुर्योण लौट गया होगा न !' कुत्स ने पूछा।

'यह तो आप के गुप्तचर ही जानते होंगे। मैं तो इन दिनों बाहर निकल कर देखने का भी अभी तक साहस नहीं जुटा पाया हूँ। वह स्त्री कहीं मुझे देख ले, तो जीवित चबा जाएगी।'

कुत्स ने हँस कर कहा, 'तुम जितने साहसी हो, उतने ही डरपोक भी हो। याद रखना, देवराज इन्द्र उससे कहीं अधिक हठी और क्रोधी हैं। जिस तरह तुम उस चंडिका से बच कर रहना चाहते हो, अभी कुछ दिनों देवराज से भी बच कर रहो। उस स्त्री के भय से यदि तुम तत्काल दुर्योण न भी लौटना चाहो तो मजे में यहाँ मेरे साथ रह सकते हो। द्रव्य का तुम्हें अभाव नहीं होगा और समय बीत जाने पर देवराज का क्रोध भी शान्त होगा ही। तब तुम्हारे इस सहयोग का वे उचित मूल्यांकन कर सकेंगे और समुचित पुरस्कार भी दे सकेंगे। किन्तु इस समय तो तुम्हें सावधान रह कर उनसे बचना ही चाहिए। अच्छा, सभा का समय भी हो रहा है। मैं चलता हूँ तुम चाहो तो यहीं विश्राम करो। बाहर अजय से कह देता हूँ वह तुम्हारे लिए सब सुविधाएँ कर देगा। सभा शेष होते ही लौट आकर मैं तुम्हें वहाँ का सारा विवरण बता दूँगा।' और वणि को वहीं विचार मग्न छोड़कर कुत्स कक्ष के बाहर निकल गया।

●●●

द्वार पर अब अधिक भीड़ नहीं रह गई थी। लगभग सभी सभासद भीतर जा चुके थे। जिन लोगों का प्रवेश सम्भव नहीं था, वे बाहर दूर खड़े-खड़े ही लोगों का आना-जाना देख रहे थे। द्वार पर द्वारपालों के अतिरिक्त उनके नायक विजय की गृद्ध-दृष्टि के आगे किसी को भी पास फटकने का साहस नहीं हो सकता था। तभी दूर खड़ी भीड़ को चीरता हुआ एक रोबदार सम्पन्न घराने का सुन्दर युवक द्वार के निकट आ पहुँचा। उसकी अद्भुत किन्तु ढीली-ढाली मूल्यवान वेश-भूषा सहज ही ध्यान आकर्षित करती थी। सिर पर उसने फेंटा लपेट रखा था, यदि वह न होता तो उसके सिर का भाग शेष भारी-भरकम शरीर की तुलना में छोटा-सा ही प्रतीत होता। उसके ओठों पर फैली हुई घनी और लम्बी मूँछें भी चेहरे की लघिमा को सफलता से छिपा रही थीं। गले में बड़ी-बड़ी नील मणियों का

त्रिवर्त हार श्वेत-परिधान पर दूर से ही चमक रहा था। कर्ण-लोलकों के हीरक लवंग भी उसी तरह चमक रहे थे। स्पष्ट ही वह कोई विदेशी था। राह चलते-चलते किसी पथिक से उसने कुछ पूछा और उसके संकेत का अनुसरण कर वह सीधा विजय के पास आकर बोला,

'वयस्य, मैं वहुत दूर मिस्र देश से आया एक मणिकार हूँ। महामहेन्द्र देवराज इन्द्र की कीर्ति-गाथा समुद्र पार हमारे देश तक व्याप्त है। उन जैसा महान, गुणी और पारखी ही सच्चे गुणों और रत्नों का सत्कार कर सकता है और उन्हें प्रश्रय देने की सामर्थ्य रखता है। मैं बड़ी आशा लेकर आया हूँ कि उनकी सेवा में कुछ दुर्लभ रत्न और मणि-माणिक्य प्रस्तुत करूँ।'

'किन्तु मणिकार इस समय तो देवराज एक आवश्यक सभायोजन में व्यस्त हैं।'

'श्रेष्ठ पुरुषों को रत्न और गुण की परीक्षा के लिए कभी समय का अभाव नहीं होता वयस्य!'

विजय ने मुस्करा कर कहा, 'इस समय तो वे अपनी सभा के रत्नों में ही व्यस्त हैं। आप सभा शेष हो जाने पर ही आएँ न!'

'सभा चल रही हो तो इससे अधिक उपयुक्त समय रत्नों की परीक्षा का और क्या हो सकता है? आप देवराज को सूचित भर कर दीजिए। और यदि कई रत्न-पुरुष वहाँ एकत्र हैं, तो यह मेरा सौभाग्य है, मेरे रत्नों को बिकने में विलम्ब नहीं होगा और मुझे भटकना भी नहीं पड़ेगा।' कहते-कहते ही उसने अपने झोले जैसे लटकते हुए अंगरखे के भीतर हाथ डाला और एक कपोत के अंडे जैसा बड़ा-सा मोती निकाल कर विजय के सम्मुख करते हुए कहा, 'देखिए, ऐसे अलम्य मुक्ताओं को क्रय करने की सामर्थ्य देवराज की सभा के अतिरिक्त और कहाँ हो सकती है? आप के लिए भी मेरे पास अनेक रत्न हैं—' और उसने फिर अंगरखे में हाथ डाल कर कुछ और रत्न निकाले। इसी बीच अन्य द्वारपाल भी उत्सुकता न दबा कर वहाँ आ खड़े हुए। एक द्वारपाल ने पूछा,

'ये अमूल्य पदार्थ आप अपने वस्त्रों में ही'—

मणिकार ने मुस्करा कर कहा, 'अपने शरीर से अधिक अमूल्य और सुरक्षित स्थान और क्या हो सकता है भाई? यह तो देवराज की दिगन्त-व्यापी कीर्ति का देश है, यहाँ किसका भय? किन्तु मैं तो ठेठ मिस्र देश से चला आ रहा हूँ न। ये देखिए, ये रत्न आप की भेंट हैं।'

विजय ने हँस कर कहा, 'मणिकार जी, मुझे यदि पसन्द आ गए तो उचित मूल्य देकर उन्हें क्रय करने की मेरी सामर्थ्य है, किन्तु महामहेन्द्र देवराज के क्रय

कर लेने के बाद ही। यदि आप ने उनकी कीर्ति सुनी है, तो उनकी सभाओं की कीर्ति भी अवश्य सुनी होगी। उनकी नृत्य-गान की सभाओं का जितना नाम है, उनकी शासन-सभाओं का उससे कई गुना अधिक महत्त्व है।'

'तो मेरी इन आँखों को भी वह सौभाग्य लेने दो न वयस्य! मिस्र में अपने सम्राटों की आवश्यक से आवश्यक सभाओं में मैं बराबर जाता हूँ। देखूँ तो सही, कि देवराज की सभाओं की तुलना में वे कहाँ ठहरती हैं? हमारे सम्राट को उन पर बड़ा गर्व है! यह तो बड़ा अच्छा अवसर है, कि अनायास ही मुझे देवराज की सभा को देखने का सौभाग्य मिल रहा है। मुझ जैसे निरीह व्यवसायी से सभा के कार्य में कोई बाधा भी नहीं पड़ने दी जाएगी, मैं एक कोने में खड़ा देखता रहूँगा और प्रतीक्षा करूँगा। व्यवहार-व्यवसाय की बात यदि अवसर हुआ तो करूँगा, नहीं तो वह बाद में होती रहेगी! ये रत्न आप मेरी ओर से अपने इन सहयोगियों में तुच्छ उपहारस्वरूप बाँट दीजिए।'

विजय का चाहे न हो, किन्तु अन्य द्वारपालों का मन ललचा रहा था। विजय ने उनका मनोभाव देखा, मणिकार की वास्तविक उत्सुकता, विनय और निरीहता देखी। उसने द्वारपाल को संकेत किया। मणिकार को सभा-भवन में प्रवेश मिल गया।

उधर अश्वशाला के पास के सभा द्वार पर मातलि बैठा अपने एक अनुचर अश्वपाल को कुछ आदेश दे रहा था, तभी एक अपरिचित युवक ने आकर उसे नमस्कार किया। मातलि ने विरक्त होकर कहा, 'क्या चाहते हो? यहाँ कुछ नहीं है, हटो यहाँ से। देखने लायक यहाँ कुछ नहीं है।'

'कुछ कैसे नहीं, आप जो हैं!'

'मैं और देखने लायक?' मातलि ठठाकर हँसा, 'अश्वपाल, इसे जरा अश्व और मनुष्य की पहचान सिखाओ।'

युवक ने कहा, 'उनकी पहचान सीख कर ही तो आप के पास आया हूँ, नहीं तो आप के उच्चैःश्रवा के पास जाता, ऐरावत के पास जाता।"

'क्या मतलब?'

'आपने पहचाना नहीं? और नहीं पहचानने का दोष मुझे दे रहे हो, खूब! नहीं पहचान सके न? अरे, मैं हूँ वणि। अभी उस दिन—'

'ओह वणिराज! पर यह कैसा अद्भुत वेश बनाया है आपने?' फिर उसने अश्वपाल से कहा, 'तुम जाओ, सभासदों के अश्वों का बराबर ध्यान रखना। वे तैयार रहें। सभा समाप्त होते ही उनकी माँग होने लगेगी। ये मेरे एक मित्र हैं, बड़े ही परिहास-प्रिय।"

अश्वपाल ने अभिवादन में दोनों को मस्तक झुकाया और भीतर अश्वशाला में चल दिया।

'अब कहिए, यह वेश क्यों बनाया है ?' मातलि ने पूछा।

वणि ने टेंट से दस निष्क निकाल कर मातलि के हाथ में रखते हुए कहा, 'देवराज की विश्व-विश्रुत इन्द्र-सभा को देखने का लोभ लग गया है भाई !'

'इन्द्र-सभा की शोभा ही न्यारी है, किन्तु आज की यह सभा क्या, कोई नृत्य-सभा होने दो न !—ठाठ तो उसके हैं। जब चाहोगे तभी भीतर भिजवा दूँगा। ऐसी सभाओं में रूप और रस की बरसात करने वाली अप्सराएँ नहीं, तप और राख लपेटे ठूंठ और दढ़ियल ऋषि होते हैं। उन्हें क्या देखना और क्या सुनना ?—सूखे ज्ञान की बातें न हुईं, तो जली-भुनी राजनीति के विवाद होंगे।'

'नृत्य-गान की सभा होगी, तब तो तुम्हें भी अपने पास बिठा कर देखूंगा, यदि देवराज का भय हो तो तुम्हारा भी वेश बदल लूंगा। —पर इस तरह की सभा भी दिखा दो न !'

'वेश बदलने की मुझे क्या आवश्यकता ?—मेरे लिए देवराज की क्या कभी अटक हो सकती है ? —पर ऐसी नीरस सभाओं में मैं नहीं जाता। समय ही तो नष्ट होता है ? आप आर्य कुत्स के साथ ही क्यों न चले गए ? —उनके साथ जाने पर आप को कोई भी रोकने का साहस नहीं करता।'

'वे तो स्वयं देवराज के पास ही कहीं बैठेंगे न !—उन्हें भी तो अभी निश्चय नहीं है कि देवराज का मेरे प्रति कैसा भाव है ? —इस वेश में मुझे कोई पहचानने से तो रहा। एक कोने में चुपचाप खड़ा हो जाऊँगा और अनायास ही एक सभा के वैभव को देखने का सौभाग्य मिल जाएगा।'

'आइए मेरे साथ ! आप के प्रवेश की व्यवस्था इसी द्वार से कर देता हूँ। पर मुझे क्षमा करें, मैं नहीं आना चाहूँगा।'

'यदि तुम नहीं आना चाहते तो मैं हठ नहीं करूंगा। चलते तो मुझे सुख मिलता। तुम्हारे साथ देखने का कुछ और ही आनन्द आता।' और वणि भी सभा-मण्डप में प्रविष्ठ हो गया।

भीतर सभा-मण्डप खचाखच भरा हुआ था। सच तो, वणि देवराज की सभा का ठाठ पहले दो-तीन बार देख चुका है। एक बार मूजवन्त पर्वत के पास देवगुरु वृहस्पति के साथ देवराज की नोक-झोंक और दूसरी बार कुछ ही दिनों पूर्व सर्वमेध-यज्ञ के अवसर पर उसकी नितान्त भावुकताहीन-निर्ममता का परिचय प्राप्त कर चुका है। इस समय भी सभा का कम-अधिक वही रूप है। ठीक सामने, प्रशस्त और अपने विशिष्ट सिंहासन पर अर्द्ध-शायित, औपचारिक पीत-वस्त्र पहने

हुए महामहेन्द्र इन्द्र सुशोभित हैं। उनका सिंहासन इतना विशिष्ट हो गया है, कि लोग उसे इन्द्रासन कह कर ही पहचानने लगे हैं। प्रतिहारी के पास खड़े वणि को कुछ भी अपरिचित नहीं लग रहा है। देवराज के वाम-पार्श्व में बैठे कई ऋषियों को वह पहचानता है। दाहिनी ओर देवगुरु बृहस्पति उसी तरह पीत परिधान धारण किए गम्भीर मुद्रा में बैठे हैं। पहले से वे और भी वृद्ध दिखाई दे रहे हैं। —स्वयं देवराज भी तो अब लट गया दीख रहा है! कुत्स ने कहा ही था। दूर से ही लक्ष्य किया जा सकता है कि उनके मुँह पर अब वह पूर्वकाल का तेज नहीं है। —क्या सचमुच किसी अप्सरा के शाप का फल है? शायद उन्होंने सोम-पान की मात्रा कम कर दी हो! —कुत्स उधर इन्द्रासन के ठीक नीचे प्रथम पंक्ति में मरुद्वान के पास बैठा हुआ है और उसके पास वह ऋजिश्विन ही तो है! पहले से इतना लट कैसे गया? शून्य दृष्टि से रह-रह कर देख लेता है देवराज की ओर। क्या उनके कोप का भाजन हो गया है?—नहीं, बन्दी अभी कहीं दिखाई नहीं देता। होता तो कुत्स के आसपास ही तो होता!

और तो सब यथापूर्व ही है, कई व्यक्ति हैं जिन्हें वणि पहली बार देख रहा है, किन्तु मुख्य द्वार से कुछ हट कर खड़ा हुआ विशिष्ट वेश-भूषा का वह व्यक्ति ध्यान खींचे बिना नहीं रहता। —विदेशी तो है ही, पर कहाँ का है? —आर्यों जैसा स्वच्छ वर्ण नहीं है, किन्तु रक्त के उच्छवास से ललाई लिए ऐसी मनोमुग्धकर आभा आर्यों को कहाँ सुलभ है? आँखें सहज ही कितनी दीर्घ लग रही हैं? और खिंचें धनुष-सी उन पर फैली वे बंक भ्रुव-रेखाएँ? —वे तो रमणी के नयनों को भी लज्जित कर रही हैं। इतनी रोबदार मूंछों से भरा हुआ न होता तो यह चेहरा तो किसी रूपसी सुन्दरी का होना चाहिए था! —सारे शरीर की उठान ही ऐसी है या केवल ग्रीवा ही स्कन्ध पर उठती चली गई है! —इधर आसपास तो ऐसी प्रजाति के लोग नहीं मिलते! किसी दूर देश से ही आया होगा। कैसे बहुमूल्य चकाचौंध पैदा करने वाले रत्नालंकार पहने हुए है?—सम्पन्न तो है ही।

सहसा उसका ध्यान भंग हो गया। देवगुरु बृहस्पति आसन पर बैठे-बैठे ही हाथ उठा कर सभा को नीरव करने का संकेत कर रहे हैं। सभा का नियमित कार्यक्रम शायद, प्रारम्भ होने जा रहा है। कोलाहल भी धीरे-धीरे कम हो रहा है, सभी की आँखें देवगुरु पर केन्द्रित हो गई हैं।

जब सर्वत्र मौन हो गया तो देवगुरु ने गम्भीर वाणी में अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया, 'उपस्थित ऋषिगण, सभ्यगण एवं आर्यगण, सब सावधान होकर सुनें। आप लोगों ने अवश्य सुना होगा कि कुछ दिन पूर्व पथ के पार्वतय अञ्चल में कुभा के तट पर एक भयानक युद्ध में आर्यों का भीषण नर-संहार हुआ है, और दाशराज-युद्ध के विजेता

परम प्रतापी महाराज सुदास को पराजय का मुँह देखना पड़ा है। इस संघर्ष में हमारे गण ने या देवराज स्वयं ने अवश्य भाग नहीं लिया, अतः यह हमारी प्रतिष्ठा का प्रश्न तो नहीं होता, किन्तु महाराज सुदास एक प्रतिष्ठित आर्य नेता हैं, वे समस्त आर्यों के गौरव के प्रतीक हैं और महामहेंद्र देवराज इन्द्र का वर्चस्व पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं। यही नहीं, देवराज का उन पर अत्यन्त स्नेह है, वे उन्हें अपना आत्मीय ही मानते हैं। जिस तरह उन्होंने दाशराज-युद्ध में देवराज की सहमति और आशीर्वाद प्राप्त किया था, उसी तरह इस आक्रमण के पहले ही उन्होंने देवराज की सहमति और आशीर्वाद प्राप्त किया था। इस तरह प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा का प्रश्न न होने पर भी हमारे लिए यह परिताप का विषय तो था ही। —देवराज अभी आप के सम्मुख सुदास की पराजय के कारणों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे, किन्तु जिस पणिक-दल के अप्रत्याशित एवं आकस्मिक आक्रमण के फलस्वरूप महाराज सुदास को पराजित होना पड़ा, उसके नेता को, मुझे आप लोगों को सूचना देते हुए प्रसन्नता है, कि हमारे परमवीर आर्य नेता कुत्स ने अत्यन्त साहस और बुद्धि का परिचय देकर बन्दी बना लिया है। सामान्यतः युद्ध में पराजित शत्रु को हम बन्दी नहीं बनाते—युद्ध तो हम प्रायः करते ही रहते हैं और कितने शत्रुओं को हमने अब तक पराजित नहीं किया है? यदि उन सब को हम बन्दी बनाते चले जाते, तो उनका उदर-पोषण ही हमारे लिए गुरुतर समस्या हो जाती। पराजित शत्रु या तो हमसे शरण ले या मरण ले!—किन्तु यह अपवाद है। अपवाद क्यों है, यह आप को आर्य वीर कुत्स स्वयं बताएँगे, बन्दी को आप के सम्मुख प्रस्तुत किया जाएगा और महामहेन्द्र देवराज आप का अभिमत समझ कर उसके लिए अपना निर्णय देंगे। —मैं महामहेन्द्र से निवेदन करता हूँ कि वे महाराज सुदास की पराजय के कारणों का विश्लेषण प्रस्तुत करें, ताकि भविष्य में हम सतर्क हों और उनका पुनरावर्तन न होने दें। —महामहेन्द्र देवराज इन्द्र—'

देवराज अपने सिंहसान पर उठ कर बैठ गए, अपने रत्न-जटित मुकुट को सिर पर सीधा किया और पीठ की ओर पड़े वज्र को उठा कर भुजाओं में तौलते हुए अपने पार्श्व में रखा, ताकि सभी उपस्थित सभ्य समझ लें, कि उनका शौर्य अक्षुण्ण है, उनका वज्र अभी भी पूर्ववत् अमोघ है और रहेगा! —इसके साथ ही उन्होंने एक दृष्टि सभा की ओर प्रक्षिप्त की, प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति को जैसे वे स्वयं टटोलना चाहते थे। एक निमिष के लिए उनकी दृष्टि उस विचित्र-वेशधारी मणिकार और उसके दीप्तिमान अलंकारों पर अटकी, मणिकार उन्हीं की ओर देख रहा था, दृष्टि मिलते ही किञ्चित मुस्करा कर उसने सिर झुकाकर अपना सम्मान प्रदर्शित किया। यदि सभ्यगण उनके वक्तव्य की प्रतीक्षा न कर रहे होते तो तभी देवराज उसके बारे में पूछताछ करते। ठीक है, अपना वक्तव्य शेष कर

लें। पूछताछ ही क्यों, उससे संलाप भी किया जा सकता है। उसके आभूषण सामान्य नहीं हैं। उनका सम्बोधन जब प्रारम्भ हुआ तो सबका ध्यान उन्हीं पर केन्द्रित हो गया।

वणि भी अपलक देवराज को ही देखे जा रहा था। आसन पर उपविष्ट वे अब अधिक स्पष्टता से देखे जा सकते थे। वैसे वणि उन्हें पहले भी कई बार पास या दूर से देख चुका है, किन्तु कभी ठीक उनके सम्मुख होने का अवसर उसे नहीं मिला, माध्यमों के द्वारा ही उनसे बातचीत हुई है। आज भी वह उनके उतना निकट नहीं है, किन्तु तब भी उसे प्रतीत हो रहा है मानों यह व्यक्ति उसके निकट सम्पर्क में अवश्य आया है, —देवराज तो वह हो ही कैसे सकता था? कहाँ देवराज और कहाँ वह? आज भी भय के कारण ही तो वह वेश बदल कर उनके सम्मुख आने का साहस कर सका है और तब भी कितना दूर रहकर उसे सन्तोष करना पड़ रहा है?—किन्तु देवराज भी तो उसे पहले जैसे प्रतीत नहीं होते। हततेज नहीं हैं, किन्तु तब भी वह तेज कहाँ है जो देवगुरु के साथ विरोध होने पर उनमें सहज ही उबल पड़ा था? —कहाँ देखा है उसे?— बिलकुल यही आकृति थी। —ओह हो! याद आया, वह भी इन्द्र-सभा का ही तो मल्ल था —श्येन और शंख! शंख तो बेचारा आँखें गवाँ कर ही लौट पाया था—अवसर मिला तो उसकी खोज भी करेगा वणि। —पर वह श्येन?—यदि वस्त्र बदल दिए जाएँ तो क्या ये देवराज, श्येन जैसे ही नहीं लगते? —वैसा जोश-भरा ओज भी तो देवराज के चेहरे पर नहीं दिखाई दे रहा! अप्सरा के शाप की बात कही थी न कुत्स ने? —वणि मन ही मन हँसा। शाप क्या होगा, कोई सांसर्गिक रोग ले बैठे होंगे।—उबटन-लेप आदि से छिपा लिए हों, वरना तब तो उस रोग के व्रण दूर से भी देखे जा सकते थे! श्येन जैसा वीर, सभा में कहीं दिखाई नहीं देता, यह भी आश्चर्य ही की बात है।—वीर तो उसे कहना चाहिए। उसी के किए तो महापणिक अभी भी कन्धे की अस्थि थामे बैठे हैं। —कहीं देवराज का भाई ही तो नहीं था वह?—यदि इस झंझट से छुटकारा मिल जाए, तो वणि एक बार मरुत से भी मिलने का प्रयत्न करेगा। भूला तो क्या होगा वह वणि को? —श्येन और शंख को भी अवश्य जानता ही होगा मरुत। —कि देवराज के वक्तव्य में सहसा अपना नाम सुन कर वह चौंक पड़ा। देवराज कह रहे थे।

'—उनका तथाकथित महाश्रेष्ठि वह अर्बुद और उसका शृगाल जैसा चतुर अनुचर वह वणि! —भूलें नहीं, विश्वासघात से जो पराजय होती है, उससे चाहे प्रतिष्ठा की हानि हो, किन्तु उससे खिन्न नहीं हुआ जाता। मनोबल ऐसी पराजय से नष्ट नहीं होता, बल्कि किसी का विश्वासघात तो हमें तीव्रतर प्रतिशोध के लिए

प्रोत्साहित और तत्पर करता है ! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इस विश्वास-घात का एक-एक से ऐसा प्रतिशोध लिया जाएगा कि उनकी पीढ़ियाँ स्मरण रखेंगी—'

देवगुरु के पास बैठे एक नवयुवक ऋषि ने पूछ लिया, 'देवराज को क्या इस अर्बुद ने कोई स्पष्ट आश्वासन दिया था ?'

बीच ही में टोंक दिए जाने से देवराज की आँखें तमक गईं । भृकुटि चढ़ाकर उन्होंने पृच्छक की ओर देखा और कहा, 'स्पष्ट से आप क्या समझते हैं ? यह क्या कोई ऋग्दर्शन है, कि आपको प्रत्यभिज्ञा हुई और आपने ऋचा का रूप दे दिया ? ये कूटनैतिक व्यवहार हैं, स्पष्ट करने से इनकी अर्थव्याप्ति ही नष्ट नहीं होती, वे अनर्थ भी कर देते हैं ।'

नवयुवक ने देवराज के रोष की चिन्ता नहीं की और व्यंग्य से मुस्करा कर कहा, 'सो तो इस युद्ध की पराजय ही बता रही है । पराए व्यक्तियों का विश्वासघात अपने ही व्यक्तियों के प्रति अविश्वास का कारण हो, यह तो हमारे लिए भी कोई प्रतिष्ठा की बात नहीं है महामहेन्द्र !'

देवराज ने देखा कि नवयुवक के साथ सहानुभूति रखने वालों का अभाव नहीं है, तो उन्होंने कहा, 'आप लोगों के प्रति अविश्वास का तो कोई प्रश्न नहीं है । आप लोगों को अध्ययन-अध्यापन और चिन्तन-मनन जैसे गम्भीर कार्यों में लगे रहने देने के लिए ही, आश्रम-व्यवस्था ही नहीं, वर्ण-व्यवस्था भी स्थापित की गई थी । राज्य-व्यवहार में भी यदि आप हस्तक्षेप करना चाहेंगे तो मैं आप सबको सावधान कर देना चाहता हूँ, युद्ध जैसे मृत्यु के प्रकरण में स्वेच्छा से कोई आगे नहीं आएगा । वैसे प्रस्तुत प्रसंग में यह कोई महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है, इसलिए मैं स्पष्ट ही बता देता हूँ । यह तो आप जानते ही होंगे कि समय-समय पर उस श्रेष्ठि अर्बुद को हमारे कोष से प्रचुर हिरण्य दिया जाता रहा है—'

'पर वह तो उन्हें शस्य और वृषभों के मूल्य-स्वरूप दिया जाता रहा है न ?'

'युद्ध-काल में शत्रु-पक्ष को इन आवश्यक वस्तुओं का विक्रय शस्त्र-विक्रय से भी अधिक घातक समझा जाता है—पणिकों के क्षेत्र में तो इनका विक्रय होता ही नहीं, वहाँ यह अनैतिक समझा जाता है । यह किसी पण्य का मूल्य नहीं, विशुद्ध उत्कोच है उनकी गुप्त सहायता और आश्वासनों का ।'

एक दूसरे नवयुवक सदस्य ने कहा, 'अर्बुद ने अपने गण या अपने स्वामी के साथ कैसा व्यवहार किया ? इसका विचार करने के लिए हम नहीं बैठे हैं । उत्कोच या मूल्य, जो भी कुछ कह लें आप, यह तथ्य तो है न, कि उसके परिवर्त में हम सेवा या फल पा ही चुके हैं ? वह कौन सा मूल्य हम चुकाए बैठे हैं, जिसका

प्रतिफल इस युद्ध में उनका आक्रमण हुआ, हम यह जानना चाहते हैं। –आप दूसरों की विश्वसनीयता पर जितना बल दे रहे हैं, उतना बल अपनों की विश्वसनीयता पर देना क्यों आवश्यक नहीं समझते? यदि यह विशुद्ध राज्य-व्यवहार का ही विषय हो, तो फिर इस सभा का प्रयोजन ही क्या है?

नवयुवक की इस कटूक्ति पर देवराज को क्रोध हो आया और स्वत: ही उनका हाथ अपने वज्र पर जा पड़ा। स्थिति को विस्फोटक होते देख कर देवगुरु चिन्तित हो गए। आगे सरक कर उन्होंने देवराज के कान में फुसफुसाया, 'महा महेन्द्र, सभा में मैं समझता हूँ हमारे ही सदस्यगण हैं। स्पष्ट करने में कोई हानि नहीं है। स्पष्ट करने से एक तो हममें पारस्परिक विश्वसनीयता बढ़ेगी, वे हमारे प्रयत्नों को सराहना के साथ समझ सकेंगे। आजकल की नई पीढ़ी के युवक आर्ष-कथन को सहज ही प्रमाण नहीं मान लेते, वे अपनी बुद्धि से ही प्रत्येक बात का विवेचन करना चाहते हैं। दूसरी ओर, इससे आप बन्दी के लिए जो भी निर्णय लेना चाहेंगे, उसमें सहज ही उनकी सहमति मिल जाएगी।'

देवराज ने पुनः सभासदों की ओर देखा, नहीं, क्रोध करने का कोई लाभ नहीं है। सभासद अब उनकी ओर नहीं देख रहे हैं। देख रहे हैं वे उन नवयुवकों की ओर, जो देवराज की स्थापित-व्यवस्था को चुनौती देने का साहस कर रहे हैं। एक दृष्टि संशय की उन्होंने उस विदेशी अजनबी पर भी डाली, खड़े-खड़े ही वह और भी पास खिसक आया था। इस बार भी उनकी दृष्टियाँ मिलीं और इस बार भी उसने मुस्करा कर अभिवादन में मस्तक झुका दिया। —विदेशी हो, पर उससे किसी प्रकार की आशंका नहीं हो सकती। उधर से दृष्टि हटाकर देवराज ने सभा को पुनः सम्बोधित किया।

'आप स्पष्ट ही सुनना चाहते हैं, तो अवश्य सुनें। अभी कुछ ही मास पूर्व हमारे सम्मान्य नायक और मेरे प्रिय सखा मरुत स्वयम् मेरा दौत्य ग्रहण करके उस महाश्रेष्ठि, कहना चाहिए महानिकृष्टि अर्बुद के पास उसका मन जाँचने के लिए गए थे और उसे प्रभूत स्वर्ण और मणि-माणिक्यों से भरी पूरी एक मंजूषा उपहार में समर्पित की थी। कुछ संयोग ऐसा आ पड़ा कि वहाँ हमारा रहस्य प्रकट हो जाता; किन्तु स्वयम् अर्बुद और उसके एक विश्वस्त चर वणि ने अपने महा-पणिक के वृद्ध पिता की हत्या करके मरुत को विश्वास दिलाया था कि आर्यगणों पर आक्रमण की बात तो दूर, यदि कभी आर्यगण उन्हीं पर आक्रमण करेंगे, तो वे अपने अश्मन्मयी दुर्गों के भीतर रह कर ही ऐसी सहायता करेंगे जिससे हम उन के अभेद्य दुर्गों में सरलता से प्रवेश कर सकें।'

'आश्चर्य है। व्यक्तिगत द्वेश चाहे जितना गहरा हो, कोई भी व्यक्ति अपने

देश के साथ ऐसा कपट करने के लिए तत्पर हो जाए !' एक सभ्य अपने आपको रोक न सका ।

'यह व्यक्तिगत द्वेश की बात नहीं है बन्धु, यह है विशुद्ध महत्त्वाकांक्षा । अर्बुद की क्या महत्त्वाकांक्षा है, यह जानना चाहते हो ? —वह वर्तमान महापणिक, उसका नाम है विभांडक वृजु—उसके स्थान पर वह स्वयम् वहाँ का महापणिक, सर्वेसर्वा बनना चाहता है और हमने उसे इसके लिए आश्वासन दिया है ।'

'किन्तु इस आश्वासन से हमें लाभ !'

'आप अभी नए हैं ।' देवराज ने आत्मविश्वास के साथ कहा, 'राजकार्य की सूक्ष्मताओं को आप अभी नहीं समझ सकेंगे । आपकी इस खाद्य-समस्या का समाधान अभी भी कैसे सम्भव हुआ है, यह आप जानते हैं ? यह उसी अर्बुद के गुप्त सहयोग का फल है और स्पष्टतः उनके पक्ष से तो यह देश-द्रोह है ही ।— मैं सदस्यों का अधिक समय लेना नहीं चाहता । मैं उन्हें पुनः विश्वास दिलाता हूँ कि अर्बुद के इस विश्वासघात का मूल्य पणिकों को शीघ्र ही चुकाना होगा और उस मूल्य की प्रथम किश्त हमारे परमवीर आर्यरत्न कुत्स किस शौर्य और चातुर्य के साथ उगाह लाए हैं ? वे स्वयम् आपसे निवेदन करेंगे । आप अनुभव करेंगे कि यह किश्त कम मूल्यवान नहीं है । महाराज सुदास की पराजय को विजय में बदल देने का इसमें पूर्ण सामर्थ्य है । —आर्यवीर कुत्स, आप अपना वक्तव्य प्रस्तुत करें ।' —और उन्होंने सन्तोष भरी एक और दृष्टि सभासदों पर डाली ।

कुत्स अपने आसन से उठ खड़ा हुआ । सभा में उससे कहीं अधिक सम्माननीय और पूज्य जन विद्यमान हैं । देवराज और देवगुरु की बात अलग है । उनकी तरह वह बैठे-बैठे वक्तव्य नहीं दे सकता । सभा के सभी सदस्यों की आँखें उसकी ओर लग गई थीं । देवराज को कुछ निराशा हुई । कोई भी तो उनकी ओर नहीं देख रहा है ! स्वभावतः ही उनकी दृष्टि ने उस विदेशी अजनबी को खोज निकाला । नहीं, इस बार उसकी दृष्टि का भी लक्ष्य देवराज नहीं हैं । —कुत्स भी नहीं । किसे देख रहा है वह, इसका कुछ अनुमान नहीं लगाया जा सकता । घनी मूँछों के नीचे उसने अपने निचले ओठ को दाँतों से दबा लिया है । क्रोध ? —किस पर ? क्यों ? क्या पणिकों से उसका कोई सम्बन्ध है ? पणिक-प्रजाति का तो वह है नहीं । —दाँतों की धवल पंक्ति घन-कृष्ण मूँछों में चमक उठी है । क्या कारण हो सकता है उसकी इस आकस्मिक विमनस्कता का ? —विमनस्क स्वयं देवराज भी तो हो रहे हैं । —क्या मेघों में ही सूर्य अस्त हो जाएगा ? —गण अब उनकी अवज्ञा करेगा ? वज्र पर उनकी पकड़ अभी शिथिल नहीं हुई है ।

देवराज को अपने ही ऊपर कुछ क्षोभ भी हुआ, क्या आवश्यकता थी देवगुरु के उपदेश पर सिर-फिरे कुछ नवयुवकों के परितोषण की ? इसी से तो

अनुशासन ढीला होता है। देवगुरु तो वृद्ध हो ही गए हैं, उन्हें स्वयं ही अवकाश पर चले जाना चाहिए था। यदि उनके पुत्र विदथिन को ही स्थानापन्न कर दिया जाए, तो उन्हें भी आपत्ति नहीं होगी ! —नहीं, विदथिन की अपेक्षा तो दीर्घतमस अधिक उपयुक्त रहेगा। वह भी एक तरह से उनका पुत्र ही है। उनका न सही, उनकी पत्नी ममता का तो है ! और दीर्घतमस का पिता उतथ्य भी था तो बृहस्पति का भाई ही न ! कोई भी हो, अब देवगुरु का पद वृद्ध बृहस्पति के बूते का नहीं रहा। वे इस पद पर बने रहे, तो देवराज स्वयं भी शीघ्र ही वृद्ध हो जाएगा। —वार्धक्य भी तो छूत की ही बीमारी है।—पहले जैसी स्फूर्ति अनुभव भी कैसे हो ? यकृत में शोथ के कारण अधिक सोम-पान भी तो वर्जित कर दिया गया है। —वृषणारोपण के पक्ष में क्यों नहीं हैं अश्विनीकुमार ? यदि एक बार इतना सफल हो गया था, तो पुनः क्यों नहीं होगा ? संकट की आशंका ? अरे, इस निश्चित शैथिल्य से तो आशंका ही अच्छी ! –आशंका ही तो है ! जो नया कल्प वे तैयार कर रहे हैं, वह भी जाने कितना समय और लेगा ? अश्विनी कुमार से जरा जम कर बात करनी होगी !—जो हो, मन की दृढ़ता तो देवराज का नामान्तर ही है। इन नवयुवकों ने अभी देवराज की दृढ़ता देखी ही कहाँ है ?

उधर कुत्स कहता जा रहा था, सारी सभा का ध्यान उसके कथन पर ही जमा हुआ था, 'सूचोभेद्य अन्धकार, प्रकृति का प्रलयंकर रौद्ररूप, कुश-कंटकों और पंक से भरी अपरिचित भूमि में सशस्त्र द्वार-रक्षकों से रक्षित शत्रु का पट-वेश्म, और अकेला मैं ! जरा कल्पना कीजिए ! नाव, दोनों अश्व और चारों साथी दो योजन दूर पीछे थे। यदि सहायता के लिए कभी चीखता भी, तो शत्रु के प्रबल-दल को ही निमन्त्रण देता। किन्तु मैं जानता था कि मैं उस अवस्था में भी निराश्रित नहीं था, महामहेन्द्र देवराज इन्द्र का अभय हस्त मेरे सिर पर मेरी रक्षा कर रहा था। मैंने स्मरण किया और मेरे ओठ आपही आप बुदबुदाने लगे,—'असुर कृष्ण अपने दस सहस्र अनुयायियों सहित अंशुमति-तट पर शिविर में पहुँच गया है। हे इन्द्र, आपने उसे अनुयायियों सहित अपनी बुद्धिमत्ता से तत्काल नष्ट कर दिया। इस समय आप मुझे भी अपनी उसी बुद्धि का अंश प्रदान करें।' इसके साथ ही मैंने विचारों में मग्न बैठे हुए उनके महानायक शुष्ण को हाथ पकड़ कर उठा लिया। उसने प्रतिरोध किया। मैं चाहता तो तत्काल उसका वध कर सकता था, किन्तु तभी मेरे मन में प्रकाश हुआ कि यह चमत्कार तो देवराज इन्द्र का है ! क्यों न इसे जीवित पकड़ कर देवराज की पूजा में कुसुमांजलि के रूप में उत्सर्ग किया जाए ? –मेरे एक ही प्रहार में वह अचेत हो गया और मैं उसे पीठ पर लादे अपने भृत्यों से आ मिला—'

एक नवयुवक ने उसे बीच ही में रोक कर पूछा, 'किन्तु आर्य कुत्स, आपने

अभी तो कहा था कि शत्रु का पट-वेश्म सशस्त्र द्वार-रक्षकों से संरक्षित था, तो क्या आपने मोहिनी-मंत्र से सब रक्षकों को गहरी नींद सुला दिया था ?'

कुत्स समुचित उत्तर के लिए कुछ रुका तो एक दूसरे नवयुवक ऋषि ने एक ऋचा का गान करते हुए कहा, 'सना ता का चिद्भुवना भवीत्वाम् अयतन्ता चरतो अन्यदन्यदिद्या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः' और उन ब्रह्मणस्पति ने असीम-कृपा करके तत्काल द्वार खोल दिए तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक अप्रतिहत-संचार का इनके लिए अद्भुत साधन प्रस्तुत कर दिया है न ?' —सभा में सभी सदस्यों के अधर पर मुक्त-मन्द हास्य फैल गया। उधर वणि कुत्स के वक्तव्य पर प्रारम्भ से ही आश्चर्य-मूढ़ होकर अपने स्थान पर मूक और जड़ हो गया था।

कुत्स ने खिसिया कर कहा, 'माननीय सदस्य यदि यह भी समझ लें कि बन्दी शुष्ण उनके मन्त्र-बल से आपही यहाँ आकर बन्दी हो गया है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मेरे लिए तो सबसे बड़ा श्रेय यह है कि एक दुर्धर्ष शत्रु, जिसने अपने शौर्य से आर्य-सेना के छक्के छुड़ा दिए थे, अब पर कटे बाज की भाँति हमारा बन्दी है।—मैं कह चुका हूँ, उस स्थान पर अपनी ओर से मैं अकेला था। प्रमाण दूँ भी तो किसका ? —स्वयं बन्दी से तो सत्य-कथन की आशा नहीं की जा सकती ! वह अपनी कायरता को स्वीकार ही क्यों करने लगा ?' और देवराज को एक बार और श्रद्धा सहित प्रणाम कर वह अपने आसन पर बैठ गया।

वणि के मन में आया, उठ कर कहे कि प्रमाण यह प्रस्तुत करना चाहता है।—किन्तु देवराज, देखते ही क्या उसे बन्दी नहीं बना लिया जाएगा ? कितना रोष उगल गया है वह महाश्रेष्ठि और उसके स्वयं के विरुद्ध ? प्रतिज्ञा कर चुका है कि विश्वासघात का ऐसा कठोर प्रतिशोध लेगा कि पीढ़ियाँ याद रखेंगी ! अर्थात् वही नहीं, घर में उसकी प्रतीक्षा में बैठी बेचारी कैकसी और उसकी भावी सन्तान—विवाह किया है, तो कभी न कभी उसके सन्तान तो होगी ही—सब उसके प्रचंड रोष का शिकार होंगे ?—यही तो मिलेगा उसे प्रमाण प्रस्तुत करके ! कुत्स ने शुष्ण को पकड़ने का सारा यश स्वयं ही ले लेना चाहा है, तो ले ! वणि का उससे बिगड़ता ही क्या है ? द्रव्य तो उसे प्रचुर मिल ही गया है, चुप बैठे रहने से तो भविष्य में वह कुत्स से और भी द्रव्य ऐंठता रह सकता है।—और हो सकता है, शुष्ण जब प्रस्तुत हो, तो वह स्वयं ही तथ्यों को प्रकट कर दे !—शुष्ण की बातों पर कोई विश्वास करेगा ?—न करे, उसकी बला से।

उधर देवगुरु देवराज से पूछ रहे थे 'यदि महामहेन्द्र प्रस्तुत हों, तो बन्दी को उपस्थित किया जाए ?'

'हाँ, अब व्यर्थ विलम्ब क्यों हो ?'

आचार्य ने प्रतिहारी को संकेत से बुला कर आदेश दिया। इन्द्रासन के पास ही एक द्वार है, प्रतिहारी उसी द्वार से आदेश-पालन के लिए चला गया। कुछ क्षणों के लिए वह द्वार ही लोगों के आकर्षण का केन्द्र रहा। प्रतिहारी जब पुनः लौटा, तो उसके पीछे-पीछे चार सशस्त्र प्रहरियों से घिरा रस्सियों में जकड़ा हुआ बन्दी शुष्ण सभा-मंडप में लाया जा रहा था। उसके हाथ पीठ पर बँधे हुए थे और दृष्टि नीचे पैरों पर झुकी हुई थी। सभा-मंडप के बीच खुले स्थान में ले जाकर उसे खड़ा कर दिया गया। खड़े होते ही प्रहरियों ने देवराज के सम्मुख कमर तक झुक कर प्रणति की। एक प्रहरी ने कन्धे से पकड़ कर शुष्ण को इस तरह मोड़ दिया कि देवराज के सम्मुख उसका चेहरा हो जाए। फिर प्रहरी उसकी तीनों दिशाओं में उसे घेर कर खड़े हो गए।

शुष्ण ने सामने देखने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, किन्तु उड़ती दृष्टि से एक बार शेष सारी सभा को देखकर दृष्टि नीची कर ली। —प्रतीत होता था मानों उसने अपने प्रति कोई आसक्ति ही नहीं रहने दी है। जितना कुछ सम्भव था, उसने अपनी समस्त आस्तिकता के साथ किया है। जो नहीं हो सका या बीच ही में शेष रह गया, उसके लिए वह उत्तरदायी क्यों? उसने प्रयत्न में तो कोई शिथिलता, कोई कसर नहीं रखी। फिर उसके लिए दुःख कैसा और चिन्ता कैसी? —यही तो जीवन है! अस्तित्व है ही कितना-सा? चिरन्तन जो है, वह तो अनस्तित्व ही हो सकता है। जो आते हैं, उन्हें जाते हुए तो देखा जाता है, किन्तु जो जाते हैं उन्हें लौटते हुए तो किसी ने नहीं देखा! कइयों के उसने निस्पृह होकर प्राण लिए हैं, तो उसी तरह निस्पृह होकर देने में आपत्ति क्यों हो? अब इसी से क्या अन्तर हो जाता है कि उसने प्राण लिए हैं सम्मुख-समर में शत्रु को ललकार कर और देना पड़ रहे हैं इस तरह रज्जुओं में बँध कर निष्क्रिय-अकर्मण्यता में? —शत्रु भी कौन है यहाँ किसी का?—मन ने मान लिया यही तो! —देवराज को शुष्ण ने कभी देखा नहीं, बुरा-भला करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता!—और युद्ध में जो अनेक लोग मारे गए हैं, उन्होंने ही कब किसी मारने वाले को देखा होगा या उसका अहित किया होगा? अद्भुत है यह मनुष्य नाम का प्राणी भी, बिना किसी स्पष्ट कारण के अपने ही प्रतिबिम्ब को मार कर वह गौरव बोध कर सकता है! तभी तो शुष्ण सोच सकता है कि जब तक जिया गौरव से जिया, मरेगा तब भी गौरव से ही मरेगा।

जीवन में और गौरव? इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी? जैसा भी हो, उसे अपने जिए हुए जीवन के लिए पश्चात्ताप या अनुताप नहीं है। —यही क्या कम सन्तोष है कि बन्दी वही अकेला हुआ है। भला हो वणि का, कि इस मरण-अनुष्ठान

में केवल शुष्ण का ही वरण किया गया है। अगर वह जरा भी प्रोत्साहन देता, तो सेलकेत तो उद्यत हो ही गई थी।—दल-बल के साथ वह सकुशल दुर्योण लौट गई हो, तो उसे और कुछ नहीं चाहिए।—वणि का उपकार ही मानना चाहिए न! यदि वह छल न करता?—शुष्ण मन ही मन हँसा—उसके हाथों और कई निरपराध हत्याएँ हो जातीं। यही तो होता है युद्ध में!—जो सचमुच का दोषी है वह तो प्रायः ही किसी-न-किसी तरह बच ही निकलता है—सुदास आहत होकर भी भाग तो निकला ही! जो अनेक सैनिक मारे गए उनका अपराध ही क्या था? या तो वे जीविका के लिए लड़े होंगे या फिर प्रेम-सच्चाई-न्याय जैसे किसी अमूर्त-आदर्श के उन्माद के लिए!—और जब मरना ही ध्रुव हो, तो जीवन या जीविका भी क्या एक उन्माद नहीं है?—जीवन ही जैसे मूल-अपराध है, जिसका दंड होना ही चाहिए। उस दंड से बचने के लिए ही मानों प्राणी छिपता रहता है, उस अनिवार्य नियति से बचने का प्रयत्न करता रहता है। अपने जीवित रहने के उन्माद में भूल ही जाता है कि यह जिजीविषा तो उस मूल-अपराध की चक्रवृद्धि है!—क्या इसीलिए अक्रियावादी महाश्रमण कहते हैं कि कर्म को छोड़ो, एकमात्र कर्म ही बन्धन का कारण है?

एक प्रहरी ने शुष्ण के कान में फुसफुसाया, 'सामने महामहेन्द्र देवराज इन्द्र हैं बन्दी, मस्तक झुका कर उनका वन्दन करो, तुम्हारे भाग्य का निर्णय उन्हीं की दया पर निर्भर है।'

सामने न देखकर शुष्ण ने प्रहरी की ओर ही देखा और मुस्करा कर कहा, 'भाग्य ही यदि किसी पर निर्भर करता हो, तो वह भाग्य ही क्या हुआ?—तब तो तुम्हारे देवराज का भाग्य भी किसी पर निर्भर करता होगा न?' और तब उसने उसी तरह मुस्कराते हुए दृष्टि सामने देवराज की ओर मोड़ी, किन्तु तत्क्षण उसकी मुस्कराहट आश्चर्य में बदल गई, उसके ओठ खुल गए! इसके पहले देवराज को उसने कभी देखा नहीं था। शुष्ण की आँखें फटी ही रह गईं।—क्या वह अपनी आँखों पर विश्वास करे? देवराज नहीं, यह तो वही श्येन है जो महापणिक से द्वन्द्व में बुरी तरह पराजित हुआ था!—देवराज—क्या राजसी वस्त्र और मुकुट पहन लेने से ही देवराज हो लिया जा सकता है? नहीं, सामने अकड़ कर बैठा हुआ देवराज श्येन नहीं है, वह तो—वह श्येन ही स्वयं देवराज था वेश बदल कर, अपने आत्माभिमान को वन्धक रख कर शायद आया था महापणिक की बल-परीक्षा के लिए। उतना दौरात्म्यपूर्ण-दुराग्रह और दुस्साहस अन्य कोई कौन दिखा सकता था? तब पहचानने में भूल की हो—पहले कभी देखा नहीं था न—पर अब भूल नहीं हो सकती। उस दिन महापणिक को परख आया है, क्या आज शुष्ण को भी अवसर देगा वह?

देवराज भी उसी की ओर टकटकी लगाए देख रहा है, दृष्टि-युद्ध !—पुरानीपहचान न होती, तो यह निर्लज्ज-दृष्टि शायद समझ में भी न आती। —और शुष्ण के अधरों पर व्यंग्य का कुटिल-परिहास खेल गया, जिसे चाहे किसी और ने लक्ष्य न किया हो, किन्तु जिसके लिए वह उद्दिष्ट था उसने लक्ष्य कर ही लिया क्योंकि उसके साथ ही उसकी भृकुटि तन गई, ओठ भी कुछ कहने के लिए कांप कर रह गए और देवराज का हाथ अनायास अपने वज्र पर जा पड़ा।

देवराज की इस हलचल को लक्ष्य देवगुरु ने भी किया, किन्तु वे कारण समझने में असमर्थ रहे, तो उन्होंने देवराज से कहा, 'बन्दी से औपचारिक प्रश्न पूछ कर अपना निर्णय सुना दें महामहेन्द्र ! सदस्यों के मनोभाव की गति दुर्बोध्य होती जा रही है। बन्दी कहीं उनकी सहानुभूति न अर्जित कर ले !'

देवराज ने पुनः दृष्टि सामने खड़े शुष्ण की ओर डाली, यह उद्धत अनार्य प्रश्नों के सीधे उत्तर देगा क्या ?—सीधे ही क्यों न पूछा जाए उससे ?—और उन्होंने कहा, 'तो तुम ही हो अनार्य पणिक के सेनानायक शुष्ण !'

'देवराज न पहचानते हों, किन्तु आशानुकूल श्येन ने ठीक ही पहचाना है।'

द्वार के पास बैठे वणि के कान खड़े हो गए। देवराज कड़क कर कह रहे थे, 'क्या बकते हो मूर्ख ? क्या तुम्हें अपने प्राणों का मोह नहां है ?' और उन्होंने हाथ में वज्र सम्हाल लिया।

शुष्ण शान्त, निर्विकार ही रहा, किन्तु मुस्कराकर व्यंग्य से उसने कहा, 'वज्र को क्यों कष्ट देते हो श्येन ?—क्या तुम्हें अपनी वज्र-मुष्टिका का विश्वास नहीं रहा ?—मैं भी तो यहाँ एकदम अकेला हूँ—अन्धे शंख की चेतावनी का लाभ भी नहीं है मुझे।—निशशस्त्र और बँधा हुआ। अपने किसी प्रतिहार से कहो। इस अवस्था में तो वह सरलता से मेरा कंठ दबाकर, न केवल मेरी वाचा ही बल्कि मेरा प्रश्वास भी अवरुद्ध कर देगा।'

'बड़ा गर्व हो गया है न अपनी वीरता का सुदास को पराजित करके। हँ ?—चुपके-से पीठ पर आक्रमण और भौगोलिक-स्थिति के लाभ को सच्चे वीर वीरता नहीं, कायरता कहते हैं। तुम चाहो तो अवसर कह सकते हो, पर वह वीरता नहीं है। शायद समझ रहे हो कि यह सभा नहीं जानती कि किस तरह हमारे आर्यवीर कुत्स ने भेड़ों के गल्ल में सहज घुस पड़ने वाले सिंह की तरह शस्त्रास्त्र-रक्षित शिविर में प्रवेश कर तुम्हें बन्दी बनाया है। या उसे भी अस्वीकार करते हो ?'

'कुत्स ? —कुत्स ने मुझे बन्दी बनाया ? —वही कुत्स न, जिसने दुर्योण में तत्कालीन महापणिक कुयव की पत्नी कुलिशा के पद-प्रहार से तिलमिला कर

उसकी और निश्चेष्ट रुग्ण कुयव की कसाई की तरह हत्या करके नाम कमाया था ? उसका मर्मस्थल स्वस्थ हो गया ?— कहाँ है वह ?— जरा उसका मुँह तो देखूँ ? —उसी ने क्या हमारे उस पंचमांगी कुलांगार वणि का चेहरा उधार लिया था ?'

'वणि ?—कौन, दुर्योण के उस बेनकाट, सूदजीवी अर्बुद का अनुचर ? कहाँ है वह ?' देवराज ने कड़क कर कहा, 'उसका और उसके स्वामी का रक्त पीने के लिए मेरा यह वज्र बड़ा उत्कंठ है ।' और जबकि इधर देवराज का हाथ अपने वज्र को पकड़ रहा था, उधर वणि का कलेजा मुँह को आ लगा था ।

'मुझसे क्या पूछते हो उस नराधम का ठिकाना ? —अपने उस आर्य-कुत्स से जो सिंह का मुँह लगा कर गीदड़ की तरह चुपके से पीठ पर आक्रमण और घने निर्जन जंगल में रात के अन्धकार और वर्षा की प्राकृतिक स्थिति का लाभ लेकर मुझे बन्दी बनाने की वीरता की डींग हाँक रहा है, उस कुत्स से पूछो ।'

देवराज ने कुत्स की ओर देखा । वह सिर नीचा किए मना रहा था कि धरती फट जाए और वह उसमें किसी तरह शीघ्र समा जाए । उसे देवराज का कठोर स्वर सुनाई दिया, 'कुत्स, यह मृध्रवाच् अनार्य बड़ा मुँहफट होता जा रहा है । जरा खड़े होकर इसका भ्रम क्यों नहीं दूर कर देते ?'

कुत्स ने किसी तरह सिर उठा कर देवराज की ओर देखा, देवराज की आँखों से अंगारे बरस रहे थे—किसके लिए, कुत्स के लिए, शुष्ण के लिए या उस अनुपस्थित वणि के लिए ?—कुत्स के चेहरे का रक्त तो उड़ ही गया था, मानों मन भर बोझ से लदे पैरों को उठा कर जमीन पर रखते हुए वह मन्त्र-चालित सा उठ खड़ा हुआ । वह समझ नहीं पा रहा था कि उसके पैर कांप रहे हैं या हृदय ?

शुष्ण ने कहा, 'पीठ को देख कर जिसे पहचाना जाता है वह कायर होता न ? अपने आर्य वीर से कहो, भय की कोई बात नहीं है । मैं तो रस्सियों से जकड़ा हुआ बन्दी हूँ । मुड़ कर जरा सामने से मुँह तो दिखाए ! नई नवेली का मुँह बड़े भाग्य से ही देखने को मिलता है ।'

देवराज का आदेश पहुँचे उसके पहले ही कुत्स ने पीछे खड़े हुए शुष्ण की ओर मुँह किया तो शुष्ण ने कहा, 'हाँ-हाँ, हो तो वही आर्य वीर कुत्स ! क्या उस रात वट-वृक्ष के नीचे घोर अन्धकार में पीछे से मेरे मुँह पर तीव्र गन्धयुक्त वस्त्र डालने वाले तुम्हीं थे ? तुम्हारा वह क्रीत दास वणि तो यहाँ कहीं दिखाई नहीं देता ?'

'वणि ?' देवराज चिल्लाया, 'उस विश्वासघाती अर्बुद का अनुचर ? यहाँ है वह नराधम ? —मैं फिर पूछ रहा हूँ ! यहाँ हो और मेरी आँखों से छिपा रहे ?' —वणि को धरती अपने पैरों से खिसकती लगने लगी ।

कुत्स ने साहस एकत्र कर कहा, 'महामहेन्द्र, यह बन्दी अपनी ओर से ध्यान हटाने के लिए मिथ्या-भाषण कर रहा है। वणि यहाँ कैसे हो सकता है?— वह होगा अपने स्वामी महाश्रेष्ठि के पास दुर्योण में ही और यह प्रवंचक उसे यहाँ बता रहा है।'

'अर्थात् तुम उसे पहचानते अवश्य हो।' शुष्ण ने कहा। फिर देवराज की ओर देख कर वह बोला, 'किन्तु उस पर विश्वासघात का आरोप और वह भी तुम्हारी ओर से? —यदि उसने विश्वासघात न किया होता, तो बन्दी बनाना दूर, कोई मुझे हाथ भी लगा सकता था? विश्वासघात वणि ने अवश्य किया है किन्तु तुम्हारे साथ नहीं, मेरे साथ किया है। उस रात यदि उसके स्थान पर यह कुत्स होता, तो स्थितियाँ नितान्त बदली हुई होतीं? —रंगभूमि यह नहीं, दुर्योण होती। तुम्हारे स्थान पर मेरे महापणि विभांडक बृबु होते और विचार के लिए मैं नहीं, तुम्हारा यह आर्य वीर कुत्स होता!'

कुत्स अनायास ही सारी सभा का लक्ष्य हो गया था। उसे कुछ कहना चाहिए, यही सोच कर वह बोला, 'यह शठ अपनी पराजय की लज्जा छिपाने के लिए मिथ्या बकवास कर रहा है। महामहेन्द्र! इसकी बातों पर ध्यान न दें।'

सभा में से ही किसी ने व्यंग्य-स्वर में कहा, 'सामने ही तो है, जरा-से द्वन्द्व-युद्ध में ही सचाई का निर्णय हो जाएगा।'

'बीच ही में यह कौन दुस्साहस कर रहा है बकने का?' कहकर देवराज ने सारी सभा की ओर दृष्टि दौड़ाई। किसी ने उत्तर नहीं दिया तो मुस्करा कर वे ही, बोले 'किसी ने भी कहा हो, बन्दी का गर्व-गलन करने के लिए विचार बुरा नहीं है। —क्या कहते हो कुत्स?'

निष्प्रभ कुत्स अपने आसन पर बैठ चुका था। सदय-दृष्टि से उसने देवराज की ओर देखा, वे कुटिलता से उसी की ओर देख रहे थे। उनके चेहरे पर क्रूर-उल्लास की छाया देख कर उसने व्याकुल दृष्टि से हस्तक्षेप के लिए देवगुरु की ओर देखा। देवगुरु ने देख तो लिया किन्तु जैसे अनदेखा कर दिया हो, तो निरुपाय कुत्स उठा और इतस्ततः करते हुए बोला, 'महामहेन्द्र! क्या एक बन्दी को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए अपने ही सेवक को उसी के सम्मुख अपमानित होना पड़ेगा?'

देवगुरु ने भी औचित्य देखा और कहा, 'आयुष्मान् कुत्स यथार्थ निवेदन कर रहा है महामहेन्द्र, प्रमाण की आवश्यकता कहाँ है?—शत्रु बन्दी की अवस्था में प्रत्यक्ष खड़ा है, यह क्या अपने आप में प्रमाण नहीं है?' फिर कुछ आगे मुँह बढ़ा कर देवराज के कान में कहा, 'देख नहीं रहे हैं, कुत्स के पैर काँप रहे हैं। वह ठीक से खड़ा भी नहीं हो पा रहा है।'

देवराज ने भी मुस्कराकर देवगुरु के कान में कहा, 'शत्रु की वीरता का नहीं देवगुरु, इस कायर की मिथ्या-गर्वोक्ति का प्रमाण मिल जाता। —खैर, जैसी आप की इच्छा।' फिर प्रकट में बोले, 'देवगुरु का आदेश है कि शत्रु को राजपुरुष जैसा सम्मान नहीं दिया जा सकता। उनका मन्तव्य यथार्थ है। —सुन रहे हो न शुष्ण? बोलो, तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाए?'

'अपने गुरु से क्यों नहीं पूछ लेते? —उनका आदेश तो तुमसे अमान्य नहीं हो सकेगा न!'

देवराज को क्या यह स्पष्ट चुनौती नहीं थी? खीझ कर देवराज उबला, 'शठ नहीं जानते कि तुम देवराज की अवज्ञा कर रहे हो? जानते नहीं कि देवराज की अवज्ञा करने वाले को कुत्ते की मौत मरना होता है?'

गर्व की भावना से अपना वक्ष फुला कर शुष्ण ने कहा, 'इससे कुत्ते की क्षुद्रता तो प्रमाणित होती है, किन्तु देवराज की महत्ता तनिक भी नहीं, बल्कि देवराज के इस कृत्य से तो कुत्ते का ही महत्त्व प्रतिपादित होगा। —देवराज की बात जाने दो श्येन, —तुमने मेरे महापणिक का बल जाँचने का प्रयत्न किया था! स्मरण है न उस सभा में वह अपनी दर्पोक्ति? —आज तुम्हारी सभा में वही दर्पोक्ति मैं दुहरा रहा हूँ! यदि तुम्हारे देवगुरु तुम्हें राजपुरुष कह कर विरत करना चाहें तो कह दो उन्हें, यह चुनौती श्येन को है, देवराज को नहीं।'

श्येन का सन्दर्भ सभा-भवन में कोई समझ नहीं पा रहा था। जो समझ रहे थे, मौन रहने के सिवा वे कर ही क्या सकते थे? और देवराज उग्र-क्षोभ में तिलमिला रहा था। —ऐसा न हो कि श्येन का प्रसंग किसी भी तरह प्रकट हो जाए।— शुष्ण की चुनौती भी तो स्वीकार नहीं की जा सकती! क्या प्रमाण कि यह भी वृबु जैसा ही लौह-पुरुष न हो? यदि कुछ अयुक्त हो गया, तो उनके ही गण में उनके यश-चन्द्र को राहु लग जाएगा और सदा के लिए। —पहले जैसे देवेन्द्र वे अब रह भी कहाँ गए हैं? नहीं, शौर्य से नहीं, क्रौर्य से ही प्रतिष्ठा बचाई जा सकती है।

देवराज को कुछ सोचता-सा देखकर मरुद्वान के पास बैठे ऋजश्विन का हृदय आशंका से काँपने लगा। देवराज कहीं पुनः अनुचित दुस्साहस न कर बैठें, जैसा उन्होंने तब दुर्योण में कर डाला था। उसने घबरा कर कहा, 'महामहेन्द्र, शत्रु की बात को कदापि न मानें, ये अव्रत-अनार्य, यातुधान हैं—और हमारे सम्पूर्ण गण की आशाएँ आप पर टिकी हुई हैं!—'

स्वर पहचानते ही शुष्ण ने प्रमुदित होकर कहा, 'अरे वाह, यह तो शंख है!—तुम्हारे अन्धे नेत्र ठीक हो गए शंख?—काश, मेरी पत्नी मेरे साथ यह दृश्य देख पाती कि उस दिन जिन्हें मच्छर समझ कर उन्होंने पछाड़ दिया था वे और

कोई नहीं, स्वयं देवों के देव, महा महेन्द्र देवराज इन्द्र और उनका प्रमुख सहचर ऋजश्विन थे, श्येन और शंख नहीं।'

देवराज ने बड़ी कठिनाई से अपने आपको संयत कर कहा, 'ऐसी परी-कथाओं से ही अपनी सेना का मनोबल बनाए रखते हो न पाखण्डी? यह इन्द्र-सभा है, तुम्हारी इन मिथ्या कपोल-कल्पनाओं से प्रभावित यहाँ कोई न होगा।—तुमने सच ही कहा था, देवराज के हाथ से मरने पर कुत्ते का ही महत्त्व प्रतिपादित होता है। वह महत्त्व मैं तुम्हें नहीं लेने दूँगा। तुम जैसे कुत्ते को मारने में देवराज की क्या बड़ाई है?—'कुत्स, आगे बढ़ो। यह तुम्हारा शिकार है न? यह खड्ग लो और इस कुत्ते का सिर धड़ से अलग कर दो। सभा भी देख ले कि तुम मोम के बने हुए नहीं हो।'

'—म्-म्-मैं-मैं बध करूँ इस दुरात्मा का देवराज?' हकलाते हुए कुत्स ने पूछा।

'वध ही तो! तुम क्या युद्ध समझ रहे हो?—युद्ध नहीं कुत्स, केवल वध! प्रहरी उसे पकड़े रहेंगे, इसमें भय की कोई बात कहाँ है?—हाथों में इतनी दृढ़ता तो है न?'

मुँह से कुछ उत्तर न देकर कुत्स आगे बढ़ा।—उस रात पीठ की ओर से उसने शत्रु के सिर पर वस्त्र डाला था, दो साथियों ने उसे दोनों ओर से पकड़ भी लिया था और यदि आवश्यकता पड़ती, तो पास खड़ा वणि टुकुर-टुकुर देखता ही न रहता। सचमुच भय क्या है?—अन्तर है तो इतना ही न, कि सामने की ओर से कुत्स को खड्ग चलाना है। तीनों ओर से प्रहरी उसे पकड़े रहेंगे। रस्सियों से जकड़ा हुआ तो वह है ही। वहाँ वह शत्रुओं के बीच में शत्रु-भूमि पर था, यहाँ अपनों ही के बीच अपनी ही भूमि पर है। हाथ को वश में रखना होगा! बस, यही तो?—उसने बहुत गहरे झुक कर देवराज को अभिवादन किया, उनके पास रखी हुई नग्न खड्ग उठाई और पैरों को दृढ़ कर वह शुष्ण की ओर बढ़ने लगा।

देखकर शुष्ण कुछ कसमसाया, किन्तु प्रहरियों ने उसे कस कर विवश कर दिया। सारे सदस्य साँस रोककर कुत्स के प्रत्येक पद-क्षेप को देख रहे थे और कुत्स की आँखों के सामने सब कुछ अस्पष्ट हो गया था, उसे धुन्ध में केवल शुष्ण की ग्रीवा का ऊपरी भाग दिखाई दे रहा था और दिखाई दे रही थीं उस चेहरे पर चमकती हुई भभकते हुए अंगारे जैसी दो आँखें। देखने वालों ने देखा कि अवतरण के पहले मृत्यु की जो छाया मुमूर्षु के मुख-मंडल पर उतरने लगती है, वह शुष्ण के मुख पर उतनी नहीं, जितनी कुत्स के मुँह पर उतर चुकी है। जो भी हो, कुत्स अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है।

—किन्तु सहसा यह क्या ? सभासदों के सिर पर अधर में जैसे लहराती हुई एक बिजली कौंध कर झपटी, शुष्ण की ओर नहीं, किन्तु कुत्स की ओर। और कोई कुछ इस रहस्य को समझे इसके पहले ही वह उसी वेग से कुत्स के वक्ष में निर्मम होकर प्रविष्ट हो गई ! कुत्स के मुँह से एक मर्मान्तिक चीत्कार और हाथ से खड्ग साथ ही छूटीं। अपने लक्ष्य से वह कुछ ही दूर रह गया था, किन्तु संतुलन उसका पहले ही डगमगा रहा था। वक्ष को पकड़ कर वह नीचे बैठने लगा, किन्तु लड़खड़ा कर वह नीचे गिर पड़ा। साँस रोके सभासद एकदम स्तब्ध होकर उठ खड़े हुए। बन्दी क्या सचमुच यातुधान है ? जादू के अतिरिक्त इतना आकस्मिक, इतना सामयिक और इतना अचूक-लक्ष्य और किसका हो सकता है ? कुत्स न होकर, उस अस्त्र का लक्ष्य यदि देवराज होते तो ?

देवराज स्वयं वज्र हाथ में लेकर खड़े हो गये थे। मानों इन्द्रासन ही काँप उठा था। एक क्षण पहले की निस्पन्द-स्तब्ध सभा में कुहराम ही नहीं, आतंक भी फैल गया।—किसने फेंका यह अस्त्र ? आर्यों का कौन शत्रु सभा में विद्यमान है ?—जो प्रकट है, वह तो तीन-तीन सशस्त्र प्रहरियों से आवृत और दृढ़ रज्जुओं से आबद्ध है। वह स्वयं भी तो आश्चर्य से मुँह फाड़े इस अतर्क्य कांड को देख रहा है !

नीचे पड़े हुए कुत्स को पीड़ा से तड़फड़ाते हुए देखकर देवगुरु बृहस्पति तथा उनके संकेत से और दो ऋषि उसकी ओर आगे बढ़े। लोगों ने हट कर उन्हें मार्ग दिया।

देवराज भी देवगुरु का अनुसरण करने के लिए आगे बढ़ने को उद्यत हुए, किन्तु उन्होंने देखा कि सामने द्वार के पास भी कुछ हलचल मची हुई है। कुछ वहाँ भी अघटनीय घट रहा है, तो उन्होंने चिल्लाकर शीघ्र द्वार बन्द कर देने का आदेश दिया, ताकि यदि आक्रमणकारी चेष्टा करे तो भाग न सके।

मंडप के बीच में बन्दी को केन्द्र कर जो प्रकरण घटित हो रहा था स्वाभाविक था कि उसमें सारी सभा डूबी हुई थी, किसी को उस विचित्र वेशधारी विदेशी मणिकार का ध्यान नहीं रहा था। भीड़ में अपनी राह बनाता हुआ वह सभा में काफी आगे बढ़ आया था। जितना वह सम्पन्न था, रसिकता के प्रमाण-स्वरूप उसने अपने शरीर पर उतनी ही सुगन्ध भी छिड़क रखी थी। अतः भीड़ में कोई चाहकर भी उसे रोकने का प्रयत्न न करता। कुत्स जब नीचे गिरा तो वह अपने लटकते हुए अँगरखे को दोनों हाथों से पकड़ कर द्वार की ओर भागा। एक असावधान सदस्य उसकी लपेट में आ गया, तो वह और दो सदस्यों को समेट कर जमीन पर आ रहा। द्वार के निकट ही खड़ा वणि भी इस आकस्मिक व्यापार को समझने के लिए उत्सुक हो उठा था। सारी सभा खड़ी हो गई थी,

और वह ऊँचाई में नाटा था, अतः दूर कुत्स के साथ घटा व्यापार तो वह नहीं देख सका, किन्तु उस विदेशी की आकस्मिक उछलकूद और पलायन की चेष्टा उसके लिए अवश्य कुतूहल का कारण बन गई। कारण अवश्य ही कुछ गम्भीर है, बहुत सम्भव है उधर घटी किसी अप्रत्याशित घटना से इसका सम्बन्ध हो! लम्बा-चौड़ा नहीं है, किन्तु शरीर तो भारी है ही, मानों उसको नकार कर भागना चाह रहा है। एक क्षण के अल्पांश में उसने यह सब सोचकर निर्णय ले लिया कि उसे रोकना चाहिए और वह उसके मार्ग में पैर फैलाकर नीचे बैठ गया। मणिकार ने उछल कर उसके पैरों की बाधा पार करनी चाही, किन्तु तभी वणि का एक पैर ऊँचा उठ गया। मणिकार की उछाल उतनी ऊँची न थी, उसका पैर वणि के पैर से उलझ गया और वह सम्हल पाए, इसके पहले ही देहरी के पास मुँह के बल चारों कोने चित्त धरती पर धड़ाम से गिर पड़ा। अवरोध इतना आकस्मिक था कि उसके सिर का फेंटा खुलकर सामने जा पड़ा और उसमें छिपे बँधे केशों का घना जूड़ा बिखर कर सिर के चारों ओर फैल गया। वणि सावधान था ही। उठकर उसने कहा, 'अरे वाह, तुम्हारे ये घने केश तो अद्‌भुत हैं, किन्तु तुम इस तरह बदहवास भागे क्यों जा रहे हो?—क्या बात है, चोट लगी है कहीं?'

द्वारपाल भी दौड़ा आया था। देखकर उसने कहा, 'अरे, यह रक्त कैसा?'

वणि ने भी देखा, उसके अँगरखे पर रक्त उभर आया है। अकस्मात गिर पड़ने से कहीं चोट लग गई है और शायद इसीलिए अचेत भी हो गया है, तभी तो कुछ बोल नहीं रहा है! उठाना चाहिए, कहीं मर्मस्थल में यदि चोट लग गई होगी, तो शीघ्र उपचार की आवश्यकता हो सकती है! वणि ने हाथ पकड़ कर उसे उठाना चाहा—स्पर्श कितना कोमल है, किन्तु प्रवृत्त कैसे कठोर कार्य में हुआ था? अचेत हो गया है तो उठेगा कैसे? उसे तो उठाना होगा। इसी बीच कुछ और लोगों की दृष्टि भी इधर आकृष्ट हो गई थी, किन्तु वे चित्र-लिखित-से देखते ही रहे और वणि ने पार्श्व से उसे पकड़ कर पलटा और सीधा किया। इतने से ही समय में इतना रक्त बहकर नीचे जमा हो गया?—उसके हाथ भी रक्त से सन गए थे और विदेशी का अँगरखा तो सामने से एक दम लाल हो गया था!

द्वारपाल ने कहा, 'अरे, इसकी तो नाक से भी रक्त बह रहा है। शायद नाक को गम्भीर चोट लगी हो। महामहेन्द्र को सूचित करना चाहिए।'

किसी ने कहा, 'लो यह इधर दूसरी रक्त-रंजित घटना! देवराज आज किसी को छोड़ने वाले नहीं हैं। कुत्स उनका प्रिय सहचर है और यह विदेशी तो बेचारा निरपराध, आज ही तो यहाँ आया है। मैं जानता हूँ, एक मणिकार

है। द्वार पर विजय से कह रहा था, देवराज को दुर्लभ रत्न भेंट करना चाहता था। —आश्चर्य की बात है कि इस सभा में ही ऐसा देशद्रोही कहाँ से पैदा हो गया ?'

वणि ने नाक के पास हाथ ले जाकर देखा कि साँस तो चल रही है, किन्तु इसी बीच मणिकार की रक्तप्लुत मूँछें उसके हाथ से छू गईं। स्पर्श एकदम हलका-सा था, किन्तु आश्चर्य के साथ वणि ने ही नहीं, वहाँ एकत्र सभी ने देखा, कि वे मूँछें उस हलके-से स्पर्श से ही अधरों से हट कर दूर जा गिरीं और उनके नीचे रस भीने पतले धनुषाकार अधरों से घिरा मुँह स्पष्ट हो गया। नाक से वहा हुआ रक्त है या मुँह से बहा हुआ ?—ऐसी सुन्दर खिंची हुईं कोमल आँखें, वे बन्द ही क्यों न हों, क्या किसी पुरुष की हो सकती हैं ?—आसपास खड़े लोग चाहे जो सोचते रहें, किन्तु देखकर वणि उसी क्षण आश्चर्य, कुतूहल और भय-मिश्रित अवसाद से जड़ हो गया ! —मणिकार नहीं, यह तो स्वयं महानायक की पत्नी महादेवी सेलकेत—यहाँ, इस वेश में और इस परिस्थिति में ?—साँस चल रही है, जीवित है, इसमें सन्देह नहीं—अचेत है। किन्तु,···किन्तु,···रक्त का यह अनिरुद्ध-प्रवाह ? वणि सोच भी नहीं सकता ! वह अच्छी तरह जानता है, देवी सेलकेत सगर्भा थीं। यह सब कुछ क्या देश-काल सबको अतिक्रमण कर कोई दुस्स्वप्न प्रकट हुआ है ? वणि अपने आपको भूल गया। यदि दुस्स्वप्न है तो वह भी घोर निद्रा में ग्रस्त है ! पर महानायक शुष्ण यहीं तो हैं। उन्हें सहायता के लिए बुलाया जाए न ! विलम्ब होने से महादेवी के प्राणों पर आ बन सकती है। वह चिल्लाया, 'महानायक—'

'कौन है यह अपरिचित ?—यह सब क्या प्रपंच है ?' देवराज का वज्र-स्वर सुनकर भीड़ एक ओर हट गई। वणि के सामने तो मानों साक्षात मृत्यु ही वज्र हाथ में लिए आ खड़ी हुई। सेलकेत के मस्तक को नीचे जमीन पर रख कर वह उठ खड़ा हुआ, किन्तु अपराधी की तरह सिर नीचे लटकाए हुए।

देवराज ने सामने रक्त के डबरे में लथपथ देह देखी और उन्हें वह विचित्र वेशधारी विदेशी व्यक्ति स्मरण हो आया। गले में नील-मणियों का हार अब भी है, पर रक्त में सना हुआ और अस्त-व्यस्त। —और ऊपर—अरे उसकी वे सघन मूँछें क्या हुईं ? वे रेशम के तारों-से सुनहरी कोमल केश—स्त्री ?—देवराज यह क्या देख रहे हैं ?—वे एक कदम और आगे बढ़े। रक्त में नहाया हुआ, किन्तु चेहरा सुन्दर है, अत्यन्त सुन्दर। परिचित-सा भी तो लग रहा है। उन्होंने पास खड़े हुए वणि की ओर देखा—शायद उसके माध्यम से परिचय कुछ स्पष्ट हो—एकदम नया व्यक्ति, 'कौन है रे तू ?—पहले कभी तुझे देखा नहीं ?'

वणि थर-थर काँपने लगा, ओठ उसके कुछ हिले, पर शब्द नहीं निकले।

देवराज ने गुर्राकर पूछा, 'चुप क्यों है ? बोलता क्यों नहीं ?'

द्वारपाल ने आगे बढ़कर हाथ जोड़े और कहा, 'महा महेन्द्र, बेचारा डर गया है। इसीने तो इस विदेशी को भाग जाने से रोका है ! भागी जा रही थी न। यह क्या करता बेचारा ? पैरों में वह उलझी तो, पर रुकने के स्थान पर एकदम गिर ही पड़ी।'

'सो तो ठीक है, पर यह है कौन ?—अच्छा, बाद में इसे मेरे सामने प्रस्तुत किया जाए। और ध्यान रहे, यदि यह कहीं चला गया तो उसके स्थान पर तू होगा !' वणि को भी पकड़ कर एक ओर कर दिया गया। वह अब भी अपने आप में नहीं था।

पीछे से तभी मरुत भी वहाँ आ पहुँचे, 'क्या बात है देवराज ?' और फिर सामने देखकर बोले, 'स्त्री ?—क्या इसी स्त्री ने तो नहीं फेंका है कुत्स पर वह शूल ? अवश्य ही पणिकों के दल की गुप्तचर होगी। शुष्ण अवश्य पहचान लेगा, पर बताएगा भी वह ?'

'उसकी आवश्यकता नहीं है मरुत, मैं पहचान गया हूँ यह कौन है।' और फिर वह ठठा कर हँसा, 'हाऽहाऽहा ! —देखो तुम सब आँखें भर कर। यह मिथ्या नहीं है कि देवराज इन्द्र का नाम सुनते ही शत्रु-पत्नियों के गर्भ गिर जाते हैं। हाऽहाऽहा !—तुम लोग एक ओर हट जाओ। यदि चेत आ गया हो तो कुत्स को, और दर्पोक्ति करने वाले वीरता के उस दम्भी को भी आँख भर कर देख लेने दो। शायद अब वह दर्पोक्ति करना भूल जाए !'

सामने से भीड़ छँट गई। शुष्ण उसी तरह प्रहरियों के बीच रस्सियों में जकड़ा निर्विकार भाव से सामने पड़ी हुई कुत्स की निश्चेष्ट-देह को देख रहा था। देवगुरु उसका उपचार कर रहे थे। उसके वक्ष-प्रान्त से वह मारक अस्त्र निकाल लिया गया था। वह एक छोटा-सा त्रिशूल था, लम्बे तीखे फलों वाला ! कुत्स के हृदय को सीधा दूर तक पार कर गया था ! कुत्स की संज्ञा अब कभी लौटने वाली न थी। एक दीर्घ निश्वास परित्याग कर गुरु ने अपना उत्तरीय उतार कर उसे आपाद-मस्तक ढँक दिया। शुष्ण करुणा से भरा उसकी ओर देख रहा था। बेचारा कुत्स। उसका अपराध ही क्या है ? वह क्या, ये सभी तो एक अमानवीय क्रूर व्यवस्था के अंग हैं, और उसका प्रतीक है यह नर-पिशाच देवराज इन्द्र, सब उसके आदेश के अनुवर्ती हैं, उसके मन की न करें तो भी मृत्यु ध्रुव है। —किन्तु यह त्रिशूल फेंक शुष्ण के प्राणों की रक्षा का प्रयत्न करने वाला इस शत्रु-पुरी में कौन है उसका हितैषी ? —कितना बचकाना प्रयत्न है उसका ? —शुष्ण अभी

नहीं तो एक घड़ी बाद मरेगा —अब तक तो यह सारा प्रपंच ही समाप्त हो गया होता। —कुत्स के प्राण व्यर्थ ही गए, और वह स्वयम् क्या रक्त के प्यासे इन गिद्धों से बच पाएगा? —किसलिए किया फिर तुमने यह व्यर्थ प्रयत्न मेरे भाई?

देवराज से कोई कह रहा था, 'महा महेन्द्र, आर्य कुत्स बचाए नहीं जा सके।'

'बचाए नहीं जा सके?'

'हाँ महा महेन्द्र! —त्रिशूल ने उसके हृदय को छिन्न-भिन्न कर दिया है। फेंकने वाले का लक्ष्य अचूक था।'

'अचूक था!' दाँत पीसकर देवराज ने दुहराया, 'और तुम सबको डूब मरना चाहिए। वैसा वेध करने वाली एक स्त्री है।'

'स्त्री?' पूछने वाले के आश्चर्य की सीमा न थी। शुष्ण का ध्यान भी सहसा खिंच गया।

'अपनी आँखों से देखो। वह उधर अचेत पड़ी है। और यदि कुत्स नहीं बचाया जा सकता तो छोड़ो उसे। देवगुरु से कहो, राजवैद्य से कहो, जो बचाया जा सकता है उसे बचाया जाए! मरेगी अवश्य, पर अपने शत्रु को मैं सहज मृत्यु का वरण नहीं करने दूँगा। —और देखो, वहाँ से शुष्ण उसी तरह नहीं देख पाता होगा। उस देह को घसीट लाकर ठीक उसके सामने पटक दो ताकि वह अपनी अन्तिम साध पूरी कर ले। चाहा था न इसने कि इसकी पत्नी साथ होती तो यह दृश्य वह भी देख लेती? —दोनों मिलकर देखें अब कि वास्तव में मच्छर कौन है, और कौन किसको पछाड़ रहा है?' और वह अपने सिंहासन की ओर लौट पड़ा।

इन्द्र के अन्तिम वाक्य ने शुष्ण का ध्यान भंग कर दिया। उसे याद आया, यह प्रतीति होने पर सेलकेत द्वारा अन्धा बनाया शंख, और कोई नहीं स्वयम् देवराज का प्रिय सहचर ऋजश्विन है, तो उसने चाहा था कि सेलकेत होती तो वह भी इस उपलब्धि का गौरव बोध करती! अधिक दूर नहीं, सामने नदी के उस पार कुछ ही योजन दूर तो थी वह! —अब तक तो लौट भी गई होगी दुर्योण। —यह घसीटा जा रहा अभागा, वही तो होगा जिसने कुत्स का अचूक लक्ष्य साध कर शूल फेंका, और शुष्ण के प्राण·····अरे, यह·····सेलकेत? सेलकेत यहाँ? इस वेश में? —आँखों को धोखा तो नहीं दिया जा रहा है? उसने बार-बार पलकें पटक कर स्वच्छ आँखों को अस्वच्छ समझकर पुनः स्वच्छ किया। —सेलकेत की देह ठीक उसके सामने आ पड़ी थी! प्रहरियों के हाथ में थमी रस्सी का ध्यान भुलाकर सेलकेत की देह पर झुकता हुआ वह चीत्कार कर उठा, 'ओह सेलकेत, यह

तुमने क्या किया—क्या किया ?' और घुटनों के बल बैठ कर रक्त से लथपथ सेलकेत के कपोल से अपने कपोल सटा दिये। प्रहरियों ने बाधा देनी चाही, पर भीड़ का मनोभाव देखकर वे भी चुप रहे। आखिर वे भी थे तो मनुष्य ही !

सेलकेत को चेत आ रहा था। शायद शुष्ण की पुकार उसके अन्तर्तम तक पहुँचकर उसकी चेतना को खींच लाई थी। धीरे-धीरे अपना एक हाथ उठाकर उसने दूसरे गाल पर रखकर सहलाना शुरू कर दिया। बोलने की चेष्टा की तो, पर शब्द नहीं निकले। आँखों ने वह अभाव पूरा करने का प्रयत्न किया, रक्त में मिलकर आँसू शुष्ण के उत्तप्त मन का अभिषेक करने लगे। सारी सभा मूक होकर रह गई—एक ओर एक शव, और दूसरी ओर पास में ही प्रेम की अविनश्वर-भावना में डूबे हुए दो नश्वर-शरीर ! जीवन का यह व्यंग्य देखकर सभी के चेहरों पर करुणा उमड़ आई थी !

शुष्ण के कपोल थपथपाते हुए सेलकेत ने बड़े ही क्षीण स्वर में कहा, 'मैं तुम्हें नहीं बचा सकी शुष्ण।' स्वर इतना क्षीण था कि शायद शुष्ण के सिवा और कोई नहीं सुन पाया।

आँखें बन्द किए हुए ही शुष्ण बुदबुदाया, 'क्या जानती नहीं थी कि मैं बच नहीं सकूंगा ? —रक्त-मांस के लोलुप ये बर्बर शृगाल जाल में फँसे किसी को कभी छोड़ते हैं ?'

शुष्ण के कपोल के नीचे अपने चेहरे को कुछ हिलाकर सेलकेत ने कहा, 'जानती थी शुष्ण।'

'फिर यह असाध्य-साधन क्यों किया तुमने ?'

—फुसफुसाहट चलती देखकर देवराज भी अब दबे पाँव आकर शुष्ण के पीछे खड़े हो गए, यह शुष्ण या सेलकेत दोनों ही नहीं जान सके। एकत्र लोगों ने सौजन्य-वश कुछ हलचल का उपक्रम किया तो उन्होंने संकेत से सबको यथावत् मूक रहने का आदेश दिया। मौन पूवापेक्षा और घना हो गया।

शुष्ण के प्रश्न के उत्तर में सेलकेत उसी तरह क्षीण स्वर में कह रही थी, 'इसलिए कि उस कुत्ते के हाथ से न मारे जाओ।'

'कुत्तों की यहाँ कमी महीं है सेलकेत।'

'जानती हूँ'—फिर कुछ साँस लेकर कहा, 'कुत्ते हमारे यहाँ भी तो हैं शुष्ण। —वह वणि कहीं दिखाई नहीं दिया। —तृप्ति तो मुझे तब होती—' एक लम्बी साँस लेकर उसने फिर कहा, 'भागने का प्रयत्न कोई बचने के लिए नहीं, उसी के लिए किया था।'

कुछ क्षण चुप रहकर शुष्ण ने पूछा, 'अब ?'

'एक ही दुःख है शुष्ण, ...तुम्हारे अंश को, जिसे बड़ी साध से पाल रही थी, नहीं बचाया जा सका। .....किन्तु, ...अब भय क्या है? तुम्हारी आँखों के नीचे इसी तरह मर जाऊँ इससे बढ़कर सुख और क्या होता?..... हाथ बँधे हुए हैं, पर बैठ तो सकते हो न? —तुम्हारी गोद में सिर रखकर मरना चाहती हूँ शुष्ण।'

शुष्ण ने अपना मुँह उठा लिया और पैरों को फैलाकर बैठ गया। अनवरत रक्त-प्रवाह से सेलकेत क्षण-क्षण शिथिल होती जा रही थी, बड़े कष्ट से उसने अपने मस्तक को थोड़ा ऊपर उठाया तो शुष्ण ने फैले हुए अपने पाँव को मोड़कर मस्तक के नीचे सरकाकर सेलकेत के सिर को थकिया दे दिया। सेलकेत की इच्छा-शक्ति ही उसका साथ दे रही थी। प्रियतम की गोद में सिर पहुँच जाने से उसने तृप्ति की साँस ली और आँखें बन्द करके कहा, 'मैं जी गई शुष्ण। —जीवन ही नहीं, अब तो मेरी मृत्यु भी सार्थक हो गई।' और उसके रक्ताक्त अधरों पर क्षीण मुस्कान भी स्फीत हो उठी।

सेलकेत की तृप्ति की उक्ति सुनकर पीछे खड़े हुए देवराज के सारे शरीर में ईर्ष्या की अग्नि भभक उठी, क्षोम से उसने अपने ओठ भींच लिए, और शुष्ण को सिर के बालों से पकड़ कर उठाते हुए दाँत पीसकर कहा, 'सार्थक नहीं। तुम दोनों कुत्ते-कुतिया की मौत ही मरने को बाध्य हो! —क्या बक रहे थे तुम तब?—कि इसी स्त्री ने शंख को अन्धा किया था?—हो कोई शंख या श्येन तुम्हारी कपोल-कल्पना की उड़ान, किन्तु याद रखो, मैं उनके प्रतिशोध को वास्तविकता देकर रहूँगा। मैं देवराज इन्द्र हूँ, जिसके भय से स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं। इसे ही नहीं, मरने के पहले तुम्हें भी अन्धा किया जाएगा। तुम चीखोगे, अपने लिए न सही, किन्तु अपनी पत्नी के लिए दया की भीख माँगोगे, और मैं अट्टहास करता हुआ इस दुष्टा की आँखों को नष्ट होता हुआ देखूँगा। —यह भी मरने के पहले देख चाहे न सके, पर चीखें तुम्हारी अवश्य सुनेगी। ज्योति नष्ट करने के लिए तुमने तो शायद अम्ल ही प्रयोग किया होगा, यहाँ अग्नि में बुझी हुई तप्त शलाकाएँ इन बड़ी-बड़ी आँखों को ठंडा करेंगी। —इस तरह क्या देख रहे हो मेरी ओर?' और उसने बालों से पकड़ शुष्ण के सिर को झिंझोड़ दिया। पीड़ा तो दुस्सह थी, किन्तु शुष्ण ने सिर को इतने बल से घुमाया कि देवराज की छाती में एक तीव्र आघात लगा। देवराज की मुट्ठी में बालों की एक लट ही रह गई। —बँधी हुई रस्सी को यदि तीन-तीन प्रहरी न पकड़े होते तो यह देवराज से गुँथ ही जाता। और कुछ न हो, पर श्येन से मल्ल-युद्ध की उसकी आकांक्षा कुछ तो पूरी होती ही! असीम क्रोध में भरकर देवराज ने एक प्रचंड मुष्टिका शुष्ण के पेट पर मारी। शुष्ण

थोड़ा झुक गया, नहीं तो उसकी एक-दो पसलियाँ अवश्य टूटतीं । शुष्ण का लौह-वक्ष उस आघात को सह गया ।

देवराज ने कहा, 'देख लो अन्तिम बार इन आँखों से एक दूसरे को ।' फिर उसने प्रतिहारी की ओर देख कर कहा, 'जाओ । यज्ञ-शाला से एक जलती हुई अँगीठी और कुछ शलाकाएँ प्रस्तुत करो अविलम्ब ।' सारी सभा में मौन घनीभूत होकर पसर गया, आतंक के मारे किसी की साँस तक सुनाई देना बन्द हो गई । शुष्ण को और सेलकेत के निश्चेष्ट शरीर को प्रहरियों की देखरेख में छोड़ कर वह अपने सिंहासन की ओर बढ़ते-बढ़ते सबको सुना कर बोला, 'उस युवक को मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाए, जिसने इस कपटी स्त्री के पलायन की चेष्टा व्यर्थ की है । हम उसे पुरस्कार से सम्मानित करेंगे ।'

नीचे पड़ी सेलकेत ने ऊपर शुष्ण की आँखों में आँखें गड़ाकर कहा, 'क्या करूँ ? तत्काल प्राण निकल जाते तो यह विडम्बना न देखनी पड़ती ।' कष्ट से कराह कर उसने फिर कहा, 'शुष्ण प्रिय, उस कुत्ते से मुझे बचा लो —मरने से मैं नहीं डरती —आँखें जलाए जाने की पीड़ा का भी मुझे भय नहीं है, किन्तु तुम्हारी पीड़ा का बोध —मैं कल्पना में भी नहीं सह सकती शुष्ण । —इधर देखो, मेरे हाथों में शक्ति नहीं रह गई है', और सिर को थोड़ा पीछे ठेल कर उसने अपनी कम्बु-ग्रीवा को थोड़ा उभार दिया, फिर दोनों हाथों से उसे जकड़ कर भींचने का संकेत किया और कहा, 'दुःख मत करना । उस अन्त से मेरा यह अन्त अत्यन्त सुख-कर है शुष्ण', और उसने अपनी अश्रुपूरित आँखें बन्द कर लीं । शुष्ण ने सेलकेत का मनोभाव समझ लिया । और उपाय भी क्या है ?—उसने मन को दृढ़ किया, एक दृष्टि चारों ओर निक्षिप्त की —सभी इन्द्रासन पर प्रस्तुत किसी नए उपसर्ग पर ध्यान लगाए हुए थे । शुष्ण ने अपना दाहिना पैर उठाकर सेलकेत की उठी हुई ग्रीवा पर रख दिया । सेलकेत के हाथों की सम्पुटि उसे पहले से ही थामे हुए थी । शुष्ण ने शरीर की सारी शक्ति लगाकर पैर को दबाया, दबाता चला गया यहाँ तक की सेलकेत की आँखें फैल गईं और जीभ उसके खुले मुँह से बाहर लटक आई । प्राणों का हंस तो पहले से ही गले में अटका हुआ था, थोड़ी सी सन्धि मिलते ही वह उड़ चला । शुष्ण ने देखा और उसकी आँखें सेलकेत के शव को अर्घ्य प्रस्तुत करने लगीं । उन आँसुओं को पोंछने के लिए दूसरों के हाथों की कौन कहे, उसके स्वयम् के हाथ आगे नहीं बढ़ सकते थे ।

किसी को पता न चला, क्योंकि तब तक इन्द्रासन पर एक नया अभिनय प्रस्तुत हो गया था । देवराज दोनों को दिखा देना चाहता था कि सेलकेत को पकड़ाने वाला किस तरह मुक्त-हस्त पुरस्कृत किया जा रहा है । मरना तो उनको है

कुत्ते की मौत, पर उसके पहले अपनी मानवीय-भावनाओं का हनन भी तो देख लें। उसके आदेश के अनुसार वह युवक देवराज के सम्मुख प्रस्तुत था, जिसने सेलकेत के पलायन की चेष्टा को विफल कर दिया था। देवराज के सम्मुख खड़ा हुआ वह भय से काँप रहा था, देवराज के कोप का क्रूर-उदाहरण उसके ठीक पीछे मूर्तिमान् है, अब वह कोई किम्वदन्ती का विषय नहीं है। यद्यपि घोषणा में उन्होंने कहा है कि वे उसे पुरस्कृत करेंगे, किन्तु उनके पुरस्कार और तिरस्कार के बीच सीमा-रेखा कहाँ है? इस क्षण वे शीतल हिम हैं तो दूसरे ही क्षण क्या वे प्रचंड अग्नि बनकर नहीं सुलग जाते?

'तुमको पहले कभी देखा नहीं युवक।' देवराज कह रहे थे, 'तुमने उस चंडी के पलायन की चेष्टा को व्यर्थ करके बड़ा सराहनीय कार्य किया है।—हम जानना चाहते हैं, कौन हो तुम?—कहाँ से आए हो? डरो नहीं। हम तुम पर प्रसन्न हैं, प्रीत हैं।'

'महामहेन्द्र, यदि अभय मिले तो मैं अपना परिचय प्रस्तुत करूँ।' दृष्टि नीची रखते हुए ही युवक बोला।

'अभय?' देवराज हँसे, 'अरे, हम तो तुम्हें पुरस्कार देना चाहते हैं।'

'महामहेन्द्र, मुझे पुरस्कार की अपेक्षा अभय की अधिक आवश्यकता है। आपका अभय ही इस सेवक का सबसे बड़ा पुरस्कार होगा।'

'अच्छा, हमने तुम्हें अभय दिया। पर तुम्हें भय क्या है, किससे है?'

युवक ने कृतज्ञता में दोनों हाथ जोड़ कर कहा, 'सेवक कृतार्थ हुआ देवाधिराज।—सबसे अधिक भय इस समय मुझे स्वयम् अपने से है। मैं दुर्योण के महाश्रेष्ठि अर्बुद का अनुचर वणि हूँ।'

देवराज आश्चर्य और क्रोध से चिल्लाए, 'वणि?—उस विश्वासघातक नराधम के विश्वस्त चर वणि तुम्हीं हो?—पर वणि को तो हमने इससे पूर्व भी देखा है।'

'देवराज की स्मृति अभिनन्दनीय है महा महेन्द्र।—इसीलिए मैंने निवेदन किया था कि सबसे अधिक भय मुझे स्वयं अपने से है।—मैं महाश्रेष्ठि अर्बुद का चर अवश्य हूँ। उनके विश्वासघात की बात मैं नहीं जानता देवाधिराज, किन्तु मैंने आपके या आपके गण के प्रति कभी विश्वासघात नहीं किया प्रभो! बल्कि सदैव आपकी सेवा ही करता रहा हूँ। महामहेन्द्र चाहें तो प्रमाण प्रस्तुत कर सकता हूँ।'

'हम जानते हैं।—किन्तु तुम्हारे स्वामी ने इस समय हमारे साथ जैसा विश्वासघात किया है, उसे हम कभी क्षमा नहीं कर सकेंगे।'

'मैं इस समय की परिस्थितियों को नहीं जानता भगवन् !—महानायक शुष्ण के इस अभियान से बहुत पहले मैं दुर्योण से प्रस्थान कर चुका था। यदि महाश्रेष्ठि अर्बुद ने सचमुच ही कोई विश्वासघात किया हो तो उसमें मेरी कोई भूमिका नहीं थी। यदि होती तो यहाँ महानायक शुष्ण को बन्दी करने की योजना मैं ही क्यों बनाता ?'

'क्या कह रहे हो वणि ?—उसकी योजना तुम्हारी बनाई हुई थी ?—जो कुछ कुत्स ने कहा, क्या वह मिथ्या है ?'

'सब नहीं भगवन् !—अश्वों का लोभ देकर मैं ही शुष्ण को रात्रि के अन्धकार में अकेले वट-वृक्ष तक ले आया था। आर्य कुत्स वहीं प्रतीक्षारत हमारे लौटने की राह देख रहे थे। हमारे वहाँ पहुँचते ही उन्होंने पीछे चुपके से आकर महानायक पर तीव्र गन्ध-प्रक्षालित वस्त्र डाल दिया, जिससे वे तत्काल अचेत हो गये। उन्हें बन्दी बना कर यहाँ ले आने में तब कोई कठिनाई नहीं हुई। अश्वपाल कैवर्त तथा गुहिल प्रमाण हैं महामहेन्द्र।'

'प्रमाण की हमें आवश्यकता नहीं है।—कुत्स को अवश्य थी, किन्तु उसका संशयास्पद व्यवहार ही उसके मिथ्या को प्रमाणित कर रहा था।—समझ सकता हूँ वणि, तुम्हारे लिए यह कार्य असम्भव नहीं था।—और यहाँ भी उसकी भागती हुई पत्नी को रोक कर तुमने बहुत बड़ा कार्य किया है, नहीं तो कुत्स की हत्या सदा के लिए रहस्य ही रह जाती, और उस दुर्वृत्ता का आतंक भी बना रहता।'

'मुझे प्रसन्नता है देवाधिराज, कि मैं आपकी कुछ सेवा कर सका।'

'किन्तु इस भ्रम में न रहो वणि, कि मैं तुम्हारे स्वामी अर्बुद को क्षमा कर दूँगा।'

'यदि उन्होंने आपके साथ विश्वासघात किया है तो उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है स्वामिन्।'

'हमने अर्बुद को आश्वासन दिया था कि वर्तमान प्रशासन को पराजित कर हम उसके स्थान पर अर्बुद को हमारे संरक्षण में प्रतिष्ठित कर देगे, वह आश्वासन आज हम तुम्हें......'

—अपने आसन पर बैठे देवगुरु विचलित हो उठे थे। देवराज को बीच ही में रोक कर बोले, 'देवराज नदी-तट की वैसी उर्वर भूमि की हमारी अपनी आवश्यकता को आप भूलें नहीं। हमारी विषम खाद्य-समस्या का समाधान अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। उसे आर्यावर्त में मिलाना ही होगा !'

'आप ठीक कहते हैं देवगुरु, हमारा मस्तिष्क आज कुछ श्लथ-सा होता लग रहा है। प्रतिहारी से कहें, शीघ्र सोम प्रस्तुत करे।'

'पर देवराज, आपके लिए वह वर्जित है न ?'

'एकदम से नहीं। मात्रा ही तो कुछ कम करनी थी, आवेश में मैंने एकदम बन्द कर दिया। अश्विनीकुमार को भी उस समय कहाँ विदित था कि मस्तिष्क पर ऐसी घटनाओं के दबाव का प्रसंग भी आ सकता है ? और अभी तो बहुत कुछ देखना है न ! —अंगीठी आगई है न ?—शलाकाएँ तप्त की जाएँ तब तक।—आज तो वैसे ही समारोह का दिन है ! अश्विनीकुमार आज हैं भी नहीं ! बस, आज भर पी लेता हूँ, फिर नहीं।—प्रतिहारी, शीघ्र सोम-परिवेशन की व्यवस्था हो। मेरे चषक में एक मात्रा तीव्र-मैरेय की उसी में मिला देना।—हाँ तो देवगुरु, आप उस भूमि के लिए क्या कह रहे थे ?'

'देवराज, उस भूमि की हमारे गण को अपरिहार्य आवश्यकता होगी !'

'वणि भी तो हमारे गण का एक अंग होकर ही वहाँ शासन करेगा। क्यों न वणि ?'

'मैं सदा से आपका दास हूँ महा महेन्द्र।'

'ठीक है, देवगुरु की आशंका भी निर्मूल नहीं है। अच्छा देवगुरु, हमारी देखरेख में उस भूमि के पूर्व का खंड तो हमारे किसी प्रयोजन का नहीं है। वणि उसीका सर्वांश उपभोग करे !'

वणि ने सिर झुकाकर कहा, 'महा महेन्द्र देवराज की जय हो। किन्तु देवराज,..'

'कहो, क्या कहना चाहते हो ?—हमने तुमको अभय दिया है।'—प्रतिहारी देवराज के लिए एक बड़े पात्र में उनका पेय ले आया था। पात्र लेकर देवराज उसे गटागट पी गए और तृप्ति की साँस ली। एक दूसरा प्रतिहारी अन्य सदस्यों को भी सोम का परिवेशन कर रहा था। देवराज ने वणि की ओर देखकर कहा, 'तुम भी पियो न वणि। प्रतिहारी, एक सराम्भिष इसे भी दो।'

'देवराज, मैं तो कभी पीता नहीं।'

'तो तुम अभागे हो। किन्तु अब तो तुम आर्यगण में सम्मिलित हो रहे हो न ? दो, प्रतिहारी दो इसे भी। आज से वणि और उसकी उत्तर-पीढ़ियाँ भी द्विज हुईं। ठीक है न वणि ?—और तुम कुछ कह रहे थे न ? नदी-तट के पूर्व का सारा भूमि-खंड तुम्हें दिया।—अभी उस पर किसी का अधिकार तो नहीं है न ?—हो भी तो तुम्हें चिन्ता नहीं करनी होगी। जिस किसी के भी अधिकार में वह हो, हमें चाहे जैसा भयानक संघर्ष उससे करना पड़े, हम उसका आहरण करेंगे केवल तुम्हें देने के लिए।'

'मैं उपकृत हूँ देवराज। उस भूमि पर अभी किसी का भी अधिकार नहीं है, किन्तु आप शायद नहीं जानते, वहाँ तो विस्तृत बालु-राशि के सिवा विशेष कुछ नहीं है !'

'विस्तृत बालु-राशि ?—अरे। तुम भी शायद नहीं जानते, बालु-राशि में ही तो स्वर्ण-कण पाए जाते हैं ! यह तो अनायास तुम्हारे लिए वरदान हो गया !'

वणि अपना सिर खुजलाने लगा, विरोध करे तो भी कैसे ?—अभी कुछ ही क्षणों पहले उसे प्राणों के लाले पड़ रहे थे—किन्तु अभी देवराज प्रसन्न-मन हैं। यदि कुछ हो सकता हो तो वह इसी समय सम्भव है। साहस कर वणि ने कहा, 'महा महेन्द्र की कृपा का पार नहीं है। बालुका-कणों में स्वर्ण-कणों का प्राचुर्य तो अवश्य होगा, किन्तु उदर-पोषण के लिए शस्य-कण की खोज में हम कहाँ-कहाँ भटकते फिरेंगे ?—आप तो अनन्त दया के निधान हैं।'

देवराज पर सोम का प्रभाव स्पष्ट होने लगा था। वे मुस्कराकर बोले, 'अरे हम तुम्हारी पीठ पर ही तो विद्यमान रहेंगे। तुम हमें अपने स्वर्ण-कण देना, विनिमय में हम तुम्हें शस्य-कण देंगे। क्यों ठीक है न ? और मैंने तो सुना है, श्रमण-संस्कृति के अग्रदूत ये पणिक तो अपने श्रम से मिट्टी को भी स्वर्ण बना देते हैं। फिर तुम्हें भय ही क्या है ?'

'भय तो आपके रहते हो ही कैसे सकता है ? आपका अभय जो प्राप्त है मुझे ! नहीं, भय अपने लिए नहीं प्रभु किन्तु प्रेत-योनि से उद्धार करने वाली उत्तर-पीढ़ी की सुरक्षा का ध्यान रखना भी तो उचित है न। आपके यहीं तो सीखा है कृपानिधान, कि पुत्र से पिंडदान पाए बिना प्रेत-योनि से छुटकारा नहीं मिलता।'

देवराज मुस्कराए, 'अरे तुम तो जीवित ही अन्धकार में सहज विचरण कर शुष्ण जैसे वीरों के छक्के छुड़ा सकते हो, प्रेत हो जाने पर तो तुम्हारी गति सर्वत्र निर्बाध हो जाएगी। तुम अपनी सन्तान के शत्रुओं से भी सहज ही निपट लो।'

सोम का हलका-सा सरूर वणि पर भी होने लगा था। देवराज के आतंक की गाँठ धीरे-धीरे खुलती जा रही थी, और देवराज के परिहास को भी वह समझ रहा था। उसने कहा, 'मैं तो भगवन् श्रमण-संस्कृति का ही बीज हूँ, श्रम की साधना में विश्वास भी अक्षुण्ण है—श्रम के साधक के लिए श्रम-कण ही स्वर्ण-कण है—किन्तु आनेवाली पीढ़ी का भी क्या श्रम में विश्वास बना रहेगा ?'

देवराज ने हँस कर कहा, 'यह भविष्य की बात है ?— भविष्य की चिन्ता देवराज नहीं करते वणि ! देवगुरु तुम्हारी शंका का निवारण करेंगे। देवराज केवल वर्तमान को जानता है, केवल वर्तमान को।'

देवगुरु भी दो-तीन सराम्भि सोम चढ़ा चुके थे, और भविष्य मानो उनके कर-तल होता जा रहा था। गम्भीर होकर उन्होंने कहा, 'तुम्हारी आशंका यथार्थ है चिरंजीव, पर उसका उपाय वह पीढ़ी आप खोज लेगी। तुम्हारा यही तो भय है कि आनेवाली पीढ़ी श्रम की महत्ता भूल कर एक-दम आलस्य में न डूब जाए ?'

'आलस्य में डूब कर ही नहीं देवगुरु, ऐन्द्रिक-सुखों में डूब कर भी —'

इन्द्र ने बीच में ही रोक कर कहा, 'तुम ठीक कहते हो वणि, ऐन्द्रिक-सुखों पर केवल इन्द्र ही का अधिकार हो सकता है, अन्य किसी का नहीं । देवगुरु, ऐसे प्रवंचकों को निष्क्रिय करना होगा ।'

'वे स्वतः ही निष्क्रिय हो जाएँगे देवराज, आप चिन्ता न करें । और चिन्ता तुम्हें भी नहीं होनी चाहिए वणि । निष्क्रिय हो जाने का तात्पर्य यह नहीं कि स्वर्ण-हीन हो जाएँ । श्रम न रहे, पर स्वर्ण तो रहेगा न ? श्रम के द्वारा तुम जीवन-निर्वाह के साधन का ही तो उपार्जन करते हो !—कम-से-कम यहाँ तो तुमने यह भी लक्ष्य किया ही होगा कि जीवन-निर्वाह के साधन ही नहीं, स्वयम् श्रम का भी उपार्जन किया जा सकता है ।—समझे न ?'

'अहाहा ।—समझ गया गुरुदेव । बलिहारी है आपकी सूझबूझ की । उपार्जन, अर्थात् दूसरी श्रेणि । और प्रथम श्रेणि अर्थात् अर्जन । जो श्रम को भी क्रय कर ले वह अर्जन —वाह ।'

'और अर्जन का स्थूल प्रतीक क्या है जानते हो ? अपने आप में तो अर्जन सूक्ष्म-तत्व है, उसे स्थूल किया जा सकता है ।—इस स्थूलीकरण का नाम ही तो मानव-संस्कृति है ।'

'आप उसके स्थूल प्रतीक का परिचय दे रहे थे देवगुरु ?'

'वही तो कह रहा हूँ वत्स ।—वह है मुद्रा के रूप में ढला हुआ स्वर्ण, जिसे हम सब निष्क कहकर पहचानते हैं । उस पर देवराज की विजय-मुद्रा अंकित है ।

देवराज ने कहा, 'देवगुरु, वणि की सेवाओं के उपलक्ष्य में उसे महादेवी महालक्ष्मी की एक स्वर्ण प्रतिमा उपहार में दी जाए ।'

'महादेवी महालक्ष्मी ?' वणि ने आश्चर्य से पूछा, 'हमारी मातृदेवी...'

'तुम्हारी मातृदेवी बूढ़ी हो गई होगी वणि ।' देवराज ने कहा, 'हमारी यह महादेवी लक्ष्मी अक्षय-यौवना है । इसकी शक्ति अखूट, और इसके चमत्कार अनन्त हैं । पर स्वभाव से यह चंचल भी बहुत है । एकान्त-भाव से इसकी पूजा करने से ही यह प्रसन्न होती है । देवगुरु तुम्हें इसकी विधि और इतिहास भी बताएँगे, जिससे तुम सदा इसे अपने वश में रख सको ।'

देवगुरु ने कहा, 'स्थूल पूजा-विधि में तो अन्य पूजाओं से कोई अन्तर नहीं है वणि, अन्तर है केवल मानसिक-भावना में । उसके इतिहास से ही बहुत कुछ स्पष्ट हो जाएगा । महादेवी महालक्ष्मी हमारे पुरातन-पुरुष भगवान् विष्णु की पत्नी हैं । उन्होंने जब प्राचीन काल में प्रचंड दैत्यराज समुद्र को पराजित किया था, तो

उसके कोष से उन्हें चौदह रत्न प्राप्त हुए थे । महालक्ष्मी उसकी कन्या, उन्हीं चौदह रत्नों में से एक है, जिसे भगवान् विष्णु ने अपनी पत्नी बना लिया था ।'

'और शेष रत्न ?' वणि ने उत्सुक होकर पूछा।

'वे भगवान् ने अपने प्रिय जनों में वितरित कर दिए । एक महा गजराज ऐरावत और वैसा ही महा अश्वराज उच्चैःश्रवा उन्होंने देवराज को उपहार-स्वरूप दिया है ।'

'वे मैंने अपनी आँखों देखे हैं गुरुदेव । अद्भुत हैं ।--तब तो वह प्रतिमा भी अद्भुत होगी न ।'

'इसमें क्या सन्देह ? किन्तु जब प्रतिमा ही इतनी सुन्दर हो तो स्वयम् महालक्ष्मी कितनी सुन्दर और अभिराम होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है !'

'किन्तु महादेवी लक्ष्मी यदि विष्णु की पत्नी हैं तो उनकी प्रतिमा......'

देवराज ने मुस्कराकर कहा, 'महालक्ष्मी अक्षय-यौवना है न ! भगवान् विष्णु जबतक आप्त-यौवन और सक्रिय रहे, तब तक महालक्ष्मी उनकी दासी रही ! किन्तु जबसे सक्रिय-जीवन से अवकाश लेकर उन्होंने वैकुंठ के अपने क्षीर-सागर-आवास में विश्राम करना आरम्भ किया, तभी से महालक्ष्मी ऊबने लगी, और आखिर विष्णु को अपने आवास में अकेला छोड़कर निकल ही पड़ी । उसकी चंचलता पर क्रुद्ध होकर विष्णु ने उसे प्रतिमा बना डाला, प्रतिमा जो हिल-डुल भी नहीं सकती ! उनकी सेवा में अब जो लक्ष्मी है, वह अक्षय-यौवना तो नहीं है, किन्तु उन्हीं की तरह अक्षय-जीवना अवश्य है । और दोनों बूढ़े-बूढ़ियाँ परस्पर अपने-आप में मगन हैं, न किसी का लेना और न किसी का देना ! —पर यह जो प्रतिमा उन्होंने बना डाली, वह अवश्य अक्षय-यौवना है, और इसी लिए चंचला है !—एक बात का और ध्यान रखना वणि ! यह सौत नहीं सहन करती । इसे अपने वश में रखना हो, तो दया-माया-करुणा-भक्ति-श्रद्धा, सबको छुट्टी दे देनी होती है, और तब यह तुम्हें किसी का अभाव नहीं देगी । पीढ़ियों-दर-पीढ़ियों तुम समृद्ध होते चलोगे !—तुम उसे अपनी आराध्य देवी बना लो, और वह शीघ्र ही तुम्हारे लिए सारे संसार का सम्यक्-सार बन जाएगी, शेष सब कुछ मिथ्या हो जाएगा । चाहे तुम मरुस्थल में ही क्यों न रहो, वही सारे संसार का केन्द्र हो जाएगा, और सब दिशाओं में तुम्हारी तूती बोलने लगेगी । क्यों न देवगुरु ?'

'देवराज यथार्थ कह रहे हैं वणि ! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो । देवराज जिस पर प्रसन्न होते हैं, उसे किसी तरह का अभाव नहीं रहने देते। किन्तु सावधान वणि, जैसा कि देवराज ने कहा है, यह न भूल जाना, कि यह लक्ष्मी अत्यन्त चंचल है, इसका नाम ही चंचला है । यदि इसकी पूजा में जरा भी प्रमाद हुआ, या किसी

अन्य निष्ठा की ओर तुमने जरा भी आसक्ति दिखाई तो तत्काल तुम्हें लटकता छोड़कर यह चल देगी। जब तक यह तुम्हारे पास है, तब तक तुम राजा न सही, राजाओं के राजा बने रहोगे, अर्थात् राजाओं का निर्माण तुम्हारी शक्ति से होगा, और राजागण तुम्हारे हाथ की कठपुतली बनकर रहेंगे —अरे देवराज, वह उधर क्या हो गया ?'

—सारी सभा का ध्यान वणि और देवराज तथा देवगुरु के बीच चल रहे इस मनोरंजक वार्तालाप की ओर तो बँटा हुआ था ही, इसी बीच देवराज के हर्षोल्लास के फलस्वरूप सोम-परिवेशन में भी सभी सदस्य सब कुछ भूलकर निमग्न हो गए थे। किन्तु जिसको आतंकित और प्रभावित करने के लिए यह सारा अभिनय किया जा रहा था, वह शुष्ण इस उल्लास-उत्साह से सर्वथा असम्पृक्त ही रहा। यही नहीं, इस बीच उसने सेलकेत की करुण मृत्यु के अवसाद पर विजय पा लेने की भी सफल चेष्टा कर ली। प्रतिहारी अँगीठी ले आया था, और उसमें पाँच-छह शलाकाएँ गर्म की जा रही थीं। किसी को पता नहीं चल सका था कि इस बीच सेलकेत उनकी पहुँच से बहुत दूर अलक्ष्य-लोक की यात्रा पर चल पड़ी है।

वक्ष में उठती हुई एक लम्बी साँस को शुष्ण ने भीतर ही दबा लिया। चाहे जितना निर्मम और क्रूर होना पड़ा हो उसे, किन्तु जैसे, सेलकेत तो इन कुत्तों से मुक्त हुई। पर क्या शुष्ण को ही कुत्ते की मौत मरना होगा ? सुख की न सही, किन्तु जैसे सन्तोष की मृत्यु वह सेलकेत को दे सका है, क्या सेलकेत यदि बच रहती तो वैसे सन्तोष की मृत्यु वह शुष्ण को दे पाती ? —कौन है और इस सभा में जिस पर वह निर्भर करे ? —यदि कुछ करना है तो उसे स्वयम् ही करना पड़ेगा। —किन्तु करे भी तो क्या ? केवल पैर ही तो मुक्त हैं उसके ! यदि किसी तरह प्रहरियों के हाथ से रस्सी छूट जाए तो ? —सोम प्रहरियों ने भी पिया है। यदि वह किंचित् शिथिलता का अभिनय करे, तो वे उसकी ओर से और भी उदासीन हो सकते हैं। देवराज की कहानी में तो वे खोए हुए हैं ही !

—मानो ऊबे हुए शुष्ण को तन्द्रा सताने लगी, और वह खड़ा-खड़ा ही रह-रह कर लहराने-लड़खड़ाने लगा। एक प्रहरी ने उसका कन्धा झकझोर कर कहा, 'अरे भाई, सावधान रहो। देवराज देख लेंगे तो.........'

सावधान होकर शुष्ण ने कहा, 'क्षमा करना भाई, किन्तु ऊब तो तुम भी रहे हो न ?'

सहानुभूति का स्वर पाकर प्रहरी भी पिघल गया। बोला, 'क्या करें भाई। हम लोग सेवक जो ठहरे।' और फिर सबकुछ पूर्ववत् निश्चल शान्त हो गया। उनका ध्यान देवराज की ओर चला गया। अपना सोम का भाग ग्रहण करने के

लिए सभी उत्सुक हो उठे, सभी की दृष्टि और ध्यान सोम-पात्र के लिए वितरण करने वालों की ओर लग चुके थे। सभा में न जाने किस बात पर जोर का ठहाका चल रहा था, कि शुष्ण ने अपने शरीर की सारी शक्ति लगाकर एक ऊँची उछाल मारी। जैसा उसने सोचा था वैसा ही हुआ, असावधान प्रहरियों के हाथ से रस्सी छूट गई, और शुष्ण एक क्षण का भी विलम्ब किए बिना जलती हुई अँगीठी की ओर लपका। एक ही निमिष में उसने अँगीठी के पायों में पैर उलझाकर सामने की ओर पूरी अँगीठी उछाल दी। शलाकाएँ, अंगारे, और गर्म राख चारों ओर बिखर गई ! कई सदस्य झुलस गये, कुछ के वस्त्रों ने आग पकड़ ली, उसे बुझाने के लिए वे भागे। सारे प्रकोष्ठ में भगदड़ मच गई। जिसने अपने स्थान पर खड़े रहने की चेष्टा की, वह किसी से धक्का खाकर या टकरा कर नीचे गिर पड़ा। किसी ने देखकर उससे बच निकलने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके पीछे वाले ने उसे कुचल ही दिया। सबको अपनी-अपनी पड़ गई थी।

अपने प्रयत्न की सफलता पर ध्यान देने का अवकाश शुष्ण को नहीं था। भाग कर किधर से निकले ?—पैर उसके मुक्त हैं, पर द्वार तो सभी बन्द हैं। केवल इन्द्रासन के पास वाला द्वार खुला है। प्रतिहारी उसी द्वार से तो पहले अँगीठी और फिर बाद में सोम आदि पान के उपस्कर लाये थे ! और कोई उपाय न देखकर शुष्ण उसी ओर लपका ! कृतान्त के समान अपनी ही ओर शुष्ण को आता देखकर वणि के मुँह का रक्त उड़ गया, किन्तु शुष्ण का लक्ष्य वह नहीं था। एक सदस्य की ओट में सरक कर ही वणि सुरक्षित हो गया।

किन्तु देवराज सम्हल चुके थे उनके हाथ में उनका अमोघ वज्र आ चुका था, और उनकी दृष्टि भाग निकलने का प्रयत्न करनेवाले अपराधी शुष्ण पर जम गई थी। द्वार सब बन्द थे ही । निकल भागने का प्रयत्न करेगा तो इधर ही आने के अतिरिक्त कोई विकल्प उसके पास नहीं है। और वे बिलकुल तैयार हैं। सभासदों को दिखा देंगे कि वे अभी वृद्ध नहीं हुए हैं।—और जैसे ही शुष्ण प्रहार की सीमा में पहुँचा कि देवराज के वज्र ने अपनी भूमिका निभाई। शुष्ण के कन्धे पर बिजली कौंध गई। उसका वेग कुछ शिथिल हुआ कि वज्र का दूसरा प्रहार सीधे उसके मस्तक पर हुआ। और लहू-लुहान सिर लिए वह नीचे गिरा, और गिरा सदा के लिए ! उसके नीचे एक सदस्य गिरते-गिरते बचा।—चेतना के अन्तिम क्षण में शुष्ण ने अवश्य बोध किया होगा कि स्वयम् उसकी मृत्यु भी, सुख की चाहे न रही हो, सन्तोष की तो रही ही है। वह वीर की मृत्यु है, कुत्ते की नहीं !

□

२१

परिवर्तन हो तो समय के अवधारण की सौ टंच कसौटी है। सूर्योदयास्त, चन्द्र-चंक्रमण आदि मनुष्य के नियमित दृग्विषय हो गए हैं, अतः इन परिवर्तनों के बोध में उसके लिए दिन और मास की कालिक इकाइयाँ रूढ़ हो गई हैं। सूर्य उत्तर या दक्षिणाभिमुख हो तो ऋतुएँ बन जाती हैं। परिवर्तन की अन्तरावधि में यत्किंचित् भिन्नता का कोई प्रभाव नही पड़ता। ध्रुव-प्रदेश और विषुव-प्रदेश के सूर्योदयास्त में पर्याप्त भेद होने पर भी 'दिन' की संज्ञा दोनों ही स्थानों पर उदयास्त का एक ही अभिप्राय प्रकट करती है। उसी तरह न्यूनाधिक होने पर भी, जन्म और मृत्यु के बीच जो इकाई है उसे हम जीवन कह सकते हैं, और यदि यह इकाई व्यक्ति-सापेक्ष्य है तो वर्षों में इसे नापने का कोई अर्थ नहीं है। मूलतः स्थिति-विशेष के परिवर्तन का अवधारण ही समय का बोध और परिमाप हो, तो दुर्योण तथा पणिकों की अन्य बस्तियों के लिए बीते हुए इन तीन माहों को तीन वर्ष या तीन युग भी कहा जा सकता है! सूर्य-चन्द्र-ऋतुएँ पृथिवी पर चाहे तीन माह की अवधि ही अंकित कर गए हों, किन्तु सिन्धु-तटवासी इन पणिकों के लिए जितना परिवर्तन घट गया है, वह युगों की प्रतीति ही देता है।

तब सम्वाद मिला था कि महानायक शुष्ण और उसकी वीरांगना पत्नी सेलकेत ने दाशराज-युद्ध के विजेता परम-प्रतापी महाराज सुदाय को ऐसी करारी पराजय दी है, कि उन्हें प्राण बचा कर भागना मुहाल होगया था। उद्देश्य पूरा हो जाते ही अभियान को लौट आना था। किन्तु उद्देश्य की सीमा बढ़ गई, विजय की आकांक्षा पूरी होते ही महत्वाकांक्षा बन गई और शुष्ण स्वप्न देखने लगा कि पराजित महाराज सुदास को बन्दी बना कर क्यों न दुर्योण ले आया जाए? उसे विदित नहीं था कि पंछी इसके पहले ही अपने नीड़ को उड़ चुका है। फिर अघटनीय भी घटित हो गया, एक सामान्य से पणिक ने, वणि ने विश्वासघात किया और शुष्ण को उसके चिरशत्रु इन्द्र का बन्दी बना डाला! वीरांगना सेलकेत अपने प्रियतम की खोज में प्राणों को हथेली पर लेकर वृषभ के सहारे ही नदी पार कर गई। तब से दोनों का आज तक कोई समाचार नहीं है। कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करने के बाद अहीशुव के नेतृत्व में उनका गुल्म जब निराश लौट रहा था, तो इन्द्र के आक्रमण का लक्ष्य हो गया। हताश और अनाथ सैन्य-दल को

लेकर बेचारा अहीशुव कब तक और कितना-सा प्रतिरोव कर पाता ?—देखते ही देखते अच्छी खासी विजय पराजय में बदल गई। युद्ध में जो काम आए वे धरा-धाम से एकदम धुल-पुँछ गए, किसी की स्मृति में रह गए हों तो उसका प्रमाण क्या ? जैसे वह विजय हुई ही नहीं !—बर्बर आर्यो की परम्परा देखते हुए यह आशा करना व्यर्थ है कि शुष्ण को उन्होंने बन्दीगृह में जीवित बचा रखा हो ! किन्तु वह मिस्र-कन्या वीरांगना सेलकेत क्या हुई ? वह सगर्भा थी। जिस तरह वह वीरांगना थी, उसी तरह वीरमाता बनने की भी उसे साध थी। जीवित हो, तो उसे अब तक माँ बन जाना चाहिए। किसी जंगल में दुर्दशाग्रस्त भटक तो नहीं रही है ?—कहीं मृत्यु के उस पार जाकर, यदि पुनर्जन्म होता हो तो स्वयम् किसी को माँ का गौरव देने के लिए प्रस्तुत हो गई हो ?

मृगम्मदा का अभियान भी सफल हो गया था, किन्तु उसकी परिणति भी विफलता में होनी थी ! वसिष्ठ ने मृगम्मदा को दिया अपना वचन भंग नहीं किया, और इलिवश को भी क्या दोष दिया जाए ? हरयूपिया के मोर्चे पर महापणिक को बतलाया था उसने। अकस्मात् उसे इतने अश्व मिल गए थे, महाराज सुदास अपनी सेना लेकर पश्चिम-विजय के लिए चले गए थे। पीछे रह गए अकेले वशिष्ठ, ऋषि-कर्म में व्यस्त, उनसे कैसे प्रभावशाली प्रतिरोध की आशंका हो सकती थी ? फिर महादेवी मृगम्मदा ने उन्हें उलझा भी तो रखा होगा ? सुदास के राज्य को जय करने का इससे अधिक और क्या सुयोग हो सकता था ?—शास्त्र ही नहीं, शस्त्र-ज्ञान में भी निष्णात वसिष्ठ स्वयम् ही वहाँ की महती शक्ति हैं, यह तथ्य इलिवश कहाँ से समझ पाता ?—और बाजी तो शुद्ध संयोग मार ले गया न ! मृगम्मदा और विश्वरथ की भेंट हो जाती तो न इलिवश एकाएक वह दुस्साहस करता, न वसिष्ठ और विश्वरथ के बीच चिरन्तन शत्रुता के बीज पड़ते !—विश्वरथ का क्रोध तो सचमुच ही अकल्पित था। अब उपहार दी गई गाय रस्सी तुड़ा कर वापिस अपने मूल स्वामी के पास लौट आए तो इसमें बेचारे वसिष्ठ का क्या अपराध ? इसीको बहाना बना कर विश्वरथ का वसिष्ठ के आश्रम को आग लगा देना कैसे समीचीन कहा जा सकता है ? सुना है, उसने वसिष्ठ की उस कामधेनु गाय के अतिरिक्त कई श्रेष्ठ गायों की हत्या करवा दी !—यही सन्तोष है कि इधर विश्वरथ को, आचार्य गाधि के बावजूद, कोई पणिकों का पक्षधर नहीं मानता। महाराज सुदास के कान भर कर वसिष्ठ को उनसे अलग करने में भी विश्वरथ सफल हो गया है, किन्तु पणिकों को इससे स्पष्ट लाभ क्या है ?

ठीक समय पर हरयूपिया पहुँच कर इलिवश ने अवश्य अपनी क्षिप्रता की क्षतिपूर्ति कर दी। मृगम्मदा ने पहले ही यह सद्भाव वसिष्ठ के मन में पैदा कर दिया था, जिससे इलिवश को संघर्ष में अश्वों के अतिरिक्त और कोई हानि नहीं हुई, शिक्षित

अश्वारोहियों के अभाव में उपलब्धि के स्थान पर वे अपलब्धि ही प्रमाणित हो सकते थे ! लज्जित-मुँह दुर्योण लौटने की अपेक्षा उसने पास ही हरयूपिया लौटना अधिक श्रेयस्कर समझा, और यही उसके लिए वरदान हो गया ! उसके पहले मृगम्मदा हरयूपिया में सुष्प और चुमुरि को सावधान कर आई थी । वसिष्ठाश्रम से लौटते समय मार्ग में चायमान की सेनाओं की गतिविधि से वह सतर्क हो उठी थी । इलिवश के वहाँ पहुँचने की सम्भावना का तो किसी को पता ही नहीं था, और हरयूपिया को सहायता की आवश्यकता थी ही । दुर्योण से समुचित सैन्य-सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से ही मृगम्मदा हरयूपिया अधिक न ठहर कर दुर्योण चली आई थी ! महापणिक के सामने अवश्य बड़ी दुविधा थी । कुभा-तट से महानायक के तब तक कोई सम्बाद नहीं आए थे । इलिवश भी बाहर गया हुआ था, और उसकी गतिविधि का उन्हें कुछ भी पता नहीं था । हरयूपिया सहायता भेजी तो जाए, किन्तु किसके नेतृत्व में भेजी जाए ? दृमीक के चले जाने से तो कर्मशाला का काम ही ठप्प हो जाता । महापणिक स्वयम् जाएँ तो दुर्योण को अकेले दृमीक के भरोसे छोडना उचित न होता । मृगम्मदा स्वयम् बहुत आतुर थी, किन्तु जिस गर्भावस्था में वह थी, उसमें उसको नेतृत्व का भार नहीं दिया जा सकता था ! इसके अतिरिक्त अभी जो वह अश्वपीठ पर वसिष्ठाश्रम, हरयूपिया आदि की लम्बी यात्राएँ कर आई है, इससे वह थक भी कम नहीं गई है । उसे विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता है । चली वह समस्या भी निपटी ! पीछे दुर्योण की रक्षा का भार मृगम्मदा ने लिया, सहायता के लिए दृमीक था ही । अतः महापणिक बृबु स्वयम् एक बार और एक अभियान लेकर हरयूपिया पहुँचे ।

अमावस्या की वह काल-रात्रि भूले नहीं भूलती ! महाश्रेष्ठि अर्बुद के व्यर्थ के ऊहापोह में यदि विलम्ब न होगया होता तो महापणिक का दल अमावस्या से एक दिन पहले ही हरयूपिया पहुँच गया होता, और तब बहुत सम्भव है; चायमान को आक्रमण का साहस ही नहीं होता । चायमान का आक्रमण हरयूपिया में चाहे अप्रत्याशित न हो, पर आकस्मिक तो था ही । बेचारे चुमुरि को तो व्यूह-रचना का भी अवसर नहीं मिला और उसकी चुपके से हत्या कर दी गई ! यह भी संयोग ही है कि जितना आकस्मिक चायमान का आक्रमण था, उससे अधिक आकस्मिक, और अप्रत्याशित भी, इलिवश का आक्रमण हुआ चायमान के ऊपर । जब तक महापणिक का दल युद्धस्थल पर पहुँचा, तब तक तो इलिवश स्वयम् चायमान का सिर काट कर चुमुरि के वध का प्रतिशोध ले चुका था । कुछ ही घटिकाओं के संघर्ष के बाद प्रभात होने के पहले ही चायमान की बची हुई सेना अँधेरे में भाग कर ही अपने प्राण बचा सकी । अभी तो इलिवश को चुमुरि के स्थान पर हरयूपिया ही छोड़ कर महापणिक दुर्योण लौट आए हैं । वहाँ सैनिक मोर्चे को और अधिक सम्बलित, संगठित और दृढ़ करना है । महापणिक अपने

इस अभियान को भी उतना सफल इसलिए नहीं मानते कि इस अवसर पर हरयूपिया में उनकी भूमिका प्रतिरोधक न रह कर प्रत्याक्रामक ही रही। यदि वे समय पर पहुँच जाते तो यह रक्तपात बच सकता था। चुमुरि एक निर्भर-योग्य, प्रबल और कुशल प्रशासक था। उधर आर्य-सेना में अभ्यावर्ती चायमान की क्षति ऐसी न होगी कि देव-राज चुप बैठ जाए"।—प्रतिहिंसा हिंसा को रोकती नहीं, वह उसे घोरतर ही करती है।

महाश्रेष्ठि अर्बुद की अभिवृत्ति प्रचंड-विरोध की हो ही जानी थी. वह प्रतिद्वन्द्विता और स्पष्ट संघर्ष की नहीं हुई; यही आश्चर्य की बात है। स्वभाव से ही वे युद्ध-जीवी नहीं, अर्थ-जीवी हैं, शायद इसीलिए वे विक्षुब्ध होकर भी संयत रहे। वणि को लेकर उनसे जो झड़प हो चुकी थी, वह वृबु भुलाए नहीं भूल पाता।

कुभा के तट से आए हुए सन्देशवाहक को ही वृबु ने महाश्रेष्ठि के सन्मुख प्रस्तुत कर दिया था। वह जब सारा प्रकरण सुना चुका, तभी महापणिक ने महाश्रेष्ठि से वणि की भूमिका के बारे में पूछा था। मृगम्मदा भी तब वहाँ विद्यमान थी।

मृगम्मदा की उपस्थिति में इस प्रश्न का पूछा जाना महाश्रेष्ठि को अपना अपमान लगा हो, उन्होंने महापणिक से ही प्रतिप्रश्न किया, 'क्या महापणिक मेरी कैफियत चाहते हैं?'

महापणिक ने नम्रता से कहा था, 'यह कैसी बात कह रहे हैं महाश्रेष्ठि?—कैफि-यत और आप जैसे वरिष्ठ, उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक से?—भूल न समझें। यह तो आप भी नहीं चाहते होंगे कि हमारे महानायक इस तरह बन्दी बना लिए जाएँ। मैं तो इस प्रकरण में केवल वणि की ही भूमिका स्पष्ट करवाना चाहता था। यहाँ आपके अतिरिक्त और तो कोई हैं नहीं, जो उसके बारे में कुछ साधिकार बता सके।'

किन्तु मृगम्मदा ने कुछ और भी कठोर होकर कहा; 'आपके लिए यह रोष की बात हो गई, यही आश्चर्य की बात है महाश्रेष्ठि।—वणि आपका विश्वस्त अनुचर है, अपने किसी भी कार्य के लिए आदेश आप ही से प्राप्त करता है, ऐसी मान्यता स्वाभाविक है। वह अपने हर काम के लिए आपके प्रति उत्तरदायी तो है ही। या यह भी नहीं?'

'क्या आप यह कहना चाहती हैं कि मेरे आदेश से वणि ने महानायक को बन्दी बनवा दिया?'

सूत्र महापणिक ने पुनः अपने हाथ में लिया और कहा, 'न तो महादेवी यह कहना चाहती हैं, महाश्रेष्ठि, न मेरी या उनकी जिज्ञासा का कहीं यह अभिप्राय ही है! यदि यह जिज्ञासा आपको अरुचिकर लगी हो तो इसे रहने दें। मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ!

किन्तु आगे अब हमें क्या कदम उठाना चाहिए इस विषय में तो आपके प्रौढ़-परामर्श का लाभ मिलेगा न ?'

'मैं जानता हूँ महापणिक, परामर्श का विषय गौण है ! और मेरा परामर्श चाहते भी हों तो वह आपकी जिज्ञासा, प्रश्न, अभियोग—जो भी कहना चाहें, उससे असम्पृक्त नहीं हो सकता ! महानायक के बन्दी बनाए जाने में वणि की जो भी भूमिका रही हो, प्राथमिक तथ्य क्या यह नहीं है कि महानायक ने हमारी घोषित अनाक्रमण-सन्धि का उल्लंघन किया है ?'

'घोषित अनाक्रमण-सन्धि ?—महाश्रेष्ठि, आप कहते क्या हैं ?' मृगम्मदा अपने आपको रोक नहीं सकी ।

'घोषित न सही, पर विवक्षित तो थी ?' महाश्रेष्ठि ने कहा ।

मृगम्मदा ने बृबु की ओर देखा । क्या उसकी अनुपस्थिति में ऐसी कोई सन्धि हुई है ?

बृबु ने उत्तर दिया, 'ऐसी किसी सन्धि का किसी के साथ अवसर ही कब आया है महाश्रेष्ठि ? हाँ, इसे आप हमारी उद्दिष्ट नीति कहें तो मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है ।'

महाश्रेष्ठि ने मुस्कराना चाहा, पर मुस्करा न सके । बोले, 'विशेष सन्धि के प्रसंग में न हो तब तक उद्दिष्ट नीति क्या पालनीय नहीं होती ?'

'आप कहना क्या चाहते हैं ?—स्पष्ट कहें न !'

'वह क्या मैं कह नहीं चुका ?—श्रमण-संस्कृति की सामान्य-धारणा के विरुद्ध जब आप लोगों ने स्वयम् आक्रमण की नीति स्वीकार कर ली तो उसके आनुषंगिक परिणामों से कैसे बचे रह सकते हैं ?'

'किन्तु इस आक्रमण की नीति से, महानायक को बन्दी बनाने के प्रकरण में वणि की भूमिका का क्या सम्बन्ध है ?' मृगम्मदा ने पूछा, और उसके चेहरे पर क्षिप्रता ही नहीं, उग्रता भी झलकने लगी थी, 'इससे तो कोई यह समझने की भूल भी कर सकता है महाश्रेष्ठि, कि वणि को अपनी भूमिका के लिए चाहे आपके आदेश प्राप्त न हों, किन्तु आपका आशीर्वाद तो प्राप्त था ही ! मैं या महापणिक न भी चाहें, किन्तु दुर्योण तो इसका स्पष्टीकरण चाहेगा !'

यह स्पष्ट अभियोग था । एक क्षण के लिए तो अर्बुद स्तम्भित हुआ, किन्तु शीघ्र ही अपनेको सम्हाल कर बोला, 'आप यह क्यों भूल जाती हैं कि मैंने उसे आदेश दिया था अश्व-संग्रह के लिए आपही लोगों के विशेष अनुरोध और आशीर्वाद के कारण ?'

'तो क्या आपके आदेश अश्वों के विनिमय में स्वयम् महानायक का सौदा कर देने के थे ?' मृगम्मदा ने तमक कर पूछा।

महाश्रेष्ठि ने भी तिलमिला कर कहा, 'महापणिक की उपस्थिति में मैं और किसी के व्यर्थ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हूँ।'

महापणिक को बोलने का अवसर न देकर मृगम्मदा ही उबल पड़ी, 'महाश्रेष्ठि, यह क्यों भूलते हैं कि हरयूपिया की यात्रा के पूर्व उन्हीं की अनुशंसा पर महापणिक मुझे विधिवत् अपना स्थानापन्न नियुक्त कर गए थे, वे आदेश अभी तक वापिस नहीं लिए गए हैं। उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि परम्परानुसार महापणिक की उपस्थिति में भी उनका प्रतिकर्ता अधिकार-च्युत नहीं हो जाता, जब तक कि वे स्वयम् हस्त-क्षेप न करें।'

महापणिक को हस्तक्षेप करना पड़ा, 'महादेवी कुछ उत्तेजित हो गई हैं महाश्रेष्ठि! महानायक की पत्नी महादेवी सेलकेत उनकी अन्यतम सहेली हैं न ?'—उनके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। किंतु महादेवी उर्वशी की आशंका को निर्मूल तो नहीं कहा जा सकता। महानगर के नागरिकों के समाधान के लिए उसका कुछ उत्तर तो होना चाहिए।'

'तो महापणिक नागरिकों की परिषद् क्यों नहीं आमन्त्रित कर लेते ? वहां सभी की आशंकाओं को निर्मूल किया जा सकेगा, और इसका निर्णय भी सदा के लिए हो जाना चाहिए कि हम युद्धकाम हैं या शान्तिकाम ?—नागरिक ही नहीं, उस परिषद् में परम्परानुसार हमारे शास्ता श्रमण-गण भी हों।' महाश्रेष्ठि ने कहा था।

'उसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है महाश्रेष्ठि ?—किन्तु इस समय हमारे लगभग सभी नेता तो अनुपस्थित हैं ?'

'जो अनुपस्थित हैं; वे ही तो युद्धकाम हैं! और उनका प्रतिनिधित्व जब स्वयम् महापणिक कर रहे हों तो उनकी अनुपस्थिति से क्या अन्तर पड़ जाता है ?' महाश्रेष्ठि ने कहा।

मृगम्मदा ने मुस्करा कर कहा, 'दुर्योण के नागरिकों का आप अविश्वास न करें, न वे युद्धकाम हैं, न शान्तिकाम। वे तो सर्वथा निष्काम हैं!—किन्तु जहाँ तक महापणिक के प्रतिनिधित्व का प्रश्न है, क्या वे आपका प्रतिनिधित्व नहीं करते ? स्मरण है न, उनके निर्वाचन में आपकी प्रमुख भूमिका रही है!'

'जब तक वे हमारी अनाक्रमण-नीति में विश्वास रखते थे, तब तक थे हमारे प्रतिनिधि।'

'उस नीति में अब भी हमारा निष्कपट विश्वास है किन्तु...'

'इसका निर्णय परिषद् करेगी।' महाश्रेष्ठि ने बीच ही में कहा।

वृबु ने कहना आरम्भ किया, 'परिषद् ही का क्यों महाश्रेष्ठि, यदि आपका भी—और आपका ही क्यों? दुर्योण के किसी भी नागरिक का यदि मुझमें विश्वास न हो—'

मृगम्मदा ने वृबु के कथन को पूरा नहीं होने दिया। उसने मुस्करा कर कहा, 'तो विभांडक वृबु के स्थान पर महाश्रेष्ठि अर्बुद महापणिक बन जाएँ। यही न?—आप दोनों भूल रहे हैं महाशयो, कि यह आपात-स्थिति है। न इस समय परिषद् बुलाई जा सकती है, न किसी को अपने दायित्व से मुक्ति लेने का अधिकार है। इस समय समस्या प्रशासन की नहीं, प्रतिरक्षा की है, और महानायक की अनुपस्थिति में प्रतिरक्षा का सम्पूर्ण दायित्व मेरा है। मेरा सैन्य-दल मेरे संकेत पर कुछ भी करने में संकोच नहीं करेगा। दुर्योण के नाम पर, सिन्धु-तट वासी सैन्धवों की प्रतिष्ठा के नाम पर, मैं महापणिक और महाश्रेष्ठि से प्रार्थना करना चाहती हूँ कि इस समय वे अपने व्यक्तिगत मतभेदों को बाहर न आने दें, और आपात-अधिकारों के प्रयोग का अवसर न दें!'

स्पष्ट ही महाश्रेष्ठि भयार्त होते जान पड़े थे, और महापणिक ने स्थिति सम्हाली थी यह कह कर, 'महादेवी उत्तेजित न हों। महाश्रेष्ठि को हमें चारों ओर से अकस्मात् घेर लेने वाली विषम परिस्थितियों का अनुमान नहीं है, इसीलिए वे हमारी अपरम्परित गतिविधि से कुछ शंकित-चित्त हो गए हैं।—मैं मिथ्या नहीं कह रहा न महाश्रेष्ठि?'

'इससे भी कहीं अधिक विषम परिस्थिति आज सारी मनुष्य-जाति की है महापणिक, और आश्चर्य यह है कि हम उसे सहज ही अनदेखा करते जा रहे हैं।' महाश्रेष्ठि ने आत्मस्थ होकर कहा।

'महाश्रेष्ठि उन परिस्थितियों को बताने की कृपा करेंगे?'

'कल ही महाश्रमण पद्मकोटि बता रहे थे—आप लोगों को शायद मालूम नहीं है, मेरे अपरान्त-उद्यान में आजकल महाश्रमण पद्मकोटि चातुर्मास-विहार कर रहे हैं।'

'महाश्रमण पद्मकोटि?' वृबु ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, 'यह नाम तो पहले कभी नहीं सुना गया। कहाँ से पधारे हैं, और कब से हैं वे यहाँ?—क्या उनका नियमित व्याख्यान होता है?' महापणिक के मुँह पर चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट हो उठी थीं।

महाश्रेष्ठि बोले, 'महापणिक जब सैन्य-दल लेकर हरयूपिया गए हुए थे, तभी महाश्रमण अपने एक शिष्य के साथ परिव्रजन करते हुए इधर आ निकले थे ! सैनिक-अभियान की बात सुन कर ही उन्हें बड़ा क्षोभ हो गया था, और वे इस भूमि पर जल ग्रहण तक के लिए तैयार नहीं हुए। यह तो मैंने बहुत अनुनय-विनय करके किसी तरह उन्हें मनाया तो....'

मृगम्मदा ने पूछा, 'किन्तु चातुर्मास प्रारम्भ हुए तो दो माह से भी अधिक हो गए हैं महाश्रेष्ठि, और आप कह रहे हैं, जब महापणिक हरयूपिया गए हुए थे तब आगमन हुआ उनका ?'

इतस्ततः करते हुए अर्बुद ने उत्तर दिया, 'अब मैंने कोई आपके लिए धटी-पल की गणना करके तो रक्खी नहीं है। चातुर्मास का यह तात्पर्य तो नहीं कि कोई साधु-सन्त पैर सिकोड़ कर एक ही स्थान पर बैठ रहे ! रमते योगी ही तो ठहरे। मैंने विनय की, और उनका अनुग्रह है कि मान गए।'

'तो क्या इसीलिए आप परिषद् में महश्रमणों को भी आमन्त्रित करने पर बल दे रहे थे ?—इन दिनों और किसी साधु-सन्त का यहाँ चातुर्मास-बिहार का समाचार तो नहीं है।'

महाश्रेष्ठि क्या उत्तर दें, समझ नहीं पा रहे थे। उनकी समस्या बृबु ने हल कर दी जब उसने पूछा, 'महाश्रमण किस परिस्थिति का उल्लेख कर रहे थे महाश्रेष्ठि ?'

बड़े ही दार्शनिक भाव से महाश्रेष्ठि कहने लगे, 'बहुत ही गम्भीर तथ्य उद्घाटित किया था उन्होंने। कितना बिडम्बनापूर्ण है यह जीवन, समझ कर भी हम समझना नहीं चाहते !—हम सब एक गहरे अँधेरे कुएँ में गिरे पड़े हैं, किन्तु तल तक पहुँचने के पहले ही एक पुराने सूखे पेड़ की जड़ हमारे हाथ में आगई है। हम उसे पकड़ कर बीच ही में लटक गए हैं।'

मृगम्मदा ने मुस्करा कर कहा, 'और पास की दूसरी एक जड़ में ऊपर मधुमक्खियों का छत्ता भी तो है, जिसमें से स्वर्ण-मधु की बूँदें टपक-टपक कर हमारी कुएँ की चेतना को ही भुला दे रही हैं !'

महाश्रेष्ठि मृगम्मदा के व्यंग्य को नहीं समझे, पूछा, 'आपने भी क्या उनका व्याख्यान सुना है ?'

'इस आपात-स्थिति में इतना अवकाश कहाँ है ? पर यह तो लोक-विश्रुत सत्य है न !'

महाश्रेष्ठि ने बृबु की ओर देखा। वे उत्सुकता से महाश्रेष्ठि की ओर ही देख रहे थे, बोले, 'सचमुच व्याख्यान बड़ा शिक्षाप्रद है। आगे क्या कह रहे थे ?' बृबु के मन

पर से चिन्ता का भार उतर गया था। उनका अनुमान था कि महाश्रेष्ठि शत्रु के किसी अप्रत्याशित अभियान की सूचना लाए होंगे!

महाश्रेष्ठि मगन होकर महाश्रमण के व्याख्यान का सार समझाने लगे, 'सचमुच मधु की मिठास के भ्रम में हम इतना भूल गए हैं कि आँखें खोलकर न ऊपर देखते हैं न नीचे।—जिस जड़ को पकड़े हम लटक रहे हैं उसे ऊपर दो चूहे, एक सफेद एक काला, रात-दिन अनवरत कुतरते जा रहे हैं। नीचे एक भयंकर भूखा विषधर फण फैलाए प्रतीक्षा कर रहा है कि कब वह जड़ कटे और कब लटकता हुआ मूर्ख प्राणी उसका आहार बने।'

मृगम्मदा ने उसी तरह परिहास में कहा था, 'अँधेरे में महाश्रमण को वे चूहे स्पष्ट नहीं दिखे होंगे महाश्रेष्ठि। वे दिन को स्वर्ण के और रात को रजत के हो जाते हैं। जड़ को कुतरने से क्या उनका पेट भर सकता है?—वह मधु भी तो स्वर्ण-वर्ण है। दिन-रात उसीके लोभ में वे वहाँ डटे हुए हैं। और विषधर तो पवन-भक्षी होता है महाश्रेष्ठि! वह मधु तो उसके फण में भी टपक रहा है। लटकता हुआ मनुष्य गिरेगा भी क्यों?—उसकी जड़ तो स्वर्ण और रजत से मढ़ती जा रही है न?—नीचे देख भी ले, तो अँधेरे में उसे साँप नहीं दिखाई देगा, दिखाई देगी उसके फणि-मंडल पर चमकती हुई मणि। मनुष्य का पुरुषार्थ इसमें है कि वह मणि को भी हस्तगत करना चाहता है।'

महाश्रेष्ठि समझ गए कि उनका परिहास किया जा रहा है तो वे बोले, 'यही तो दुःख का विषय है महापणिक! मोह में पड़कर हम वस्तुस्थिति को समझना ही नहीं चाहते। यही नहीं, उसे परिहास में लेने से भी हमें संकोच नहीं होता।'

बृबु ने कहा, 'उसे परिहास में न भी लिया जाए महाश्रेष्ठि, तब भी यह तो जीवन का एकांगी स्वरूप ही हुआ न!—भय, आशंका, तृप्ति, मोह, क्या ये सब अलग-अलग भाव नहीं हैं, जिन्होंने समग्र जीवन ही को कठघरों में बाँट दिया है? इन कठघरों में बँट कर ही तो मनुष्य को भय होता है, आशंका होती है, मोह होता है, और इनमें फँस कर उसी को अपनी नियति मान बैठने को विवश होता है!—इसके विपरीत हम समग्र जीवन को क्यों न लें?—समग्र अर्थात् उस कुएँ का जीवन, जिसमें मधु है, विष भी है, काले-सफेद चूहे, विषधर सर्प, सब उसी में हैं, उससे विलग नही। वह कुआँ अँधेरा ही हो और अँधेरा तो वह होगा ही, जब तक कि हम उसे उसके समग्र रूप में पहचान न लें—किन्तु वह तो इस नियति से मुक्त है! हम क्यों न उस समग्र जीवन की अपेक्षा से सोचें?—कल आप मुझे भी ले चलें उन महाश्रमण के व्याख्यान में। मैं भी तो इन नए महाश्रमण की सत्संगति का लाभ लूं।'

'आप इसे गम्भीरता से ले रहे हैं महापाणिक?' मृगम्मदा ने पूछा, 'मैं तो सोचती

हूँ, कहीं यह नया महाश्रमण शत्रु का गुप्तचर न हो। उस श्येन और शंख का प्रकरण आप भूल गए ?'

महाश्रेष्ठि ने कहा, 'महापणिक के साथ आप भी चलें न कल ? स्वयं अपनी आँखों से देख लें कि वे कितने पहुँचे हुए योगी हैं ?—और महापणिक, मैं तो आपसे अभी यही अनुरोध करूँगा कि जबतक वणि लौट कर नहीं आ जाता या उसके विरुद्ध हमें पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाता तबतक उसके सम्बन्ध में कोई भ्रान्त धारणा न बना ली जाए, कम-से-कम सन्देह का लाभ तो उसे दें ही।'

'पुष्ट प्रमाण और क्या होंगे महाश्रेष्ठि ?' मृगम्मदा ने कहा, 'सन्देशवाहक ने स्वयं वणि को रात्रि के अन्धकार में महानायक के वेश्म में प्रवेश करते देखा है !'

'उसे मैं कहाँ अस्वीकार कर रहा हूँ ? पर आप यह तो सोचें, वणि को अश्व-संग्रह का जो भार दिया था वह कितना गम्भीर था ?—उसे ये अश्व शत्रु-शिविर से ही प्राप्त करने थे न ?'

मृगम्मदा ने जब प्रतिवाद नहीं किया तो महाश्रेष्ठि आगे बोले, 'वहाँ पहुँचने पर उसे महाराज सुदास के पश्चिम-विजय के अभियान की सूचना मिली ही होगी।—अश्वों के सौदे के प्रसंग में लड़े जा रहे युद्धों की चर्चा न उठे, यह क्या सम्भव है ?'

महापणिक ने कहा, 'यही क्यों ?—वणि ने महानायक के आक्रमण और सुदास की पराजय का समाचार भी अवश्य जान लिया होगा।'

मृगम्मदा ने अधीर होकर कहा, 'इन सब बातों को दुहराने से क्या लाभ है महाश्रेष्ठि ? जब एक बार महानायक के वेश्म में रात्रि के निबिड़ अन्धकार में वणि के प्रवेश का तथ्य स्वीकार कर लिया जाता है और यह भी मान लिया जाता है कि महानायक वणि के साथ अकेले उस अन्धकार में उसके साथ बाहर निकल जाते हैं, तो फिर आगे की घटनावली तो स्पष्ट है।'

'क्या स्पष्ट है ?' महाश्रेष्ठि ने पूछा।

'कि बाहर अँधेरे में पहले से ही वणि ने शत्रु-दल को घात में छिपा बिठाए रखा था। जैसे ही महानायक अँधेरे में असावधान उसके निकट पहुँचे कि बन्दी बना लिए गए, बस।'

'और क्या यह भी उतना ही स्पष्ट नहीं हो सकता कि महानायक के साथ वणि भी बन्दी वहीं बना लिया गया हो ?'

'वणि को बन्दी बना लिया गया हो ?' मृगम्मदा ने व्यंग्य से मुस्करा कर कहा, 'जिनके लिए चोरी करे, वे ही कहें चोर ? परी-कथाओं में भी कुछ तो तथ्य होता है महाश्रेष्ठि !'

'परी-कथाएँ तो उर्वशियों को ही शोभा देती है महादेवीजी। महापणिक ही जरा सोचने का कष्ट करें। अश्वों के लिए जिन आर्यों से वणि व्यवहार कर रहा होगा,

वे देवराज या अपने गण के प्रति स्वामि-भक्त तो अवश्य नहीं होंगे और जब व्यवहार-वार्ता चल रही होगी तो वह भी गुप्त रूप से ही चल रही होगी। व्यवहार-कर्त्ताओं और स्वयं वणि को अन्य आर्यगण से छिप कर तथा सतर्क रह कर ही अपना काम करना था। यदि वणि सभी आर्यों के विश्वास में होता तो महानायक से रात के अँधेरे में मिलने की उसे क्या आवश्यकता थी?—महानायक और हमारे दल के सभी सैनिक तो उसे पहचानते ही हैं।'

मृगम्मदा कुछ उत्तर दे उसके पहले महापणिक ने कहा, 'आप अपना अनुमान स्पष्ट करें।'

'यही कि बड़े बड़े आर्य-नेताओं से छिपा कर वणि अपनी सूझबूझ से कुछ अश्वों का प्रबन्ध अवश्य कर चुका था। उसे मालूम हो गया था कि सामने नदी के पार कुछ ही दूर महानायक शिविर स्थापित किए हुए हैं। उन्हें शायद अश्वों की प्रतीक्षा हो। इसलिए रात के अँधेरे में वह अश्वों के स्वामी के साथ उन्हें नदी पार ले जाने में भी सफल हो गया। पहचान लिए जाने के भय से अश्वों का स्वामी महानायक के सम्मुख जाने से कतराया हो, और उसको वहीं खड़ा करके प्रतीक्षा करने के लिए कह कर वणि महानायक को अकेला बुला लाया हो, कि वे चल कर स्वयम् देख लें! —क्या यह सम्भव नहीं है?' कह कर महाश्रेष्ठि ने बृबु की ओर देखा।

'फिर?' महापणिक ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की।

'महानायक वणि के साथ अँधेरे में अकेले बाहर गए, यह तो सन्देशवाहक ने स्वयम् कहा है।'

'प्रश्न यही तो है, कि उसके बाद क्या हुआ?' मृगम्मदा ने कहा। महाश्रेष्ठि शायद सोच रहे थे, कि आगे क्या कहें कि बात बन जाए, कि मृगम्मदा ने कहा, 'यही न, कि वणि ने धोखे से महानायक को अकेले बाहर बुला कर अँधेरे में ही शत्रु के हाथ सौंप दिया?'

'यह क्यों नहीं कहतीं कि शत्रु घात लगा कर बैठे थे और उन्होंने महानायक तथा वणि दोनों को बन्दी बना लिया!'

'हाँ, यह भी हो सकता है महाश्रेष्ठि। घात में जो शत्रु को पहले से बिठाए रख सकता है, विश्वास दिलाने के लिए वह स्वयम् बन्दी हो जाने का अभिनय क्यों नहीं कर सकता?'

बीच-बिचाव महापणिक ही ने किया था, 'महादेवी इस व्यर्थ के विवाद को जाने दें। जब तक पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाते, तब तक हम कल्पना ही तो कर सकते हैं, और कल्पना के लिए विकल्पों का कहाँ अभाव है?—तब हम अपनों ही के प्रति संशय क्यों पैदा होने दें?'

दूसरे दिन तीनों ही महाश्रमण पद्मकोटि का दर्शन करने के लिए उसके उपाश्रय में गए थे। महाश्रेष्ठि ने रात को ही सम्वाद भिजवा दिए थे कि महाश्रमण समयोचित व्याख्यान तैयार कर लें! महाश्रेष्ठि के आश्चर्य और संकोच का ठिकाना न रहा, जब उन्हें बताया गया कि महाश्रमण तो अर्द्ध रात्रि को ही अपने शिष्य के साथ आगे परिव्रजन के लिए निकल पड़े हैं। मृगम्मदा का तो स्पष्ट मत था कि उस तथाकथित महाश्रमण को भगा देने में महाश्रेष्ठि का हाथ था, और इसी आधार पर उन्हें तत्काल बन्दी बना लिया जाना चाहिए। मृगस्मदा के अभिमत से सहमत होते हुए भी महापणिक महाश्रेष्ठि के बन्दीकरण-जैसे आत्यन्तिक कदम के लिए तत्पर नहीं हुए। महाश्रेष्ठि का सँरीधन चाहे नागरिकों में क्षोभ न पैदा करता, किन्तु निवारणीय आतंक और कुतूहल तो पैदा करता ही। इसके अतिरिक्त उनके मुक्त रहने से ही वणि के रहस्य का उच्छेद हो सकता था! यदि उन पर सतत सजग-दृष्टि रखी जाए तो वे और अधिक बुराई कर ही क्या सकते थे! अभी आँखों की लज्जा तो है। और उसका लाभ भी उठाया जा सकता है।

बीते कल की और भी बातें हैं। मातृदेवी की पूजा के लिए प्रमुख पुजारिणी के रूप में उर्वशी मृगम्मदा के स्थान पर उर्वशी कुमुन्निशा का वरण किया जा चुका है। यद्यपि मृगम्मदा ने सरोवर-परिसर का अपना आवास अभी छोड़ा नहीं है, पर वसिष्ठाश्रम की यात्रा से लौटने के बाद से वह प्रायः महापणिक के आवास पर ही रहने के लिए विवश हुई है। प्रथम तो, उसका अपना कोई निजी आवास यहाँ है नहीं··· महापणिक के आग्रह पर भी उसने कभी अपने लिए स्वतन्त्र आवास की आवश्यकता अनुभव नहीं की। दूसरे, पुजारिणी के पद-भार से मुक्त होते ही अनायास उसे अन्य कई प्रशासनिक दायित्व वहन करने पड़ गए हैं। महानायक की अनुपस्थिति में अब वही महानायक है, और अन्य प्रशासनिक प्रकरणों में भी, महापणिक चाहे स्वस्थ हो गए हों, उसे बराबर उनकी सहायता करनी पड़ती है। महापणिक की अनुपस्थिति में तो सारा ही भार उस पर आ पड़ता है। ····कहना न होगा, कि इस थोड़े से समय में ही उसने अपनी क्षमता, सजगता तथा सक्रियता से सारे दुर्योण पर अपना प्रभाव जमा दिया है। सैनिक विषयों में यह उसी की सूझबूझ थी कि महानायक, सुदास जैसे दुर्दान्त दुस्साहसी वीर पर विजय पा चुके थे। इलिवश का अभियान भी उसीका प्रस्ताव था। यह बात दूसरी है कि उनकी क्षिप्रता या अनुभव-हीनता ने विजय का पूरा लाभ नहीं उठाने दिया।

किन्तु नितान्त अवहेलना और असावधानी के बावजूद दूसरी ओर उसका गर्भ-भार भी बढ़ता ही गया है। अपनी सहज सक्रियता में उसने गर्भ को कभी बाधा पहुँचाने का अवसर नहीं दिया बल्कि समझने-बूझने वाले तो यहाँ तक कह देते थे कि वह जानबूझ

कर गर्भ-स्खलन के अवसर जुटा रही है, ताकि उसे इस भार से मुक्ति मिल जाए! वह प्रातः-सायं बराबर महापणिक के साथ रथ में बैठ कर सैनिक-प्रशिक्षण-केन्द्र, शस्त्रागार, कर्मशाला आदि का निरीक्षण करती है। इसी बहाने नगर में दूर उपान्त तक घूम-फिर कर नगर का सब हाल भी उन्हें मालूम हो जाता है। सन्ध्या के समय उत्तर में जल-प्रदाय-योजना स्थल पर रथ से उतर कर काफी समय तक पैदल भी चल लेते हैं। उनके इस मुक्त नगर-भ्रमण से नागरिकों को भी अपने सुख-दुःख या अन्य समस्याएँ उन्हें निवेदन करने की घर बैठे सुविधा मिल जाती हैं। और अभी कुछ दिनों पूर्व तक तो मृगम्मदा सूर्योदय के पहले-पहले घुड़सवारी का अभ्यास भी कर लिया करती थी। अब तो गर्भ पक रहा है। स्पष्ट है कि उससे मुक्ति उसे सामान्य प्रसूति से ही मिलेगी। यदि यही नियति है, तो जितने शीघ्र हो उतना ही अच्छा।

आजकल महापणिक उसे बराबर विश्राम करते रहने के लिए प्रेरित करते हैं। अभी वह अपने पलंग पर आँखें मूँदे शायद निद्रामग्न लेटी हुई है। पास ही एक ऊँची आसन्दी पर बैठे हुए महापणिक सामने दीवार पर टँगे मानचित्र पर दृष्टि गड़ाए इतिहास और भूगोल को वर्तमान के चौखटे में जड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। सहसा द्वार पर कुछ आहट सुन कर उनका ध्यान भंग हो गया। मृगम्मदा के विश्राम में बाधा न पहुँचे, अतः वे निश्शब्द उठ कर द्वार पर आए, कपाट खोल कर देखा, और उनके मुँह से आश्चर्य के स्वर में निकला, 'अरे, अहीशुव, तुम?--और इस वेश में?—यह क्या अवस्था बना रखी है?--छोड़ दो अश्व को, वह माली सम्हाल लेगा। भीतर आ जाओ।'--और हाथ पकड़ कर महापणिक अहीशुव को भीतर ले आए। सहारे की उसे बड़ी आवश्यकता थी, उसके पैर कांप रहे थे, वह अब गिरा, तब गिरा हो रहा था।

मृगम्मदा सोई न थी। बृबु जब द्वार पर पहुँचा तभी उसने आँखें खोल ली थीं। जब तक महापणिक उसे लेकर भीतर आए, तब तक वह पलंग छोड कर उठ खड़ी हुई थी।--यह सचमुच अहीशुव है, या उसका प्रेत? सारे वस्त्र मिट्टी-कीचड़-पसीने से लथपथ, कहीं-कहीं फटे हुए जले हुए भी, आँखें गढ़े में धँसी हुईं, सिर के बाल धूल-मिट्टी में सने हुए, और उसकी गहरी साँसों के साथ सारा शरीर वेत-पत्र सा कांप रहा था। महानायक शुष्ण का सहायक था न! --स्पष्ट ही बड़ी दूर से आ रहा है, और यात्रा की क्लान्ति ही नहीं, मन पर और भी बहुत कुछ झेले हुए है। अहीशुव की ओर देखते हुए वह इतनी स्तम्भित हो गई थी कि उसे ध्यान ही नहीं रहा, कब अहीशुव उन दोनों के अभिवादन में अपने दोनों हाथ जोड़ कर हाँफता हुआ नीचे ही बैठ गया है! उसके पैरों में खड़ा रहने की शक्ति नहीं है। मृगम्मदा ने कहा, महापणिक, इसे इस शय्या पर लिटा दें!'

'तुम लेटी रहो महादेवी, मैं अलग शय्या की व्यवस्था करता हूँ।

'मेरी चिन्ता न करें महापणिक अहीशुव को तत्काल सहायता की अपेक्षा है। मैं उसे शय्या पर सुलाती हूँ। आप शीघ्र ही कोई उद्दीपक पेय प्रस्तुत करें, ताकि इसे कुछ शक्ति, प्राप्त हो जाए।'

अहीशुव ने आँखें बन्द किए हुए ही कहा, 'मैं यहीं लेट लेता हूँ महापणिक--मुझे कुछ जल पिलवा दें तो--मैं अपना कर्तव्य--पूरा करलूँ। --हरयूपिया पर--देवराज ने भयानक आक्रमण कर दिया है ---सारे नगर को आग लगा दी गई है--नायक इलिवश की धोखे से हत्या करदी गई है—महापणिक, झुलसता हुआ मैं किसी तरह बच निकला हूँ। —तत्काल सहायता ...'और अहीशुव अधिक नहीं कह सका। वह अचेत हो गया।

जबतक महापणिक कुछ उद्दीपक औषध लेकर आएँ, मृगम्मदा ने फर्श पर बैठ कर अहीशुव का सिर अपनी गोद में ले लिया। अपने प्रयोग के लिए जल-पात्र उसके पलंग के पास ही रखा हुआ था। उसे लेकर वह उसके मुँह पर छींटे मारने लगी। अहीशुव की कुछ पलकें हिलीं तो उसने उसके मुँह में कुछ जल भी चुआ दिया। महापणिक का भेजा हुआ तभी एक भृत्य भी आ पहुँचा था। उसकी सहायता से मृगम्मदा ने अहीशुव को अपने पलंग पर लिटा दिया। उसके संकेत से भृत्य पंखा झलने लगा था और पास बैठी हुई मृगम्मदा उसके बालों को सहला रही थी। अहीशुव की आँखें तब भी बन्द थीं।

बृबु ने अहीशुव के ओठ खोले और पात्र का आसव उसके गले में उड़ेल दिया। इसके बाद पलंग पर उसके बगल में बैठ कर उन्होंने अहीशुव का हाथ अपने हाथ में ले लिया और उसकी नाड़ी-परीक्षा करने लगे। मृगम्मदा उसके सिर को सहलाती हुई बृबु की ओर जिज्ञासा-भाव से देखती रही। बृबु फिर धीरे से बुदबुदाया ताकि मृगम्मदा सुन सके, 'नहीं, संकट अब नहीं है। मात्रा कुछ और रक्त में पहुँच जाए तो नाड़ी संयत हो जाएगी। शरीर और मन दोनों भयानक रूप से झिंझोड़े गए हैं। यात्रा की क्लान्ति ही नहीं, भूख-प्यास भी सहनी पड़ी है बेचारे को। कुछ लेप तैयार करने को मैं कह आया हूँ। जलन के ये घाव वैसे संकट-जनक नहीं हैं। जलन की पीडा लेप से अवश्य कम हो जाएगी।

'पर, हरयूपिया के जितने कुछ समाचार इसने दिए हैं—' मृगम्मदा ने स्मरण किया।

'गम्भीर अवश्य हैं। निर्णय तो पूरे समाचार मालूम होने पर ही लिया जा सकता है। और अभी तो अहीशुव को पूरा विश्राम कर लेना चाहिए। शरीर को स्वस्थ होने में देर नहीं लगेगी, किन्तु उससे अधिक तो इसका मन विचलित हो गया है। उसे स्थिर होना चाहिए।'

'अर्थात् तुम सोचते हो, समाचार और भी भयानक हैं ?' मृगम्मदा ने पूछा ।

'हो भी सकते हैं । यह भोक्ता की सहन-शक्ति पर भी तो निर्भर करता है न ! कोई सामान्य-सी बात पर ही विचलित हो जाता है और कोई वज्र-हिय कठिन से कठिन घटना को भी सरलता से पचा जाता है ।' अहोशुव को कुछ चेत-सा हो रहा था । आँखें बन्द थीं, किन्तु पलकें कुछ हिल रही थीं । ओठों ने बड़े क्षीण स्वर में बुदबुदाया, 'मुझे शीघ्र महापणिक की सेवा में पहुँचाओ—हरयूपिया को वे ही बचा सकते हैं—उसने दुर्योण के मुँह पर कालिख पोत दी है—मुझे जल्दी....'

मृगम्मदा ने उसी तरह सिर को सहलाते हुए बड़े ही मृदु स्वर में कहा, 'तुम महापणिक के सामने ही हो अहीशुव ।—अब कोई चिन्ता की बात नहीं है । तुम्हें कोई भय नहीं है ।'

'महापणिक, महापणिक ।' और अहीशुव ने सिर को मृगम्मदा की गोद से उठाने का प्रयत्न किया । बृबु ने कन्धे पकड़ कर उसे पुनः लिटाते हुए कहा, 'शान्त लेटे रहो अहीशुव । मैं तुम्हारे पास हूँ । अब तुम्हें कोई भय नहीं ।'

'मुझे नहीं महापणिक,–भय मुझे नहीं–भय है हरयूपिया को–इलिवश नहीं रहे ।'

'वह सब समाचार हम सुनेंगे । तुम अभी स्वस्थ हो लो ।'

'मैं सब समाचार देने के लिए ही–जीवित चला आया हूँ–हरयूपिया को दुष्टों ने आग लगा दी है महापणिक !–नायक इलिवश को मैं नहीं बचा सका–पहुँचा तब वे तड़फड़ा रहे थे–रक्त में लथपथ,–उनके कक्ष को आग की लपटें लील लेना चाह रही थीं महापणिक ।'

'अवश्य समाचार बड़े गम्भीर हैं अहीशुव ।–सब सुनूंगा, पर अभी तुम पहले स्वस्थ होओ । किसी भी प्रकार की मानसिक उत्तेजना इस समय तुम्हारे लिए हितकर नहीं है ।'

'मेरे हित-अहित की बात नहीं महापणिक–मैं तो शीघ्र हरयूपिया लौट कर–शत्रु का सामना करते हुए–मर जाना चाहता हूँ ।' और उसने फिर उठ बैठने का प्रयत्न किया ।

उसे पुनः पलंग पर लिटाते हुए मृगम्मदा ने कहा, 'महापणिक, यह बड़े मानसिक-तनाव की अवस्था में है । समाचार चाहे जितने गम्भीर हों, इसे विश्राम की पूरी आवश्यकता है । नहीं क्या ?'

'तुम ठीक कह रही हो । इसी आसव की एक और मात्रा दे देने से यह तीन-चार घटिका तक तो अवश्य ही सोता रहेगा । घावों पर लेप लगाने के लिए भी यह आवश्यक है । कुछ जलन तो होगी न !'

सन्ध्या होने तक अहीशुव की अवस्था में पर्याप्त सुधार हो चुका था । तीन-चार नहीं, पूरी पाँच घटिका वह गहरी नींद में सोया रहा था । उउके बाद उसके व्रणों

को बचा कर उसे उष्ण जल से स्नान करा दिया गया था, व्रणों पर पुनः लेप लगा कर जहाँ आवश्यक था, पट्टियाँ भी बाँध दी गई थीं। वस्त्र उसके बदल दिए गए थे। कई दिनों की भूख और प्यास का भी समुचित उपचार कर दिया गया था। शीघ्र ही अन्य सब कार्यों से निवृत्त होकर महापणिक बृबु तथा महादेवी मृगम्मदा अहीशुव से पूरा वृत्तान्त सुनने के लिए उसे घेर कर बैठ गए थे।

अहीशुव ने कहा, 'आपने मुझ जैसे तुच्छ सैनिक का इतनी आत्मीयता से उपचार और परिचार किया है प्रभो, कि मैं सौ जन्म तक भी उऋण नहीं हो सकूँगा।'

'इसे छोड़ो अहीशुव। दुर्योण का हर सैनिक महापणिक से किसी भी तरह कम नहीं है। तुमने हरयूपिया में नायक इलिवश की हत्या और वहाँ के नृशंस अग्नि-कांड की बात कही है न।—वह सब क्या है? विश्वासघात किसने किसके साथ किया?—तब तुम बराबर स्थिर-चित्त नहीं थे—'

'स्थिर-चित्त?—नहीं-नहीं महापणिक, वही सूचना देने के लिए तो अपने प्राणों की बाजी लगा कर मैं भागा चला आ रहा हूँ। मेरा चित्त स्थिर रहा हो या नहीं, वह सूचना बिलकुल सही है। मैंने अपनी आँखों नायक इलिवश को तड़प-तड़प कर मरते देखा है। उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि मैं किसी भी तरह आपकी सेवा में पहुँच कर आपको सूचना दूँ। यदि शत्रु को वहीं रोका नहीं गया तो वे दुर्योण तक चढ़े चले आएँगे। उन्हें अब रोकने वाला कोई नहीं मिलेगा।—हरयूपिया सचमुच बड़े संकट में है महापणिक। वहाँ पर्याप्त सहायता तो भेज दी है न?' वह उत्तेजित हो उठा था।

मृगम्मदा ने कहा, 'महापणिक ने इस पर अच्छी तरह विचार किया है अहीशुव। अब हरयूपिया को सहायता भेजने का क्या लाभ होगा?'

'क्या कह रही हैं महादेवी? अभी दो माह पूर्व ही तो महापणिक ने वहाँ ठीक समय पहुँच कर पणिकों की अप्रतिम विजय का शंख-नाद किया था।' अहीशुव ने कहा।

मृगम्मदा मुस्कराई। 'तुमने कहा न, ठीक समय पर पहुँच कर?—पर अब वह ठीक समय कहाँ रह गया है अहीशुव?—हरयूपिया से चले तुम्हें दो दिन से अधिक हो गए हैं। शीघ्र से शीघ्र भी यदि हमारी सेना यहाँ से प्रस्थान करे तो दो दिन तो और उसे लग ही जाएँगे।—हरयूपिया का अबतक ही क्या बच रहा होगा?—तुम कहते हो, उन बर्बरों ने सारे नगर को आग लगा दी थी—'

अहीशुव महादेवी मृगम्मदा की ओर शून्य आँखों से देखता रहा, मानो उसे मृगम्मदा की बात समझने में कठिनाई हो रही हो। महादेवी ने कहा, 'जाना तो इस बार मैं स्वयम् चाहती थी। बर्बर आर्यों को ही नहीं, उस देवराज को भी बता देना चाहती थी कि बर्बरता सचमुच कैसी हो सकती है।'

'और हाँ, महापणिक, स्मरण आया। वणि ने मुझसे कहा था, उसे सन्देह है कि हमारे यहाँ जो कुछ समय पूर्व देवराज के गुप्तचर आए थे, उनमें से वह श्येन नामक गुप्तचर स्वयम् देवराज इन्द्र ही हो सकता हैं। वैसा डील-डौल, स्फूर्ति, शक्ति, वहाँ और तो किसी की है नहीं।'

मृगम्मदा ने बृबु की ओर साभिप्राय देखा, तो बृबु ने कहा, 'वह हो तो भी आश्चर्य की वात नहीं है। देवराज ने यदि हमारी शक्ति का परीक्षण करना चाहा हो तो उसे ठीक प्रमाण ही मिला होगा।—पर अहीशुव, तुम्हें वणि कहाँ मिला?—वह क्या हरयूपिया में है? तुम ही वहाँ कैसे पहुँचे?—तुम तो महानायक के अभियान में थे न?'

अहीशुव ने एक लम्बा निःश्वास लिया और कहा, 'विश्वासघातों का यह एक लम्बा आख्यान है महापणिक। मेरे लिए, एक दुर्योणवासी के लिए यह अत्यन्त लज्जा की बात है कि इस सबका सूत्रपात हमारे ही एक देशवासी ने किया है–'

'उस नराधम का नाम बताओ अहीशुव।' मृगम्मदा ने पूछा।

अहीशुव ने मानों स्वस्थ होने की चेष्टा की। एक बार उसने महापणिक की ओर और फिर मृगम्मदा की ओर देखकर गर्दन झुका ली तथा कहा, 'और कौन होगा महापणिक?–यह वही वणि है, महाश्रेष्ठि अर्बुद का अत्यन्त विश्वस्त अनुचर।'

'उसने ही तो महानायक शुष्ण को बन्दी बनाया है।' मृगम्मदा ने कहा, 'तुम्हें महानायक का कुछ पता लगा अहीशुव?'

अहीशुव को बड़ा कष्ट हुआ कहते हुए। उसी तरह नीची गर्दन किए हुए उसने कहा, 'वे देवराज के वज्र से मारे गए प्रभो।'

'मारे गए?–इसकी ही तो आशंका थी।—और महादेवी सेलकेत कहाँ हैं?'

'वे भी उनके साथ ही मारी ग—ईं'

'मारी गईं, उनके साथ ही?'—आवेश में बृबु उठ खड़ा हुआ, 'उस निष्ठुर इन्द्र को एक गर्भवती महिला पर हाथ उठाते हुए संकोच नहीं हुआ?—और अपने को वीर कहता है वह?'

'सुनी हुई बात ही कह रहा हूँ भगवन्। स्वयम् महादेवी सेलकेत ने वह अप्रिय प्रसंग नहीं आने दिया। इन्द्र के हाथों नहीं, वे महानायक के हाथों से ही मृत्यु को प्राप्त हुईं।'

'महानायक शुष्ण के हाथों?—तुम्हारा चित्त तो स्वस्थ है अहीशुव?' मृगम्मदा ने पूछा, 'वे तो शुष्ण के साथ बन्दी नहीं हुई थीं।—या तुम्हीं ने वह सूचना मिथ्या भिजवाई थी?'

'मिथ्या नहीं महादेवी ।—महादेवी सेलकेत तो बन्दी भी नहीं हुई थीं ।—जैसा मैंने सुना है वे तो अपने पति को बचाने के लिए भूखे सिंह की माँद में निर्भीक घुस गई थीं ।'

'तुमने किससे सुना यह सब ?' महापणिक ने पूछा ।

'स्वयम् वणि के मुँह से महापणिक ।'

'वणि के मुँह से ?—पर तुम्हारे कथन का आशय तो यही है न कि वणि शत्रु से मिल गया है !–क्या तुम भी उससे मिल गए हो ?'

'क्या करूँ महापणिक, पूरी और सही सूचना मालूम करने के लिए मुझे देश-द्रोही का भी अभिनय करना पड़ा है । आप मेरी पूरा कथा सुन लें । मुझे आप यदि सचमुच दोषी पाएँ तो जो दंड आप देंगे मैं प्रसन्नता से स्वीकार करूँगा ।—वैसे आपकी सेवा में पहुँच जाने के बाद मेरा एक कर्तव्य तो पूरा हुआ और अब मुझे जीवन का कोई लोभ नहीं है । यदि आपको सूचना पहुँचाने का दायित्व न होता तो या तो नायक इलिवश के साथ मैं भी उसी कक्ष में अग्नि समाधि ले चुका होता, या फिर शत्रुओं से सम्मुख युद्ध में वीर-गति पाता । नायक इलिवश की अपमृत्यु देखकर तो एक क्षण के लिए इच्छा हुई थी कि सब दायित्वों को भूल कर सबसे पहले उस महापातकी वणि का मस्तक काट लाऊँ और उसे दुर्योण के मुख्य द्वार पर लटका दूँ ताकि देखने वाले देश के साथ विश्वासघात करने वाले को देखें, और उसके चेहरे पर थूक कर अपनी क्रोधाग्नि शान्त करें ।—भाग्य की विडम्बना ! वह तो युद्ध-भूमि से बहुत दूर किसी सुरक्षित-शिविर में सोम-पान करता उन्मत्त हो रहा होगा !'

'हमें तुम्हारी निष्ठा पर पूरा विश्वास है अहीशुव ।' महापणिफ ने उसे आश्वस्त किया, 'तुम हमें पूरा विवरण सुनाओ । महानायक के बन्दी हो जाने के बाद महादेवी सेलकेत ने हमें जो सन्देश भेजा था उसके बाद क्या हुआ, हम कुछ नहीं जानते ।—महादेवी सेलकेत की मृत्यु कैसे हुई ?—तुमने वणि का अनुसन्धान कैसे किया ?–सब कहो !'

'पूरा ही विवरण सुनाता हूँ प्रभो !' फिर उसने पास रखे हुए पात्र से कुछ जल पिया । कुछ क्षण स्वस्थ होने में लिए और फिर कहना प्रारम्भ किया, 'महादेवी सेलकेत ने जब आपको महानायक के अदृश्य हो जाने की सूचना भिजवाई थी, तब मैं महादेवी के साथ ही था । हम उस स्थान का निरीक्षण करके ही लौट रहे थे, जहाँ से महानायक को अचेत करके नौका द्वारा पार ले जाया गया था । तब तक हम निश्चय से यह कहाँ जानते थे कि उन्हें आर्यों ने बन्दी बना लिया है ! जिन चरवाहों

ने यह सब देखा था वे भी तो अँधेरे में अस्पष्ट ही देख रहे थे। नाव में स्पष्ट ही अश्व भी थे। यह भी तो हो सकता था कि वणि उन्हें और अश्व दिखाने के लिए अन्यत्र लिए जा रहा होगा। अतः हमने और दो दिन वहाँ रुक कर उनकी प्रतीक्षा की। उसके बाद महादेवी सेलकेत जब और धैर्य धारण नहीं कर सकीं तो रात के अँधेरे में उसी स्थान से एक वृषभ की पूँछ का सहारा लेकर वे नदी पार हो गईं।'

'अकेली ?' मृगम्मदा ने आश्चर्य व्यक्त किया।

'मैंने साथ जाने के लिए बहुत आग्रह किया था महादेवी, किन्तु कई अकाट्य तर्क देकर उन्होंने मुझे विरत कर दिया। वरना वे साथ न ले जातीं तो भी मैं उनके पीछे-पीछे अवश्य चला जाता।'

'ऐसे क्या अकाट्य तर्क थे उनके ?' मृगम्मदा ने पूछा।

'एक तो यही था कि पीछे उस स्थान पर हमारी सेना की देख-रेख कौन करता ? उसके लौट आने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था, जब तक कि महानायक या महादेवी लौट न आएँ। जहाँ अपनी सेना ने पड़ाव डाल रखा था, वह स्थान अपरिचित ही नहीं, शत्रु की सीमा से लगा हुआ भी था। महानायक की अनुपस्थिति में सैनिक वैसे ही हताश होने लगे थे। महादेवी और मेरी भी अनुपस्थिति के बाद तो वे एकदम अनाथ ही हो जाते। शत्रु का भय न हो, तब भी उनका मनोबल बनाए रख कर उन्हें तब तक तो वहाँ रुकना ही था जब तक कि महानायक या महादेवी में से कोई लौट न आएँ।'

'तुम नहीं, कोई और उनके साथ जा सकता था।' महापणिक ने कहा।

'इसके लिए भी मैंने आग्रह किया था महापणिक, पर वे किसी को भी साथ लेजाने के लिए सहमत नहीं हुईं। वे जानती थीं कि उन्हें खोज आर्यों के सन्निवेश से ही प्रारम्भ करनी होगी, जो गुप्त रूप से ही हो सकती थी। और ऐसे गुप्त कार्यों में अन्य कोई व्यक्ति सहायक की अपेक्षा बाधक ही हो सकता है।—जिस सूझबूझ से उन्होंने महानायक का पता लगाया, उससे उनका पक्ष प्रमाणित भी हो जाता है महापणिक।'

'कैसे लगाया उन्होंने पता ?' महादेवी मृगम्मदा ने पूछा।

'वह मेरा आँखों देखा हुआ नहीं है महादेवी। सब मुझे बाद में वणि के मुँह से ही मालूम हुआ, और पहले मैं वही आपको बताता हूँ।' और इसके साथ ही अहीशुव ने वणि से सुना हुआ देवराज की उस सभा का सारा वृत्तान्त कह सुनाया, जिसमें महानायक शुष्ण और महादेवी सेलकेत की लोमहर्षक किन्तु वीरोचित मृत्यु हुई थी।

वृबु और मृगम्मदा धड़कते हुए हृदय से, कभी क्रोध, कभी घृणा और कभी करुणा के भावों से उद्वेलित होकर साँस रोके सुनते रहे। उस पर्व के शेष हो जाने पर कई क्षणों तक सारे कक्ष में मृत्यु ही की विकराल चुप्पी छाई रही।—अपने महान् साथियों का कैसा करुण, निर्मम अन्त था वह ?—क्या इस विश्व में शौर्य, न्याय, निष्ठा, प्रेम आदि श्रेष्ठ मानवीय उपलब्धियों का ऐसा अन्त होता है ?–तो वे ही किस लिए संघर्ष कर रहे हैं ?–उनके इस बलिदान, त्याग, कष्ट आदि का क्या अर्थ है ?

जैसे एक दुःखान्त दुस्स्वप्न में से जाग कर मृगम्मदा ने कहा, 'शरीर की इस विभीषिका के सामने, यदि आत्मा सचमुच ही अमर हो, तो भी उसकी क्या सार्थकता है ?—इस कल्पना से क्या ऐसी उदात्त-मृत्यु की गरिमा कम नहीं होती ?'

'कल्पना ही है तो वह शरीर ही के साथ सम्बद्ध है, और जिसे गरिमा मिलती हैं वह शरीर ही से तो पहचाना जाएगा !—हो सकता है, अमरता की कल्पना मृत्यु-भय पर विजय पाने के लिए ही की गई हो—इसी भावना से कई व्यक्ति युद्ध या परोपकार में हँसते-हँसते निश्शंक होकर प्राण दे देते हैं। किन्तु और कई को जिन्हें ऐसे किसी कल्पित आदर्श के लिए प्राण नहीं देना होता, यह सचेतन आत्मसैरोपण उनकी स्थूल क्षणिकता को क्षणिक न रहने देकर निरन्त कर देता है, जब तक वे मर नहीं जाते, तब तक वे हर क्षण मरते रहते हैं।–सेलकेत और शुष्ण अपने जीवन में नहीं, अपनी मृत्यु में अमर हुए हैं।–उनकी आत्मा यदि अभी स्वतन्त्र रूप में कहीं हो तो वह भी इस गौरव को अनुभव करेगी।'

अहीशुव ने पूछा, 'आप आत्मा की अमरता में बिश्वास नहीं करते महापणिक ? –हमारे महाश्रमण तो जीवनों की अनन्त शृंखला का प्रतिपादन करते हैं न ?'

'मैं उस आत्मा की अमरता में विश्वास करता हूँ, जब इन शृंखलाओं से उबर कर वह परम-आत्मा से पृथक् नहीं रह जाती।–तब उसके लिए जन्म, जरा, मृत्यु आदि का अर्थ ही क्या है ?-तब वह शुष्ण की या सेलकेत की पृथक् आत्मा कहाँ रहती है ?–

'किन्तु पुनर्जन्म के उदाहरण भी तो बराबर मिलते रहे हैं महापणिक !'

'इसलिए कि एक कैद से छूट कर, परम-आत्मा से मिलने के पहले ही उसे दूसरा शरीर कैद कर लेता है; जिसे तुमने अभी जीवनों की शृङ्खला कहा है न ?' फिर तनिक मुस्करा कर कहा, 'जैसे वणि महाश्रेष्ठि की कैद से मुक्त हुआ तो देवराज की कैद में फँस गया।'

अहीशुव ने लम्बी साँस लेकर कहा, 'देवराज की कैद में कहाँ, वह तो अब विष्णु के राज्य में वैकुण्ठ पहुँच गया है, जहाँ उस पर लक्ष्मी रीझने ही वाली है।'

'रीझने दो उस चंचला को अहीशुव। उसके पीछे व्यक्ति यदि अन्धा नहीं बन जाता, तो लक्ष्मी शीघ्र ही उसे सींठ बता कर चल देती है।–तुम अपनी बात कहो!'

अहीशुव ने कुछ क्षण मौन रह कर अपनी कथा का सूत्र जोड़ा और फिर कहा, 'पहाड़ी की ओट में अपने-आपको सुरक्षित समझे हुए कुछ दिन तो बिना किसी दुर्घटना के हम महानायक और महादेवी के लौट आने की प्रतीक्षा करते रहे, किंतु एक दिन अकस्मात् टिड्डी-दल की तरह आर्य-सेना हम पर टूट पड़ी। लड़ने का तो क्या, जीवित रहने का उत्साह भी हममें कहाँ रह गया था? तब भी हम लड़े। आपको समाचार देने के लिए एक और चर मैंने आपकी सेवा में भेजा, तब तक महानायक या महादेवी के कुछ भी समाचार हमें कहाँ मालूम थे?–चाहता तो था कि अन्तिम साँस तक शत्रु से लड़ता रहूँ, किंतु उससे भी आवश्यक कर्तव्य, महानायक और महादेवी का पता लगाना जो शेष था, और वह जीवित रह कर ही पूरा किया जा सकता था! सो महापणिक, किसी तरह उनके चंगुल से बच निकला। –अब आप चाहें तो मुझे कायर कहें या–'

'तुमने उचित ही किया अहीशुव', महापणिक ने कहा, 'तुम न रहते तो शुष्ण और सेलकेत की यह अप्रतिम वीर-गाथा रहस्य ही बनी रहती न!–कैसे लयाया तब तुमने उनका सन्धान?'

'एक तरह से तो मैं अब निश्चिंत हो गया था कि उनका पता लगाने के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई काम नहीं है। काफी सोच विचार के पश्चात् यह तो मैं समझ ही चुका था कि अपनी खोज का प्रारम्भ मुझे वणि ही से करना होगा। कुछ अश्व वह लाया ही था, अतः यह भी स्पष्ट था कि आर्यों से गुप्त या प्रकट, उसका सम्पर्क अवश्य होना चाहिए और मुझे भी इसके लिए नदी पार आर्यों के स्कन्धावार में जाना ही उचित होगा। महानायक चाहे न भी गए हों, महादेवी सेलकेत तो उसी को लक्ष्य करके गई थीं, वहाँ पहुँच कर अश्वपालों से ही कुछ पता लगाना होगा। बिना उनके सहयोग के वणि अश्वों का प्रबन्ध कर ही कैसे सकता था? एक और कठिनाई का उपाय भी मुझे सोच लेना था। वणि से भेंट हो जाए तो उससे किस तरह व्यवहार करना होगा? वह क्या सरलता से मुझे पता दे देगा? बल प्रयोग से तो किसी लाभ की आशा थी नहीं। छल या कौशल हों तो क्या हो? सबसे बड़ी बात तो यह थी कि यदि वह शत्रु-पक्ष से मिल गया है, तो मुझे देखते ही क्या वह शत्रु के हाथ मुझे सौंप देगा? किन्तु मैंने सोचा, यह वणि कहाँ जानता होगा कि मैं महानायक का सहायक होकर उस अभियान में गया हूँ? इस बीच मुझसे तो उसकी कहीं भेंट हुई नहीं थी। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया कि भेंट होने पर मैं उससे महानायक के सहायक के रूप में नहीं बल्कि महाश्रेष्ठि का सन्देशवाहक बनकर मिलूँ।'

'और महाश्रेष्ठि का सन्देश क्या निश्चय किया ?' मृगम्मदा ने पूछा।

'मैंने तब उसकी चिन्ता नहीं की थी। वह कुछ भी हो सकता था महादेवी। और जब सचमुच वणि से भेंट हो गई तो अकस्मात् बड़ा ही प्रत्यायक सन्देश मुझे सूझ गया। वसिष्ठाश्रम की सेना द्वारा इलिवश के अश्व छिन जाने की कथा मैं सुन चुका था। वणि का अश्व-संग्रह से प्रत्यक्ष-सम्बन्ध था ही। इस परिप्रेक्ष्य में महाश्रेष्ठि का स्वाभाविक रूप से यह सन्देश हो सकता था कि इलिवश की घटना से आर्यगण सावधान हो गए होंगे, अतः वणि को अब इस चक्कर में न पड़कर शीघ्र दुर्योण लौट जाना चाहिए, वहाँ बने रहने पर उसके प्राणों पर भी आ बन सकती है। और वणि इस पर सहज ही विश्वास् कर गया।'

'यदि वह न करता तो ?'

'तो और भी अच्छा होता महादेवी।' अहीशुव ने कुछ मुस्कराकर कहा, 'महाश्रेष्ठि का संदेश सुनाया तो एकान्त में ही जाना था न। एक हाथ से भी उसका गला दबा देता तो चीख तक नहीं निकाल पाता वह। मेरे सन्देश वहन करने पर तो उसे विश्वास हो गया महापणिक, किन्तु अब महाश्रेष्ठि उसके ध्रुव-नक्षत्र नहीं हैं।'

'देवराज हो गए हैं, यही न ? और तुम कह ही चुके हो, विश्वासघात का पुरस्कार भी वह पा रहा है। लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि हो रही है न उस पर ?'

'हाँ प्रभो, किन्तु महाश्रेष्ठि अब देवराज की आँखों का शूल बन गया है।'

'वणि को जब उसकी आवश्यकता न रही, तो उसीने देवराज को महाश्रेष्ठि के विरुद्ध भड़काकर उकसाया होगा। खल अपनी प्रवृत्ति के ही भक्त होते हैं, व्यक्ति-विशेष के नहीं।'

'महापणिक, क्या आप इनके राष्ट्र-विरोधी कारनामों से परिचित थे ?'

'अहीशुव, दुर्योण का मैं अकेला ही तो पुत्र नहीं हूँ, महाश्रेष्ठि अर्बुद भी उसीके वैसे ही पुत्र हैं। मुझे कई बार कई व्यक्तियों ने सावधान किया था। मैं सावधान नहीं हुआ, इसका मुझे रंच मात्र भी खेद नहीं है। कुछ व्यक्ति अपनी निष्ठा, भक्ति अपने देश की सीमा से भी बहुत आगे तक ले जाते हैं। महादेवी मृगम्मदा, महादेवी सेलकेत, ऐसी विभूतियाँ किसी एक देश की नहीं बनी रह सकतीं। किंतु महाश्रेष्ठि अर्बुद या वणि जैसे व्यक्ति किसी भी देश के अपने नहीं होते, अपने देश के भी नहीं। क्षोभ अपने ऊपर और रोष उन पर मुझे खूब होता है, पर होनी तो दया चाहिए न ?'

'दया नहीं महापणिक। ऐसे व्यक्तियों को तो जितना जल्दी हो सके धरा-धाम से हटा ही देना चाहिए। वे पृथ्वी के लिए बहुत बड़े भार हैं। आपको स्मरण

होगा, आपने हरयूपिया की सहायता के लिए इलिवश को सैन्य-दल के साथ वहाँ भेजने का संकल्प किया था ?'

'सो ?'

'अमावस्या के बाद ही उसे वहाँ जाने का आदेश था न ?'

'हाँ। किन्तु बाद में अकस्मात् नीति-परिवर्तन के कारण उसे पहले एक अन्य मोर्चे पर होकर वहाँ जल्दी ही पहुँच जाना पड़ा था।'

'इस परिवर्तन का पता महाश्रेष्ठि को नहीं था न ?'

'तुम कहना क्या चाहते हो ? महाश्रेष्ठि को पहले निश्चय का पता तो अनायास लग गया था।' कहते-कहते मुस्कराकर बृबु ने मृगम्मदा की ओर देखा। उत्तर में मृगम्मदा भी मुस्करा दी। अहीशुव उनके बीच प्रचारित गोपन संकेत को नहीं समझ सका, पर उसने कहा, 'आपके पहले निश्चय के आधार पर ही महाश्रेष्ठि ने वणि के माध्यम से अभ्यावर्ती चायमान को सन्देश भिजवाया था कि वह ठीक अमावस्या की अँधेरी रात में हरयूपिया पर पूरी सेना के साथ आक्रमण कर दे।'

मानों कुछ स्मरण सा करते हुए बृबु ने कहा, 'अरे, तो क्या इसीलिए महाश्रेष्ठि चुमुरि और सुष्प को मन्त्रणा के बहाने यहाँ बुला भेजने पर दबाव डाल रहे थे ?'

'वणि को भी उन्होंने आश्वासन दिया था कि अमावस्या की रात वहाँ पर चुमुरि और सुष्प नहीं रहेंगे। इसी मन्त्रणा के अनुसार चायमान ने हरयूपिया पर अमावस्या की रात्रि को आक्रमण किया था, किन्तु आपकी सतर्कता से इलविश वहाँ पहले ही पहुँच चुका था, और आप भी ठीक समय पर पहुँच गए थे।'

'यह अवश्य नई सूचना दी है तुमने अहीशुव ! महाश्रेष्ठि अपने स्वार्थ में इतने अन्धे होकर अपनी ही मातृभूमि के साथ ऐसा विद्वेष पालेंगे, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। ये सब तथ्य भी क्या तुम्हें वणि से ही मालूम हुए ?'

'हाँ भगवन्, मैं अनायास ही उस विश्वासघाती का गहरा विश्वासपात्र बन गया था।'

'अपने अभाव की पूर्ति प्रत्येक मनुष्य दूसरों से चाहता है न। किन्तु देवराज को भी तो यह तथ्य मालूम हुआ होगा ! वणि के ऊपर तब उनका विश्वास कैसे रह गया ?'

'वह रहा कहाँ था ? वणि कहता है कि देवराज महाश्रेष्ठि पर उतने नहीं, जितने वणि पर रुष्ट थे। अपना विश्वास जमाने के लिए ही तो उसे महानायक और महादेवी सेलकेत की बलि देनी पड़ी और उसके साथ ही प्रतिशोध स्वरूप इलिवश के प्राण और हरयूपिया की स्वाधीनता का उसने सौदा किया।'

'वही कथा सुनाने जा रहे हो न तुम ?'

'हाँ महापणिक ! देवराज को सुझाने के पहले उसने अपनी योजना मुझे बताई थी। वही योजना, जिसका प्रयोग उसने महानायक शुष्ण को बन्दी बनाने में किया था। अश्वों का लोभ तो आजकल युद्ध-रत सभी नायकों को है, और वणि को अश्व-संग्रह का दायित्व दिया गया है, यह हमारे सभी नायक जानते ही हैं।'

'किन्तु इलिवश तो एक बार अश्वों को लेकर मुँह की खा चुका था न।' मृगम्मदा ने कहा।

'मैं जानता था, किन्तु वणि को मैं क्यों सावधान करता ? जान शायद उसने भी रखा होगा। एक बार धोखा खा लेने पर दूसरी बार भी नहीं खाएगा, ऐसा भी कोई अनिवार्य नियम नहीं है। इसके अतिरिक्त इस बार उसे केवल हत्यारों को इलिवश तक निर्विघ्न पहुँचा देना था। इलिवश को यदि महानायक और सेलकेत की अपमृत्यु की बात विदित भी होती तब भी इलिवश का बाहर से आए हुए वणि से मिलने के लिए सहमत होना स्वाभाविक ही था।'

'तुम्हें यदि यह सब पहले ही मालूम हो चुका था अहीशुव, तो क्या तुम पहले से इलिवश को सावधान नहीं कर सकते थे ?' मृगम्मदा अपने आपको नहीं रोक सकी।

'सावधान तो मैं केवल इलिवश को ही नहीं करना चाहता था, आपको भी सूचना देना चाहता था, किन्तु शत्रुपुरी में मैं नितान्त साधनहीन और विवश था। समय भी नहीं था, किसीको सूचना पहुँचाकर सतर्क करने की सुविधा तो मुझे न थी, किन्तु वणि की योजना को विफल करने का एक प्रयत्न मेरे लिए सम्भव था। और वह था, वणि के साथ रहकर ही हरयूपिया पहुँचना और यदि पहले इलिवश को सूचित करना किसी तरह सम्भव न हो तब भी वणि के साथ जाकर इलिवश की रक्षा करना। उसके साथ वधिक होंगे यह भी मैं जानता था। मेरी योजना थी कि आवश्यकता पड़ने पर मैं सबसे पहले वणि को ही समाप्त कर दूँगा तो वधिक भी हड़बड़ा जाएँगे। हत्यारे और योद्धा में गुण का ही नहीं, परिमाण का भी तो अन्तर होता है।'

साँस रोके महापणिक बृबु और महादेवी मृगम्मदा अहीशुव की कथा सुन रहे थे, समय और स्थान का उन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रह गया था। महापणिक ने कहा, 'फिर क्या हुआ ?'

'वणि की योजना यह थी महापणिक, कि हरयूपिया पहुँचकर उसका दल नगर से बाहर रुक कर प्रतीक्षा करेगा। अर्द्धरात्रि होते ही वह दो वधिक और चार अश्व लेकर इलिवश से मिलने उसके आवास पहुँचेगा। नगरद्वार पर उसके लिए कोई

कठिनाई नहीं थी। यदि कोई न भी पहचानता तो भी महाश्रेष्ठि की मुद्रा उसके पास थी ही, मैं यदि उसी समय नगर में जाना चाहता तो वणि मुझे अवश्य किसी वहाने से रोक देता, और इससे मैं अनावश्यक उसके मन में सन्देह पैदा कर दे सकता था। इतनी दूर बढ़ आ कर उसके मन में सन्देह पैदा कर देने से मेरे अपने ही प्रयत्न में वाधा पहुँचने की सम्भावना तो थी ही, मेरे अपने प्राणों पर भी संकट आ सकता था। मैं यह भी नहीं जानता था कि हरयूपिया में इलिवश का आवास कौन सा है, खोजने की चेष्टा में भी पकड़ लिए जाने की आशंका थी। मन में यह विकल्प भी आया था प्रभो, कि जब तक उसके विश्वास में हूँ क्यों न उसीको समाप्त कर दूँ ?—यही तो होगा कि उसका दल मुझे पकड़ लेगा और मेरा वध कर देगा ! मेरे बाद हरयूपिया या इलिवश का जो कुछ हो, मैं तो अपना कर्तव्य पूरा कर चुकूंगा ! किन्तु शायद अपने बचाव के लिए ही, मन तर्क करना कहाँ छोड़ता है ? व्यर्थ प्राणों को गँवा देना भी कोई कर्तव्य हो सकता है ? अभी भी दस-पन्द्रह घटिकाएँ हैं, इनमें भी वहुत कुछ प्रयत्न किया जा सकता है ! मैंने वणि से यात्रा-श्रम उत्पन्न थकावट मिटाने के लिए जल्दी सो जाने का बहाना कर लिया, और इस तरह वणि भी अनायास मेरी ओर से निश्चिन्त हो गया। कुछ रात बीतते ही मुझे एक और सुयोग मिला। आर्यों का एक और दल तभी वहाँ पहुँच कर वणि से विचार-विमर्श में व्यस्त हो गया। मैंने अवसर पहचाना, और मैं चुपके से एक खड्ग अपने वस्त्रों में छिपा कर वहाँ से खिसक पड़ा। बाद में ही मैं समझ पाया कि वह आर्यों की एक विशाल सेना थी, जिसका उद्देश्य इलिवश की हत्या के बाद हरयूपिया को भस्मसात् कर लूट लेना था। और कदाचित् मेरे सहसा अदृश्य हो जाने के कारण हो, या और किसी कारण से हो, वणि ने आधी रात की प्रतीक्षा न की, वह उसके कुछ ही समय बाद अपनी योजना में प्रवृत्त हो गया। मैं अँधेरे में भटकता हुआ जव तक इलिवश के आवास का पता लगा पाया, तब तक तो आर्यों ने नगर-प्राचीर को बाहर ही बाहर से आग लगाना प्रारम्भ कर दिया था, और शायद बहुतेरे सैनिक नगर के भीतर भी घुस आए थे। इलिवश के आवास के सम्मुख तो भीड़ भी होने लग गई थी। सैनिक उस आवास को ही आग लगा रहे थे। अन्धकार और प्रकाश में भी तुमुल हाथापाई चल रही थी, किसी को अपने पास से जाते हुए भी पहचानना कठिन था। वणि को मैंने नहीं देखा, किन्तु जब मैं आवास में घुस रहा था, तभी सामने से एक व्यक्ति भागता हुआ मुझसे टकरा गया। उसने मुझ पर वार भी करना चाहा, किन्तु मैं तैयार ही था, उसका वार मुझ तक पहुँचे तब तक मैंने अपना खड्ग उसके वक्ष में भोंक दिया। प्रत्येक क्षण बहुमूल्य था, अतः उस व्यक्ति को एकदम भूल कर मैंने खड्ग उस गिरते हुए व्यक्ति के वक्ष से खींचा और आगे बढ़ गया।—क्या

करूँ महापणिक, दुष्ट वधिक अपना काम कर चुके थे। मेरे सामने अपने पलंग पर इलिवश रक्त में लथपथ मर्मान्तक पीड़ा से तड़फड़ा रहा था, खड्ग तब भी उसके वक्ष में घुसा हुआ था और रक्त बह जाने से उसमें उसे निकालने की शक्ति भी नहीं रह गई थी। इन्हीं हाथों से मैंने वह रक्त-रंजित खड्ग उसके वक्ष से बाहर किया। रक्त की उच्छल धार से मैं स्वयम् भी रक्ताक्त हो गया था। इलिवश की संज्ञा तेजी से लुप्त होती जा रही थी, तब भी उसने मुझे पहचान लिया, और टूटते शब्दों में मुझसे यही कहता रहा कि किसी तरह शीघ्र मैं महापणिक को सूचना दूँ ताकि हरयूपिया की ही नहीं, दुर्योण की भी रक्षा हो सके। उन लोगों ने शायद इलिवश को कहा हो कि हरयूपिया को आक्रान्त करके ही वे बैठे नहीं रहेंगे, इस बार उनका लक्ष्य दुर्योण तक पहुँच जाने का है···'

मृगम्मदा ने टोंक कर पूछा, 'यह कहा था उन्होंने ?'

'मैं स्पष्टीकरण करवाना चाहता था, किन्तु न केवल इलिवश की चेतना ही खोती जा रही थी, कक्ष तक आग की लपटें भी पहुँच रही थीं, कक्ष में धुआँ भर गया था, और उससे स्वयम् मेरा श्वास घुटने लगा था। मैंने अचेतप्राय इलिवश को अपने कन्धे पर लादने के लिए उठाने की चेष्टा की, तो बड़े कष्ट से इलिवश ने कहा, 'मुझे यहीं अग्नि-समर्पण हो जाने दो अहीशुव ! मेरे लिए तो कोई आशा है नहीं, अपना मार्ग क्यों दुरूह बना रहे हो ? मुझसे अधिक महत्त्वपूर्ण भार तुम्हारे कन्धे पर डाल रहा हूँ हरयूपिया और दुर्योण की रक्षा का !—यहाँ से निकाल ले जाकर तो मुझे अनायास आ जुटे इस दाह-संस्कार के सौभाग्य से भी वंचित कर दोगे भाई।' और तभी मेरे सामने की दीवार भड़भड़ा कर गिर पड़ी, बाहर निकलने का द्वार भी अवरुद्ध हो गया। शायद उसी समय आग की एक लपट ने इलिवश के कपड़े को छू लिया, और एक चीख के साथ इलिवश मेरे कन्धे से छिटक पड़े। मेरी आँखों के सामने लपटों का प्रकाश था या धुएँ की चादर का अन्धकार। मैं कुछ नहीं समझ पा रहा था। मैंने अँधेरे में ही छलाँग लगाई, और मैं दूसरे ही क्षण बाहर चौक में आ गिरा था। मेरे वस्त्रों ने भी आग पकड़ ली थी। मैं वहीं मिट्टी में लोटने लगा। इससे आग तो बुझ गई किन्तु मैं कुछ-कुछ झुलस भी गया था। चारों ओर भगदड़ मच गई थी। लोगों को अपना-पराया नहीं सूझ रहा था। मैं उठा और सहायता के लिए इधर-उधर देखने लगा। सहायता वहाँ कहाँ से मिलती ?—किन्तु मुझे जीवित बचना था। शायद मेरे भाग्य से ही वणि द्वारा वहाँ लाए हुए चार अश्वों में से एक अश्व आग की लपटों से भड़क कर अपने बन्धन तोड़ कर भाग खड़ा हुआ था। पर भाग कर जाता कहाँ ?—आग की लपटों के बीच वह इधर-उधर दौड़-धूप कर रहा था। जल्दी में वणि ने शायद उसकी चिन्ता न की हो। मैंने अपने

भाग्य की सराहना की। लपक कर उसे पकड़ लिया, और छलाँग लगा कर उस पर सवारी कर ली। उचित मार्ग-दर्शन के लिए वह भी किसी सवार की प्रतीक्षा ही कर रहा था। बस, उसके बाद या तो वह था या मैं। बिना खाए-पिए, बिना कहीं एक क्षण का विश्राम किए, हम दोनों एक प्राण हुए यहाँ तक पहुँच ही गए।—बस, यही मेरी कहानी है भगवन्! आप स्वामी हैं, जो उचित समझें वह करें। यदि मुझे कहीं अपराध के योग्य पाया हो तो आप मुझे दण्ड दें, मैं उसे आशीर्वाद मान कर स्वीकार करूँगा।'

वृबु ने एक बार मृगम्मदा की ओर देखा, वह मन्त्र-मुग्ध-सी अहीशुव की ओर ही देख रही थी, और अहीशुव अपनी दृष्टि पैरों पर बिछाए महापणिक के अगले वक्तव्य की प्रतीक्षा कर रहा था। महापणिक ने कहा, 'अपराध के योग्य नहीं अहीशुव, तुमने तो जो कुछ किया वह अभिनन्दन के योग्य है।—इस समय मैं तुम्हारा क्या प्रत्युपकार करूँ?—समय आने दो।—इस समय तुम विश्राम करो, विश्राम की आवश्यकता महादेवी को भी कम नहीं है।'

मृगम्मदा ने जैसे सुना ही नहीं। उसने कहा, 'अब तो महाश्रेष्ठि को बन्दी बनाने का आप के पास पर्याप्त प्रमाण हो गया है न?'

वृबु ने हँस कर कहा, 'पहले कब नहीं था?—और यह तो सोचो महादेवी, किसी को बन्दी बना कर रखने के लिए हमारे यहाँ बन्दीगृह ही कहाँ है?'

कुछ-कुछ क्रोध की मुद्रा में मृगम्मदा ने कहा, 'शासन-तंत्र की गूढ़ प्रक्रियाओं को समझना आदिम सभ्यताओं के लिए कहाँ सम्भव है? जो हो, अब भी सीखिए। बन्दीगृह कोई आकाश से नहीं टपकता। इच्छा होते ही किसी भी कक्ष को बन्दीगृह बनाया जा सकता है।'

वृबु ने मृगम्मदा के व्यंग्य पर एक और मुस्कराहट फेंकी और कहा, 'ईंट-पत्थर की चार-दीवारी की अपेक्षा विवेक और पश्चात्ताप की एक दीवार ही बहुत कड़ी होती है। शासन-तंत्र तो दूसरों पर शासन करने की ही शिक्षा दे सकता है, स्वयम् पर शासन करने की शिक्षा तो उससे मिलती नहीं। इसके अतिरिक्त महाश्रेष्ठि ने नया तो कुछ किया नहीं। उन्होंने वही तो किया है, जो वे सदा से करते आ रहे हैं। तब हमने बन्दी नहीं किया तो अब क्यों करेंगे?'

'यदि पहले ही उन्हें बन्दी कर लिया होता तो दुर्योण पर ये विपत्तियाँ नहीं आतीं।'

'विपत्तियों के आने का क्या एक ही द्वार होता है महादेवी?—ठोस दीवार में यदि वह सेंध न मार सके तो विपत्ति ही क्या हुई?–और यह भी तो होता है कि कहीं से रिस-रिस कर पानी बहता रहे तो दीवार को एकाएक संकट नहीं रहता?'

बृबु की निश्छलता और सरलता पर मृगम्मदा भी हँस पड़ी, 'सुरक्षा-फलक न ?—जैसा कि अपनी जल-प्रदाह-योजना में लगा हुआ है ?—पर कृपानिधान, उस पर तो आपका नियन्त्रण है, महाश्रेष्ठि पर आपका क्या प्रभाव है ?—वह तो आपकी जड़ काटने को ही आतुर है !'

'तो कटने दो न। मेरी जड़ ही कौनसी दुर्योण की जड़ है ?—समाज में अर्बुदों का ही तो बहुमत है।'

इस बार अहीशुव ने कहा, 'आप सच कहते हैं महापणिक, दीप-स्तम्भ तो अकेला ही होता है, जिसका संकल्प ही घने से घने अन्धकार को नष्ट करने का होता है, और इसीलिए उसे ही तो प्रचंड आँधी, तूफान आदि का सतत सामना करना पड़ता है'....'

महापणिक ने देखा कि बात फिर उन्हींकी ओर आ रही है, तो अहीशुव को बीच ही में रोक कर बोले, 'अब और अधिक विपत्ति तो महाश्रेष्ठि ला नहीं सकते। एक काम क्यों न करें ? सवेरे अहीशुव को लेकर उनके पास चला जाए। जैसे हम महाश्रेष्ठि और वणि के बीच किसी गुप्त सम्बन्ध को जानते ही नहीं हैं। अहीशुव ने जो कुछ देखा अनुभव किया है, महाश्रेष्ठि के लिए भी विचारणीय है। वणि के इस उद्घाटन के बाद हमें आगे क्या कदम उठाना चाहिए इस पर वे क्या कहते हैं, यह भी मालूम हो जाएगा। वैसे भी एक वरिष्ठ सदस्य के नाते उनके परामर्श का महत्त्व तो है ही, और यों भी उनका सम्मान रखने में हमारी हानि ही क्या है ?—तो अब समय भी बहुत हो रहा है। विश्राम की आवश्यकता आप दोनों को ही कम नहीं है।'

उठते-उठते मृगम्मदा बोली, 'यदि सवेरे महाश्रेष्ठि के यहाँ मैं न जाऊँ तो क्या कुछ आपत्ति है ?—मैं बहुत स्वस्थ भी नहीं अनुभव कर रही हूँ।'

'स्वास्थ्य की बात हो तो मैं आग्रह नहीं करूँगा। अगर चलतीं तो देखतीं कि उसका विवेक ही उसे प्रताड़ित करने लगा है।'

'उनके विवेक या पश्चात्ताप में मुझे रुचि नहीं है, किन्तु महापणिक की रुचि से मेरा कोई पार्थक्य न समझा जाए।'

'उसे कहने की आवश्यकता नहीं है महादेवी !' मृगम्मदा मुस्कराती हुई अपने कक्ष में चली गई; तो बृबु ने अहीशुव के लिए विश्राम की व्यवस्था पर ध्यान दिया।

दूसरे दिन प्रातःकालीन कृत्यों से निपट कर महापणिक बृबु और अहीशुव दोनों ही महाश्रेष्ठि अर्बुद के आवास पर पहुँच गए। दूर से आती हुई रथ की ध्वनि से ही महाश्रेष्ठि ने पहचान लिया था। उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि महापणिक उन्हें न

बुला भेज कर स्वयम् ही उनके आवास पर चले आरहे हैं। गत प्रसंग पर वणि को लेकर जो कटुता पैदा हो गई थी, उसको देखते हुए तो यह कल्पना तक नहीं की जा सकती थी कि कहीं कोई सद्भाव बच रहा है। अवश्य कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोजन आ पड़ा है। वणि के सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण मिल गया है क्या ?—आशंका, भय और विस्मय से भरे हुए महाश्रेष्ठि ने उनका द्वार पर ही स्वागत किया, 'मेरे अहोभाग्य।—किन्तु आपने कष्ट किया ?—मुझे ही स्मरण कर लिया होता !'

'दर्शन का पूर्वाभास स्मरण ही तो है। और दर्शन हो जाएँ तो कष्ट कैसा ?' बृबु ने कहा।

'आप महापणिक जो ठहरे.....' शायद उनके स्वर में व्यंग्य रहा हो।

'ओह्हो।—' बृबु ने किंचित् मुस्करा कर कहा, 'तो क्या महापणिक को अपने ज्येष्ठों-वरिष्ठों के दर्शन-अभिवादन का अधिकार भी नहीं रहता ?'

भीतर अपने कक्ष का मार्ग बतलाते हुए अर्बुद ने कहा, 'अपनी पद-मर्यादा से ही महापणिक सब पणिकों का ज्येष्ठ होता है। प्रश्न अधिकार का नहीं है महापणिक, वह है प्रतिष्ठा का !—और आयुष्मान् अहीशुव, तुम कब आए ? तुम तो महानायक शुष्ण के सहायक बन कर गए थे न ?'

अहीशुव ने मस्तक झुका कर महाश्रेष्ठि का अभिवादन किया और कहा, 'हाँ महाश्रेष्ठि, आप ठीक कहते हैं ! और लौटा मैं कल दुपहर को ही हूँ—'

'महानायक का कुछ समाचार मिला ?—वे कुशल से तो हैं न ?'

इस बार उत्तर बृबु ने दिया, 'जो समाचार अहीशुव लाया है, वे शुभ नहीं हैं महाश्रेष्ठि ! उन्हीं के कारण आपसे शीघ्र परामर्श और समुचित निर्देश की आवश्यकता हो गई है—'

'आइए, भीतर बैठ कर बातचीत की जाए। कुछ शीतल-उष्ण आपानक–'

'नहीं नहीं महाश्रेष्ठि, आप किसी औपचारिकता में न पड़ें। हम इसे अपना ही घर समझते हैं, और हम सब तरह से निपट कर ही आ रहे हैं, यह जानते थे कि आपके यहाँ तो कोई आपका सहायक भी नहीं है, और भृत्यों से कहाँ आतिथ्य पूरा किया जा सकता है ?'

प्रारम्भिक औपचारिकता के बाद भीतरी कक्ष में बैठे अहीशुव ने अपने अभियान का आद्योपांत इतिहास यथातथ्य कह सुनाया तो अर्बुद से कई क्षणों तक तो कुछ कहते ही नहीं बना। गई बार वणि के पक्ष में जो तर्क उन्होंने प्रस्तुत किए थे, वे इस प्रत्यक्ष साक्ष्य ने मिथ्या प्रमाणित कर दिए। इसके अतिरिक्त इस यात्रा में वणि

ने अपनी स्वत: प्रेरणा से जो कुछ किया है, वह तो स्वयम् उनके अपने वणि के भविष्य-जीवन के लिए संकटजनक हो गया है।--क्या मुँह लेकर वह यहाँ लौटेगा? कोई यहाँ उसे जीवित छोड़ेगा?--और स्वयम् अर्बुद का भविष्य?--अहीशुव ने जो कुछ कहा है, क्या उसकी प्रामाणिकता पर शंका करने का कोई विकल्प है?-महानायक शुष्ण और उसकी पत्नी सेलकेत की हत्या इतनी निर्मम है, कि उसे मनगढ़न्त कहानी कह कर टाला नहीं जा सकता। आखिर वणि के अबतक, सफल या असफल, लौट कर न आने का कारण और हो भी क्या सकता है?--उसकी पत्नी कैकसी भी तो दो-तीन बार आकर पूछ गई है।--जिस विश्वासघात की चर्चा अहीशुव कर चुका है, वणि के लिए वह असम्भव भी तो नहीं है।--पर क्या वह अपने स्वामी की ही जड़ खोदने पर उतारू हो जाएगा? उसका वह भक्ति-प्रदर्शन क्या कपट ही था?—यदि उन्होंने ही उसे धूल से न उठाया होता तो कौन पूछता आज उसे?—और फिर अनायास यह हरयूपिया पर आक्रमण और इलिवश की हत्या?—वधिक ने ही की हो चाहे, पर निमित्त तो वही हुआ है न!—देवराज ने चायमान की हत्या का अपराधी वणि को ही ठनराया होगा--वणि की प्रेरणा से ही तो उसने हरयूपिया पर अमावस्या की रात्रि में आक्रमण किया था।—तब तो वणि के लिए उस अपराध के प्रक्षालन का इलिवश की हत्या से बढ़कर और क्या विकल्प हो सकता था?—पर प्रश्न यह है कि देवराज को तुष्ट करने की उसे आवश्यकता क्या आ पड़ी? क्या उसे महाश्रेष्ठि के पार देवराज से सीधे किसी वरदान की आशा या अपेक्षा है?

मौन को वृबु ने ही तोड़ा, 'वणि यह सब कुछ कर सकता है, इसकी आपको कभी कल्पना हो सकती थी महाश्रेष्ठि?'

अर्बुद ने एक दीर्घ निश्वास परित्याग किया और कहा, 'मानव-स्वभाव बड़ा विचित्र है महापणिक!—किन्तु यह भी तो हो सकता है कि वह निपट अनिच्छा से ही परिस्थितियों का शिकार बनता चला गया हो?'

—अर्थात् अर्बुद अब भी अपने छल को स्वीकार करना नहीं चाहता:—महापणिक ने एक अर्थपूर्ण दृष्टि अहीशुव पर डाली और कहा, 'आपका तर्क यथार्थ है महाश्रेष्ठि।—अहीशुव ने एक तथ्य, कदाचित् आपके सम्मान के कारण ही आप पर प्रकट नहीं किया। उसे प्रकट करने का मेरे लिए भी कोई प्रयोजन नहीं था, यदि उसमें आप ही के लिए संकट की आशंका न होती।'

'मेरे लिए संकट की आशंका?—वणि से सम्पर्क के कारण ही महापणिक क्या मुझे अपराधी मान कर बन्दी बनाना चाहते हैं?—तो क्या इसीलिए स्वयम् आपने यहाँ पधारने का कष्ट किया?'

बृबु ने कुछ-कुछ मुस्कराते हुए कहा, 'नहीं महाश्रेष्ठि। किसी को बन्दी बनाने के लिए महापणिक को स्वयम् कहीं नहीं जाना होता। आप ही के कथनानुसार प्रश्न प्रतिष्ठा का न भी हो, तो भी उनकी निष्ठा का तो है।—आप तो जानते हैं, आप मेरे लिए सदैव पिता के समान पूज्य रहे हैं और हैं। आपको मुझसे या दुर्योण से ही किसी संकट की आशंका हो तो यह मेरे लिए, दुर्योण के महापणिक के रूप में लज्जा की बात होगी।'

'इस नम्रता के व्यर्थ आडम्बर को छोड़ कर स्पष्ट कहिए न, क्या चाहते हैं आप?—मैं सब कुछ के लिए तैयार हूँ।'

'आप मुझे गलत समझ रहे हैं महाश्रेष्ठि, और यह सब सुन कर मैं लज्जित हूँ।—क्या आप कल्पना के रूप में भी वणि के विरुद्ध यह नहीं सोचना चाहते कि आर्यों के इन दुहरे पराभवों का दायित्व वह आपके ऊपर डाल दे?'

'मेरे ऊपर?'

'आवश्यक नहीं कि वे सत्य हों। महानायक शुष्ण और सेलकेत के आक्रमण का पता वणि को अवश्य नहीं था, किन्तु हरयूपिया पर आक्रमण करने के लिए चायमान को तो उसीने प्रेरित किया था, और यह बात देवराज से छिपी नहीं हो सकती। इसके बावजूद यदि वह देवराज का विश्वास सम्पादित कर सका है, तो इसका क्या अर्थ हो सकता है? क्या देवराज या आर्यगण यह नहीं जानते कि वणि आपके प्रतिनिधि के रूप में ही उनसे सम्पर्क करता है?—अहीशुव ने स्वयम् वणि के मुख से सुना है कि देवराज आपसे भयंकर प्रतिशोध लेने के लिए तुले बैठे हैं, और घटनाओं की पृष्ठभूमि में यह किसी के मस्तिष्क की कपोल-कल्पना भी नहीं लगती।'

स्पष्ट अभियोग सुन कर ही अर्बुद के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगी थीं। अब उसके स्वर में वह तेज न था, जब उसने कहा; 'इसका अर्थ तो यही हुआ न महापणिक, कि आप भी चायमान को आक्रमण की प्रेरणा देने वाला मुझे ही मानते हैं?—मुझे संकट और हो ही कहाँ से सकता है?'

'देवराज से महाश्रेष्ठि, देवराज से। अहीशुव तो वणि के साथ, उसका विश्वासपात्र बन कर रह आया है। विश्वासघात की यही नियति तो देखी गई है! वह कड़ी नहीं, शृंखला होती है। यदि कोई विश्वासघात करता है तो उसी मात्रा में उसके अनजाने ही उसके पीछे और एक विश्वासघात आ जुटता है। मुझे सचमुच दुःख है महाश्रेष्ठि, कि आप मुझ पर विश्वास नहीं कर पा रहे हैं। कारण भी मैं नहीं जानता। मैं तो आपको आश्वस्त करना चाहता हूँ कि स्वयम् महापणिक एवम् दुर्योण अपनी समस्त शक्ति के साथ बाहर के किसी भी संकट से आप की रक्षा करने में सदैव तत्पर रहेगा। आप अपने आपको किसी भी तरह अकेला अनुभव न करें।'

'क्या आप सचमुच समझते हैं कि मुझे देवराज से किसी अनिष्ट की सम्भावना है ?'

'सम्भावना न हो महाश्रेष्ठि, तब तक तो बहुत ही अच्छा है, किन्तु देवराज तो अकारण उत्पीड़न और अत्याचार के लिए भी प्रख्यात है। अतः सावधान रहने में क्या आपत्ति है ? प्रकट रूप से अकेले आप पर आक्रमण का तो प्रश्न ही नहीं उठता और दुर्योण अपनी प्रतिरक्षा के लिए अपने समस्त साधनों के साथ सदैव तत्पर है ही, सावधान आपको अपने व्यक्तिगत व्यवहार में ही रहना है ! जैसे कोई अपरिचित कभी आपको कोई सन्देश लाकर कहीं ले जाना चाहे, अथवा ऐसा ही कोई व्यक्तिगत व्यापार हो—आप स्वयं बुद्धिमान् हैं, और अपने व्यक्तिगत व्यवहार की व्याप्ति आप स्वयं ही समझ सकते हैं।'

यद्यपि अर्बुद के स्वर में कम्प पैदा हो गया था, किन्तु तब भी अपने स्वाभिमान की टेक रखने के लिए उन्होंने कहा, 'दुर्योण के हित को छोड़कर तो मेरा कोई व्यक्तिगत व्यवहार है नहीं महापणिक। आखिर मेरे आगे पीछे और है ही कौन, जिसके लिए मैं व्यक्तिगत चिन्ता करूँ ?'

'यदि आपको मेरी चेतावनी अनावश्यक या असंगत लगी हो तो कृपया उसे भूल जाएँ। मेरे इस समय आपकी सेवा में प्रस्तुत होने का यह उद्देश्य है भी नहीं। वस्तुतः मैं तो आपसे इन परिस्थितियों में दुर्योण को आगे क्या करना चाहिए, इस विषय में परामर्श करने और आपसे समुचित निर्देश लेने आया हूँ। अहीशुव की मान्यता है कि वे हरयूपिया को नष्ट-भ्रष्ट करके ही रुके नहीं रहेंगे, वे दुर्योण की दिशा में अवश्य आगे बढ़ेंगे। इसीलिए अहीशुव का तो अनुरोध है कि तत्काल हरयूपिया को उसी तरह सैन्य-सहायता पहुँचाई जाए, जैसी इलविश को पहुँचाई गई थी।'

अबुर्द ने जैसे कुछ न सुना हो, उसी व्यथितमन से उसने कहा, 'महापणिक क्या मेरा परिहास करना चाहते हैं या कि मेरी परीक्षा ले रहे हैं ?'

वृबु ने उनकी आँखों में आँखें डालते हुए कहा, 'आपको मुझ पर विश्वास नहीं हो रहा है, यही न ? मेरा दुर्भाग्य। किन्तु यह क्या आप नहीं देखते कि अब जितने अकेले आप हैं, उतना ही मैं भी रह गया हूँ ? परिहास या परीक्षा तो यह नियति ले रही है तात, क्रूर नियति ! आपकी नहीं, यह तो दुर्योण की है, उसके महापणिक की है। और यदि आप अपने को दुर्योण का समझते हों तो अवश्य आपकी भी है।'

वृबु के मुँह से अकस्मात् निर्गत इस 'तात' सम्बोधन से अर्बुद के हृदय-मरुस्थल में मूर्छित पड़ा एक तार सहसा झंकृत हो उठा, दिगन्त-हीन तप्त भूमि में खड़े ठूंठ

जैसे उसके व्यक्तित्व को किसी शीतल-मिष्ट जल स्रोत का स्पर्श मिल गया ! देवराज का अव्यक्त भय भी मानों अब उसकी किसी वर्जना की चिन्ता नहीं करेगा। उसने रुद्ध स्वर में कहा, 'पर इतना हो जाने पर भी सचमुच आप मुझ पर विश्वास कर रहे हैं ?'

'विश्वास की यह तो कसौटी है महाश्रेष्ठि। यदि आपने कुछ किया ही हो, तो उसीके साथ तो किया है, जो सचमुच आपकी है। वह मेरी भी है, इससे आपका दायित्व तो कम नहीं हो जाता। बल्कि इससे तो अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के बावजूद, हम परस्पर एक दूसरे से आ जुटते हैं, अपने स्वार्थों में भी। अपने लिए मैं चाहे कभी आप पर विश्वास न भी करूँ, किन्तु जो हमारी दोनों की है, उसके लिए आपको अलग मान कर तो सोचा भी नहीं जा सकता।'

महाश्रेष्ठि ने लज्जा से भर कर नीची दृष्टि से ही कहा, 'आप महान् हैं आयुष्मान् वृबु, दुर्योण आप जैसी विभूति को पाकर सचमुच धन्य है ! आपके अतिरिक्त इस स्वनाम-धन्य गौरव-शालिनी मेरी मातृभूमि का और कोई महापणिक नहीं हो सकता था। किन्तु—' वे रुक गए, उनका स्वर ही रुद्ध नहीं हो गया था, आँखें भी आर्द्र हो उठी थीं।

'कहिए तात, निस्संकोच कहिए अपने मन की बात।' वृबु ने प्रेरित किया।

'मेरे मन का संशय ही है महापणिक। क्या इसमें महादेवी मृगम्मदा भी आपके साथ सहमत हो सकेंगी ?' अर्बुद ने अपने मन की शंका व्यक्त की।

वृबु ने किंचित् मुस्करा कर कहा, 'इस समय वे साथ नहीं हैं, क्या इसीलिए आपके मन में यह शंका उठ रही है ?'

'नहीं महापणिक, उनके न आने की कोई बात नहीं है ! बल्कि आपका मेरे यहाँ इस तरह अहेतुक पधारना मेरे लिए अयाचित गौरव का कारण है। मैं तो स्पष्ट उनके मनोभाव की बात ही कह रहा हूँ। वे तो दुर्योण की नहीं हैं ! वे मुझे कैसे और क्यों आत्मीयता के भाव से जांचेंगी ? और न जांच सकें इसके लिए मैं उन्हें कभी दोष भी नहीं दूँगा।'

'वे स्वयम् आकर आपको अवश्य आश्वस्त करतीं महाश्रेष्ठि, किन्तु मैंने ही उन्हें रोक दिया था, इसलिए नहीं कि आवेश में वे कुछ भला-बुरा कह बैठतीं—आवेश उनको शीघ्र हो आता है, किन्तु क्या आपने अनुभव नहीं किया कि वह निर्विवाद मेरी ही सापेक्ष्यता में होता है?—कह लीजिए, मेरे ही व्यक्तित्व का एक पूरक-भाग, जो मेरी प्रकृति से तो उत्पन्न नहीं होता, किन्तु मेरे नियन्त्रण से भी बाहर नहीं जा सकता ?—'

'मैं जानता हूँ आयुष्मान्, तुम एक प्राण दो शरीर हो।' अनायास अर्बुद के मुँह से निकल पड़ा।

'वे तो आ रही थीं, किन्तु आप जानते हैं न? यह उनके गर्भ का अन्तिम मास चल रहा है। अहीशुव के इन समाचारों ने रात को उन्हें काफी विचलित एवम् उत्तेजित कर दिया था।—वे पणिक न हों, किन्तु यह तो आप जानते हैं महाश्रेष्ठि, उन्होंने अपना सर्वस्व पणिकों की सेवा में ही लगा दिया है। उनका अपना स्वार्थ रह ही क्या गया है?'

'मैं भूल ही गया था महापणिक, कि यह अन्तिम मास है। उन्हें तो बहुत सतर्क रहना चाहिए अब। इस दृष्टि से तो वे अब भी जितनी सक्रिय हैं, वह उनके लिए संकटजनक हो सकता है। बल्कि उन्हें तो ऐसे उत्तेजक समाचारों से इन दिनों विरत ही रहना चाहिए था!—आप ही उन्हें क्यों नहीं सावधान करते?—और महा-पणिक, अब आप उन्हें शीघ्र विवाहित करलें। उनके होने वाले पुत्र की दुर्योण को अत्यन्त आवश्यकता है।'

वृबु के हृदय से अलक्ष्य ही एक लम्बी साँस निर्गत हो गई, वे बोले, 'उस आव-श्यकता से कई अधिक घनी आवश्यकता अभी तो मुझे उनकी स्वयम् की ही है महाश्रेष्ठि।'

'उसमें कहाँ कुछ बाधा है?'

'यह होने वाली सन्तान की ही तो!—आप तो जानते ही हैं, उर्वशियाँ अपनी सन्तान को ऋष्य मानती हैं, और उसके जन्मते ही या तो उसे नष्ट कर देती हैं, या फिर उसके पिता का ही त्याग कर देती हैं।—अब तो वे अप्सरा भी नहीं रहीं, ताकि सन्तान को कम-से-कम बात-रशना कर देने की ही सम्भावना रहती।'

'पर वे अब उर्वशी नहीं हैं आयुष्मान्।—केवल उन्होंने ही पणिकों को अपनाया नहीं है, पणिकों ने भी उनको सर्वान्तःकरण से अपनाया है। अधिकार न सही, उनका अनुरोध तो उन्हें नहीं टालना चाहिए। मैं उन्हें समझाऊँगा। दुर्योण को जब उन्होंने इतना दिया है, तो एक सन्तान से वे वंचित न करें। बस!'

वृबु ने छत की ओर दृष्टि डालते हुए कहा, 'आप पितृव्य हैं, आपके अनुरोध-विरोध का कुछ प्रभाव पड़े तो मेरा सौभाग्य!—अभी तो आप यह परामर्श दें कि आर्यों के इस सम्भावित आक्रमण के सम्मुख दुर्योण क्या प्रतिरोधात्मक या प्रतिरक्षात्मक कार्यवाही करे?—अहीशुव अभी भी चाहता है कि हरयूपिया को तुरन्त सहायता भेजी जाए, और वह भी उस गुल्म के साथ जाए।'

'पर हरयूपिया में अब सहायता किसकी की जायगी अहीशुव ?—तुम कह रहे हो, इलिवश अब नहीं रहा। चुमुरि की पहले ही संघर्ष में हत्या कर दी गई थी। सुष्प का भी कुछ ठिकाना नहीं है कि वह जीवित है या मृत ! और वह तो अभी किशोर ही है, उसे तो गिना भी नहीं जा सकता ! इसके अतिरिक्त, जैसा कि तुम कह रहे हो, यदि वे दुर्योण की दिशा में बढ़े आ रहे हों तो मार्ग में ही क्या तुम स्वयम् मौत के मुँह में नहीं पहुँच जाओगे ?'

'यही महापणिक भी कह रहे हैं महाश्रेष्ठि।' अहीशुव ने कहा, 'यह मैं भी स्वीकार करता हूँ कि हरयूपिया अब हमारी सहायता के पार जा पहुँचा है, किन्तु शत्रु को दुर्योण तक आने ही क्यों दिया जाए ?'

'तुम्हारा आशय है उन पर आक्रमण किया जाए ?' महाश्रेष्ठि ने पूछा, किन्तु तभी महापणिक की ओर देख कर बोले, 'गए कुछ दिनों से अपनी नीति में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है। हुआ है न महापणिक ?—उसके गुण-दोष के विवेचन की क्षमता या अधिकार मुझ जैसे नागरिक को नहीं है। आप ही साधिकार इस बारे में कुछ कह सकते हैं।'

'उसे नीति में परिवर्तन क्यों कहते हैं महाश्रेष्ठि ?' महापणिक ने कहा, 'वह तो प्रसंग-विशेष की आवश्यकता थी, और उसका लाभ भी हमें मिला ही।—महाराज सुदास की सेना पर पीछे से आक्रमण का अभिप्राय वस्तुतः पश्चिम में आर्यों के बढ़ते प्रभाव को रोकना ही तो था। और इलिवश का प्रयाण तो स्पष्टतः शतद्रु-तट पर पिठीनस की बस्तियों पर आर्यों के आक्रमण को विफल करने के लिए था। ये दोनों ही तात्कालिक समस्याएँ थीं, जिनका तात्कालिक उपचार ही आवश्यक था !'

अर्बुद ने मुस्कराते हुए कहा, 'परिवर्तन न सही, कुछ अन्तरण, कुछ खिसकाव तो है न ?—मैं एक निपट व्यवसायी हूँ, बीच के लेन-देन को नहीं देखता। अन्तिम लाभ-हानि की खतौनी ही मेरे लिए परिमेय हो, तो क्या आप मुझे क्षमा नहीं करेंगे ?'

'महत्व अवश्य अन्तिम लाभ-हानि का ही है महाश्रेष्ठि, किन्तु कार्य और कारण में दूरी भी तो लम्बी हो सकती है ! और फिर कार्य-कारण की श्रृङ्खला ही क्यों, कारणों की भी तो श्रृंखला हो सकती है। हरयूपिया में कार्य-कारणों की श्रृंखला स्पष्ट है, किन्तु कुभा-तट पर तो एक कारण ने ही अनायास दूसरे कारण को जन्म दे दिया था।'

'कैसे ?' अर्बुद ने जिज्ञासा की।

'आक्रमण शेष होते ही यदि महानायक शुष्ण लौट आते तो परिस्थिति बिलकुल ही दूसरी होती, किन्तु उस विजय ने उनके मन में एक और स्वप्न जगा दिया कि महाराज सुदास को क्यों न बन्दी बना लिया जाए ?'

'उससे उसमें और भी कारण जुड़ गए,' अर्बुद ने हलके स्वर में कहा, 'वणि ने अपने लिए अवसर खोज लिया, और कारणों की शृङ्खला जुड़ती चली गई।'

अहीशुव अपने ही विचारों में खोया हुआ था। बृबु ने उसका ध्यान भंग करते हुए पूछा, 'अहीशुव, इन दोनों ही प्रसंगों पर तुमने सक्रिय भूमिका निभाई––'

'सक्रिय कहाँ महापणिक ?' अहीशुव ने बीच ही में कहा, 'यहीं तो मैं लज्जित हूँ। वणि का सारा रहस्य जानकर और सदा उसके साथ बना रह कर भी मैं कुछ नहीं कर सका और नायक इलिवश का निर्मम वध हो गया मेरे देखते-देखते––'

'यह दोष तुम्हारा नहीं भाई, परिस्थितियों का है। जो बीत गया, अब उसका कोई उपाय नहीं है, और उस पर अनुशोच व्यर्थ है। अब यह कहो कि तुम्हारे विचार से आगे क्या करना उचित होगा, ताकि पणिकों को और दुर्योण को और अधिक विपत्तियों का सामना न करना पड़े।'

'मेरी तुच्छ बुद्धि में महापणिक, यहाँ निष्क्रिय बैठे उनके आक्रमण की प्रतीक्षा करना हमारे लिए कभी लाभदायक नहीं होगा। यहाँ रह कर यदि हम उनके आक्रमण को विफल भी कर देते हैं, और विफल अवश्य कर ही देंगे, किन्तु मूल्य हमें ही चुकाना होगा, उन्हें नहीं। वह मूल्य अतीत में हम बहुत चुकाए बैठे हैं, किन्तु उसके फल में हमें बराबर और भी मूल्य चुकाने के लिए विवश होना पड़ा है। हरयूपिया न भी जाया जाए तब भी हमें अपने ही द्वार पर युद्ध न लड़ना पड़े इसके लिए तो उपाय करना ही चाहिए।'

बृबु ने अर्बुद की ओर देख कर कहा, 'अन्तिम लाभ-हानि का प्रश्न न हो महाश्रेष्ठि, तो अपने द्वार से हट कर युद्ध लड़ने का लाभ भी हमें मिला ही है।'

अर्बुद ने एक लम्बी साँस ली और कहा, 'आप ठीक ही कहते हैं महापणिक।— अन्तिम भी कब जाकर अन्तिम होता है, यह भी कौन कह सकता है ? इस सारी शृङ्खला का अन्त अभी है कहाँ ?'

महापणिक ने सहमति में सिर हिलाते हुए कहा, 'और उसकी खतौनी हम ही करेंगे या इतिहास का कोई दूसरा ही पुरुष, यही निश्चय से कैसे कहा जा सकता है ?—मेरा अपना प्रस्ताव है, महाश्रेष्ठि, कि हम अपनी समस्त उपलब्ध शक्ति को इस समय दो भागों में बाँट लें। एक केन्द्रीय-भाग नगर-प्राचीर के भीतर ही शत्रु

के लिए दूसरी प्रतिरक्षा-पंक्ति के रूप में विद्यमान रहे, और दूसरा भाग नगर से बाहर काफी दूर व्यूह बना कर उनकी प्रतीक्षा करे, ताकि पहला निर्णायक संघर्ष वहीं पर हो। इसके अतिरिक्त इन्हीं दोनों दलों से चुन कर एक छोटे-से अग्रवर्ती लोमाशदल का संगठन किया जाए, जो आगे बढ़ता रह कर, न केवल शत्रु की गति-विधि का ही सन्धान लेता रहे, बल्कि लुक-छिप कर आवश्यकतानुसार उनका शक्ति-परीक्षण भी करता रहे।'

अहीशुव ने उत्साहपूर्वक कहा, 'महापणिक, उस लोमाश-दल में मुझे भी स्थान दिया जाए।'

'यदि महाश्रेष्ठि इस विचार को पसन्द करते हैं, तो तुम्हें ही उसका नेतृत्व करना पड़ेगा।'

अर्वुद ने कहा, 'शक्ति-परीक्षण का तात्पर्य समझते हो न अहीशुव?'

अहीशुव ने उत्साह से उत्तर दिया, 'उनकी शक्ति का अपचय भी न?—यही होगा महाश्रेष्ठि! वहाँ का सारा भूगोल मेरा देखा हुआ ही नहीं छाना हुआ है!'

'तो वहीं नए इतिहास की रचना करनी होगी अहीशुव--।' बृबु ने कहा, 'युद्ध की सम्भावना को भी हमें समाप्त कर देना चाहिए। इन घुमन्तू आर्यों ने वातावरण को ऐसा क्षुब्ध बना दिया है कि मानव को सृजन का समय ही नहीं मिल पाता। आत्म-रक्षा में ही जिस जीवन की सारी शक्ति लग जाए उसकी सार्थकता ही क्या है?—यह निर्णायक युद्ध होगा महाश्रेष्ठि! यदि मनुष्य के जीवन से युद्ध एकबारगी ही नहीं हट जाता, तो उसे पशु से विशिष्ट मानने का कोई अर्थ नहीं है! बुद्धि-तत्व तब प्रकृति का एक नितान्त अनावश्यक विलास ही रह जाएगा!'

महाश्रेष्ठि ने बृबु की ओर देखा, फिर अपनी आँखें बन्द कर लीं और कहा, 'श्रमणों ने इसी लिए संसार-त्याग की बात कही है आयुष्मान्। महानायक शुष्ण के पिता महाभाग सुवर्णक इसीलिए अपनी शेष अवस्था में संसार के सब विलासों को तिलांजलि देकर वानप्रस्थ हो गए थे। उन्हें, जहाँ कहीं भी हों वे, आज अपने पुत्र-वधू के कारुणिक अन्त का सामना नहीं करना पड़ा।–महाश्रमण आदि-तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र ही स्वयम् भयानक युद्धों में प्रवृत्त हुए। जन्मज़ात ही नहीं, यह तो मानव की वंशजात आदिम-प्रवृत्ति है महापणिक। हम केवल स्वप्न ही देख सकते हैं। पशु हमसे अच्छा है, उसे लोभ नहीं होता, उसे ईर्ष्या नहीं होती, उसे अभिमान नहीं होता। उसका सारा पुरुषार्थ आहार, निद्रा, भय और मैथुन तक ही सीमित रहता है। मैं अपनी ही बात कहूँ तो मुझे स्वीकार करने में तनिक भी लज्जा नहीं है बृबु, कि मैं पशु से नीचे स्तर पर गिरा ही हूँ, मानवता के स्तर पर चढ़ा नहीं, और शायद साधारणतः मनुष्य की यही कहानी है!'

बृबु ने देखा कि महाश्रेष्ठि पश्चात्ताप में कहीं गहरे न उतर जाएँ, इसलिए विषय बदल कर उसने कहा, 'अग्रवर्ती लोमाश-दल का नेतृत्व तो अहीशुव करेगा महाश्रेष्ठि ! अन्य दो दलों के नेतृत्व के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं ?'

उदासीन भाव से अर्वुद ने कहा, 'तुमने अवश्य कुछ सोचा होगा न ! योजना तो तुम्हारी ही है !'

'विकल्प भी कहाँ है महाश्रेष्ठि ?--अपरान्त-दल का दायित्व मैं लेता हूँ, स्थानीय दल आपकी देखरेख में रहेगा।' बृबु ने कहा।

'मेरी देखरेख ?' महाश्रेष्ठि ने किंचित् आश्चर्य से पूछा।

'क्यों ?—आपको आपत्ति है ?'

अर्वुद ने एक लम्बी साँस ली, 'मेरे भाग्य में यह विडम्बना भी है क्या ? मैं तो सोच रहा था महापणिक, कि यदि मुझे आप निवृत्त कर सकते तो मैं भी अपने पुराने मित्र सुवर्णक के मार्ग का अनुसरण करता। भला हो वणि का, उसने मेरी आँखें तो खोल ही दी हैं !'

'नहीं तात, इस समय नहीं। दुर्योण को निस्सहाय छोड़ जाकर आप कभी मानसिक शान्ति नहीं पा सकेंगे। पूज्यपाद सुवर्णक यहाँ विद्यमान होते तो वे भी इस समय दुर्योण को नहीं छोड़ते।'

'किन्तु मैं एक विशुद्ध नागरिक, युद्ध-व्यवसाय का आद्यक्षर भी तो नहीं जानता !-और मेरे इतने बड़े दुष्कृत्य पर भी मुझ पर इतना बड़ा विश्वास थोप रहे हो ?'

'हाँ तात !–आपकी वस्तु आपको सौंपने में विश्वास का प्रश्न ही कहाँ उठता है ! और भूल किससे नहीं होती ? रहा प्रश्न आपकी नागर-अस्मिता का, सो आप नागर ही रहें। मैं स्थानीय स्थिति पर भी बराबर दृष्टि रख सकूँगा। वैसे महादेवी मृगम्मदा आपकी सहायता के लिए प्रस्तुत रहेंगी ही ! वे तो अपरान्त-दल का नेतृत्व लेने के लिए समुत्सुक थीं, किन्तु आप ही कहें, उन्हें इस अवस्था में यह दायित्व कैसे दिया जा सकता है ?'

'सो तो ठीक है महापणिक, किन्तु यहाँ आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें। स्थानीय-दल का नेतृत्व आप महादेवी को दें, और उन्हें आश्वस्त कर दें, उनके निर्देश में उनकी सहायता के लिए मैं सदैव प्रस्तुत रहूँगा।'

बृबु ने हँस कर कहा, 'यह आप दोनों के बीच का प्रश्न रहा महाश्रेष्ठि—यदि उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक रहा तो सन्ध्या को मैं उन्हें यहाँ ले आऊँगा—'

'नहीं नहीं, वे कष्ट करें ?—मैं स्वयम् ही सन्ध्या को वहाँ पहुँच जाऊँगा महापणिक।'

'यह तो और भी अच्छा है, तब तो सबका सान्ध्य-भोज साथ ही हो।'

महापणिक बृबु और लोमाश-दल का नव-निर्वाचित नायक अहीशुव जब महा-श्रेष्ठि के यहाँ से लौटे तो कई दिनों से जमे हुए बादल कई दिशाओं से छँट चुके थे।

मृगम्मदा का तो आग्रह था कि प्रसव महापणिक के आवास में ही हो, किन्तु महापणिक की अनुपस्थिति में कभी कुछ असुविधा हो सकती थी। मातृदेवी की प्रमुख पुजारिणी उर्वशी कुमुन्निशा तथा वहाँ की अन्य अप्सराओं का अत्यधिक आग्रह तो था ही, स्वयम् महापणिक की इच्छा थी कि प्रसव उनकी अनुपस्थिति में सरोवर-कक्ष में ही हो, जहाँ आवश्यकता पड़ने पर प्रशासकीय चिकित्सा-सुविधा का भी लाभ लिया जा सके। महाश्रेष्ठि ने तो अपना अस्थायी निवास ही परिसर के एक कक्ष में कर लिया था! अतः मृगम्मदा अब सरोवर-कक्ष में ही आ गई है।

दो दिन पहले ही महापणिक यहाँ की सारी व्यवस्था देख गए हैं। महादेवी मृगम्मदा और महाश्रेष्ठि अर्बुद के साथ उन्होंने सारे नगर में भ्रमण कर रक्षा-पंक्ति का निरीक्षण किया है, जहाँ जैसी आवश्यकता उन्होंने अनुभव की, वहाँ तत्काल वैसी ही शस्त्रास्त्र-संग्रह या सैन्य-संग्रह की व्यवस्था कर दी गई है। नगर-वासियों तथा सैन्य-दल को किसी भी प्रकार से खाद्य और जल का अभाव न हो, इसके लिए अतिरिक्त वितरण-व्यवस्था भी स्थापित की गई। शस्त्रास्त्र-उत्पादन का कार्य द्दमीक के नेतृत्व में और त्वरित कर दिया गया। सब ओर से निश्चिन्त होकर ही महापणिक लौटे हैं। मृगम्मदा स्वयम् अश्व पर आरूढ़ होकर उन्हें नगर-द्वार तक छोड़ आई हैं।

शत्रु का सैन्य-दल शतद्रु पार उतर आया है और अग्रिम अपरान्त-दल से कुछ ही दूर रह गया है। मुठभेड़ किसी भी समय हो जा सकती है। कहते हैं, स्वयम् देवराज तो नेतृत्व नहीं कर रहे हैं, किन्तु इस बार उन्होंने अपनी सारी शक्ति इस अभियान में झोंक दी है। प्राचीन परीक्षित सुभटों के अतिरिक्त कई नए सेनापतियों के बीच उन्होंने अपने पुत्र जयन्त को भी भेज दिया है। अभियान का समग्र नेतृत्व दिया गया है एक दुधर्ष नवयुवक तेजस्वी सेनापति स्कन्द को। वृद्ध हो गया हो, किन्तु देवराज ने अभी अपना दर्प कहाँ छोड़ा है? यदि तब श्येन बन कर वही आया था, तो बृबु के पराक्रम का स्वाद चख ही गया है, और प्रतिशोध की आग उसके हृदय में अवश्य जल रही होगी तो वह दल के साथ होगा अवश्य, चाहे वेश बदल कर ही क्यों न हो?—बृबु तो आँखें बिछाए बैठा है कि कब उसे अपने कन्धे की चोट का प्रतिशोध लेने का अवसर मिले! एक बार मुठभेड़ हो जाए तो फिर शीघ्र ही बृबु को नगर लौटने का अवसर नहीं मिलेगा। वैसे नगर-प्रान्त की ओर से चिन्ता की कोई बात नहीं है। जिस अवस्था में वह मृगम्मदा को देख आया है,

उससे तो स्पष्ट है अभी एकाध सप्ताह वह और निकाल लेगी, तब तक अवश्य युद्ध का कुछ निर्णय हो ही जाएगा।

अहीशुव के लोमाश-दल ने तो संगठित होते ही अपना औचित्य प्रमाणित कर दिया। हरयूपिया और दुर्योण के बीच समस्त आर्य-बस्तियाँ उसके उपद्रव और आतंक से भयग्रस्त हो गईं। उन्होंने रात्रि के सघन अन्धकार को ही अपनी सक्रियता का आधार बनाया। सामान्य शस्त्रास्त्रों से भी अधिक प्रभावशाली उनके आयुध बने वृक्षों की विशाल शाखाएँ और बड़े-बड़े उपल-खंड। रात्रि के घने अन्धकार में प्रेत जैसे निश्चल खड़े किसी वृक्ष का कोई भाग देखते-देखते एकाएक, परस्पर वार्तालाप में लीन दो-चार व्यक्तियों के सम्मुख आ खड़ा होता तथा उन्हें पकड़ कर एक-दूसरे से टकरा कर सिर फोड़ देता या सहसा उन पर शून्य से उपल-वृष्टि होने लग जाती। उन्हें देखते ही कई शूरवीरों का रक्त जम जाता, कई के तो हृत्स्तम्भ हो गए। कई प्राण लेकर भाग जाते और अनायास सेना के किसी पार्श्व में भगदड़ मच जाती। आगे, पीछे, पार्श्व से या ऊपर से कब कोई वृक्ष या दिशा एकाएक सक्रिय होकर उन्हें लील लेगी, इसका किसीको पता नहीं लगता। इनको लेकर कई किम्वदन्तियाँ प्रचारित हो गईं और प्रेत-बाधा के शमन के लिए स्थान-स्थान पर यज्ञादि अनुष्ठान किए जाने लगे। ऐसे स्थानों पर उनके उपद्रव और भी उग्र होते थे। सिर पर कभी एक सींग की, कभी दो सींग की टोपी, और शरीर को विचित्र वेशभूषा में सजाए ये सहसा यज्ञ-मंडप में प्रविष्ट हो जाते, यूप से बँधे बलि-पशुओं को खोल कर भगा देते, हव्य-सामग्री को उठा कर फेंक देते और अवसर देखकर याज्ञिकों और यजमानों को वेदी से उठा कर जंगल में छोड़ आते। उनके आक्रमण इतने आकस्मिक होते कि यज्ञकर्ता सावधान हों, इसके पहले ही वहाँ तांडव मच जाता और सहायता पहुँचे उसके पहले वे वहाँ से अदृश्य हो जाते। आर्यों की सेना में वे मायावी, यातुधान, निशाचर आदि नामों से सम्बोधित होने लगे थे। आर्यों का मनोबल गिरता जा रहा था और सेनापतियों के सैनिकों को समझाने-बुझाने के प्रयत्न विफल हो रहे थे। अतः आर्यों ने आक्रमण में और भी शीघ्रता की। दोनों दलों में घमासान युद्ध शीघ्र ही प्रारम्भ हो गया।

मृगम्मदा महापणिक को नगर-द्वार तक छोड़ तो आई थी; किन्तु उसके कुछ ही समय बाद उसका गर्भ चंचल हो उठा और उसके उदर में लहरों के शूल चलने लगे। अश्व से उतर कर उसने एक पास के आवास में विश्राम किया और वहीं से एक नागरिक को भेज कर अपना रथ मँगवा लिया। स्वयम् महाश्रेष्ठि चिकित्सक को लेकर वहाँ आ पहुँचे। चिकित्सक की देखरेख में ही महादेवी मृगम्मदा सरोवर-कक्ष पहुँचा दी गईं, जहाँ दो-तीन अनुभवी प्रौढ़ाओं के अतिरिक्त परिसर की सभी अप्स-

राएँ पहले से ही विद्यमान थीं। प्रौढ़ाओं को आशंका थी चढ़ी अवस्था और पुरुषोचित कार्यों के फलस्वरूप महादेवी के अवयव कठोर हो गए हों और अस्त्रोपचार की आवश्यकता पड़ जाए समुचित व्यवस्था इसके लिए थी, किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। नियमित एवम् व्यायाम निरन्तर सक्रिय रहने के कारण मृगम्मदा की अंग-भंगिमा सुष्ठु ही नहीं अत्यन्त मृद्य भी थी। चिन्तातुर, उत्सुक महाश्रेष्ठि बराबर कक्ष-द्वार पर खड़े क्षण-क्षण जिज्ञासा करते रहे। पूर्णिमा का चन्द्र कभी सघन बादलों की ओट से निकल कर मन के आँगन में चन्द्रिका फैला देता, किन्तु तभी फिर बादल उसे छा लेते। चन्द्रमा जब मध्याकाश में पहुँच चुका तो सहसा उन्हें कक्ष के भीतर से कुआँ-कुआँ-सी अस्पष्ट ध्वनि सुनाई दी। द्वार से सट कर उन्होंने पूछा, 'प्रमदा, क्या हुआ है?'

'ऋष्य शृंग।'

'ऋष्य शृंग?' महाश्रेष्ठि ने आश्चर्य से दुहराया।

'हाँ महाश्रेष्ठि।—महादेवी उर्वशी अपने वत्स को यही कह कर पुकार रही हैं। वे उसे वक्ष से भी लगाने से इनकार कर रही हैं।'

'सो क्यों?' उनको सहसा बृबु का कथन स्मरण हो आया।

भीतर कक्ष से प्रमदा कह रही थी, 'वे कह रही हैं कि यह शिशु ऋष्य है, इसलिए उसे तत्काल उठा कर सिन्धु नद में प्रवाहित कर दिया जाए। शिशु इतना सुन्दर, ठीक पूर्णिमा के चन्द्र जैसा शुभ्र, किन्तु वे उसकी ओर आँख उठाकर भी देखना नहीं चाहतीं।'

'महादेवी स्वस्थ तो हैं न?' महाश्रेष्ठि ने पूछा।

'वे पूर्णतः स्वस्थ हैं महाश्रेष्ठि। शिशु भी इस समय तो सर्वांग पूर्ण स्वस्थ, हृष्टपुष्ट और अत्यन्त मनोज्ञ है, किन्तु यदि महादेवी इसी तरह उदासीन रहीं तो वह कब तक ऐसा रह सकेगा?'

'मैं महादेवी से बातचीत कर सकता हूँ?'

'एक क्षण रुकिए। मैं धातृ-माँ से पूछ लेती हूँ।'

बाहर खड़े महाश्रेष्ठि का हृदय धड़कने लगा था। महादेवी उर्वशी स्वभाव से बड़ी जिद्दी हैं, किन्तु इस शिशु को तो बचाना ही होगा, कम-से-कम जब तक महापणिक लौट नहीं आते, तब तक न तो शिशु को कुछ आँच आनी चाहिए, और न ही उर्वशी को उसे छोड़ जाने का अवसर दिया जाना चाहिए। यदि हठ कर वह जाना ही चाहें, तो इस समय कहाँ जा सकेंगी!—शिशु के लिए दूध की समस्या

तो नहीं होनी चाहिए, धातृ-माँ भीतर है ही। न हो तो भी किसी अन्य स्वस्थ धात्री की व्यवस्था कठिन नहीं होगी। और दो-चार दिन में तो स्वयम् उर्वशी का मन भी द्रवित हो सकता है। है तो वह भी मानवी ही, संस्कार भिन्न हुए तो क्या हुआ ? जो करुणा प्राणि-मात्र पर बरस सकती है, वह क्या अपनी ही सन्तान के लिए कभी अवरुद्ध रह सकती है ?

भीतर प्रवेश करते ही महाश्रेष्ठि अर्बुद ने कहा, 'पुत्र-प्राप्ति पर महादेवी उर्वशी को मेरा हार्दिक अभिनन्दन।—आप स्वस्थ तो हैं न ?'—बाहर बादलों के अम्बर में ढँकी चाँदनी की अपेक्षा में कक्ष के भीतर अँधेरा ही अधिक लग रहा था। दीपक था, किन्तु उसकी ज्योति मन्द कर दी गई थी और प्रसूता की दिशा में उसकी ओट भी कर दी गई थी। अतः पलंग पर लेटी हुई उर्वशी मृगम्मदा का कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। उस अन्धकार से ही महाश्रेष्ठि के अभिनन्दन का उत्तर आया।

'आपके आशीर्वाद से मैं स्वस्थ हूँ महाश्रेष्ठि, और कृतज्ञ हूँ आपके अभिनन्दन के लिए।—किन्तु यह अभिनन्दन मेरे लिए है या नव-जात के लिए ?'

'आप दोनों के लिए है महादेवी।—नव-जात तो अभी कुछ समझेगा ही क्या ? पर समय आने पर अवश्य समझेगा कि आप जैसी माता और महापणिक बृबु जैसा पिता प्राप्त करना कितना बड़ा—'

'माता की बात छोड़िए महाश्रेष्ठि, और इसलिए अभिनन्दन दोनों का एक साथ नहीं हो सकता। मुझे यदि अभिनन्दन दे रहे हैं तो इस मांस-पिंड को, इसके पहले कि यह किसी की चेतना पर छाए, शीघ्र सिन्धु-नद में प्रवाहित करवा दें। माता को लेकर वह सौभाग्य नहीं मना सकेगा।—पुरुष ने पति बन कर यों ही स्त्री को दुर्बल बना दिया है। यदि पति के रूप में मैंने किसी दुर्बलता को स्वीकार नहीं किया, तो आज पुत्र के रूप में भी किसी दुर्बलता को मैं स्वीकार नहीं करूँगी।'

'यह क्या कह रही हैं महादेवी ?'

'ठीक कह रही हूँ महाश्रेष्ठि।—आप पितृव्य हैं, मेरे अनुरोध को न टालें।—और यदि नव-जात शिशु ही आपका अभिनन्दनीय हो तो वह उधर हिन्दोलक में है। मेरे लिए आप शीघ्र मेरे अश्व को तैयार करने के लिए कह दें।'

'महादेवी—' अर्बुद को अनुभव हुआ कि अन्धकार में शायद मृगम्मदा अपने पलंग पर उठ कर बैठ गई हैं। वे कह रहे थे, 'महादेवी इस समय उत्तेजित मालूम दे रही हैं।—पर आप लेटी रहिए न। प्रसव के बाद महिलाएँ बहुत क्षीण-शक्ति हो जाती हैं—'

मृगम्मदा ने हँस कर कहा, 'है न यह कलंक स्त्री-जाति के लिए ? पुत्र के रूप

में आगे चल कर जीवन भर के लिए भी यह कलंक उसे दुर्बल न बनाए, इसलिए उर्वशियाँ इसे प्रारम्भ से ही स्वीकार नहीं करतीं।—आप निश्चिन्त रहें, मैं तनिक भी दुर्बल नहीं हूँ। दुर्बलता अनुभव करने वाली स्त्रियाँ अन्यत्र होती हैं।—यह तो एक अतिरिक्त-भार था, जिसको मुझे दस माह तक ढोना पड़ा है। अब तो मैं भार-मुक्त होकर बहुत ही स्फूर्त, बड़ी हलकी अनुभव कर रही हूँ।—आप बैठिए न!—प्रमदा, महाश्रेष्ठि को आसन्दी दे—'

'नहीं महादेवी, मैं आपके विश्राम में अधिक बाधा देना नहीं चाहता।—आपने नव-जातक को देखा है न?—कैसा है?—किसकी अनुहार गया है?'

'आप ही देखिए न!—देख कर व्यर्थ के मोह में मैं क्यों पड़ूँ?—दर्पण में स्वयम् को नित्य ही देखा है महाश्रेष्ठि; उससे अलग क्या देखूँगी?—प्रमदा, दीपक हिन्दोलक के पास ले जाकर महाश्रेष्ठि को नव-जातक दिखा दे।'

प्रमदा ने दीपक आगे बढ़ाया तो पलंग पर अधलेटी मृगम्मदा महाश्रेष्ठि की दृष्टि में पड़ गई। उसके गौर मुख-मंडल पर अपलाप लावण्य बिखरा पड़ रहा था। विद्रुम अधरों के बीच धवल-नवल मुक्ताओं की मन्द-स्मिति दीप-ज्योति का उपहास कर रही थी। घने बिखरे काले कुन्तलों में पूर्ण-चन्द्र कक्ष में ही चमक रहा था। अर्बुद ने दृष्टि हटा कर हिन्दोलक की ओर मोड़ी। ठीक मृगम्मदा की अनुहार वह अबोध शिशु इस समय पुनः निद्रामग्न हो गया था, किसी अतीन्द्रिय-चेतना के स्वप्न-स्पर्श में उसके पद्म-पक्ष्म विरल भ्रुवों के नीचे रह-रह कर काँप रहे थे। महाश्रेष्ठि ने मुग्ध हो कर अपने गले से नील-मणियों का एक मुक्ताहार खोला और दुहरा करके शिशु के गले में लपेट दिया।—यह कैसी माँ है कि उसने आँख उठा कर एक बार भी इस ओर दृष्टि नहीं डाली!

कुछ क्षण एकटक बच्चे की ओर देखते रह कर अर्बुद ने कहा, 'महादेवी, आपने मुझे पितृव्य कहा है। मेरा एक अनुरोध मानेंगी?'

'आज्ञा कीजिए तात। अबाध्य मैं नहीं बनूँगी, किन्तु मुझे अपने स्वधर्म से विचलित न करें, बस यही निवेदन है।'

'आपके स्वधर्म की बात तो मैं कैसे कह सकता हूँ, पर अपने ही स्वधर्म की बात कहूँ तो मैं महापणिक के प्रति प्रतिभूत हूँ। जब तक वे न लौट आएँ, तब तक यहाँ की रक्षा-पंक्ति का सम्पूर्ण दायित्व आप पर है, इसलिए आप यहाँ से कहीं जा तो नहीं सकतीं न?'

'इसीलिए तो मैंने आपसे निवेदन किया था कि इस मांस-पिंड को शीघ्रातिशीघ्र इसके गन्तव्य पर पहुँचा दिया जाए, ताकि मैं निश्चिन्त होकर अपने कर्तव्य में मन

लगा सकूँ। शायद आप नहीं जानते हों, महापणिक के अपरान्त-शिविर पर पहुँचते ही युद्ध के प्रारम्भ हो जाने की बहुत सम्भावना है। शत्रु-दल सम्मुख आ पहुँचा है।— कहते हैं कि इस बार देवराज इन्द्र ने अपनी सारी शक्ति इस अभियान में झोंक दी है, और कोई स्कन्द नामक दुर्निवार नवयुवक सेनापति इस अभियान का नेतृत्व कर रहा है। अब तो मैं मुक्त हो ही गई हूँ। मेरी परम इच्छा है कि आगे बढ़ कर महापणिक के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर मैं भी शत्रु के दाँत खट्टे करूँ। महादेवी सेलकेत की अपमृत्यु मुझे चैन से नहीं बैठने दे रही है। मैं एक-एक आर्य से उसका प्रतिशोध लेना चाहती हूँ।'

'पर आप इसी समय कैसे जा सकती हैं?'

'इस समय न सही। यदि यह आवर्जन मेरी दृष्टि से हट जाए तो कल तक मैं अवश्य किसी भी दुर्गम यात्रा के योग्य हो जाऊँगी। आप इसे अविलम्ब यहाँ से हटा लेने की कृपा करें।'

महाश्रेष्ठि ने जैसे उसकी बात नहीं सुनी और पूछा, 'पर आपका दायित्व तो यहाँ की रक्षा पंक्ति पर है—'

'वह है। अपरान्त अपना अग्रिम मोर्चा ही तो है। यहाँ से वहाँ तक महापणिक और मेरा दायित्व है, इसमें बाधा कहाँ है?—फिर तत्काल यहाँ के लिए दमीक है ही।'

अर्बुद ने सिर हिला कर कहा, 'नहीं महादेवी, युद्ध-कला के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। उस विषय में आप ही कुछ साधिकार निर्णय ले सकती हैं, किन्तु नगर-प्रशासन का दायित्व मेरा है। या तो आप मुझे इस दायित्व से च्युत कर दीजिए या फिर महापणिक के लौट आने तक मेरे अनुशासन को स्वीकार करें। इसमें आपके स्वधर्म का प्रश्न नहीं उठना चाहिए।'

'आप कहें तो। मुझे करना क्या होगा?'

'आपको कुछ नहीं करना होगा।—जो हो रहा है, वह होता रहे, बस। महापणिक के लौट आने तक नव-जातक की सम्पूर्णतः रक्षा करनी होगी, यदि आप स्वयम् कर सकें तो यह आपका अधिकार है ही, और इससे बढ़कर मेरे लिए प्रसन्नता की और कई बात नहीं है। इसके आगे तब तो मेरा अन्य कोई अनुरोध भी नहीं है।'

'यदि मैं अपने आपको असमर्थ पाऊँ?'

'तो धात्री उसकी रक्षा करेगी, महादेवी। उसकी यदि आप सहायता करना न ही चाहें तो कम-से-कम उसमें बाधक न बनें।—दूसरा अनुरोध मेरा यह है कि

अभी आप कुछ दिनों नगर-प्रान्त में ही रह कर यहाँ की रक्षा-व्यवस्था पर ध्यान दें।'

विह्वल स्वर में मृगम्मदा ने कहा, 'तात, आप नहीं जानते, मुझे कितनी बड़ी अग्नि-परीक्षा और संकट में डाल रहे हैं?—यदि मै असफल हो गई तो?'

अर्बुद ने कहा, 'इस बीच यदि आप मुझे पद-च्युत नहीं करतीं तो अपने अधिकारों का प्रयोग करके मैं आपको बन्दी बना कर रखूंगा महादेवी।'

मृगम्मदा ने एक दीर्घ निःश्वास परित्याग किया और मानो अथक-क्लान्ति से थक कर पलंग पर लेटते हुए कहा, 'बन्दी तो आपने बना ही रखा है महाश्रेष्ठि।—आप ही ने क्यों? यह दुर्योण, यह महापणिक!—जाइए, रात बहुत बीत रही है तात! आप भी विश्राम करें।'

महाश्रेष्ठि ने एक बार और हिन्दोलक की ओर देखा। शिशु अब भी मग्न सोया हुआ था। नील मणियों की माला उसकी श्वेत देह-कान्ति पर अद्‌भुत छटा बिखेर रही थी। उन्होंने प्रमदा को धात्री के लिए आवश्यक आदेश दिए और जब वे कक्ष से बाहर निकले तो उनका मन एक अभूतपूर्व वात्सल्य में डूबा हुआ था। वे सोचने लगे, यदि कभी उन्होंने अपना परिवार किया होता तो क्या उनका मन इस तरह अवान्तर गलियों में भटकता?

२२

लम्बी प्रतीक्षा के बाद आज मिली है अगली किस्त उनके पत्र के साथ। लम्बी प्रतीक्षा ? गई किस्त में ही तो समय की अवधारणा पर अच्छी खासी टिप्पणी थी ! परिवर्तन के परिमाण के अनुसार यदि तीन माह की अवधि तीन युग हो सकती है, तो मुरारी-दा के मौन के ये लम्बे दो महीने दो दिन या दो पल क्यों नहीं हो सकते ? उस किस्त को पाते ही दो माह पहले न पढ़ कर आज इस किस्त के साथ ही पढ़ता तो ? डेढ़-दो साल ही तो हुए हैं मुरारी-दा से परिचय हुए ! तब से बिखरी हुई किस्तों में प्राप्त इन प्रसंगों को अविराम एक साथ पढ़ा जाए, तो बारबार की हुई प्रतीक्षा की मेरी शिकायत क्या बेमानी नहीं हो जाएगी ? और इन डेढ़-दो साल की ही बात क्यों हो ? पाँच हजार वर्ष पहले घटी यह घटना, मेरे अपने मनो-संसार में तो इन्हीं दिनों घटती चल रही है, जब कि मैं इसे पढ़ रहा हूँ, मुरारी-दा के ही नहीं, मेरे अपने ही जीवन के साथ-साथ । समय-पट की दूरियों के दो छोरों को यदि बीच से तहा कर समेट लें और एक-दूसरे के साथ सी लें, तो कहाँ रह जाएगी वह दूरी ? वक्राकार-अन्तरिक्ष में समय का यह मान भी तो चक्राकार ही हो सकता है ! और तब सबसे नजदीक का बिन्दु भी दिशा की अपेक्षा से तद्दूरे-तद्वदन्तिके ही तो होगा ! अगर हम उसकी ओर पीठ करके चल दें, तो कितना दूर नहीं हो जाएगा वह ? प्रश्न हो, तो वह है प्रस्थान और पहुँच का, निर्गम और आगम का ! बीच के अन्तराल को सोकर पलक झाँपते भी बिताया जा सकता है, और रोकर आँसुओं से झींकते हुए रेंग-रेंग कर भी !—उत्तर काशी से इस पत्र को चले ही पाँच दिन हो गए, हवाई डाक से चलता, तो दूसरे ही दिन मिल जाता और टेलीफोन पर तो आमने-सामने ही बात हो जाती ! गति—महत्व गति का है । अरे भाई रेस या स्पोर्टस् के करिश्मों को स्क्रीन पर रील की स्लो-मोशन से नहीं देखते हम ?

छोड़ो इस माया-जाल को। समय की इस माया को समझ कर ही शंकराचार्य ने अपने मायावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया होगा । इस भ्रम के पार जो ब्रह्म हो, वह देश-काल से परे ही तो होना चाहिए ! मुरारी-दा लिखते हैं :

—तुम्हारे ताकीद भरे पत्र ठीक समय पर मिलते रहे हैं । जवाब ही नहीं, आख्यान की शेष किस्तों का अनुवाद-कार्य भी जल्दी-से-जल्दी समाप्त कर सुबुकदोश हो जाना चाहता था, पर क्या करूँ, बीमारी आ लगी है, और पीछा ही नहीं छोड़

रही है ! कल तुम्हारा तार मिला। सुविधा तो यही होती है कि तार से ही समयानुकूल जवाब दे देता—अभी ऐसी तन्दुरुस्ती कहाँ है कि लम्बा पत्र लिखूँ, किरचियों के अनुवाद की तो बात ही दूर है ? नहीं, साथ में नत्थी कागज आख्यान के नहीं हैं। तुम्हारी बराबर की जिद थी न, मार्गरेट के पत्र के लिए ? वही है। अनुवाद इसका तभी कर चुका था कि तुम्हें भेजना तो होगा ही, किन्तु सोच रहा था कि पहले विभांडक बृबु का सारा मैटर निपटा दूँ, तो चैन की साँस लेकर ही अपनी डफली बजाऊँ ! इसी लिए तो गई चार-पाँच किस्तें मुतवातिर इस आख्यान की ही भेजता रहा हूँ। अगली किस्तें तो कुछ ठीक होकर ही भेज सकूँगा। तुम कहोगे मार्गरेट का पत्र क्यों नहीं भेजा ? तुमसे मुझे कोई आपत्ति तो है नहीं, पर उसे तुम कितना समझ पाते, मैं नहीं जानता। वह पत्र क्या खालिस अँग्रेजी में है ? जर्मन-हिन्दी-अँग्रेजी-वही भाषा है, जिसमें हमने संयुक्त जीवन के वे कुछ मोहक वर्ष, कहना चाहिए, कुछेक मोहक मास, साथ-साथ बिताए थे। मार्गरेट का मुझे लिखा यह पत्र प्रथम ही नहीं, अन्तिम भी है, हमारे जीवन का शाब्दिक-प्रतीकों में रूपान्तरण ही तो ! सच पूछो तो सच्चा अस्तित्व तो उस सर्वोच्च-सत्ता के परम-भाव में ही समाहित है, सृष्टि के ये हमारे दृश्य-अनुभाव उस महाभाव के भौतिक-प्रतीक और फिर यह मानव-सभ्यता के विकास में शाब्दिक रूपान्तरण—प्रतीकों का प्रतीक ! इस पत्र के आयाम में मैं तो जीवित भी रहा हूँ। तुम शायद जी न सको, किन्तु इसके एक प्रामाणिक-साक्ष्य तो हो ही सकते हो।

अपनी बीमारी की बात क्या लिखूँ ? उम्र भी तो एक स्पष्ट बीमारी है। इस देह पर आठ-आठ दशकों का भार कम नहीं होता, और यदि दशकों को हम अनुभवों में तोल सकें तो उस भार की गुरुता भुक्तभोगी ही समझ सकता है।–तुम साहित्यकार तो तराजू बन जाते हो न ? यह तुम्हारा ही बूता है कि वहन कर लेते हो, जितना है उतना ही नहीं, बल्कि दूना-उतने ही वजन के बटखरों से जो सन्तुलन करना होता है !–और तब भी आसक्ति नहीं दिखाते।–तौल लिया और उतार लिया। मैं तुल लिया हूँ। तुल लिया हूँ तो पलड़े से उतरना तो होगा ही।–नहीं, घबराओ नहीं, एकदम नहीं, उतर रहा हूँ।—जीवन किसी का व्यर्थ नहीं जाता, अकाल-मृत्यु में भी नहीं।—प्रयोजन शेष हुए बिना क्या वस्त्र उतारे जा सकते हैं कभी ? जीर्ण चाहे जितने क्यों न हो जाएँ ?–मेरा विश्वास है कि हर व्यक्ति यहाँ भीष्म है, उसे इच्छा-मृत्यु का वरदान मिला हुआ है। और वह वरदान इतना सहज हो गया है कि वह उसकी आदत हो गई है, उसके शरीर की आॅटो-नाॅमस सिस्टिम का ही एक भाग। तभी तो वह उसे सचेत-मन से अनुभव ही नहीं कर पाता ! अभी तत्काल मेरी मरने की इच्छा नहीं है, इसलिए तुम्हें चिन्ता का कोई कारण नहीं है।

—कल पत्र पोस्ट नहीं हो सकता। कोई इधर से निकला ही नहीं, कि बक्से में छुड़वा देता। मेरी स्थिति तो थी नहीं कि वहाँ तक जा पाता !—अभी रात को

कुछ तबीयत भी सम्हलती लग रही है। सवेरे तक यदि ऐसी ही रही तो खुद ही जाकर छोड़ आऊँगा, नहीं तो कल की डाक भी निकल जा सकती है।—सो लेता, पर नींद नहीं आ रही है, पास कोई है भी नहीं। कि बातें करके समय गुजार लेता। तुम्हारी बड़ी याद आ रही है। पास होते तो सचमुच बड़ा सुकून मिलता। पत्र लिखकर ही कितना-सा सुकून पा सकूँगा ? कुछ नहीं, तो मन की उधेड़-बुन ही सही।

यही, अजीब स्थिति ही तो है मन की !–तन की कोई पीड़ा नहीं है, जो है, उसे तन ही भुगत रहा है। पर मन की भी कोई पीड़ा हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता ! गए कुछ वर्षों से, जब से उत्तर काशी में डेरा डाले हुए हूँ, मन को अपने में ही प्रवृत्त करने की चेष्टा की है, और सफलता का सच्चा-झूठा सन्तोष भी पाया है !–कुछ समझ नहीं पड़ता कि यह स्थिति सुख की है, या दुख की ?–निर्वेद क्या इसी को कहते हैं ?–नहीं। वेदनाएँ तो हैं। रोग की पीड़ा अनुभव कर ही रहा हूँ। विरक्त तो और भी पहले हो चुका था !-स्रग्धर, शान्ति, बच्चे-बच्चे, किसी का भी तो मोह नहीं रहने दिया है !—सचमुच नहीं रहने दिया क्या ? जबर्दस्ती लदे हुए अकेलेपन को कोई विरक्ति कहेगा ? कसौटी जब तक उपस्थित न हो, तब तक कुछ भी क्यों न समझ लिया जाए ?

कसौटी ही तो प्रस्तुत कर दी थी स्रग्धर ने।—क्या जरूरत थी अमेरिका उड़ पहुँचने की ?—पाँच हजार वर्ष होगए, मृगम्मदा लौट कर आई है कभी, कि मार्गरेट के स्वागत के लिए दौड़ पड़ने का कुछ मतलब होता ?—पाँच हजार वर्ष से जो आँखमिचौनी चली आ रही है, वह क्या आज मेरी इच्छा से ही बन्द हो जाती ? जान कर भी अनजान क्यों बन गया था ?—और मैं समझ बैठा हूँ कि विरक्त हूँ।–क्या यह लुका-छिपी का खेल कभी खत्म नहीं होगा ? उसका पत्र आ चुका है, अब तो कोई आशा भी नहीं रही।—बृबु को तो इस पत्र जैसा कोई सन्देश भी शायद नहीं मिला होगा। क्या यह बीमारी उसी कूच का बिगुल है—हो, तो भी भय क्या है ?—हिसाब-किताब, लेन-देन अपनी समझ में तो साफ कर ही लिया है।—और मार्ग भी अब आगे धुंधला नहीं लगता।

यह भटकाव क्यों आ गया था ?—मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता पर कभी ध्यान दिया है तुमने ? यों बड़ी सामान्य दीखती है, पर है बहुत जटिल। विश्व का सम्पूर्ण साहित्य, विश्व की सारी सभ्यता, तमाम संस्कृतियाँ उसी के गुणगान से तो भरी हुई हैं। तुमने भी अनुभव अवश्य किया होगा, वह है प्यार ! मनुष्यता का नामान्तर ही कह सकते हो उसे ! मनुष्य को जन्म लेते ही प्यार पाने की और प्यार देने की विवशता हो जाती है। किन्तु इस विवशता से क्या कोई सर्वथा मुक्त रह सकता है ?—यही तो जटिलता है कि प्यार पाकर और प्यार लुटाकर भी वह मुक्त ही रहना चाहता है। शैशव में तो उसकी यह भूख तृप्त हो ही जाती है। सचे-

तन या अचेतन, प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसे प्यार किया जाए केवल उसके लिए, जैसा कि वास्तव में वह है।—उसके अच्छे गुणों, कर्मों या यश के लिए नहीं। ये बहुत बाहरी तत्व हैं, अत्यन्त निर्वैयक्तिक, नितान्त क्षण-भंगुर। ये मनुष्य के सम्पूर्ण स्वभाव का आकलन नहीं करते। शैशव में उसे यह निर्वैक्तिक प्यार मिल चुका होता है। शिशु को प्यार किया जाता है केवल उसी के लिए, जैसा कुछ वह है। गुण-अवगुण, यश-अपयश, अच्छा-बुरा, उसके लिए बेमानी हैं, अनियन्त्रित टट्टी-पेशाब से समय-असमय माँ-बाप को गन्दा कर देने पर भी वह उनका प्यार ही पाता है। माता-पिता की संक्षिप्त-सी दुनिया में उसके सुन्दर-असुन्दर होने का भी कभी प्रश्न नहीं उठता। ऐसे ही प्रेम से व्यक्ति अपना आत्म-विस्तार करता है। यह आत्म-विस्तार ही तो मानव-सभ्यता की कसौटी है! जन्म के साथ तो वह बड़े ही प्राथमिक एकाध बोध ही लाता है, कुछ हर्ष, कुछ पीड़ा-आगे जाकर कुछ उत्सुकता भी! बस और इन्हें अभिव्यक्त करने के भी बड़े सीमित प्रकार, चीखना-चिल्लाना और हाथ-पैर पटकना। इस अहेतुक प्रेम के कारण ही वह किसी को अपनी माता, किसी को अपना पिता, आदि मानने लगता है। इस अनुकूलता के इर्द-गिर्द ही उसकी अपनेपन की दुनिया विस्तृत होती जाती है—यह खिलौने मेरे हैं, यह मेरा भाई है, यह मेरी बहिन है, यह मेरा घर है, यह गाय, यह कुत्ता, और फिर यह मित्र, यह शत्रु, यह कक्षा, यह स्कूल, यह देश, यह विश्व मेरा है, इस सारे पसारे का केन्द्र मैं हूँ। अहम् की यह प्रस्थानिका शुद्ध, अहेतुक प्यार ही है। यह मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता है। बुनियादी आवश्यकता यह अन्य प्राणियों की भी है, किन्तु उसकी सीमा बहुत जल्द मिल जाती है। मनुष्य के सम्पर्क में आने वाले पालतू पशु-पक्षियों में उसका क्षेत्र और भी विस्तृत हो सकता है, किन्तु 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मनुष्य ही को सुलभ हो सकता है।

इस आत्म-विस्तार के कारण, या फलस्वरूप ही, मनुष्य के लिए प्यार की यह आवश्यकता जटिलतर भी होती चली जाती है। अन्य प्राणियों की तरह, स्वयम् प्रकृति की अनुहार भी, वह एक अवरुद्ध-प्रणाली, क्लोज्ड सिस्टिम नहीं है। वह मुक्त होकर जन्मा है। अब तक उसने प्यार माँगा नहीं, वह उसे अनायास मिलता रहा है। इसी तरह सदा मिलता रहता तो शायद वह पशु के स्तर से बहुत अधिक ऊपर उठता नहीं। यह विश्व उसका अकेले का तो नहीं है, उसके हिस्सेदार हैं, कई हैं, बल्कि सभी तो हैं। शीघ्र ही उसे सीखना पड़ता है कि इस विश्व में किसी को भी इतना गहरा प्यार सदा नहीं मिल सकता, उतनी बार भी नहीं मिलता, जितना हम चाह सकते हैं। हमें अस्वीकार मिलता है, अवरोध मिलते हैं, भर्त्सना मिलती है, हम ठुकराए जाते हैं, हमारा विरोध होता है, हमें बड़े बेमन से ही सही, जगत् का व्यवहार

सीखना पड़ता है। और जैसे-जैसे हम वयस्क होते जाते हैं, हमारी समस्या दुहरी होती जाती है। हम चाहते हैं कि कोई हमें रोंधे बिना प्यार करे, हम किसी को प्यार करें, जो हमें धकियाए नहीं, जैसे हम हैं, वैसे ही स्वीकार करे।

मार्गरेट जब मेरे जीवन में आई, तो मैंने उसे ऐसा ही अहेतुक प्यार दिया था भाई! उसके प्यार की प्रकृति मैं नहीं जानता। शायद उसके प्यार की कसौटी मैं नहीं था, मेरा वह गुण था, जिसने विपत्ति में उसकी रक्षा की थी, या कि मैं उस देश और संस्कृति का प्रतिनिधि था. जिसके लिए उसके मन में आकर्षण था।—किन्तु ये सब तो मुझसे अतिरिक्त मेरे उपसर्ग थे, मैं तो नहीं न ?—वह समझती है, विलियम कैलॉग को उसने प्यार किया है—विलियम से तो परिचित हो न ? जिसके साथ वह अमेरिका गई थी !—मैं समझता हूँ, यह भी शायद उसका भ्रम ही है। उसके उसी गुण पर तो वह रीझी है, जो उसने मुझ में देखा था ? उसके लिए ही मार्गरट का प्यार होता तो क्यों वह मुझ से लजाकर इस तरह वहाँ से भाग आती ? आज स्रग्धर के लिए जो कुछ वह करना चाह रही है, क्या वह उसके अन्तर्मन के प्रायश्चित्त का प्रतीक नहीं है ?

मैं नहीं कहता कि मैंने मार्गरट का प्यार नहीं पाया – वही तो मेरा सम्बल रहा है भाई। अपने इस अचेतन मन में गए चालीस वर्षों से शायद उसी की तो प्रतीक्षा कर रहा था, तभी तो जरा-सा वहाना मिलते ही बोस्टन के लिए दौड़ पड़ा था।—किन्तु कैसी है यह मनुष्य की प्रकृति ? वह उस प्यार को चाहता है, जिस पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है। और जब तक प्रतिबन्ध नहीं लगता तब तक प्रेम के पात्रों को मुक्ति का बोध भी कहाँ होता है ? यह प्रतिबन्ध वह स्वयम् ही तो लगाता है, और स्वीकार करता है, चाहे अन्तर्मन से ही सही।

मैं आज मृगम्मदा के प्रेम का विश्लेषण नहीं करूँगा भाई। यह तुम कर सकते हो। तराजू है न तुम्हारे हाथ में ? मैं तो अपनी ही बात कह सकता हूँ। मनुष्य की ऐसी जटिल आवश्यकता शायद ईश्वर के सिवा और कोई पूरी नहीं कर सकता। प्रभुजी, भले-बुरे हम तेरे !—वही प्रत्येक मनुष्य को जैसा भी अच्छा-बुरा वह है, उसी के लिए—सदैव प्यार करता रह सकता है, वैसा ही अहेतुक जैसा उसे अपने अत्यन्त शैशव में मिला था। किलकारियाँ करता हुआ जागृत शिशु प्रेम का प्रत्युत्तर दे सकता है, तब उसे और भी प्यार मिल सकता है, किन्तु सोते हुए बच्चे को भी प्यार तो मिलता ही है। सोये हुए बच्चे को शायद उस प्यार की प्रतीति न भी हो। नास्तिक ऐसे सोये हुए बच्चे ही होते होंगे, पर ईश्वर तो उन्हें भी उतना ही प्यार करता है। जागृत शिशु प्यार पाकर और भी प्यार पाने के लिए मचलते हैं, आँखें खोल कर वे उसे खोजते हैं, जिससे उन्हें प्यार मिला है, और उसकी पहचान

भी तो उतनी ही निर्वैयक्तिक होती है कि वह जिसको भी देखता है, उसमें उसे वही ईश्वर दिखाई देता है !–मैं भी सोया हुआ था। सोये हुए शिशु शायद सपना तो देखते हैं ! मैं भी देख रहा था, और यह आवश्यक नहीं है कि सपना शेष होते ही नींद उड़ जाये। और नींद तो आगे-पीछे पूरी होगी ही !

—नहीं, घबराओ नहीं। लिख चुका हूँ न ? जीना और मरना अपने से बाहर है ही कहाँ ? और अभी तो बृबु का आख्यान शेष है न ! हाँ, अगर ईश्वर अपने से बाहर कहीं हुआ तो उसे यही कहूँगा कि अब यह आँखमिचौनी का खेल बन्द कर दे। और यदि अपने ही वश की बात हुई तो फिर देखूँगा उसी चिरन्तन आँख से जो कभी झपकती नहीं।–किन्तु अब तो समय बहुत हुआ और ये पार्थिव आँखें भी झपकना चाहती हैं।–तो किसी अगली सुबह तक....! और हाँ, तुमने अपनी 'हिअरिंग एड' के बारे में कुछ लिखा नहीं।-शायद काम की साबित नहीं हुई।

क्या लिखता 'हियरिंग एड' के बारे में ? बिना मेरे कहे उन्होंने बड़ी आत्मीयता से एक अमेरिका में खरीद ली थी। उन्हें क्या मालूम मेरा श्रवण-दोष किस प्रकार का है ?–कृतज्ञता तो मैंने समर्पित कर ही दी थी। और दोष भी क्या ?—कोई एक दोष है ? उम्र जो स्वयम् एक बीमारी है, ये तो वे खुद ही लिख रहे हैं। वे अपनी डफली नहीं बजाते तो मैं ही क्यों बजाऊँ ?

और इस पत्र के साथ है, मार्गरेट के पत्र का अनुवाद।–सम्बोधन है, 'मेरे देवता,' से—क्या आवश्यक है कि किसी पत्नी का अपने पति के नाम लिखा हुआ पत्र पढ़ूँ ही ?–मुरारी–दा मेरे अत्यन्त हितू हैं, अपना आत्मीय मानते हैं, तब भी पत्र भेजते समय दुविधा तो उन्होंने अनुभव की ही थी। और यह भी तो अनुवाद ही है ! मूल-पत्र की भाषा, जर्मन-हिन्दी-अँग्रेजी, पूरी न सही, कुछ-कुछ तो समझता ही हूँ।—जीवित वे इसी पत्र के आयाम में रहे हों, मैं प्रामाणिक-साक्ष्य भी क्यों बनूँ ?–जिद थी मेरी। पर थी, तब थी।–मन में एक कुतूहल ही तो था। चालीस वर्ष चुप रह कर कोई पत्नी अपने पति को किन शब्दों में स्मरण करेगी, यही जानने का कुतूहल था क्या ? किन्तु नहीं।—मुरारी–दा अपने पत्र में लिखते हैं, अब वह उस अमरीकन से प्यार करती है, जिसके साथ उसे अमेरिका जाना पड़ा था। किन्तु मुरारी-दा के अमेरिका पहुँच जाने पर उनसे लजा कर वह वहाँ से भाग आई, इसलिए मुरारी-दा सोचते हैं कि मार्गरेट का उस अमरीकन से सच्चा प्यार नहीं है। स्रग्धर के लिए वह कुछ करने को आतुर है तो इसमें भी असाधारण बात क्या है ? —आखिर वह उसके पेट का बेटा तो है ही।—क्या उसने उस अमेरिकन से विवाह कर लिया था क्या ?—तब तो सम्भव है, उससे भी उसे सन्तान हुई हो। और तब तो वह पत्र किसी पत्नी का अपने पति के नाम हो नहीं

सकता।—कैसी होती है भावना एक नारी की अपने पूर्व पति के प्रति, जिसे उसने कभी भूल कर ही सही प्यार तो किया है?—मानता हूँ सभी कुछ लेखक का भोगा हुआ यथार्थ नहीं हो सकता। यह कल्पना करनी ही पड़ती है। यहाँ तो इस पत्र में वह वास्तव्य है! और एक चुनौती है; केवल इन चालीस वर्षों की नहीं, पूरे पाँच हजार वर्षों की है। मैं पुरातत्व-विद् नहीं हूँ, पर मुरारी-दा, और मार्गरेट भी तो, हैं। ये तो अपने-आपको पाँच हजार वर्ष के गड़े इतिहास में से उत्खनित प्राणी मानते हैं। आज की भाषा में लिखा हुआ हो, किन्तु यह तो मात्र उस पाँच हजार वर्ष पूर्व की भाषा का लिप्यन्तर है! यह संस्कृति की धरोहर है तो इसे पढ़ने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

लिखती है,—जीवन के ये लम्बे चालीस वर्ष जिस तरह बीत गये हैं, उसी तरह शेष जीवन भी बीत ही जाता।—और अब न तो उमंगों का सैलाब रहा है, न यौवन का ज्वार ही, बल्कि अब तो प्रतीक्षा की अवधि भी उतनी कहाँ है कि नई आशाएँ पाली जायें? बहुत हुआ तो यही दस-पन्द्रह वर्ष। बुढ़ापे से लदे इन वर्षों में भी बची 'हाय' ही रह सकती है, 'वाह' नहीं! किन्तु मनुष्य का सोचा भी कब पूरा होता है?—चालीस वर्ष पूर्व एथेना के नाम की चादर उढ़ा कर तुमने ही जब जहाज पर चढ़ा दिया था तो तुमने ही कहाँ सोचा होगा कि जहाज से उतरते-न-उतरते मैं इस तरह आमूल बदल जाऊँगी कि नाम ही से नहीं, तन और मन के अपने पुरातन से एकबारगी ही सम्पूर्ण नाता टूट जाएगा? ऐसे आमूल परिवर्तन का हम एक ही तो अवसर पहचानते हैं, इस शरीर की मृत्यु! और तब भी कहते हैं 'अजो नित्य: शाश्वतोऽयम् पुराणो न हन्यते।' मृत्यु के मुख में मैं ही क्या, सारा ही समाज चला भी तो गया था, कई यात्री 'हन्यमाने शरीरे' भी हो ही गये। 'स्मॉल पॉक्स' ने भी दृष्टि की, कि इस हन्यमान शरीर को लिए जाये अपने पुरस्कार में!—तुमको यदि समाचार मिले होंगे तो तुमने भी तब समझ लिया होगा कि इस जन्म का खेल खत्म हो गया! यम के द्वार से लौट ही आई होती तो कहीं-न-कहीं से तुम्हें सूचना देनी ही चाहिए थी!—इन पाँच हजार वर्षों में चाहे और कुछ बदला हो या न बदला हो, यह सुविधा तो इस शरीर को हुई है कि यह पृथिवी के किसी भी कोने से चिट्ठी-चपाती के भौतिक उपकरणों के जरिये कुछ संलाप तो कर ही सकता है।—दुनिया चाहे विश्वास न करे, किन्तु मैं सोचती हूँ, तुम अवश्य विश्वास करोगे, कि तन और मन से मैं अवश्य मर गई थी, हन्यमान जो हैं ये! किन्तु एक बड़ा अभिशाप साथ रह गया मेरे, स्मृति का, पूर्वजन्म की स्मृति का अभिशाप!

पूर्वजन्म नहीं तो और क्या कहूँ उसे ? ऐसे उदाहरणों की दुनिया में कमी कहाँ है कि कई बच्चों को किञ्चित् बोध होते ही अपने पूर्वजन्म के सम्बन्धों और सम्बन्धियों का स्मरण नहीं हो आता ? अन्तर केवल इतना ही रहता है कि उनका यह हन्यमान शरीर पर्त-दर-पर्त बदल चुका होता है ! मेरे शरीर की केवल ऊपर की खोल, मृत्यु के हाथों नहीं, प्लास्टिक की सर्जरी के हाथों, बदली गई है। मृत्यु के झटके से स्मृति का तार बीच में कहीं टूट कर अन्तराल भी पैदा करता ही, मेरे जीवन में एक गाँठ के साथ वह तार फिर जुड़ गया है।

यही तो होता आया है ! पाँच हजार वर्ष पहले का प्रमाण तो तुम ही धरती का गर्भ खोल कर निकाल लाये थे !--धरती का वक्ष चीर कर हम पुरातत्व को खोज लाना सीख गये हैं, उसी तरह यदि समय के वक्ष को चीर कर हम कालतत्व को खोज ला पाते, तो बीच की कोई भी कड़ी 'मिस' नहीं होती। स्मृति अभी मनुष्य की व्यक्तिगत धरोहर है, और इतिहास-पुराण-मिथक अभी इतने सूक्ष्म कहाँ हुए हैं कि वे देश या व्यक्ति के भौतिक उपकरणों का आश्रय छोड़ दें ?—और यदि स्मृति न होती, ये सञ्चार-साधन न होते तो क्या आज भी हम इन पुराने शरीरों में ही 'नये' मन लेकर नहीं मिल पाते ? नये और पुराने का यह मसला भी कितना अविवेकपूर्ण है ? पुराने मन लेकर नये शरीरों से ही तो हम बराबर मिलते आ रहे हैं, जिसे हम जगत् का व्यवहार कहते हैं !

एक कहानी तो है, बेताल की कहानी मुर्दे के मुँह से ! कहानी खत्म नहीं होती कि एक यक्ष-प्रश्न प्रस्तुत हो जाता है, और मुर्दा फिर लटक जाता है बरगद पर, उल्टा ! किसी तरह मन मार कर पुराने शरीर को लिये हुए ही 'नये' का आदी होने का प्रयत्न किया था ! अपने-आपको इन जागतिक प्रपञ्चों के खिलौनों में उलझाए रख कर चालीस वर्षों से यही तो करती आ रही थी !—पढ़ना चाहो तो पढ़ना मेरा यह खिलौनों का खेल भी—तुम्हें रुचि हो या न हो, मैं तो अपने अपराध-दोष को कुछ कम करूँ ?—पर यह नई दुनिया भी कहाँ सहन होती है उस भाग्य को, जो कभी चुप बैठना जानता ही नहीं। उसे उपन्यासकार कह कर ही टाला तो नहीं जा सकता न !—नेपथ्य से वह एक चीज फेंक देता है उर्वर भूमि में, और फिर देखता रहता है परदे की ओट बैठा ठाट से अपनी करतूत ! मेरा वह भाग्य भी तो घात लगाये ही बैठा था कि कब अवसर मिले और कब धर-दबोचे अपने शिकार की गर्दन ? नहीं तो उस दिन किसी अनजाने स्रग्धर का वह केवल किसी एथेना कैलॉग के जीवन को इस तरह क्यों आपाद-मस्तक झकझोर जाता ?

अनजाना ?—आज तो यह लिखते हुए ही हृदय काँप-काँप जाता है। जो अपने सत्व की अमरता का चिरन्तन उद्घोष है, वह अनजाना ?—किन्तु चालीस वर्ष का

कीचड़ जिस स्मृति को रौंधता चला गया हो, वह क्या केवल नाम के वायु-स्पर्श से ऊपर तैर आएगी ? कितने उपलक्ष्य एक के ऊपर एक इन चालीस वर्षों में जमा होते गए ? यहाँ तो भारत जैसे प्रशान्त गम्भीर जीवन की संयत गति नहीं है। तुम तो जानते हो, इन पश्चिमी देशों में एक लहर गिरने नहीं पाती, उसके पहले दूसरी लहर उठ खड़ी होती है। करने के मारे सोचने का समय ही नहीं मिल पाता, यन्त्र में फँसे के समान आगे चलते रहने के सिवा कोई गति ही नहीं है। न करने का प्रश्न ही नहीं उठता, लहरें स्वयम् उछालती रहती हैं, पटकती रहती हैं। आँखें बन्द कर लेने से भी कुछ नहीं होता। यद्यपि अवसर नहीं मिला है, पर मैं जानती हूँ यहाँ आदमी अपनी इच्छा से शान्त नीरव रह कर मर भी नहीं सकता !

किन्तु बिल (विलियम) की दुर्गबन्दी ही मेरी तुलना में अधिक कमजोर साबित हुई ! उसके मन में चोर जो है !—केवल पढ़ते ही वह सबकुछ समझ गया था। पूअर चैंप दैट बिल !—इन दिनों वैसे ही वह बहुत परेशान है। कम्पनी की बहुत सारी सम्पत्ति ईरान में फँसी पड़ी है। अमरीकी दूतावास के बन्धकों को लेकर जो तनाव दोनों देशों के बीच चल रहा है, वह कितना भयानक है ? वहाँ की धर्मान्ध-सरकार किसी भी क्षण उस सम्पति को जप्त कर सकती है, झटका तो उसने लिया ही है। दो दिनों से वह निदेशक-मंडल की बैठकों में ही व्यस्त था, कि स्रग्धर का वाशिंगटन से वह तार आ धमका, जो मानों उसकी दूसरी निजी-सम्पत्ति पर दावा करने के लिए अनिवार्य नियति का ही हाथ है ! मैं जानती हूँ, पहली सम्पत्ति की उसे अधिक चिंता नहीं है, वह केवल उसकी नहीं, कम्पनी की है, यद्यपि साठ प्रतिशत शेअर हमारे स्वयम् के हैं। वह व्यवसाय है, और अमरीकी व्यवसाय चढ़ाव-उतार के आदी होते हैं। अगर उस सम्बन्ध में भी उसकी कुछ चिन्ता हो तो वह मेरे लिए ही होगी, क्यों कि उन शेअरों का अधिकार वह मुझे ही देने की सोच रहा था

पर यह दूसरी सम्पत्ति ?—मैं ही जानती हूँ, मेरे लिए क्या-क्या नहीं किया है उसने ? यदि तुम हमारी समुद्र-यात्रा का इतिहास पढ़ोगे तो शायद कुछ अनुमान लगा सकोगे !—नहीं, तुमसे मैंने जो पाया है, उसकी तुलना मैं किसी भी अन्य प्राप्ति से नहीं करूँगी।—तुमसे जो पाया, वह क्या पाना हुआ था ? वह तो जन्म-जन्मान्तर से जैसे मेरा है ही ! उसे कोई क्यों देगा और मैं ही क्यों लूंगी ?—तभी तो प्रत्यक्ष कृतान्त के समान गेस्टापो की मृत्यु की छाया में, बिना किसी पूर्व प्रतीति के मैं निर्भीक तुम्हारे पार्श्व में आ खड़ी हुई थी ! मन की सहस्रों पर्तों के भीतर तक जानती थी कि जहाँ मेरा स्थान है, वहीं पहुँच गई हूँ, फिर भय कैसा ? और आज भी जिस विश्वास से यह पत्र लिख रही हूँ, वह क्या यों ही है ?—बिल नहीं समझ

पाया, वह कैसे समझेगा ? वह तो बीच यात्रा में संग हो लिया बटोही है, पड़ाव आते ही वह ठहर जाएगा। पर मुझे तो चलते रहना है न ! चलते रहना है, जब तक नदी समुद्र में नहीं मिल जाती !

यात्रा के मध्य में ही सही, मैं सचमुच बिल की कठिन तपस्या का प्रतिफल हूँ। मैं कहीं छिन न जाऊँ, इस आशंका मात्र से वह रात भर सो नहीं सका। दूसरे दिन ज्वर न हो आता तो ही आश्चर्य था ! किस तरह उसे आश्वासन देती कि उसे कोई भय नहीं है ? तुम्हारे-मेरे सम्बन्ध की गहराई का उसे कुछ-कुछ अनुमान तो है ! वह समझता है कि तुम्हारा संकेत पाते ही मैं रुक नहीं सकूँगी।—तुम नहीं जानते, कितने-कितने ढंगों से उसने मुझे यहाँ बाँधे रखने का प्रयत्न किया है ? ये साठ प्रतिशत शेअर तो—खैर, मैं नहीं कहूँगी, वह कहता है, कि यह मेरे ही इनीशिएटिव्ह का फल है। वह समझना ही नहीं चाहता कि उसकी साधना की तुलना में मैंने उसे दिया ही कितना-सा है कि मैं उऋण समझ लूँ अपने-आपको ?—उसे जब और किसी तरह आश्वस्त करना असम्भव हो गया, तो यही उपाय रहा कि तुम और स्रग्धर बोस्टन पहुँचो उसके पहले मैं वहाँ से खिसक कर दूर किसी अन्य देश पहुँच जाऊँ। और उसी दिन पहली फ्लाइट से मुझे यूरोप के लिए रवाना करके ही वह कार्यालय गया !—उसके बाद तो शायद तुम दोनों पहुँचे होगे उससे मिलने। उसने क्या कह कर तुम्हें दिलासा दिया है, मैं नहीं जानती। उसने तुमसे सब कुछ सत्य कहा है, या कोई मिथ्या कहानी गढ़ कर बहलाना चाहा है, यह भी मैं कुछ नहीं कह सकती। मैं तो यहाँ आते-आते ही तुम्हें लिख कर सारा इतिहास बताने की सोच चुकी थी। यदि बिल ने तुम्हें कुछ मिथ्या भी कहा हो तो उसे मेरी ओर देख कर तुम क्षमा कर देना। मन में उसके मिथ्या कुछ नहीं है। वह बहुत ही सरल, सीधा और सच्चरित्र व्यक्ति है। बस उसे एक ही भय है कि मैं कहीं उससे छिन न जाऊँ। उसके हिसाब से मैं फ्री, मुक्त तो हुई नहीं हूँ। मेरा पूर्व पति मुझ पर किसी भी समय दावा कर सकता है, और अब यदि वह आ पहुँचा है तो दावा करेगा ही।—और सब बातों के लिए उसने मेरा पूरा विश्वास किया है, पर न जाने क्यों उसके मन में यह भय पैठ गया है ?—तलाक लेने का प्रश्न ही कहाँ उठता था ?—जहाँ तलाक मिलता है, वैसी कोर्ट में तो हम बँधे नहीं थे ! और जिस कोर्ट में हम बँधे हैं,—वहाँ तो हमारे पाँच हजार वर्ष के प्रयत्न व्यर्थ हो रहे हैं।—पर वह समझे तब न !—वह मुझे सचमुच बहुत प्यार करता है। तुम से अधिक की बात तो मैं कैसे कहूँ ?—तुम तो ईश्वर हो, और किसी के हो या नहीं, पर मेरे तो हो ही, मेरे प्रेम की अपेक्षा किए बिना तुम मुझे प्रेम किए जाओगे। पर बिल ?— वह तो टूट जाएगा एकदम····

–सो, टूट तो गया ही है ।–नहीं जानता, मार्गरेट के चले आने के बाद विलियम के अकस्मात् स्ट्रोक और इस्कीमिया का शिकार हो जाने की बात मार्गरेट को मालूम हुई है या नहीं । पत्र लिखने तक तो अवश्य ही नहीं होगी । हुई होती तो अपना यह इतिवृत्त लिखने के लिए वह अवकाश में न बैठी रहती !—उसकी तपस्या क्या अन्त में जाकर मार्गरेट ही निष्फल कर देती ?–पत्र पाकर तो मुरारी–दा ने उसे विलियम की अवस्था से अवगत किया ही होगा ।—या कि वे भी सर्व-साधारण की तरह असूया से भर कर मौन बैठे रहे हैं ?—मुरारी–दा से पूछे बिना जानने का कोई चारा नहीं है । वे स्वयं भी तो बिस्तर पकड़े बैठे हैं ।—क्या मार्गरेट को मालूम है कि बिल ही नहीं, जिसे वह अपना निर्विकार, असंवेद्य ईश्वर समझती है, वह मुरारी लाल भी टूट सकता है, टूट रहा है ?

जरा गौर से देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि लिखते-लिखते मुरारी-दा की लेखनी यहाँ रुक गई थी । ढंग ही बता रहा है । पंक्तियाँ पहले जैसी दौड़ नहीं रही हैं, शब्दों के बीच में अन्तराल भी विशद हो चला है । अर्थात् तब रुके थे, वह तो है ही, अब भी लिखते जाते हैं, और रुक-रुक कर—अवश्य कुछ सोचते, मनन करते, शायद स्मृतियों की जुगाली करते जा रहे हैं ! और यह तो अनुवाद है, कितनी बार मूल पत्र पढ़ लेने के बाद अनुवाद करने बैठे थे, नहीं कह सकता । मूल पत्र पढ़ते-पढ़ते भी बीच-बीच में कई बार रुके होंगे, अपने से ही बहस की होगी, अपने ही समाधान खोजा होगा, मन को समझाने की चेष्टा की होगी—वह जो अपने पत्र में ईश्वर प्रेम की महिमा गा आए हैं, वह शायद ऐसे ही किसी क्षण में स्फुरित हुआ होगा ।—क्या-क्या नहीं सोचा होगा उन्होंने ? कितनी बार सोचा होगा ?—मुझ जैसा तटस्थ व्यक्ति भी पत्र को एक तरफ रख कर सोचने बैठ गया है जब कि वे तो भुक्त-भोगी हैं ।—क्या यह प्रेम नाम की वस्तु सचमुच ही—समझ नहीं पड़ता, क्या कहूँ, सर्वनाशी या सर्वस्रष्टा है ? हमने अपने विचारों की सरणि में उस सर्वोच्च सत्ता को भी तो त्रिगुणात्मक मान कर सन्तोष प्राप्त किया है, सृष्टि, स्थिति और लय, तीनों उसी एक सत्ता के परिणमन—मैं पररिमण कहना पसन्द करता हूँ—हैं। क्या इसीलिए कहा जाता है, 'गॉड इज लव्ह ?' मुझे प्रेम का वैसा कोई अनुभव नहीं है । एक निहायत गद्यमय सामान्य-सा गृहस्थ हूँ ! उम्र भी हुई है । साहित्य, काव्य, उपन्यास आदि भी पढ़ता हूँ और प्रतिदिन अखबार भी ! लैला-मजनूँ से लेकर इतिहास-प्रसिद्ध सम्राटों के प्रेमाख्यानों में साम्राज्यों के बनने-बिगड़ने का इतिहास पढ़ा है, और अखबारों में देश-विदेश में हो रही हत्याओं, विस्फोटों में मरने वाले अनेक राजपुरुषों के ही नहीं, शहर-गाँव के लड़के-लड़कियों के भाग जाने, रेलगाड़ी से कट मरने, नदी में डूब मरने आदि के किस्से भी कम नहीं पढ़े हैं ।—क्या इन

सबके मूल में वह प्रेम की शक्ति ही काम करती है ? यह जो कहा जाता है कि रामायण और महाभारत के युद्ध भी सीता और द्रौपदी के कारण ही लड़े गए, सो क्या वास्तव में सही है ? यानी स्त्री और पुरुष के प्रेम के कारण ?—और तब भी हम मानते हैं कि इन दोनों महाकाव्यों के चरित-नायक राम और कृष्ण उसी सर्वोच्च सत्ता परब्रह्म के पूर्णावतार हैं।

मुरारी-दा की बात जाने दूँ, उन्होंने प्रेम किया है और पाया भी है, पर मेरे जैसे भी तो अनेक होंगे ! मेरे एक मित्र हैं, मेरी ही तरह एक भरी-पुरी सद्गृहस्थी के स्वामी ! वे कहते हैं उन्हें मालूम ही नहीं, कब जवानी आई और कब चली गई ?—उनका विवाह शायद बहुत बचपन में ही हो गया था। सेक्स की बात नहीं कहता। सेक्स में प्रेम हो यह आवश्यक नहीं है, और यदि यह सही हो तो प्रेम में भी सेक्स की आवश्यकता क्यों हो ?–दोनों एक साथ रह सकते हैं, एक के होने से दूसरा भी सम्भव है।—तो ये युद्ध, जिनके मूल में स्त्री की भूमिका कही जाती है, क्या सेक्स के लिए नहीं लड़े जाते ? आदमी लड़ता है, मरता है–सेक्स के लिए ही नहीं, रोटी कपड़ा-मकान के लिए भी ! ये भी उसे चाहिए। आहार, भय, निद्रा और मैथुन, यह तो प्राणिमात्र की आवश्यकता है ! मनुष्य में कुछ बुद्धि उपजी है तो क्या इसीलिए उसने इन चारों को प्रेम के ऊखल में कूट-पीस कर एकाकार नहीं कर दिया है ?—और यदि ये उसकी स्वयं की आवश्यकताएँ हैं, तो वह प्रेम करता किससे है ? अपनी आवश्यकताओं से, अपने से ही तो ?—तभी तो वह ताल ठोंक कर कहता है,–मुझसे प्रेम करो, जैसा भी भला-बुरा मैं हूँ मुझसे प्रेम करो। 'मामेकम् शरणं व्रज'–नहीं-नहीं, 'मामेकम् प्रेमम् व्रज', मेरे प्रेम में आओ।–पूछूँगा यदि अवसर मिला तो भुक्तभोगियों से। मुरारी-दा भुगत रहे हैं, यूरोप या अमेरिका में कहीं बैठी हुई मार्गरेट भी भुगत रही है। मैं तो केवल गुन रहा हूँ, गुनगुना रहा हूँ।

–तो देखूँ मार्गरट की समुद्र-यात्रा का इतिहास, कि एक नए जन्म का इतिहास ?

'मार्च बीत रहा था न ! पर जब जहाज पर चढ़ी थी, तब कैसी गरमी छाई हुई थी, बाहर वातावरण में ही नहीं, हमारे हृदयों में भी झुलसा देने वाली गरमी ? तुमसे और स्रग्धर से बिदा का वह क्षण ही इस जीवन का अन्तिम क्षण हो जाता तो कितना अमर होता वह क्षण ?—पर ये पुंश्चली आशाएँ सुख के इन सूक्ष्म बीजों को कहाँ पहचानने देती हैं ? कल और भी उज्ज्वल होगा, और उसके बाद आने वाला कल तो और भी उज्ज्वल होगा ! बस इसी मृगतृष्णा में भागते चलो, अपने उस क्षण के छोटे-से सुख को भी मार्ग में फेंक देते हुए ! नहीं तो, जहाज के चल पड़ते ही समुद्र में क्या कूद नहीं पड़ सकती थी ?—और मृत्यु तो मँडरा ही रही थी मुँह बाए चारों ओर। जहाज चल तो पड़ा था, किन्तु धुकधुकी किसके मन में नहीं मची हुई थी ? -

समुद्रों में सुरंगों का जाल फैलाया जा रहा था, जहाजों के उनसे टकरा कर डूबने की घटनाएँ ही नहीं आम हो रही थीं, जर्मन पनडुब्बियाँ भी कहर बरसाने लगी थीं। नार्वे, डेनमार्क, फिनलैंड सब तरफ से तो शत्रु की सेनाएँ बढ़ती चली आ रही थीं इग्लैंड को लील लेने के लिए ! दुश्मन के हवाबाज आकाश में बराबर मँडराते दीख जाते थे। स्वेज नहर होकर जाने का प्रश्न ही नहीं था, वरना दस-पन्द्रह दिन की बचत हो सकती थी। पहला गन्तव्य ही पाँच हजार मील दूर दक्षिण अफ्रीका का बन्दरगाह केप टाउन था !—पाँच हजार मील !—क्या यह यात्रा मुझे अनायास इतने ही वर्षों दूर अतीत में ही नहीं लिए जा रही थी ?—पाँच हजार वर्ष पूर्व उर्वशी मृगम्मदा भी तो इसी तरह अपने पति और पुत्र से बिछुड़ कर किसी अज्ञात-अलक्ष्य में कूद पड़ी थीं। क्या मेरे भाग्य में भी इस जन्म में पुनः लौटना सम्भव नहीं होगा ? मनुष्य क्या तेली के बैल की तरह अपनी घूर्णी के चारों ओर आँखें बन्द किए चक्कर खाने के लिए ही अभिशप्त है ?—उस अनन्त समुद्र की छाती पर तब कौन समाधान देता मुझे ?

आज यह कहने से क्या लाभ कि मेरा वह प्रथम दिन जहाज पर रोते-रोते ही बीता। हम दोनों, बिल और मैं, यद्यपि मिस्टर विलियम और मिसेस एथेना कैलॉग्ज, पति-पत्नी के नाम से एक ही कैबिन के यात्री थे, किन्तु एक दूसरे से कितने विलग, अपरिचित ?—अपरिचित अर्थात् पति-पत्नी के रूप में। अतिथि बन कर तो वह और उसकी पत्नी एथेना हमारे यहाँ एक सप्ताह से अधिक रह ही लिए थे। बातचीत के लिए तो पर्याप्त आधार था, किन्तु तब भी प्रायः सारा दिन मुखर-मौन ही में बीता। बिल ने मुझे सान्त्वना देने का भरसक प्रयत्न किया था, शीघ्र ही बिछुड़े हुओं को मिलने की अनेक आशाएँ भी दी थीं, किन्तु मैं सुबकती ही रही थी।

यद्यपि युद्ध-काल के कारण जहाज पर भय और आशंकाएँ फैली हुई थीं, तब भी वह एक नियमित यात्री-जहाज था, प्रसिद्ध कम्पनी का लाइनर, यात्रा की सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त ! यात्री-गण जहाज में चारों ओर घूम-फिर कर न केवल जहाज के अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण कर रहे थे, बल्कि एक दूसरे से मिल कर परस्पर परिचय भी कर रहे थे, आखिर अगले माह-दो माह के लिए वही तो उनकी सारी दुनिया होने जा रहा था। किन्तु मैं अपने कैबिन से बाहर ही नहीं निकली, उस दिन तो मैं खाना भी नहीं खा सकी, यद्यपि बिल ने मेरे लिए खाना कैबिन ही में मँगवा लिया था।

रात बड़ी देर तक बिल डेक पर रेलिंग के सहारे खड़ा समुद्र ही देखता रहा। सचमुच समुद्र ही देखता रहा, यह भी किसे मालूम ?—मौसिम भी प्रतिकूल नहीं था। बाहर कम्प्लीट ब्लैक-आउट था। जहाज से लहरों की टकराहट, या दूर फेन उगलती

लहरों में कभी-कदाच जल उठने वाली बिजली की कौंध भले उसे अनुभव हो रही होगी ! किन्तु क्या उसके मन का असमंजस ही उसे बाहर रोके हुए नहीं था ? एक ही कैबिन में एक पराई युवती स्त्री के साथ रात कैसे बिताई जा सकती है ?— अपनी गमगीनी को भूल कर जब मैंने इस ओर ध्यान दिया तो मुझे भय लगा, यदि उसे बाहर हवा में कुछ हो-हुआ गया, तो मेरा क्या होगा ? दूसरे, अगर उसे कुछ न भी हो, तो भी हमारे बीच इस अजनबीपन के व्यवहार को देखकर क्या अन्य यात्री या जहाज के अधिकारी सन्देह नहीं करने लग जाएँगे ? तब तो यह सारा व्यायाम व्यर्थ हो जाएगा !–जब अभिनय करने के लिए ही उतरी हूँ, और उसके बिना निस्तार नहीं है, तो मन को संयत कर उठी, और उसके पास जाकर बोली, 'बाहर कब तक खड़े रहेंगे ?–भीतर चलिए न !'

उसने कहा, 'भीतर ऊमस बहुत है । मैं चाहता हूँ कि बाहर डेक पर खुली हवा में ही सोऊँ ।'

'पहले भीतर चलिए । बाहर हमारे इस तरह के औपचारिक-वार्तालाप से कोई हम पर सन्देह कर सकता है ।'–वह मेरे पीछे-पीछे ही सहज भाव से कैबिन में चला आया ।

समझ तो वह भी बहुत पहले से रहा था, जहाज में पति-पत्नियों के और भी जोड़े थे । वे अवश्य आगे से चले आ रहे थे और जहाज के जीवन में रस-बस गए थे । मेरे लिए यह सोचा जा सकता था कि मैं अभी-अभी अपने परिवार के स्वजनों से बिछुड़ी हुई हूँ, अत: स्वस्थ-चित्त होने में कुछ समय लगेगा ही । किन्तु तब भी उसकी एक सीमा है । वह बेचारा तो मुझे पति की तरह सहानुभूति और सान्त्वना भी तो नहीं दे सकता था ।– आश्वस्त उसे मुझे ही करना पड़ा । मैंने कहा,

'मिस्टर कैलॉग, यह तो पहली ही रात्रि है । अभी न जाने कितनी रात्रियाँ हमें इसी जहाज में इसी कैबिन में बितानी हैं । बाहर मौसम अनुकूल हो तब भी शत्रु के बमवर्षक तो समय-असमय नहीं देखेंगे । और फिर यह भी तो ध्यान रखना है कि कोई हमारे व्यवहार से ही हम पर सन्देह न करने लग जाए । बाहरी लोगों की दृष्टि में तो हम पति-पत्नी हैं, यदि इसी दृष्टि से हमारा व्यवहार और आचरण संगत न हुआ तो क्या हमारे लिए कठिनाई नहीं पैदा हो जाएगी ?—मुझे और किसी पर चाहे न हो, पर अपने ऊपर दृढ़ विश्वास है ! कोई कारण नहीं कि आप कैबिन में न सोएँ । और निकटता का रिश्ता केवल पति-पत्नी का ही नहीं, भाई-बहन का भी हो सकता है, जिसमें औपचारिकता की अपेक्षा नहीं की जाती ।—मैं तुम्हें बिल कह कर पुकारूँगी, और तुम मुझे—एथेना को क्या कह कर पुकारते हो ?'

'आपने सचमुच मेरी कठिनाई हल कर दी मिसेस लाल ! अपने लिए उतना नहीं, जितना मैं आपके लिए ही चिन्तित हूँ। अब तक मैं आपकी उदासीनता को आपके अस्वास्थ्य और परिवार के वियोग का प्रभाव बता कर ही अपना बचाव कर पाया हूँ, पर यह बहाना भी कब तक चलता ?–जहाज का डॉक्टर ही आकर यदि आपका परीक्षण करने लग जाए ?–मैं सचमुच भार-मुक्त हुआ ! मुझसे आप किसी प्रकार की आशंका न करें, मैं आपकी स्वतन्त्रता में किसी तरह भी बाधक नहीं बनूंगा । अभिनय के लिए अवश्य आपको मुझे क्षमा कर देना होगा।'

मैं ने मुस्करा कर कहा, 'सो तो ठीक है भाई, किन्तु तुमने मेरे प्रश्न का तो जवाब नहीं दिया ? तुम अपनी पत्नी को क्या कह कर पुकारते हो ?'

'एथेना नाम इतना सुन्दर और पवित्र है कि मैंने उसे कभी छोटा करने की जरूरत नहीं महसूस की थी। किन्तु इधर उसके स्वभाव की क्षिप्रता देखकर अनायास मैंने उसे 'डिअर एटना' कह कर पुकारना शुरू कर दिया था ! अपने नए नाम से वह भी खुश ही लगी। पर आपका–'

'प्लीज, भूल जाओ यह आप-वाप। ऐसे ही सम्बोधन हमें धोखा देकर पकड़वा दे सकते हैं। मुझे भी तुम एटना कह कर पुकार सकते हो। उसके अन्तर का जलता हुआ लावा ही हमें एक दूसरे से बचाए रखेगा।'

'वाह यह कैसे हो सकता है ? आपका········मुझे क्षमा करें, तुम्हारा स्वभाव तो एकदम विपरीत है, बिलकुल समुद्र जैसा ! मुझे अगर बुलाना हुआ तो 'डीयर एथेना' कह कर ही पुकारूँगा।' फिर उसने मुस्करा कर कहा था, 'उस पगली लड़की से कुछ अन्तर तो रखना ही चाहिए न ?'

'जैसी तुम्हारी इच्छा ! उधार ली हुई वस्तु का सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिए ! और देखो, तुम नीचे बंकर पर सो जाओ, पंखे की वहाँ सीधी हवा आती है। 'पोर्ट-होल' बन्द कर देने पर भी असुविधा नहीं होती ! मैं ऊपर के बंकर पर सो जाऊँगी।'

'ना-ना। तुम ऊपर क्यों सोओगी ?–मैं ऊपर सो जाऊँगा। हवा ऊपर भी खूब आती है।'

और इस तरह कैबिन में दूरी रखते हुए, किन्तु बाहर एक-दूसरे के अधिक-से-अधिक निकट रह कर जहाज पर हमारे दिन बीतने लगे। जहाज में मनोरंजन आदि के सभी साधन विद्यमान थे। कहीं कोई आचरण असामान्य न दिखाई दे जाये, इसलिए भी सतर्क रह कर मुझे जहाज के जीवन से अनुकूलता करनी पड़ी थी। यदि कुछ कमी भी रही हो तो उसे सामान्य रूप से सबके मनों पर छाए युद्ध के आतंक के कारण भुला दिया गया होगा। परिस्थिति-जन्य संकोच के

बावजूद, मुझे स्वीकार करना चाहिए मैं जहाज के सामाजिक-जीवन में भी घुलने-मिलने का सचेत प्रयत्न करने लग गई थी।

जहाज में सुदूर पूर्व से एक ब्रिटिश परिवार भी स्वदेश लौट रहा था। परिवार-अर्थात् पति, पत्नी और सात-आठ मास का एक शिशु। यात्रा के तीसरे दिन डिनर-टेबल पर पति महाशय ने ·बिल को सूचना दी कि उसके बच्चे को एकाएक जुकाम हो गया है। जहाज के डॉक्टर ने सावधानी के तौर पर माँ और बच्चे को अन्य यात्रियों से मिलने से रोक दिया है। दूसरे दिन यह आशंका की जाने लगी कि उसे कहीं खसरा न हो! बहुत विचार-विमर्श के बाद निश्चय किया गया कि जहाज जंजीबार ले जाया जाये और उस परिवार को वहाँ उतार दिया जाये। यद्यपि युद्ध-काल था, और बच्चे की बीमारी के बारे में भी निस्संशय कुछ कहा नहीं जा सका था, तब भी संसर्ग-जन्य बीमारी सम्बन्धी कुछ औपचारिकताएँ पूरी की गईं और इस तरह जंजीबार में हमें तीन दिन लग गये। मार्ग भी स्वाभाविक रूप से लम्बा हो गया।

इसके बाद, कहना चाहिए, हिन्द महासागर की हमारी केप टाउन तक की यात्रा एक तरह से निर्विघ्न ही सम्पन्न हुई! समुद्र भी कुल मिलाकर शान्त ही रहा। केबिन के भीतर भी हमारा जीवन अब तनावपूर्ण नहीं रह गया था। बैठ कर हम अपने अतीत के इतिहास और भविष्य के सपनों के बारे में भी बातचीत करने लगे थे। उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही उस घनिष्ठता के डीटेल्स चालीस वर्ष बाद अब स्मरण कहाँ हैं, और उनका प्रयोजन भी क्या है? कहीं कहावत है न, कि पथ में दो कदम भी साथ चलने वाला जीवन का हिस्सेदार हो जाता है, तो हम तो पथ ही में नहीं, कक्ष में भी गये कई दिनों से एक अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध का लबादा ओढ़े सफर कर रहे थे। सारे जहाज में मैं मिसेस कैलॉग के नाम से मशहूर हो चुकी थी। इस बीच दो बार डिनर में कैप्टन के साथ टॉप-टेबल पर भी बैठने का अवसर मिल गया था। किन्तु बिल ने अपने सम्बन्ध में कभी भूल कर भी ऐसा अवसर नहीं आने दिया, जिससे किसी सभ्य महिला को उसके विरुद्ध कुछ भी कहने का अवसर हो।

केप टाउन में हमारे जहाज को तीन-चार दिन रुकना पड़ गया। जंजीबार से उसने केप टाउन के लिए काफी कुछ 'कार्गो' ले लिया था। वहाँ से आगे न्यूयार्क तक की सीधी यात्रा के लिए पर्याप्त रसद-पानी और ईंधन तो लेना ही था, वहाँ से भी काफी-कुछ कार्गो मिल गया था। सामान के चढ़ाने-उतारने में भी काफी समय लग गया था। इसके अतिरिक्त एक बात और प्रस्तुत हुई। हिन्द महासागर में युद्ध की गतिविधियाँ तेज न थीं, किन्तु अटलांटिक महासमुद्र इसका अपवाद था।

जर्मन यू-बोटों का आतंक दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था, और समुद्री सुरंगें भी कहर ढा रही थीं। युद्ध के इन तीन-चार महीनों में ही यू-बोटों से सवा सौ और सुरंगों से लगभग सौ व्यापारी जहाज अटलांटिक में नष्ट हो चुके थे। यद्यपि दक्षिण अमेरिका में जर्मन विध्वंसक जहाज 'ग्राफस्पी' ने आत्महत्या कर ली थी, किन्तु उसका भूत तो सर्वत्र फैला हुआ था ही। 'रावलपिंडी' जैसे प्रसिद्ध जहाज नष्ट होते जा रहे थे। अतः व्यापारी जहाजों के लिए यह निश्चय किया गया कि वे जहाँ तक सम्भव हो, इक्के-दुक्के सफर न करें, और आवश्यकता हो तो कुछ समय रुक कर भी अपना एक समूह 'कॉनवॉय' बना लें। इस कॉनवॉय के संरक्षण के लिए एकाध विध्वंसक और युद्ध-पोत की व्यवस्था की जा सकती है। दो-तीन दिन रुकने के बाद भी जब और किसी व्यापारी जहाज के साथ होने की सम्भावना नहीं रही तो हमारे जहाज ने अकेले ही अपनी लम्बी यात्रा पर निकल पड़ने का निश्चय कर लिया। राह में उसे वैसे ही बहुत विलम्ब हो गया था। किन्तु इसी बीच जहाज के यात्री बन्दरगाह पर उतर कर कई बार नगर में इच्छानुसार घूम-फिर आये थे।

बिल के अनुरोध पर मैं भी दो बार शहर घूम आई। एक बार बिल और मैं नगर के एक प्रसिद्ध होटल में खाना भी खा आए। यद्यपि जहाज में भोजन में पर्याप्त वैविध्य था, किन्तु वातावरण की वह मुक्तता तो नहीं थी, जो कई दिनों के बाद हमें होटल में उपलब्ध हुई थी। और यात्री तो कई-कई बार होटलों में खाते रहे। जहाज के अधिकारियों ने भी नियमों में ढील देने में उदारता दिखलाई थी। जहाज के दमघोंटू वातावरण से सभी लोग मुक्ति चाहते थे। पहले तो मैं स्वयम् जहाज छोड़ कर जाने को उद्यत नहीं हुई थी। यात्रा में केप टाउन पहुँचते-पहुँचते कुछ-कुछ सिरदर्द-सा रहने लगा था—शायद हलका-हलका ज्वर भी हो जाता रहा हो, किन्तु इस भय से कि कहीं डॉक्टर अपनी परीक्षा में कुछ का कुछ न बता दे, इसलिए उसको दबाये ही रही थी। मैं भी यात्रा की श्रान्ति और जहाज का बँधा वातावरण ही उसका कारण समझती थी। बिल ने जब बार-बार अनुरोध किया तो मैं मान गई।

तुम अवश्य जानते होगे कि केपटाउन दुनिया के अत्यन्त सुन्दर नगरों में गिना जाता है। टेबल की खाड़ी में इसकी स्थिति बड़ी ही मनोरम है। सामने उत्तर में विशाल समुद्र, पीठ पर दक्षिण में उत्तुङ्ग सपाट पर्वत। पश्चिम में पर्वत के पार महासमुद्र का अनन्त-व्यापी विस्तार और पूर्व में दिगन्त-व्यापी अफ्रीका महादेश की जन-समाकीर्ण विस्तृत भूमि ! भूमि-खंड के दक्षिणी छोर, उत्तमाशा अन्तरीप, केप ऑफ गुड होप, से यह शहर केवल तीस मील उत्तर में है। स्वेज नहर के निर्माण के पहले तो इसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व था, किन्तु अब भी दक्षिण

महादेश को विश्व के अन्य समृद्ध देशों से जोड़ने में इस बन्दरगाह का अन्यतम स्थान है। नगर के ध्रुव-दक्षिण में टेबल पर्वत की अनन्य शोभा है। साढ़े तीन हजार फुट की ऊँचाई पर यह पर्वत पूरे दो मील तक सपाट पूर्व-पश्चिम चला गया है, दूर से बिलकुल सपाट टेबल जैसा दिखाई देता है। पूर्व में है डेविल्स पीक, और पश्चिम में है लॉयन्स हेड, जो शहर की पूर्वी और पश्चिमी सीमा बनते हैं। नगर के बीचोंबीच डॉक्स से पर्वत तक बड़ी सुन्दर सड़क बनी हुई है एडर्ली—मार्ग। और पहाड़ पर चढ़ने के लिए एक हवाई केबल-वे भी है। ऊपर से सारा नगर एक स्वप्न-सा दिखाई देता है। सारा वातावरण इतना मनोमुग्ध-कर है कि वहाँ से हटने का मन नहीं करता। किन्तु उस समय वहाँ की राजनैतिक स्थिति भी भारत जैसी ही थी। प्रधान मन्त्री जनरल स्मट्स का दल युद्ध में मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में था, वहाँ के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री जनरल एरेंजोग के नेतृत्व में विरोधी-दल, राष्ट्रवादी, युद्ध में तटस्थ रहना चाहते थे। इससे जहाज के यात्रियों के मुक्त विचरण में अवश्य कुछ प्रतिबन्ध आवश्यक हो गया था।

केप टाउन से जब जहाज ने प्रस्थान किया तो मेरा सारा बदन टूट रहा था। हम उत्तर की ओर उष्ण कटिबन्धों में बढ़ रहे थे, किन्तु मुझे ऐसा शीत अनुभव होने लगा था, जैसा इस यात्रा में अभी तक अनुभव नहीं हुआ था! रात बीतते न बीतते सिर और पीठ का दर्द असह्य होने लगा तो डॉक्टर की शरण लेना आवश्यक हो गया। हलका-हलका ज्वर भी था, जो दिन के बढ़ने के साथ ही साथ बढ़ता ही गया, और रात करवटें बदल-बदल कर ही बितानी पड़ीं। सवेरे उठी, तो सारे बदन में जलन-सी अनुभव हो रही थी। सबसे बड़ी वेदना तो यह थी कि मेरे साथ बेचारा बिल भी अकारण ही दुःख पा रहा था। मैं उसके संकोच और संघर्ष को बराबर समझ रही थी, पराई स्त्री को छूने का उसे कोई अधिकार नहीं था—बाहर भी हम प्रायः ही थोड़ी-बहुत दूरी बनाए ही रहते थे, अन्य पाश्चात्य जोड़ों की तरह गलबहियाँ डाले, कर-वेष्टित-कटि नहीं! डान्सरूम में डान्स की बात मैं नहीं कहूँगी, वहाँ तो कप्तान की कमर में हाथ डाल कर भी नाचना पड़ा था। वैसे मेरी भारतीय साड़ी भी मेरा काफी बचाव कर देती थी। जहाज के लगभग सभी सहयात्रियों का मत था कि मैं पाश्चात्य-परिवेश की अपेक्षा साड़ी ही में ग्रेसफुल लगती हूँ, और विशेषकर मैं उसी वेष में रहा करती थी।

तीसरे दिन जब मेरा ज्वर बढ़ गया तो बिल ने चाहा कि एक नर्स की व्यवस्था कर दी जाए, जहाज के मेडिकल-विभाग में पुरुष-नर्स की व्यवस्था थी और उसे जुटाने में कोई कठिनाई भी नहीं होनी चाहिए थी, किन्तु न जाने क्यों मुझे इसमें रुचि न थी, मुझे न जाने कैसा एक भय, भविष्य की किसी अबूझ आशंका का आभास-सा

होने लगा था, और मैं चाहती नहीं थी कि मेरे अस्वास्थ्य का समाचार यात्रियों में फैले। शायद यह आशंका भी थी कि ज्वर की तीव्रता में मैं कहीं होशहवास न खो बैठूं, और प्रलाप में अनजाने ही मुँह से कुछ ऐसा निकल जाए, जो मेरे ही नहीं, स्वयम् बिल के लिए भी संकटजनक हो जाए ! किन्तु इससे ज्वर तो कम होने से रहा। बल्कि वह जब और भी तीव्र हो गया तो मैं बेहोश भी रहने लगी। बेचारा बिल ! कब तक अपने आपको रोके रहता ? और अपनी नीम-बेहोशी में मैं ही कैसे उसे मना करती ? जब भी मैंने बेहोशी से निकल कर आखें खोलीं, उसे अपने पास बैठे मेरे माथे पर बर्फ की पट्टियाँ बदलते हुए मेरे उत्ताप को कम करने की चेष्टा में रत ही देखा। बेहोशी में शायद मैं कुछ नींद भी ले लेती रही हूँगी, पर बिल तो जागते रह कर पट्टियाँ ही बदलता रहता ! मैं नहीं जानती थी, क्या तो उससे इस तरह सेवा लेने का मुझे अधिकार था, और क्या हीं उसे मुझसे पाने की आशा थी ? राह चलते किसी अनजान व्यक्ति ने एक बहुत ही नाजुक और खतरनाक जिम्मेदारी, बल्कि कहना चाहिए बला, उसके गले मढ़ दी थी, जिसके लिए वह कभी बाध्य नहीं था, जिसे जब चाहे वह गले से उतार फेंक सकता था, और जिसके लिए उस पर कोई भी नैतिक या कानूनी बाध्यता नहीं थी, उसी भार को वह अपनी अशेष असुविधाओं के बीच स्वेच्छा से, और शायद प्रसन्नता से भी, ढोए जा रहा था। मैं मन ही मन लज्जा से घुटती जा रही थी, किन्तु करती ही क्या ? तन तो मेरा निर्लज्ज होकर मेरे वश के बाहर चलता ही जा रहा था।

अगले दिन तो डॉक्टर ने देख कर कह ही डाला, 'वेल मि० कैलॉग, मुझे भय है, यह कहीं चेचक न निकल जाए।'

'चेचक ?'—मुझे स्मरण है किस तरह बिल के मुँह पर हवाइयाँ फैल गई थीं, उसके हाथ के मानों तोते उड़ चुके थे।

'मिसेस को कब इम्युनाइज किया गया था ?' डॉक्टर ने पूछा।

बिल को मिथ्या बोलना पड़ा, 'उसके बिना हमें टर्की में ही कौन घुसने देता ? लेकिन·····'

'लेकिन ?'

'देखिए डॉक्टर, मेरा सर्टिफिकेट तो मेरे पास है, मगर मेरी पत्नी का सर्टिफिकेट इण्डिया में ही कहीं रह गया है !'

'जो हो। इस समय तो कुछ किया नहीं जा सकता ! बाइ द वे, यह इन्फेक्शन ये ले कहाँ से आयीं ? – क्या आप जन्जीबार पोर्ट पर जहाज से उतरे थे ?'

'क्या आप सोचते हैं डॉक्टर, उस गरमी में क्या दो-तीन दिन तक जहाज की कोठरी में ही दुबके बैठे सिकते रहना सम्भव था ?'

'यस आइ एग्री। बट दैट ब्लडी डर्टी सिटी। – आप जानते हैं, गुलामों के व्यापार का वह दुनिया का सबसे बड़ा केन्द्र था।–दस दिन से अधिक हो रहे हैं न ?– यह इन्फेक्शन इन्होंने वहीं से लिया है। अगर मेरा भय सही निकला मि० कैलॉग, तो पैशंट को सेग्रेगेट करना बहुत जरूरी होगा। इस बीच नर्स की व्यवस्था की जा सकती है। लेकिन उससे कई समस्याएँ उठ खड़ी होंगी।'

'पैसा कोई समस्या नहीं होगी डॉक्टर।'

'मुझे गलत न समझिए मि० कैलॉग। मैं पैसे की बात नहीं कह रहा था। मैं नहीं चाहता कि जहाज में अनावश्यक आतंक फैल जाए। जहाज को वैसे ही अत्यधिक विलम्ब हो चुका है। इस समय हमारा लक्ष्य मार्ग में बिना कहीं रुके सीधे न्यूयार्क पहुँचने का है, किन्तु इस तरह के केस का मतलब है कि पेशंट को जल्दी से जल्दी नेक्स्ट पोर्ट पर उतार दिया जाए।–फिर क्वैरंटाइन, जहाज का कम्प्लीट डिसइन्फेक्शनमेंट–अनादर टू वीक्स।'

'कोई रास्ता नहीं है डॉक्टर ?'

'इस समय तक किसी को इस बीमारी का पता नहीं लगा है।–मैं भी एक जोखिम ले सकता हूँ, यदि आप पेशंट की देखभाल खुद काफी सतर्क रह कर अपने ऊपर ले सकें। मैं कैप्टन को किसी अन्य बीमारी का बहाना लेकर पेशंट के हित में अगले पोर्ट पर उतारने के लिए प्रेरित कर सकूंगा, ताकि क्वैरंटाइन की औपचारिकता से जहाज तथा अन्य यात्री और आप भी बच जाएँ। पेशंट को तो अब जहाज पर रखना किसी भी हालत में उचित नहीं होगा। आप जानते हैं, यह भयानक संक्रामक रोग है, और इसकी उपेक्षा करने के लिए मुझे भयानक दंड दिया जा सकता है!

'अगला पोर्ट कौनसा है डॉक्टर ?'

'पता करना होगा, सबसे अधिक निकट का पोर्ट कौनसा हो सकता है।–केप टाउन से ही हमने न्यूयार्क का सीधा मार्ग लिया था। अब तो थोड़ा-बहुत मार्ग भी बदलना होगा। कल तक रोग के लक्षण भी स्पष्ट हो जाएँगे। यदि वही बीमारी हुई, तो अब और उसकी कोई चिकित्सा भी नहीं है।–नाउ इट विल टेक इट्स ओन कोर्स–उपचार नहीं, रोगी केवल परिचार चाहेगा, और इसकी व्यवस्था हर पोर्ट पर सरलता से मिल जाती है। लेकिन आप मेरे साथ सहयोग करेंगे तो मि० कैलॉग ?'

'अपनी पत्नी के लिए मैं सबकुछ करने को तैयार हूँ डॉक्टर!'

'आइ कैन सी दैट। आप जैसे हजबन्ड की डिवोशन किसी भी पत्नी के लिए गर्व के साथ जीवित रहने की प्रेरणा देती है मि० कैलॉग। विश यू ऑल गुड लक ?'

मैंने उनका सारा वार्तालाप सुना था।–इसे बिल की, मि० विलियम कैलॉग की, भलमनसाहत कहूँ, औपचारिकता कहूँ, या सचमुच एक समर्पित पति की अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति ?

रात को वह मेरी शय्या के पास बैठा मेरे ज्वर में उसी तरह सिर की पट्टियाँ बदल रहा था। मैंने माथे पर अनायास उसका हाथ पकड़ कर कहा, 'बिल जब तक हम अगले पोर्ट पर नहीं पहुँच जाते और मुझे उतार नहीं दिया जाता, परमात्मा के लिए तुम किसी दूसरे कैबिन में शिफ्ट हो जाओ। कैपटाउन के बाद तो मैंने देखा था, ऊपर ही दो-तीन कैबिन खाली हो चुके थे।'

'और उसके बाद ?' फिर उसने किंचित् मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए कहा था, 'अगले पोर्ट पर तुम्हें अकेली मरने के लिए छोड़ कर मैं आगे उसी जहाज से अमेरिका के लिए बढ़ जाऊँ ?-क्यों ?'

उसका सहसा यह कठोर नग्न सत्य-कथन सुन कर भीतर ही भीतर मैं दहल उठी। आँखें आप ही बन्द हो गईं, मन अपने ही में डूबने लगा।-आखिर यह मन चाहता क्या है ?

बिल ने जब पट्टी बदलने के लिए हाथ छुड़ाया तो मैं ने कहा, 'अगर मेरी वही नियति हो, तो तुम्हें क्यों उसमें सनना होगा ?-मैं तो तुम्हारी कोई नहीं हूँ।'

'हो सकता है। अपने लिए तुम जो चाहो सो कह सकती हो, किन्तु मेरे लिए तो नहीं न ?'

'तुम्हारे लिए क्या हूँ मैं ?'

'उससे तुम्हें क्या सरोकार है ?

'कुछ नहीं है, इसीलिए तो कहती हूँ। मुझे ही क्या अधिकार है तुम्हें इन सब मुसीबतों में खींच ले जाने का ?'

'तुम्हारे अधिकार की बात तुम जानो एथेना।-मैं तो अपने अधिकार की बात नहीं कहता ! इसे कर्तव्य भी नहीं कहना चाहता, किन्तु अगर तुम कुछ मानना ही चाहो तो मोटे रूप में वही समझ लो।-एक शरीफ आदमी की अमानत तो है ही मेरे पास ! उसे सही-सलामत लौटाना क्या मेरा कर्त्तव्य नहीं है ?'

'सही सलामत ?-क्या सचमुच सही-सलामत लौटाई भी जा सकूँगी ?'

'प्रयत्न तो प्राणपण से इसी का करते रहना होगा !'

कुछ देर तक अपने आपमें खोई रह कर मैंने पूछा, 'यह इकतर्फा और नुकसान का सौदा तुम क्यों और किसलिए करोगे बिल ?-मैं निरी पदार्थ तो नहीं हूँ। देख ही रहे हो, सही-सलामत रहना मेरे अपने ही बूते की बात नहीं है। और फिर मेरी इच्छा-अनिच्छा भी तो है।'

'सो हुआ करे। मैंने तुम्हारी इच्छा के विपरीत तो कोई काम किया नहीं है।'

'पर यही देखो न। मेरी इच्छा के विपरीत ही तो तुम इसी कैबिन में रहने का हठ लिए बैठे हो !'

'और अगले पोर्ट पर तुम्हारी इच्छा के विपरीत ही तुम्हारे साथ उतर भी पड़ूँगा।' फिर उसने मेरे माथे पर हाथ फिराते हुए कहा, 'तुम इस समय स्वस्थ नहीं हो डीयर। विकृत तन और विकृत मन की इच्छा और अनिच्छा भी विकृत ही हो सकती हैं। तुम एक बार स्वस्थ हो जाओ, फिर जो कहोगी वैसा ही होगा।–और अब सोने की चेष्टा करो डीयर।–ईश्वर के लिए अधिक मत सोचो, नहीं तो सिर दर्द बढ़ता ही जाएगा।'

–सचमुच बोलने में दर्द अनुभव हो रहा था। मुँह के भीतर छाले उभर रहे थे, जीभ भी अनायाम खुरदरी और मोटी हो गई लग रही थी। फिर भी मैंने कहा, 'तुम भी अब सो जाओ बिल, मेरा सिर दर्द पहले से बहुत हलका हो गया है।'

'पर बुखार तो वैसा ही धधक रहा है।–मेरी चिन्ता मत करो। तुम सो जाओगी तो मैं भी सो जाऊँगा। चाहती हो कि मैं सो जाऊँ तो तुम पहले सो जाओ।'

कुछ देर चुपचाप पड़ी रही। कपाल पर पानी से भीगी पट्टी और सिर के बालों में बिल की अँगुलियाँ घूम रही थीं। न जाने क्यों पलकों पर नमी छागई। बिल ने लक्ष्य कर लिया होगा, बोला,

'क्या हुआ डीयर? रो क्यों रही हो?–क्या पीड़ा ज्यादा है?'

लम्बी साँस लेकर मैंने कहा, 'मैं दूसरे पुरुष की पत्नी हूँ बिल! इसी जन्म का नहीं, जन्म-जन्मान्तरों से मेरा उसका साथ चला आ रहा है! किसी दूसरे पुरुष को प्यार करने की कल्पना भी मेरे लिए असम्भव है, अपराध है।'

'मै जानता हूँ डीयर, तुम मुझे प्यार नहीं कर सकती। मैंने तुमसे प्यार माँगा ही कब है?'

–नहीं, माँगा तो नहीं है। पर मुँह खोल कर माँगने से ही क्या किसी की माँग स्पष्ट होती है?–पुरुष की नहीं जानती, किन्तु स्त्री की दृष्टि से भी क्या कभी वह माँग छिपी रही है? कहा, 'तुम्हें एक सुन्दर प्यार करने वाली पत्नी प्राप्त है! वह बेचारी शीघ्र ही तुमसे आ मिलने को उत्सुक होगी, तुम पर उसका पूरा अधिकार है। उस अधिकार की अवहेलना करके तुम किसी मरीचिका में क्यों भटकोगे?'

'मैं किसी के अधिकार को कहाँ अस्वीकार कर रहा हूँ?–अपेक्षा तो मुझे अपनी पत्नी से भी नहीं है, जो मिल जाए वही मेरा सौभाग्य! प्यार के ऊपर तो किसी का वश नहीं है न।–तब फिर उसके लिए किसी को विवश करने का प्रश्न भी कहाँ रहता है? और तब वह माँगा भी कैसे जाए? माँगने पर जो मिलेगा वह प्यार नहीं, करुणा हो सकती है, अधिक से अधिक दया हो सकती है! उनसे तो प्यार की प्यास मिटती नहीं।–और अब तुम सोओ। जानती हो न, जब तक तुम सो नहीं जाओगी, मैं सो नहीं सकूँगा। कल तुम तो बीमार बनी रह कर निश्चेष्ट पड़ी रह सकोगी, पर

मुझे तो सभी काम स्वयम् हीं करना पड़ेगा। कल-परसों तक किसी आसपास के पोर्ट पर पहुँचना भी हो जाए। मैं अब तुम्हारी किसी बात का जवाब नहीं दूँगा।'

—मन मार कर मौन पड़ी रहने के सिवा कर ही क्या सकती थी?—पर मन ही क्या मौन रह सकता था?—यदि रह सकता तो दुनिया में इतनी व्याधि कब फैलती?

जहाज के डॉक्टर से अपेक्षा से अधिक सहानुभूति और सहायता प्राप्त हुई। उसने मेरे रोग के समाचार को फैलने से बचाया, कम से कम उसकी संक्रामकता और गम्भीरता की किसी को आशंका भी नहीं होने दी। अवश्य यह स्वयम् बिल की अत्यन्त सतर्क सावधानी के बिना सम्भव नहीं था, किन्तु अन्य सब यात्रियों की दृष्टि में, स्वयम् डॉक्टर की दृष्टि में भी, वह तो मेरा पति ही था। उसकी अथक सेवा और निर्वाक् भक्ति की साक्षी केवल मैं ही हो सकती थी, जिसका उससे प्रकट कोई भी सम्बन्ध नहीं था, सिवा इसके कि एक पड़ोसी के रूप में किसी विपत्ति में आ फँसे भले व्यक्ति की वह सहायता कर रहा था। अपने स्वयम् के स्वास्थ्य के लिए उसने मेरी भयंकर बीमारी के संसर्ग की तनिक भी चिन्ता नहीं की थी, जबकि स्वास्थ्य के सामान्य नियमों के अनुसार उसे मुझ से बहुत दूर रहना था, सम्पर्क रखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। मेरे परिचार में वह नर्स से भी अधिक गहराई के सेवा-भाव से जुटा रहा—सेवा भाव? नहीं, प्रेम-भाव भी नहीं, उसे तो सम्पूर्ण सगर्पण ही कहा जा सकता है! जिस दिन हमें पोर्ट पर उतरना था, उस दिन तो मेरे चेहरे और हाथों पर दाने भी उभर आए थे। यात्रियों की दृष्टि उन पर न पड़ जाए इसलिए मुझे पूरी चादर में लपेट दिया गया था, बिल ने स्वयम् अपने हाथों में उठा कर मुझे स्ट्रेचर पर लिटाया था। उसके हृदय से सट कर मैंने उसकी धड़कन ही नहीं, उसकी आकांक्षाओं की प्यास भी अनुभव की थी।

डॉक्टर के सहयोग की बात मैं कह चुकी हूँ। उसने कैसे तो क्या जहाज के कप्तान को समझाया और कैसे क्या सहयात्रियों को बताया कि किसी ने हमारे बारे में अनावश्यक उत्सुकता या शंका ही प्रस्तुत नहीं की। पोर्ट के डॉक्टर को भी पहले से ही अलग ले जाकर उसने जाने क्या समझाया कि क्वैरंटाइन आदि की कोई झंझट खड़ी ही नहीं हुई और जहाज हमें पोर्ट पर उतारते ही आगे की अपनी यात्रा पर चल पड़ा।—मैं तो सारे समय लगभग बेहोश ही रही। आज उस दिन की याद होते ही कलेजा काँप उठता है।—जब जहाज से उतारा गया तब मैं लाश ही तो थी, और ऐसी अस्पृश्य बीमारी से ग्रस्त, जिससे हवा को भी दूषित होना पड़ता है! यदि बिल साथ न उतरता तो जहाज के वहाँ से छूटते न छूटते मैं अवश्य ही शव में परिणत हो चुकी होती। वहीं पर क्यों, जहाज में भी यदि केपटाउन के बाद बिल मेरी देखरेख न करता तो यों ही मर-खप चुकी होती। बहुत सम्भव है कि चिकित्सा-विभाग के

कर्मचारी ही पोर्ट-होल में से मुझे अर्धमृत अवस्था में ही समुद्र में फेंक कर निश्चिन्त हो जाते।–पोर्ट पर क्वैरन्टाइन आदि की जो झंझट नहीं हुई, कह नहीं सकती उसमें केवल जहाज का अपना स्वार्थ था, या इस व्यवस्था में बिल का पैसा भी उपयोगी हुआ, और उपयोगी हुआ तो कितना हुआ ?–मैंने बाद में जब भी जानने का प्रयत्न किया, बिल ने हँस कर टाल दिया। उसका एक ही उत्तर था, 'मैं तो अपने प्राणों को दाँव पर लगा बैठा था। तुम पूछती हो कितना पैसा लगा ?'–इसके बाद पूछने को रह ही क्या जाता है ?

और भाग्य की बात देखिए, उतरे भी हम किस पोर्ट पर ?–भाग्य हमें कहाँ खींच लाया था ? इतिहास-प्रसिद्ध सेंट हेलेना का द्वीप गए सवा सौ वर्षों में शायद पहली बार हमें पाकर सक्रिय हुआ होगा। इसी द्वीप पर तब, वाटरलू के युद्ध में पराजित फ्रान्स का सम्राट् नेपोलियन वोनापार्ट वन्दी वना कर लाया गया था। ठीक सवा सौ वर्ष बाद, नेपोलियन-जैसे ही महत्वाकांक्षी और तानाशाह हिटलर के देश में जन्मी, जीवन के युद्ध में पराजित पति और पुत्र से वंचित एक अभागिनी नारी उसी निर्जन अभिशप्त द्वीप में उतरने को विवश हुई थी ! नेपोलियन को पांच वर्ष से अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी मृत्यु के रूप में अपने छुटकारे के लिए। मैं तो मृत्यु के मुख में पहुँची हुई ही थी, मन और तन इतने जर्जर और पराए हो गए थे कि जीवन की कोई वासना भी नहीं थी। न जाने क्यों उस निर्जन अभिशप्त द्वीप में मेरा एक मात्र साथी बिल प्राणपण से मुझे जीवित रखने के लिए अपने ही प्राणों से खेल रहा था।

सेंट हेलेना दक्षिण अटलांटिक महासागर में एक पहाड़ी निर्जन द्वीप है, लगभग दस मील लम्बा और छह मील चौड़ा। पुराकाल में शायद वह एक ज्वालामुखी पर्वत रहा होगा ! उत्तर में उसीका अर्धवृत्ताकार मुख लगभग तीन हजार फुट ऊँची पर्वत-श्रेणियों में फैला हुआ है। सारे द्वीप में केवल एक ही शहर है, उत्तर-पश्चिमी में जेम्सटाउन। जन-संख्या एक हजार भी शायद ही होगी, सारे ही द्वीप में दो हजार से अधिक लोग नहीं होंगे। गर्वनर के और वन्दरगाह के कुल मिला कर चालीस-पचास श्वेत थे, शेष सब आदिवासी, जो निहायत गरीब, किन्तु सुखी और सन्तुष्ट ही प्रतीत होते थे। द्वीप का केवल चौथाई हिस्सा ही खेती के योग्य था, जहाँ अलसी, आलू या कुछ सब्जियाँ ही उगाई जाती थीं। हाँ, ऊँची किस्म की कॉफी भी वहाँ पैदा की जाने लगी थी। देखने योग्य सारे द्वीप में केवल एक वस्तु है जैकब की सीढ़ियाँ, जो शहर से ठेठ पहाड़ी के शिखर तक चली गई हैं, संख्या में एक कम सात सौ ! पता नहीं, इन सीढ़ियों का इतिहास क्या है ?–तब तो सोचा था कि यदि जीवित रही तो पता लगाऊँगी। जीवित रही भी पर घटनाएँ इतनी तेजी से और अप्रत्याशित रूप में घटने लगीं, कि स्मरण रखने का सुयोग भी नहीं रहा।

अस्पताल के नाम पर पोर्ट कार्यालय के पास ही एक छोटा-सा दो कमरों का मकान था। किसी समय स्वेज नहर के निर्माण के पहले, इस पोर्ट पर जब चहल-पहल रही होगी, बड़े-बड़े जहाज व्यापारिक माल से लदे देश-विदेश से बराबर आते-जाते रहे होंगे, तब अवश्य एक उपयुक्त और सम्पूर्ण चिकित्सा सुविधाओं से सज्जित अस्पताल यहाँ भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता होगा! लेकिन जब हम वहाँ उतरे, तब वह सबकुछ नहीं था। एक सामान्य-सा नागरिक चिकित्सक था, जिसे पोर्ट की सेवा के लिए अलग से कुछ भत्ता दिया जाता था। पोर्ट पर जब कोई जहाज आकर रुकता तो नगर से ही डॉक्टर को बुलवा लिया जाता, महज खानापूर्ति के लिए औपचारिकता के कारण। पोर्ट-अस्पताल का मकान प्रायः खाली ही रहता, इसलिए जब हम वहाँ उतरे, तो सेग्रेगेशन के लिए अलग मकान की आवश्यकता भी नहीं हुई। कुछ लोशन, पाउडर जैसी सामान्य-सी औषधियाँ बिल जहाज से ही ले आया था। नगर के स्थानीय अस्पताल में एक महिला नर्स भी थी, पर वह न होने के बराबर ही थी। बाल-बच्चेदार औरत ठहरी, औपचारिकता-बस कभी-कभी दर्शन दे देती, किन्तु उसका अभाव मुझे कभी अनुभव नहीं हुआ।

व्रण चेहरे पर ही नहीं, सारे बदन में उभर आए थे। और पकने भी लगे थे। चेहरा तो एक दम पंकिल हो उठा था। कहते हैं कि वयस्कों को प्रायः चेचक नहीं होती, और यदि होगई तो रोगी के बच निकलने की सम्भावना प्रायः नगण्य ही रहती है। इस नियम का अपवाद होने का मेरे लिए कोई कारण नहीं था, किन्तु मुझे मरने से बचाने के लिए बिल ने कुछ भी उठा न रक्खा। क्या कहूँ उसकी परिचर्या और सेवा को ?–बचपन में माँ अपनी सन्तान की सेवा-परिचर्या करती है।–मुझे अनुभव है, तीन माह तक मैंने स्रग्धर का भार उठाया ही है, पर मुझे तो एक आया की सहायता भी उपलब्ध थी, और अपनी कोमलता, स्निग्धता, मृदुता और आत्मीयता में बच्चा कितना प्यारा होता है ?–बिल ने मुझे इसी तरह हथेली पर उठाए रखा, जब कि मैं सारे शरीर में गन्दे व्रणों से लथपथ थी। दुर्बल हो गई थी। कि टॉयलेट पर बैठना भी मेरे लिए कभी-कभी कठिन हो जाता। मेरे लिए बिल पुरुष नहीं, वह माँ बन गया था। अपनी उस नितान्त परवशता में कहाँ रही मेरी लज्जा, कहाँ गया मेरा संकोच ?–अपने तौर पर मैं तो मर ही चुकी थी। सेंट हेलेना द्वीप पर जो उतरी थी वह लाश थी। जिसने वहाँ से प्रस्थान किया था, उसका वहाँ नया जन्म हुआ था। पुनर्भाव नहीं, आविर्भाव, और वह भी एक रक्त-मांस-हीन, निस्तेज, गहरे व्रणों से भरे चेहरे वाली कुरूप लड़की का था। एकाध आँख भी चली जाती, किन्तु बिल ने ऐसा नहीं होने दिया। एक दिन तो उसने नितान्त निष्ठुरता का प्रदर्शन करके मेरे हाथ पीठ पर बाँध दिए थे ताकि मैं व्रणों को किसी भी तरह खुजाल कर जख्म न कर दूं।

अन्ततोगत्वा व्रणों को सूखना ही था। धीरे-धीरे खुरंड के साथ शरीर का समस्त प्राचीन जर्जर निर्मोक भी उतर गया। यदि प्राचीन कुछ बच रहा तो वह केवल स्मृति ही थी, जिसे भुला पाना वश की बात नहीं थी। और नाम तो पहले ही बदल चुकी थी, उसका महत्व ही कब था? अब तक तो उर्वशी भी थी, किन्तु सेंट हेलेना के बाद तो मुझे हब्शी ही कहलाना चाहिए। मिट्टी तो निर्विवाद वहीं की रही।

–और तब प्रारम्भ हुई प्रतीक्षा किसी भूले-भटके जहाज की पोर्ट पर आ टपकने की। एक बार तो यह भी सोचना पड़ा कि क्यों न मुख्य-भूमि चल दिया जाए? स्थानीय जहाज कभी-कदाच आ ही टपकते थे, किन्तु तब भी मुख्य-भूमि थी दो हजार से अधिक मील दूर। जेम्सटाउन का गवर्नर भला आदमी था, जब तक कोई व्यवस्था न हो जाए तब तक उसकी सहायता से हमने सारा द्वीप घूम लिया। लगभग तीन सप्ताह के बाद अकस्मात् वहाँ बी. ई. एफ. (ब्रिटिश एक्स्पीडीशनरी फोर्स) का एक प्लेन केप टाउन से उत्तर की ओर जाता हुआ किसी विशेष प्रयोजन से उतर गया। शायद एंजिन में कुछ खराबी हो गई थी, पेट्रोल भी लेना हो सकता था। बिल ने गवर्नर के माध्यम से फ्लाइट ऑफिसर की चिरौरी कर हमारे लिए स्थान की व्यवस्था करवा ही ली।

हमें बाहरी विश्व के विशेष समाचार मालूम न थे। युद्ध चल रहा था, यह तो ठीक है, किन्तु जितने बड़े पैमाने पर उसका प्रारम्भ हुआ था, उसको देखते हुए उसकी प्रगति की हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। प्लेन में ही हमें यूरोप की तत्कालीन विषम परिस्थिति का पता लगा। हॉलैंड, बेल्जियम, लग्जेम्बर्ग और फ्रान्स पर जर्मन सेनाएँ आक्रमण कर चुकी थीं। इंग्लैंड में चर्चिल के प्रधानमन्त्रित्व में राष्ट्रीय सरकार का गठन हो चुका था! ब्रिटिश और फ्रैंच सैनिक बेल्जियम की सहायता के लिए बेल्जियम भेजे जा रहे थे। जिस प्लेन में हमें स्थान मिला था, वह भी वहीं जा रहा था, अर्थात् हम सक्रिय युद्ध-क्षेत्र की ओर बढ़ते जा रहे थे। किंतु बिल खुश था, जीवन के यद्यपि एक दूसरी ही किस्म के, किन्तु काफी भयानक युद्ध के दौर से हम गुजर ही चुके थे, और फिर बिल का कहना था, उसका कोई मित्र ब्रूसेलस में किसी अच्छे सरकारी-पद पर कार्यरत था। यह आशा करना बहुत बड़ी बात न थी कि उसके सहयोग से अमेरिका लौटने की कोई न कोई व्यवस्था हो ही जाएगी। यह किसे पता था कि ब्रूसेलस को शत्रु की सेना ने घेर लिया है और वहाँ की सरकार ब्रूसेलस छोड़ कर ओस्टेंड स्थानान्तरित हो चुकी है।

हम ओस्टेंड उतर तो गए किन्तु शत्रु सेना स्थल-मार्ग से सब ओर से बढ़ती चली आ रही थी विद्युत् वेग से, और आशंका थी कि मित्र-राष्ट्रीय सेना घिर जाकर बड़े

नर संहार का शिकार हो जाएगी, अतः अधिकारियों को आदेश हो गए थे कि जैसे भी हो, सैनिकों और नागरिकों को डनकर्क बन्दरगाह के जरिए समुद्र-पार सुरक्षित पहुँचा दिया जाए। जितने भी जहाज, नावें आदि जल-यान वहाँ उपलब्ध हो सकते थे, एक-एक कर सभी डनकर्क पहुँचाए गए। उन कुछ ही दिनों में उसी डनकर्क बन्दरगाह से लगभग चार हजार सब प्रकार के जल-वाहनों की सहायता से लगभग साढ़े तीन लाख सैनिकों और नागरिकों को समुद्र पर उतारा गया। डनकर्क का यह निष्क्रमण तो विश्व-युद्ध के इतिहास में गौरव का अध्याय है। हमारे लिए यह इसलिए प्रासंगिक है कि इन कई जल-वाहनों में से एक में हमें भी खड़े होने को स्थान मिल गया था !

स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी। फ्रान्स पर शत्रु-सेना का घेरा सिमिटता और उसी अनुपात में दबाव बढ़ता जा रहा था। तभी इटली ने भी मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। इधर ब्रिटिश पोत ग्लोरियस के साथ कुछ विध्वंसक और अन्य जहाजों के डुबो दिए जाने से स्थिति और भी बिगड़ गई थी। जिस दिन पेरिस पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हुआ उसके दूसरे ही दिन लिथुआनिया पर रूसी सेना काबिज हो गई। सब ओर त्राहि-त्राहि मच गई। बड़ी संख्या में लोग निष्क्रमण करने लगे। इस एक सप्ताह की अवधि में शरणार्थियों के दल में हम जिस तरह एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रायः भूखे-प्यासे ही भटकते-भागते रहे, वह हम ही जानते हैं, किसी भी तरह शब्दों में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक बार तो यह भी सोचा कि सेंट हेलेना में पड़े रहना क्या इससे भी बुरा रहता और मुसीबतें तो अभी आनी ही थीं।

समाचार मिला कि शरणार्थियों के निष्क्रमण के लिए तीन-चार जहाजों का एक कॉनवॉय कुछ विध्वंसकों के संरक्षण में फ्रान्स की लुआर नदी के मुहाने पर प्रस्थान करने के लिए उद्यत है। बिल ने प्रयत्न करके एक टग-बोट पर स्थान प्राप्त कर लिया। सैनिकों से भरा हुआ हमारा टगबोट सेंट तजेअर बन्दरगाह की ओर चल पड़ा। खचाखच भरी बोट में नागरिकों की संख्या अधिक न थी। बोट में पहले से ही लगभग आठ और दस वर्ष की उम्र के दो बच्चे, जो कदाचित् भाई-बहन ही थे, सबका ध्यान आकर्षित किए हुए थे। इस प्राणलेवा मुसीबत में भी, जब कि उनके माता-पिता का कोई पता नहीं था, वे अपने से प्रत्येक एक-एक कुत्ता चिपकाए था। न कुत्ते बच्चों को छोड़ना चाहते थे, न बच्चे ही कुत्तों को। उसी घृणा और प्रेम के माहौल में हमने सुना कि गई रात को ही हमारे कॉनवॉय का एक जहाज 'फ्रेंकोनिया' चैनल में डुबो दिया गया था। जब हम सेंट नजेअर पहुँचे तो फ्रेंकोनिया के सभी सैनिक और यात्री इस दूसरे जहाज 'लंकास्त्रिया' में भर दिए गए थे, और

इस जहाज में अन्य यात्रियों के लिए बिलकुल स्थान न था। शीघ्र ही एक और जहाज ओरोन्से के पोर्ट पर आ लगने की बात थी। बात तो बहुत-कुछ थी, पर सचमुच कोई जहाज आएगा या आ पाएगा, इसका किसी को निश्चय नहीं था, और सभी लंकास्त्रिया जहाज में ही किसी तरह घुस पड़ने को व्यग्र थे। बाद में मालूम हुआ कि साढ़े तीन हजार की सामर्थ्य वाले उस जहाज में पाँच हजार व्यक्ति सवार हो चुके थे। टग-बोट में हम जैसे कुछ नागरिकों को अपने जहाज पर चढ़ा लेने की अनुमति दे दी। भविष्य के गर्भ में जो छिपा हुआ हमें देख कर हँस रहा था, यदि उसका आभास होता तो अधिकारी की यह दया इतना बड़ा अभिशाप न होती।

हम गैंगवे पर चढ़ ही रहे थे, कि उन भाई-बहन को लेकर एक बाधा प्रस्तुत हो गई। क्वैरंटाइन के नियमों के अनुसार उस समय जहाज पर कुत्तों को लेकर चढ़ना आपत्ति-जनक था, उनसे संसर्ग-जनक रोग फैलने का भय था। अधिकारी ने कहा कि उन कुत्तों को पीछे ही छोड़ देना होगा, नहीं तो वे भाई-बहन भी नहीं जा सकेंगे। वे बच्चे अंग्रेजी नहीं समझते थे, और शायद अधिकारी भी उन बच्चों की भाषा नहीं समझता था। बच्चों की भाषा फ्रेंच थी, पर वे कुछ जर्मन भी समझते थे। जितनी वे जर्मन समझते थे, उतनी ही फ्रेंच मैं भी जानती हूँ। मैं ने ही उस समय दुभाषिए का काम किया और बच्चों को अधिकारी की बात समझाई। मेरी बात सुनते ही बच्चे रुआँसे हो गए। उन्होंने बताया कि वे ठेठ बेल्जियम से चले आ रहे हैं। राह में उनके माता-पिता कहीं छूट गए, किन्तु इन कुत्तों ने उनका साथ कहीं नहीं छोड़ा। यदि इन कुत्तों को जहाज पर नहीं चढ़ने दिया जाएगा, तो वे भी जहाज पर नहीं चढ़ेंगे। इस कुत्तों के सिवा अब उनका रह ही क्या गया है? आँखों में आँसू भरे हुए वे लौट पड़ने को मुड़ भी गए। मेरी आँखों में आँसू भर आए थे, मैंने बड़ी ही करुण दृष्टि से अधिकारी की ओर देखा। शायद वह भी द्रवित हो उठा था। उसने मेरी ओर संकेत किया कि बच्चों को मैं बुला लूँ, और उसने आँखें फेर लीं। बच्चे अपने कुत्तों को उसी तरह छाती से चिपटाए जहाज पर चढ़ आये।

जहाज पर चढ़ तो गए थे, पर राहत कहाँ थी? भीड़ इतनी थी कि एक-दूसरे से बदन रगड़ खा रहे थे। खड़े होने को भी जगह मुश्किल से मिल पा रही थी! उधर ऊपर आकाश में शुत्र के बम वर्षक धुआँ छोड़ते हुए चील-कौवों की तरह मँडरा रहे थे। समुद्र के फैले हुए वक्ष पर कभी यहाँ कभी वहाँ, उनके फेंके हुए बमों से विस्फोट हो जाता और पानी फव्वारों के रूप में आकाश तक उछल कर सारे समुद्र में खलबली मचा दे रहा था। इतना बड़ा भारी जहाज, पर समुद्र में वह पत्ते जैसा काँप रहा था, और बड़ी-बड़ी लहरें रह-रह कर उसके डेक पर बिखरती जा रही थीं। न जाने किस समय कौन सा जहाज ऊपर से कलाबाजी खाता हुआ बम

फेंक जाएगा और हम किस क्षण इस तुमुल कोलाहल के वातावरण में एक दम नीरव-निस्तब्ध हो जाएँगे, इस आशंका ने सभी यात्रियों को निपट उदासीन बना दिया था। साँस रोके हुए वे अपने बचाव के जो भी प्रयत्न कर रहे थे, वह उन के सचेत प्रयत्न न थे, केवल आदत थी, जिसके सामने वे मजबूर थे। वे कर कुछ नहीं रहे थे, जो हो रहा था, वह हो जाता था, बिना उनके जाने ही।

हम देख रहे थे—कि हमारा भ्रम ही था ? कि आकाश कुछ-कुछ स्वच्छ होने लगा है, बम-वर्षकों की छाया पूर्व में धुंधली होती जा रही है। शायद अब जहाज का लंगर उठ जाए और जहाज इस तत्काल के खतरे से दूर हो जाए कि तभी बन्दरगाह पर बड़ी तीखी आवाज में हवाई आक्रमण का संकेत चीख उठा। शीघ्र ही सारे यात्री, जो जहाँ था, वहीं सिर छिपाने का प्रयत्न करने लगा। वह भी तो उनकी एक आदत हो गई थी —कुछ ही क्षणों की अवसन्न नीरवता के बाद एक भयंकर विस्फोट का गर्जन हमारे कानों के पर्दे फाड़ कर कौंध उठा। हम कुछ समझें उसके पहले ही, एक के बाद एक, चार विस्फोट जहाज के चार स्थानों पर हुए। कहीं से सुनाई पड़ा, 'एंजिन-रूम, तेल भंडार।' अवश्य ही एक विस्फोट तेल-भांडार पर हुआ होगा, क्योंकि तभी देखा गया कि मनों तेल की धाराएँ चारों ओर बिखरने लगी हैं। जहाज में पाँच सौ टन तेल का भांडार था। सब ओर तेल ही तेल फैल गया। यात्रियों के शरीर तेल से चिपचिपे हो गए। और तभी जहाज के ब्रिज पर कप्तान के आदेश चारों ओर फैलने लगे, 'सभी नावें खोल दी जाएँ, शीघ्र ही जो भी नावों में सवार हो सके उन्हें लेकर नावें तट की ओर दौड़ जाएँ। —'क्विक, क्लीअर अवे प्लीज ऐट वन्स-वी आर सिंकिंग, वी आर सिंकिंग !'

मैंने अलक्ष्य में ही मुक्ति की साँस ली, इस सारे दुःख का, ग्लानि का, और आशाओं की मरीचिका का अन्त हुआ ! दुःख था तो केवल एक बिल का रह गया, वह मेरे साथ रहने का ही दंड भुगत रहा था, तो भोगे मैं कर ही क्या सकती थी ? कितना नहीं समझाया था मैंने ?—मृत्यु तो निश्चित थी ही ! कितनी-सी तो नावें और कितने यात्री निकल भागने को उत्सुक ? यदि इस भगदड़ में कोई कुचल जाए, पिस जाए, तो क्या हुआ ?—यहाँ नहीं तो आगे जाकर समुद्र के गर्भ में ही तो मरेगा ?—नावें खुलें, इसके पहले जबकि वे बँधी हुई थीं. तभी लोग उन पर सवार हो गए थे, मानों उनके सवार होते ही वे आप ही आप पानी पर तैरने लग जाएँगी। एक नाव पर देखा कि एक सैनिक अपने बेल्ट से चाकू निकाल कर उसकी रस्सी काट रहा है। रस्सी के कटते ही सब सवारियों को ले कर नाव गिरी, पानी का स्पर्श करने के पहले उसने एक झोंका खाया और लगभग सभी सवारियाँ पानी में गिर पड़ीं। यही नहीं, एक क्षण बाद ही उन पर गिरी वही उनकी नाव। कितनों के सिर

फूटे होंगे कौन जाने ? मैं और बिल अपने आपको भूल कर एक-दूसरे से लिपटे खड़े-खड़े टुकुर-टुकुर देख रहे थे, कि जहाँ हम खड़े थे, वहीं से एक नाव उतारी जा रही थी। शायद अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि पीछे से आए हुए धक्के के आघात से ही हम अनायास नाव में पहुँच गए। पहुँच क्या गए गिर पड़े। मेरे ऊपर एक और आदमी आ गिरा और भी गिरते, किन्तु बिल ने खड़े होकर आड़ कर दी। देखते-देखते नाव जहाज से दूर हट गई, तब भी लोग नीचे गिरते जा रहे थे, नाव के भ्रम में समुद्र के वक्ष पर ! समुद्र में जिधर दृष्टि जाती थी, आदमियों की खोपड़ियाँ ही खोपड़ियाँ दिखाई दे रही थीं, वे जीवित व्यक्ति थे या मृत, कहा नहीं जा सकता। कहा जाता है कि पांच हजार की उस संख्या में से मुश्किल से दो हजार व्यक्ति अपने प्राणों को लेकर तट पर पहुँच पाए थे। उन दोनों भाई-बहनों और उनके कुत्तों का क्या हुआ, यह जानने का कोई उपाय नहीं था, किन्तु मुझे विश्वास है, अन्त समय तक भी उन चारों ने परस्पर साथ नहीं छोड़ा होगा।

मेरे देवता, मैं जानती हूँ इन प्रसंगों को आज स्मरण करने का या लिख कर तुम्हें जताने का कोई प्रयोजन नहीं है। मैं केवल यही बताना चाहती थी कि मृत्यु के इन समस्त षड्चक्रों को उच्छिन्न कर जो मैं अमेरिका पहुँची गई थी, वह मेरी नियति थी, मैं नहीं। –क्या वह सचमुच तुम्हारी मार्गरेट थी; जो अमेरिका पहुँची थी, मैं गए चालीस वर्षों मे यही प्रश्न अपने आपसे करती आ रही हूँ, किन्तु मुझे इसका कोई समाधान नहीं मिल रहा है ! जर्मनी में हाइडलबर्ग के उस मृत्यु के क्षण में जिस समय तुमने मुझे बचा लिया था, उस समय मैं अखंड, समग्र-वन पीस-मार्गरेट थी, यहूदी, अपने मूल रूप में उर्वशी। किन्तु बम्बई में तुम्हारे चरणों की छाया से बिलग होते ही किस तरह मैं तिल-तिल करके मरने लग गई थी, और अमेरिका पहुँचते-पहुँचते किस तरह तुम्हारी उस जन्म-जन्मान्तर की सखी का पट-वस्त्र, जिसे तुमने अपने हाथों बड़े प्यार से पहनाया था, सड़-गल कर झड़ गया था, वही मैंने बताने का प्रयत्न किया है। लौकिक रूप में हम मृत्यु कहते किसे हैं ? स्मृति हो, पर वह क्या स्वप्न की नहीं होती ? कल्पना की नहीं होती ?––और इन सबके बावजूद वेश बदल कर हम इच्छानुसार अभिनय करते हैं, तो क्या ठिकाना कि पाँच हजार वर्ष पूर्व की मेरी आर्किटाइपल आद्यमूर्ति मृगम्मदा को भी वृबु की छाया से दूर होते ही इसी तरह के किसी उपलक्ष्य का सामना न करना पड़ा हो ?––किन्तु मुझ पर विश्वास करें, मैं इसे अपनी ढाल बनाना नहीं चाहती।—अमेरिका पहुँच कर भी हम, बिल और मैं, परस्पर उतनी ही दूर थे जितनी एक माँ अपनी बेटी से हो सकती है ! बिल ने अनायास और अनाहूत जो मेरी माँ की भूमिका स्वीकार कर ली थी, उससे वह कहीं पर रत्ती भर भी विचलित नहीं हुआ था। इसके लिए मैं

उस पर इतना ही गर्व कर सकती हूँ जितना तुम पर इस तथ्य के लिए, कि जब तक मैं स्वयम् तुम्हारे सम्मुख प्राणों की भिक्षा के लिए वे उपनीत नहीं हुई, इतने पास रह कर भी तुमने मुझे देखा तक नहीं था। जितने इन्द्रियजित तुम हो मेरे देवता, बिल उससे तनिक भी कम नहीं है !

आगे की अपनी यात्रा की कठिनाइयों का उल्लेख नहीं करूँगी। यदि अपनी मृत्यु को स्पष्ट करना इष्ट न होता तो यह सब भी क्यों लिखती ?—

पता नहीं, यहां पर भी मुरारी-दा पढ़ते-पढ़ते रुक कर कुछ सोचने को बाध्य हुए या नहीं, मैं बहुत कुछ सोचने को बाध्य हो गया हूँ। मुझ जैसे कई आदर्शवादी लेखक प्रेम के बड़े ही वायवी ताने-बाने लेकर सदाचार बुनते रहते हैं। मार्गरेट ने अपना ही उदाहरण प्रस्तुत करके एक बड़ा ही अहम् नैतिक प्रश्न खड़ा कर दिया है, नैतिक ही क्यों, उसे जैविक और मानसिक भी तो कहा जा सकता है।—प्रेम आध्यात्मिक हो सकता है, किन्तु उसका आलम्बन तो यह शरीर भौतिक-तत्व ही है तथा इस अनित्य शरीर को ही तो हम सारी नैतिकता का पात्र बना सकते हैं। तब किसी के प्रति प्रेम के स्थायित्व की दूरी भौतिक-शरीर की सीमा से तो आगे नहीं बढ़ सकती। पति के मर जाने पर भी किसी स्त्री का पातिव्रत्य का आग्रह उसकी भक्ति या संकल्प का परिणाम होता है, प्रेम का नहीं। समाज उसकी माँग भी नहीं करता, कर भी नहीं सकता। शरीर के बाद वह करे तो किससे ? जिससे कर सकता है, उसकी पहचान क्या ? और तो और, प्रेम के पात्र ही अपनी पहचान खो चुके होते हैं। यदि किसी को अपने बचपन में अपने पूर्वजन्म की स्मृति कभी उभर आती है, तो वह पाता है कि उस जन्म की पत्नी तो इस जन्म में उसकी दादी-माँ बनने की उम्र में है ! अर्थात् यहाँ भी आसक्ति का स्वरूप शरीर से सम्बन्धित होकर नितान्त भौतिक रह जाता है, और शीघ्र ही वह स्मृति भी नष्ट होती चली जाती है।—स्मृति ही की बात हो तो कई बातों को हम इसी शरीर में विस्मृत कर देते हैं। तब मार्गरेट का किस रूप में विचार किया जाए ? यदि मुरारी–दा सन्दर्भ से कट कर मार्गरेट को आज अकेले में देखें तो क्या उसे कभी पहचान भी सकेंगे ? चालीस वर्ष का धूप-पानी ही ही नहीं उस पर चढ़ गया है, उसकी तो शरीर की वह केंचुल ही उतर चुकी है, जिस पर मुरारी-दा के प्रेम का दावा हो सकता था। मैं नहीं जानता, मुरारी-दा के मन में अपने प्रेम का दावा प्रस्तुत करने जैसी कोई बात भी है। किन्तु यह आशंका भी व्यर्थ है। उनके उस पत्र को याद रखना होगा जो उन्होंने अमेरिका के अस्पताल में विलियम को बेहोश देखकर वहाँ से रवाना होने के पूर्व मुझे लिखा था। स्पष्ट ही तो लिखा था न कि इस शरीर को ही तो हम पहचानते हैं।—इसी के कारण मैं 'मैं' हूँ, और मार्गरेट 'मार्गरेट' है।—आज तो मार्गरेट का शरीर कहीं खूँटी पर टँगा

हुआ वस्त्र भी तो नहीं रहा, वह तो सड़-गल कर मिट्टी हो गया है। वस्त्र ही में, उसके उस शरीर ही से, तो पहचाना जा सकता था, कि वह मार्गरेट है, एथेना नहीं ! जो वस्त्र वह आज ओढ़े हुए है, वह तो मार्गरेट नहीं हो सकता। उन्होंने स्वयम् अपने आप से पूछा था, चालीस वर्ष पूर्व बम्बई में विलियम को उन्होंने जो सौंपा था, वह क्या मार्गरेट का एक वस्त्र ही नहीं था ?—अब जो यह पत्र लिख रही है, हो वह मार्गरेट, पर वस्त्र तो उसका मार्गरेट का नहीं है ! उस वस्त्र को लेकर ऊहा-पोह करना वे खुद भी तो मूर्खता समझते रहे हैं !

विलियम कुछ भी समझता रहे उसे, मार्गरेट, एथेना, और भी कुछ। आखिर एक ही व्यक्ति किसी की पत्नी होती है, किसी अन्य की माँ, किसी अन्य की बहन ! उसके इस नए वस्त्र को एथेना के नाम से जो पहचानता है, वह विलियम ही तो है ! नाम में वैसे है भी क्या ?--एक एथेना वह भी है, जो इसके दो-एक वर्ष पूर्व ही किसी अमरिकी कर्नल के साथ दक्षिण-पूर्व की यात्रा पर हनीमून मनाने चली गई थी।—स्पष्ट है कि मुरारी-दा ने मार्गरेट के इस पत्र के पहले ही इस तथ्य को पूरे मनोयोग से हृदयंगम कर लिया था—समझ तो लिया ही था—उनका वह पत्र प्रमाण है ! तो फिर उनकी इस बीमारी का रहस्य क्या है ? क्या यह बीमारी सचमुच शरीर-धर्म ही है, किसी मानसिक-व्यूह की प्रतिक्रिया नहीं ?—या कि पत्र लिखते समय वह किसी काल्पनिक प्रमेय पर एक तटस्थ सैद्धान्तिक, एकेडमिक विश्लेषण मात्र था, और अब मार्गरेट के इस पत्र के बाद वह काल्पनिक-प्रमेय न रह कर एक ठोस-वास्तविक हो गया है, जिसे उनका साइको-सीमेटिक मानस-शरीर सहन नहीं कर पाया है ?--उत्तर काशी में,⋯⋯आध्यात्मिक चिकित्सा की सुविधा चाहे हो, किन्तु मानसिक चिकित्सा के लिए तो उन्हें देहरादून या दिल्ली ही जाना चाहिए ! सुझाव तो दे ही सकता हूँ। कलकत्ता आने के लिए लिख दूँ ? मेरे लिए तो एक दुर्लभ अवसर ही होगा, किन्तु अपनी औकात भी तो देखनी होगी ! तब तक मार्गरेट का पत्र ही पढ़ूँ—

‘आगे की अपनी यात्रा की कठिनाइयों का उल्लेख नहीं करूँगी। यदि अपनी मृत्यु को स्पष्ट करना इष्ट न होता तो यह सब भी क्यों लिखती ?—हमारा जहाज अमरीकी समुद्री सीमा में पहुँच चुका था। अमेरिका पहुँचते ही मुझे क्या करना होगा, इस पर मैं अकेली ही नहीं सोच रही थी, हम दोनों ने मिल कर भी खूब विचार-विमर्श किया था। निश्चय कुछ भी नहीं हो पाया था। बिल ने जब तुम्हें अमेरिका पहुँच जाने की सूचना देने की बात उठाई तो मैंने मना कर दिया था। कहाँ किस हालत में बदल गई थी तुम्हारी अमानत ? पहले वाला उर्वशी का चेहरा तो मुझे ही सौंपी हुई तुम्हारी अमानत थी, जिसकी मैं रक्षा नहीं कर सकी थी ! इस कुरूप

चेहरे को लेकर किस मुँह से तुम्हारे सामने पड़ने का मैं साहस करती? मार्ग में ही जब इतने सारे यात्रियों की जल-समाधि हो गई थी, तो क्या आवश्यक था कि तुम हमें जीवित समझते? पहुँचने की सूचना पाकर तुम व्यर्थ ही मिलने की आशा पाले रख कर दुःख ही तो पाते रहते! किन्तु बिल को तब भी मेरे मन की विवृति का विश्वास नहीं था। जब वह अपने पिता को हमारे पहुँचने की सूचना दे रहा था, तो जहाज से ही उसने तुम्हें भी सूचित कर दिया। वह सूचना ही तो कितनी व्यर्थ आशाओं को जन्म दे गई है?

अमेरिका पहुँचते ही मुझे मि. सैमुअल क्रेमर की खोज करनी थी। हमारा जहाज न्यूयार्क पहुँच रहा था। उनका पता तो वाशिंग्टन पहुँच कर ही लगाया जा सकता था। किन्तु पोर्ट पर कहीं मुझे लेकर विवाद न उठ खड़ा हो इसलिए मुझे पोर्ट पर तो श्रीमती एथेना कैलॉग के रूप में ही परिचय देने की बाध्यता थी। मेरे मन में क्या द्वन्द्व था, इसे बेचारा बिल क्या समझता? स्त्री के मन की गठन तो देवता भी नहीं जानते न, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है? और बिल तो तुम्हारे जैसा तत्वदर्शी दार्शनिक भी तो नहीं है। कह चुकी हूँ, तुम्हारे साथ विश्वासघात की उसे कभी भी इच्छा नहीं हुई थी, कम-से-कम उसके चैतन्य मन की तो मैं गवाह हूँ। सूचना देकर तुम्हें, और इसी बहाने मुझे भी, आश्वस्त करना वह अपना कर्तव्य समझता था। और तट पर पहुँचते ही मि. सैमुअल क्रैमर की खोज का आश्वासन भी उसने मुझे दे ही दिया था!

पोर्ट पर हमारे स्वागत के लिए बिल के पिता मि० रॉबर्ट कैलॉग अपने मित्रों सहित उपस्थित थे। मुझे देखकर स्वभावतः ही उनको आघात पहुँचा होगा। मैं तो उनकी वह पुत्र-वधू एथेना नहीं थी, जिसको उन्होंने दो वर्ष पूर्व अपने पुत्र के साथ ग्रीस भेजा था! मैं बराबर सबके सामने श्रीमती एथेना के रूप में ही अभिनय कर रही थी। मि. कैलॉग बहुत अधिक वृद्ध तो नहीं थे, किन्तु अपनी प्रिय पत्नी के असामयिक देहान्त तथा अन्य दुश्चिन्ताओं के कारण वे असमय ही वृद्ध दीखने लगे थे। मेरे बारे में जब उन्होंने बिल से पूछताछ की तो उसने उन्हें राह में हुई मेरी प्राणान्तक बीमारी तथा यात्रा की मुसीबतों का सारा हाल कह सुनाया। सबकुछ सुन कर बूढ़ा द्रवित हो गया, उसकी आँखों में आँसू भर आए, और मुझे बड़े प्यार से सीने से लगा कर बोला, 'माइ पूअर चाइल्ड।—ईश्वर तुम पर सचमुच बड़ा अन-काइन्ड रहा है, किन्तु अब तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुम अब अपने घर में हो। प्लास्टिक-सर्जरी से फिर भी बहुत-कुछ हो सकता है!' और यही नहीं। पत्नी के प्रति अपने पुत्र की निष्ठा पर गर्व भी महसूस किया।—भाग्य का परिहास ही तो था! उनकी उस समय की वह आशीर्वाद की प्रतीक दया-भावना मेरे भविष्य

की दूर नियति ही बन गई ।—कैसा अद्‌भुत और अगम्य है मानव-जीवन का व्यापार ? किसी की दया भी क्या किसी का अपकार कर सकती है ?—पर यही तो हुआ है !–वहाँ सेंट नजेअर बन्दरगाह पर देखा था। लंकास्त्रिया जहाज का वह अधिकारी उन दोनों भाई-बहनों को कुत्तों के बहाने ही यदि अपने जहाज पर चढ़ने से रोक देता, तो शायद वे बच ही जाते, उस दुर्घटना की लपेट में तो नहीं ही आते ! उस दिन पोर्ट पर बिल के पिता मि. राबर्ट कैलॉग भी निष्ठुर बने रह कर यदि एक अनजान कुरूप लड़की को पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार न करते तो मेरा भविष्य भी कुछ दूसरा ही होता। यदि जीवित ही रहती, तो कुरूप वस्त्र ओढ़े ही सही, तुम्हारे सामने आने से मुझे कतराना नहीं पड़ता, और इस तरह भाग आकर मैं यहाँ मुँह न छिपा लेती ।—यही क्यों ? आज सोचती हूँ कि बिल यदि तुम्हें हमारे अमेरिका पहुँच जाने की सूचना ही नहीं देता तो ये जटिलताएँ प्रस्तुत ही नहीं होतीं ।–और तब भी उस निष्ठुरता के लिए, न जहाज के अधिकारी को, न मि. कैलॉग को, और न ही बिल को दोष दिया जा सकता है ! यहाँ तो उनकी सदाशयता ही बाधक बन गई !

बिल के पिता का निजी व्यवसाय 'कैलॉग एंटर प्राइजेस' बोस्टन नगर में प्रतिष्ठित व्यवसाय समझा जाता था। बिल उनका एकमात्र पुत्र है। बिल की माँ का जब देहान्त हुआ था, तब मि. कैलॉग की उम्र बहुत बड़ी नहीं थी, वे सरलता से दूसरा विवाह कर सकते थे, किन्तु उन्हें अपने एकमात्र पुत्र की बड़ी चिन्ता थी, वे कोई रिस्क नहीं लेना चाहते थे, और इसीलिए उन्होंने फिर विवाह नहीं किया। अपनी समस्त आशाएँ उन्होंने बिल के विवाह से ही पाल रखी थीं। बड़ी आस लगाए वे उस दिन की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे, जब उनके घर में पुत्र-वधू आएगी, और उनका उजड़ा हुआ घर पुनः बस जाएगा, चहचहाने लगेगा ! बिल का जब विवाह हुआ तो, कहते हैं, उनके उत्साह की सीमा नहीं थी। वधू भी उन्हें सुन्दर ही मिली थी—यह तो तुम भी जानते ही हो ! वे तो तभी सारा भार अपने पुत्र पर छोड़ कर निश्चिन्त हो जाना चाहते थे, किन्तु तभी अपनी नव-विवाहिता पत्नी एयेना की यायावर-प्रवृत्ति से प्रोत्साहित होकर विवाह के कुछ ही महीनों बाद विलियम अपनी पत्नी सहित एक आर्कियॉलॉजिकल अभियान में ग्रीस चला गया। मि. कैलाग दुःखित तो हुए, किन्तु अपने पुत्र के सुख के लिए उन्होंने वह आघात भी सह लिया। अब वह लौट आया है, तो उनकी खुशी का पार नहीं था, और उस वात्सल्यमयी खुशी की छूत मुझे न लगती तो ही आश्चर्य था ! उस सर्वथा अनजान देश में मेरा और था भी कौन ?—बिल था, पर उसके साहचर्य में तब भी मन के किसी गढ़ कोने में अपराध-भावना न भी हो, तो भी एक चौर्य-वृत्ति तो थी ही। मुझे स्वीकार करना

चाहिए, मि. कैलॉग में मुझे मेरे प्रेमिल पिता का प्यार ही नहीं मिला, संरक्षण भी मिला।

मि. कैलॉग तब बोस्टन में ही रहते थे। उनकी पुत्र-वधू घोषित हो जाने के बाद सहसा उन्हें छोड़ कर प्रकट रूप से मैं कुछ कर नहीं सकती थी। अमेरिका मेरे लिए एकदम नया देश था, और मैं तब कोई ऐसा कदम भी नहीं उठा सकती थी, जिससे मेरा रहस्य खुल जाए। मुझे चुपके-चुपके ही उस देश को ठीक तरह से समझ लेना था। कम-से-कम देश का भूगोल समझे बिना मैं मि. क्रैमर का पता भी नहीं लगा सकती थी। मुझे केवल बिल ही का विश्वास था, किन्तु अपने पिता के अदम्य उत्साह के कारण पहले तो वह स्वागत-समारोहों में ही व्यस्त रहा, फिर उसके पिता व्यवसाय का सारा दायित्व शीघ्र ही बिल पर डाल देने को उत्सुक थे। वे अब भी उसकी ओर से निश्चिन्त नहीं हुए थे। वे समझते थे कि यात्रा का चक्कर उसी के पैरों में है, उसकी पत्नी एथेना के पैरों में नहीं। एथेना के पैरों में ही, तब भी एथेना वहाँ विद्यमान ही थी! कहीं ऐसा न हो कि वह फिर अवसर पाते ही कहीं के लिए उड़नछू हो जाए। इसलिए हम दोनों को ही बाँधने की उनकी योजना हो गई थी। कुछ तो उनके स्नेह से और कुछ अपने आपको भुलाए रखने के लिए मैं व्यवसाय के क्षेत्र में बिल पर अपने प्रभाव का उपयोग करने लगी। बिल ने भी शायद अनुभव किया कि मुझे बाँधे रखने का यह एक प्रभावकारी प्रयोग हो सकता है, वह व्यवसाय में दिलचस्पी लेने लगा। जैसे वह एक चुनौती ही थी, हमारे प्रयत्न सफल हुए और बिल के नेतृत्व में उनका निजी व्यवसाय 'कैलॉग एंटरप्राइजेज' फैलता-फूलता शीघ्र ही 'कैलाग कोस्टल कार्पोरेशन' के नाम से सीमित दायित्व की संयुक्त-साझेदारी का एक विशाल प्रतिष्ठान बन गया। मि० कैलाग ने अपने कई शेअर मेरे निजी नाम से ट्रान्सफर कर दिए थे उनके शेष सभी शेअर बिल के नाम थे ही!

इस बीच मैंने मि० सेमुएल क्रैमर की खोज भी जारी रखी, किन्तु मुझे स्वीकार करना चाहिए। अब उसके लिए मुझमें बहुत उत्साह नहीं रह गया था। उन्हें खोज लेने में समर्थ भी हो जाती तो उनसे क्या कहती?—मेरे शरीर का जैसा आमूल-चूल परिवर्तन हो गया था, उसमें मुझे पहचान भी पाते या नहीं। यही नहीं, उनसे मिलने के पहले तुम्हारा मन जान लेना भी आवश्यक प्रतीत हुआ था। आज अपने ही ऊपर हँसी आ सकती है मुझे, कि तुम्हारा मन जान लेना भी आवश्यक हो गया था! जैसे वह मैं नहीं जानती थी। किन्तु उस समय मेरा ही मन कहाँ स्थिर था? उसमें तुमुल संघर्ष जो मचा हुआ था, कि तुम्हें सूचना दूँ या न दूँ?—उपलक्ष्य मुझे मिल गया था। बिल के साथ ही नहीं अब उसके व्यवसाय के साथ भी खेल रही थी। लक्ष्य बहुत दूर जा पड़ा था, शरीर की विडम्बना ने उसे और भी दूर पटक दिया

था। मि. कैलॉग ने मेरे चेहरे के लिए प्लास्टिक सर्जरी का बहुत आग्रह किया था, किन्तु उतनी स्पष्टता से मैं उसके लिए इनकार भी कर चुकी थी। मैं जानती हूँ कि शरीर की अपेक्षा तुम्हें नहीं है। बिल को भी नहीं है। मेरे किस रूप को वह चाहता है, मैं यह आज तक नहीं जान सकी हूँ। तब भी अमेरिका लौट कर मैंने देखा, वह खुश ही हुआ है, अपनी व्यावसायिक उन्नति से उतना नहीं जितना इससे कि मैं उसके व्यवसाय में अपने आपको खोती जा रही हूँ। आज यह कहने का कोई लाभ नहीं है कि हम उसी तरह एक दूसरे से बराबर दूरी बनाए रख कर अपने में मगन दिन बिता रहे थे।

मन ही मन तो तब भी जानती थी कि शरीर मेरे-तुम्हारे बीच कोई बाधा नहीं हो सकती थी किन्तु वही तो था, जो तुमसे दूर था! मैं तो तुममें समाई हुई थी ही, उसी तरह जैसे अभी हूँ।--प्रतीति यदि नहीं हो रही थी तो इस शरीर के कारण ही तो!--और उसी शरीर की किसी दूसरे को अपेक्षा हो रही थी, उस शरीर की, जिस पर उसका अनायास अधिकार भी हो गया था।--मैं इस प्रसंग को अधिक बढ़ाना नहीं चाहती। इसे तुम चाहो तो मेरी निर्लज्जता कह सकते हो, मेरी वासना कह सकते हो, मेरी 'फेदलेसनेस' कह सकते हो! अठारह माह तक मैं लड़ती रही, अपने आपसे झगड़ती रही, तरह-तरह के खिलौनों से अपने-आपको बहलाना चाहा, किन्तु नियति ने मुझे नहीं बख्शा। मैं परास्त हो गई, विवश हो ही गई बिल की पत्नी बनने को। और यह भी कह दूँ कि वह निर्णय बिल का नहीं, स्वयम् मेरा था।

मि० कैलॉग के देहान्त को तीन-चार माह बीत चुके थे। हमारा व्यवसाय अच्छी तरह से प्रगति के पथ पर बढ़ रहा था। इसी बीच पर्ल हार्बर पर जापान के आकस्मिक आक्रमण और भयानक हानि ने अमेरिका को सक्रिय युद्ध में घसीट लिया था। युद्ध का क्षेत्र किसी के न चाहते हुए भी अपने आप ही वैश्विक हो गया। विश्व की स्वाधीन-चेता जनता के लिए 'करो या मरो' की स्थिति पैदा हो गई थी। उसी सप्ताह एक दुपहर को बिल मेरे कक्ष में आया और कुछेक कागजों का एक बंडल मुझे थमाते हुए बोला, 'पहली जनवरी से कार्पोरेशन के चेयरमैन का प्रतिनिधित्व तुम्हें करना है। ये आवश्यक प्रमाण-पत्र हैं। आज ही आये हैं अटर्नी के कार्यालय से।'

'मैं?—मैं क्यों?' मुझे आश्चर्य हो ही जाना था।

'जानती नहीं?—हम युद्ध में शरीक हो गए न।—मैं किसी कमीशन के लिए अप्लाई कर रहा हूँ!'

'तुम?—ऐसी क्या विवशता आ गई?—कॉन्सक्रिप्शन जैसी तो कोई बात अभी नहीं हुई है!'

'सो तो अभी नहीं है। पर उसकी राह क्यों देखी जाए ?—देश के प्रति, मानवता के प्रति मेरा भी कुछ कर्तव्य है।--मेरी अब और उपयोगिता भी क्या रही ?—अपने लिए ही नहीं, तुम्हारे लिए, समाज के लिए, देश के लिए, एक बोझ ही तो हूँ।—'

'मेरे लिए ? तुम, और एक बोझ ?'

'अवश्य था तुम्हारा कुछ दायित्व। मुझे खुशी है कि अब तुम आत्म-निर्भर हो, एंड फ्री टु चूज योअर ओन वे, अपना मार्ग आप चुनने के लिए मुक्त।—यह प्रतिष्ठान भी संयुक्त साझेदारी का है। मेरे और तुम्हारे मिलकर साठ प्रतिशत शेअर होते हैं, और आर्थिक-दृष्टि से इसकी गणना समृद्ध प्रतिष्ठानों में ही होती है।—इट हैज ग्रीन अंडर योअर ओन आईज, योअर ओन पेट्रोनेज।—और पिता तो कहते भी थे, यू आर ए कैपेबल पर्सन !—कोई कारण नहीं कि भविष्य में यही तुम्हारी देख-रेख में और भी तरक्की नहीं करे !—सो, अगर मैं फ्रंट से जीता-जागता लौट आया तो ठीक ही है, मैं अपने देश की और मानवता की कुछ सेवा कर सकने का सन्तोष लेकर लौटूंगा, और न लौट सका तो, ह्वॉट इज देअर फॉर यू टु वरी ?'

मैं तो स्तम्भित होकर उसका मुँह ताकती रही, जैसे बिजली गिरी हो ! उसका प्रत्येक शब्द कानों में शूल था। कैसी घोर निराशा में ला पटका मैंने बिल को ?—देअर इज नथिंग फॉर मी टु वरी—लेकिन, लेकिन क्या उसकी समस्त सेवाओं का, शुभ कामनाओं का, त्याग, समर्पण, और कहूँ तो मौन प्रेम का, यही प्रतिदान होना था ? क्या इसी के लिए मैं जीवित बची थी ?—और क्या इसी के लिए उसने अपने प्राणों पर खेल कर मुझे जीवित बचाया था ?—मैं कुछ कहना चाहती थी, किन्तु मेरे ओठ ही काँप कर रह गए, मेरा कंठावरोध हो आया।

उसी ने कहा, 'कुछ कहना चाहती हो तो कहो न। संकोच न करो। मैं भारत अभी सूचना भेज सकता हूँ, किन्तु मुझे भय है, मि. लाल के अभी यहाँ आ सकने की कोई सम्भावना नहीं है। युद्ध की स्थिति पहले से बहुत भयानक हो उठी है। अब तो सूचनाएँ पहुँचाना तक कठिन है ! मैं प्रयत्न कर सकता हूँ। एंड श्योअरली, यू कैन वेट टिल द हॉस्टिलिटीज सीज.....'

मैंने किसी तरह अपने आपको सम्हाल कर कहा, 'मेरी बात छोड़ो बिल, लेकिन तुम्हारा तो परिवार है, तुम्हारी पत्नी एथेना तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही होगी। इस युद्ध के कारण ही तो वह बेचारी वहाँ अटकी बैठी होगी।'

बिल ने म्लान हँसी हँस कर कहा, 'तो तुम नहीं जानती। उसने इण्डिया में ही एक कर्नल के साथ विवाह कर लिया है।'

'मुझे बहलाने के लिए तुम झूठ बोल रहे हो।' मैंने कहा।

वह मानों तैयार होकर ही आया था। पहले तो उसने मुस्करा कर कहा, तुमसे कभी झूठ बोला है कि आज ही बोलूँगा ?–अच्छा यह पत्र देखो। एथेना की लिखावट तो पहचानती हो न ? कि कह दो, यह भी मैंने तुम्हें बहलाने के लिए अपने ही हाथ से लिख दिया है ?' और उसने जेब से लिफाफे में बन्द एक पत्र निकाल कर मेरे सामने रख दिया, कहते-कहते, 'वह तो विवाह करके कभी की अपने पति के साथ दक्षिण-पूर्व चली भी गई है। यह तो उसकी उदारता ही है कि जाने के पहले वह सब कुछ लिख कर मुझे बता गई है। अंधेरे में मुझे रखती भी क्यों ?'—मैं एथेना की लिखावट पहचानती थी। दूर से ही मैंने देख लिया था, लिफाफे के ऊपर उसी के हाथ से बिल का नाम और ठिकाना था। पत्र पर भारत के टिकट लगे हुए थे, वह रजिस्टर्ड डाक से आया हुआ था और उस पर भेजने वाले का नाम भी स्पष्ट लिखा हुआ था !

बिना उसे छुए मैंने पूछा, 'कब आया यह पत्र ?'

'आज नहीं। इसे आए आठ-दस माह हो गए। तुम तारीख देख सकती हो। पढ़ो न। तुमसे तो मुझे कुछ छिपाना नहीं है।'

तो इस आग को भी बिल आठ-दस महीने से अपने सीने में छिपाए चला आ रहा है ? और एक बार भी इसने उफ तक नहीं की ? अपने में खोई हुई मैंने भी तो इसे कभी लक्ष्य नहीं किया। जल तो शायद वह तभी से रहा था जब मैंने पहले पहल एथेना का नाम ओढ़ कर उसके मन में कहीं एक मिथ्या इन्द्र-धनुष की प्रतीति जगा दी थी। एक शोला और भभक उठा, तो यज्ञ-कुण्ड की धधकती हुई ज्वालाओं में क्या अन्तर पड़ जाता है ?

मैंने कहा, 'बिल, आखिर तुम चाहते क्या हो ? मुंह खोल कर कहते क्यों नहीं ?'

उसने हँस कर कहा, मुँह खोल कर ही तो कह रहा हूँ। 'तुम सुखी रहो, बस मुझे और चाहिए ही क्या ?'

एकाएक मेरे मुँह से निकल पड़ा, मुझसे विवाह करना चाहते हो ? कहो। मुझसे साफ-साफ कहो। मैं तुम्हें इस तरह आत्म हत्या नहीं करने दूंगी, कभी नहीं करने दूंगी।' मैं जानती हूँ, उस समय मैं अपने आपमें नहीं रह गई थी, किन्तु अपने आपमें रह कर कौन-सा दुनिया का क्रान्तिकारी काम हुआ है ? क्रान्तिकारी न सही, किन्तु लीक को ही कौन तोड़ सका है ? एक प्रकार का विद्रोह तो है ही ! और मैंने उसी आवेश में अटर्नी के कार्यालय से आए हुए वे प्रमाणपत्र फाड़ कर फर्श पर बिखेर दिए।

बिल ने उसी तरह मुस्कराते रह कर कहा, 'क्रोध करने से क्या लाभ है डियर एट्ना—' और मेरे लिए उसका यह सम्बोधन पहली बार ओठों पर आया था, शायद अनायास ही निकल पड़ा था। तभी तो उसने कहा, 'ज्वालामुखी जब आग उगलना चाहता है, तो उसे पहले अपना ही हृदय चीर डालना होता है! पर कोई बात नहीं। कोर्ट में इन कागजों की प्रतिलिपियाँ कैद हैं और सुरक्षित हैं।'

'और जब तक मैं हूँ, यदि तुम मेरे इस कुरूप चेहरे के कारण ही मुझसे घृणा नहीं करते तो मैं भी तुम्हें अपनी बाँहों में कैद करके सुरक्षित रखूंगी। मेरे प्राणों को बचा कर क्या तुमने अपने प्राण मुझे नहीं सौंप दिए हैं? कहो, मेरे सिर पर हाथ रखकर कहो, कि तुम मुझसे घृणा करते हो, मैं आज अभी इस घर से निकल जाती हूँ और तुम अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहो करने को स्वतन्त्र हो।' और मैं उठ खड़ी हुई।

उसने तत्काल आगे बढ़ कर मेरा कन्धा थाम कर पुनः अपनी जगह पर बैठा दिया और कहा, 'घृणा और तुमसे? —तुम्हें कुछ होश है एट्ना? याकि मेरी तपस्या ही व्यर्थ हो गई?— तुम इन्सान नहीं, पत्थर हो। पत्थर समझ कर ही मैं तुम्हारी पूजा करता आ रहा था, किन्तु यह नहीं समझा था कि निर्जीव पत्थर हो कर भी कभी तुम इस तरह चैतन्य होकर मेरे हृदय को ही चकनाचूर कर दोगी। घृणा? तुम इस योग्य भी नहीं हो कि तुमसे घृणा की जाए! और वह दुर्जय क्रोध में पैर पटक कर बाहर निकल पड़ने को मुड़ गया। मैं अपने आपको रोक नहीं सकी। वाष्प से भरी आँखों से कुछ दिखाई नहीं देता था, उसकी ओर लपकी और दरवाजे से टकरा नीचे गिर पड़ी। सिर फटा हो या न फटा हो —निशान इस दागदार चेहरे पर बहुत हैं मेरे देवता, पर जब आँखें खुलीं तो मैं बिल के आक्रोश में थी और मेरा सिर सहलाते हुए वह रो रहा था!

अधिक क्या लिखूं?—बिल रुक गया, मैं जानती हूँ केवल मेरे लिए रुक गया। और उसके बाद हमारे जीवन के ये चालीस वर्ष कैसे कट गए, कुछ पता ही नहीं चला! बिल ने मेरे लिए सब कुछ किया, जो मैंने चाहा और जो मैंने न भी चाहा। मैं सन्यासिनी बनी रही, पर वह भी मेरे लिए अपने-आपको समाज से समेट कर सन्यासी बन गया। शायद अपने आप के प्रति मेरा भय मुझसे कभी नहीं छूटा, इसलिए सामाजिक जीवन से मैं कटी हुई ही रही हूँ। उसने भी जीवन का वही ढंग बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लिया। बोस्टन से हम न्यूयॉर्क के निर्जन क्षेत्र रॉक-अवे बस्ती में रहने लगे, जहाँ हमारी एकान्तिकता में कोई व्याघात नहीं पहुँचा सकता था। यदि तुम बिल से मिले हो—और मिले तो होगे ही, मेरे लिए अमेरिका पहुँच कर, जिसने मुझे तुमसे छीन लिया है उसी से न मिलो, यह कोई सोच सकता है

क्या ? उसने तुम्हें सब कुछ बताया ही होगा। यहाँ से मैंने उसे बराबर लिखा है कि वह तुमसे अवश्य मिले, तुम न भी मिलना चाहो तो वह मेरे लिए तुमसे अवश्य मिला होगा। मैंने उसे लिखा है कि वह मेरे बारे में अच्छी-बुरी सभी बातें निस्संकोच बता दे, कुछ भी न छिपाए। तुम मेरे जन्म-जन्मान्तर के देवता हो, अन्तर्यामी हो। तुम्हें मेरा बुरा-भला सब कुछ जानने का अधिकार है—सब कुछ मन ही मन तो जानते भी होगे। ईश्वर सब कुछ जानता ही है, किन्तु तब भी हम तो अपनी ओर से उसे जनाते ही हैं, उसके लिए नहीं, अपने स्वयं के सन्तोष के लिए ! मुझे एक ही आश्चर्य हो रहा है कि बिल मेरे पत्रों का उत्तर क्यों नहीं दे रहा है ? मैं यह पहली बार उससे दूर हुई हूँ, नहीं कह सकती कि उसे पत्र लिखने की आदत है या नहीं।– उसका मन, जहाँ तक समझ मैं पाई हूँ ऐसा तो नहीं कि वह असूया पाल ले। पर प्यार की गति का क्या कुछ ठीक ठिकाना है ? वह कब कौनसी दिशा ले ले और हम अनुमान ही लगाते रह जाएँ। यदि ऐसा ही हुआ तो भी तुम उसे अवश्य क्षमा कर देना। वह तो तुम जैसा समदर्शी नहीं है न। और मैंने तो तुम्हें बहुत कुछ बता ही दिया है।—प्रारम्भ में तो स्रग्धर का तार देखकर जब मैं ही हतप्रभ और विचलित हो गई थी तो उसके भय या मन की आशंका को एकदम कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? मुझे सन्तोष यही है, कि मैं चाहे न होऊँ, तुम्हारे सामने वह एक ऐसी ज्योति के स्पर्श में रहा होगा कि उसके हृदय के सब भय, सब आशंकाएँ, सब कलुष नष्ट हो गए होंगे। इतना सरल और सौम्य है वह. कि हृदय के सारे भाव उसके चेहरे पर झलक उठते हैं। नहीं, अधिक नहीं लिखूँगी उसके बारे में। मेरा पक्षपात तो है ही। अपनाने की क्रिया एकांगी होती भी कहाँ है ?

स्वीकार कर चुकी हूँ कि स्रग्धर के तार ने वर्षों की दबी हुई राख को उलीच कर सोई पड़ी अग्नि को प्रज्ज्वलित कर दिया था। कहाँ तो मुझे चाहिए था कि मैं अपने रक्त-मान्स के अंशी को अपने प्यासे हृदय से लगा कर कुछ शान्ति पाती और कहाँ उल्टे भाग कर मैं यहाँ मरुस्थल में सिसक-सिसक कर उत्ताप की शिकायत कर रही हूँ।—भय ही था तो वह तुम्हीं से तो हो सकता था—स्रग्धर तो मुझे जानता भी नहीं है न ! जन्म से ही उसकी अपराधिनी हूँ। उसने तो मेरी गोद भर ही दी थी, मैं ने ही उसे गोद से दूर कर दिया था। और आज जब वह ललक कर मेरी ओर बढ़ा, तो यह हतभागिनी फिर छिटक कर दूर जा खड़ी हुई। और यह जानते हुए भी कि जिस गोद को वह एक बार भर चुका है, वह फिर कभी किसी दूसरे से नहीं भरेगी ! बिल को जब मैंने स्वीकार किया था, तो इस सम्भावना को नष्ट करके ही किया था !

मैं नहीं जानती, स्रग्धर के मेरे प्रति कैसे विचार हैं ? वह मुझे कठोरता से जाँचे और घृणा भी करे तब भी कोई उसे दोष नहीं देगा ! किन्तु मेरे लिए तो उसके सिवा

और कोई कहीं भी नहीं है ! तुमने उसे अपनी ही देखरेख में ! अवश्य ही एक योग्य और समर्थ पुरुष बनाया होगा। मैं उस पुराण-पुरुष ऋष्य शृंग की शिक्षा, संस्कार और सामर्थ्य को कैसे भुला सकती हूँ, जबकि वह सर्व-शक्तिमान् परब्रह्म हमें उन्हीं महापुरुषों की भूमिका में नचा रहा है !—हो सकता है, मुझसे प्रत्याख्यात होकर तुमने भी विभांडक की तरह ही उस पर किसी भी स्त्री की छाया न पड़ने दी हो, किन्तु उसके हृदय की कोमलता का प्रमाण यही तो है कि वह मेरी खोज में कहाँ से कहाँ पहुँच गया है ? अपने पिता के प्रति किए गए मेरे अपराधों के बदले वह मुझे दंड भी दे, तो वह मेरे लिए उसका प्यार ही होगा। पर अब तो वह किसी राजकुमारी शान्ता से विवाह कर अपनी गृहस्थी सुख से चला रहा होगा न ? कैसी मूर्ख और हतभाग्य हूँ कि घर पर आए सुख को छोड़ कर मैं यहाँ भाग आई और अब तुमसे अपने मन्दभाग्य की शिकायत कर रही हूँ। प्रार्थना तो करना चाहती हूँ, यद्यपि बड़ा संकोच और भय भी है। तमाम असुविधाएँ और कष्ट उठाकर भी चालीस वर्ष तुमने पुत्र-सेवा का लाभ उठाया है,—तुमसे ईर्ष्या नहीं है, पर मेरी भी साध है। अब तुम उसे सपरिवार मुझे दे दो न ! मैं भी बूढ़ी हो गई हूँ, वह मेरी सम्पत्ति का अधिकारी तो है ही, बिल भी उसे कभी पराया नहीं समझेगा। स्वार्थिनी तो मैं सदा से ही रही हूँ, कष्ट तुमने उठाया और सुख मैं उठाना चाहती हूँ। बूढ़े तुम ही कौन नहीं हो ? तुम्हें सहारे से वंचित करूँ, यह भी कैसे कहूँ ? तुम्हारे स्पर्श का पुण्य यों ही कम नहीं है मेरे लिए। वैसे तो मैं अगले सप्ताह निश्चय ही लौट रही हूँ, किन्तु यदि वह भी तुम्हारे साथ लौट आया हो तो एक बार और उसे और हो सके तो सारे परिवार के साथ मेरे पास भेज देना। उसकी इच्छा के और तुम्हारी इच्छा के भी विपरीत मैं उसे रोक नहीं रखूँगी। मैं तो अभी ही लौट जाती, किन्तु तेहरान से मुझे एक सम्वाद की प्रतीक्षा है—वह हमारे कार्पोरेशन की ईरान में फँसी सम्पत्ति के सम्वन्ध में है और आशा है कि वह समस्या सुलझ गई है। जो भी हो, वह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है ! मैंने अपनी फ्लाइट बुक कर ली है ! इस पत्र का उत्तर तुम बोस्टन के पते से ही देना, ताकि मैं स्रग्धर के नाम एक औपचारिक निमंत्रण और ड्राफ्ट भेज सकूँ और उसे विदेशी-मुद्रा की समस्या से पास-पोर्ट, विसा आदि में कोई कठिनाई न हो। स्रग्धर के वहाँ हुए बिना मेरी वसीयत के कागज भी तो पूरे नहीं हो सकेंगे !

अधिक क्या लिखूँ ?—ऐसा लगता है कि इस जन्म में अब और तुम्हारे दर्शन नहीं हो सकेंगे। साध तो है, पर पुण्य कहाँ है ? नहीं तो मुझ प्यासी के पास तो कुआँ चल कर आया था। तुम चाहो तो मेरा न्याय कर सकते हो। तुम्हारा निर्णय आशीर्वाद और वरदान समझ कर सिर-माथे स्वीकार करूँगी। और कोई क्षमा नहीं माँगती, किन्तु पत्र की भिक्षा से मुझे वंचित मत करना मेरे देवता ! अभिशाप

की आग में तो मैं झुलसती आ ही रही हूँ। तुम्हारी आत्मस्वरूपा अशरीरी मार्गरेट'।

पत्र के नीचे ही मुरारीदा का नोट है—

प्रिय भाई, पत्र पढ़ कर तुम्हारे मन में कुछ जिज्ञासाएँ उठी होंगी, एक तो यही कि पत्र प्राप्त होते ही मैंने मार्गरेट को विलियम की प्राणान्तक बीमारी की सूचना दी या नहीं और उसके साथ ही स्रग्धर का पता भी दिया या नहीं दिया। स्रग्धर को वह गोद लेना चाहती है, इस बारे में मेरा क्या निर्णय रहा? आदि-आदि! मैंने वैसा कुछ नहीं किया है। क्यों? इसका उत्तर तुम स्वयम् ही सोच सकते हो, चाहो तो कह सकते हो मुझमें भी ईर्ष्या भाव जाग उठा है। पर ऐसी बात भी नहीं है। यह पत्र उत्तर काशी बहुत विलम्ब से पहुँचा था और स्रग्धर अभी तो वहीं है। वह वयस्क है, उसकी ओर से निर्णय लेने वाला मैं कौन? प्रतीक्षा तो अब मुझे उसी के पत्र की होनी चाहिए, पर है नहीं। सन्तान की सेवा या सन्तान का सुख—इन भ्रमों को अगर वह भी पालना चाहे तो उसकी इच्छा! अपने आपको अधिक सानते रहने की मेरी तो इच्छा नहीं है। इस उम्र में और झंझट क्यों लूँ?

कुछ-कुछ स्वस्थ होता जा रहा हूँ। आख्यान का अनुवाद शीघ्र भेजने का प्रयत्न करूँगा।

●

२३

मुरारी-दा ने आख्यान की असली किस्त तो भेज दी है, किन्तु अपना हाल कुछ नहीं लिखा, औपचारिक दो पंक्तियों का पत्र भी नहीं। उनके स्वास्थ्य के बारे में तो चिन्ता है ही, अमेरिका का आगे का हाल जानने की भी बड़ी उत्सुकता है। मार्गरेट अब तक तो कभी की लौट कर वहाँ पहुँच जानी चाहिए, अगले सप्ताह निश्चित लौट जाने का संकेत उसके पत्र में ही था। विलियम भी स्वस्थ हो गया, उसके मानसिक-भय का कोई कारण भी तो नहीं रह गया था। इसके अलावा मार्गरेट ने स्रग्धर को तथा स्रग्धर ने मार्गरेट को किस तरह की उत्कटता से ग्रहण किया होगा? मुरारी-दा को अवश्य सारी सूचनाएँ मिल गई होंगी। स्रग्धर ने तो लिखा ही होगा। किन्तु उलझाए रख कर, उत्सुकता बढ़ाते रहने की उनकी आदत जो है। वैसे भी उनके परिवार की व्यक्तिगत बातें ठहरीं, न बताना चाहें, तो क्या किया जा सकता है? पराए मामलों में इतनी दिलचस्पी भी क्यों ली जाए? उपन्यास-लेखक हो जाने से ही तो किसी के घर-मामलों को जानने का अधिकार नहीं मिल जाता। अनामदास ने ही कौन-सा व्यक्तिगत परिचय द्विवेदीजी को दिया था। मुझे तो फिर भी मुरारी-दा ने नाम ही नहीं, बहुत कुछ आत्मीयता भी दी है। स्वास्थ्य तो अब उनका पहले से कुछ ठीक होना ही चाहिए, वरना आख्यान की इस किस्त की ही वैसे आशा की जा सकती थी? हाँ, पत्र लिख कर उनके स्वास्थ्य की निश्चित खबर अवश्य जान लेनी चाहिए, बल्कि न पूछना ही अस्वाभाविक लगेगा! यह किस्त, कहीं ऐसा तो नहीं है कि बृबु के आख्यान से वे अपने चरित्र-विकास की संगति बनाए रख रहे हों? पाँच हजार वर्ष का वह इतिहास और वर्तमान का उनका यह चरित्र जो समानान्तर उद्घाटित होता चल रहा है, यह क्या महज एक संयोग है, या मुरारी-दा के किस्सागोई कौशल की सचेतन-योजना? तब तो स्वीकार करना चाहिए, यह उनकी निगूढ़, चिरन्तन-आध्यात्मिक दार्शनिकता का एक प्रमाण है, आध्यात्मिक के साथ ही साथ कलात्मक दार्शनिकता का भी। जो हो, मुरारी-दा नहीं तो, फिल्हाल विभांडक बृबु ही सही।

'दुस्साहस ही तो था, अहीशुव,' शतद्रु के दक्षिणी तट पर अहीशुव की गोद में सिर रख कर लेटे हुए बृबु ने कहा, 'प्रथम तो, जब वह भाग रहा था तो

मुझे पीछा करने की आवश्यकता ही क्या थी ? जरा असावधान हुए कि पशु तुम्हारे मन पर सवार हुआ। दीक्षित हो जाने मात्र से तो अहिंसा किसी की आदत नहीं बन जाती ! आवेश के समय विवेक रहता ही कहाँ है ? शायद मुझे ललचाने के लिए स्कन्द की वह पूर्व-निर्धारित योजना ही रही हो—'

'पूर्व-निर्धारित कैसे प्रभु ?'

'मुझे पीछा करने के लिए प्रोत्साहित करना, और फिर टेढ़े-मेढ़े मार्ग से नदी पार करते हुए मुझे अनायास चट्टानों वाले पथ पर खींच ले जाना। पहले तो वह तट ही तट पूर्व की ओर बढ़ता गया, मैं जब यहाँ था, तब वह वहाँ उस वृक्ष के नीचे से नदी में घुस पड़ा और न्यून-कोण पर पार जाने के लिए मेरी ओर अर्थात् पश्चिम की ओर बढ़ने लगा।'

'और आपने सोचा कि आप यहीं से सीधे नदी में प्रवेश कर जाएँ तो तट तक पहुँचते-पहुँचते आप उसे पकड़ लेंगे।'

'यही तो स्वाभाविक था। किन्तु इस ओर नदी में चट्टानें हैं, यह तो मुझे मालूम नहीं था न ! और उसे मालूम था घोड़ा बेचारा भी क्या करता ? उसे तो आरोही के आदेश का अनुवर्ती होना था न। यह भी संयोग कहूँ कि उस पशु का कौशल कि वह ठीक उसी क्षण गिरा, जिस क्षण स्कन्द का शर मेरे वक्ष को लक्ष्य कर बढ़ा चला आ रहा था। यदि अश्व के साथ मैं भी पानी में नहीं गिर पड़ता तो वह शर मुझे कहाँ बेधता, कहा नहीं जा सकता ! पर तुम कहो अहीशुव, तुम कैसे इस ओर बढ़ आए ? मैंने तो देखा था, तुम उस हरित-परिधान वाले योद्धा से जूझ रहे थे। कौन था वह ?'

'वही तो है देवराज का पुत्र जयन्त। स्कन्द को भागता और आपको उसका पीछा करते हुए देख कर शायद वह भयभीत हो उठा, और भाग कर अपनी सेना के व्यूह में छिप गया ! तभी उसकी दृष्टि का अनुसरण करती मेरी दृष्टि आपकी ओर गई। आप अश्व सहित नदी में गिर पड़े थे और शत्रु इस स्थिति का लाभ उठा कर आपकी ओर बढ़ने लगा था।'

'तुम यदि ठीक समय पर वहाँ पहुँच कर शत्रु को खदेड़ न देते तो शायद उसके हाथों मैं बच नहीं पाता। यह तो रकाब से मेरे पैर अनायास ही निकल गए थे, नहीं तो अश्व और चट्टान के बीच ही मैं पहले ही पिस जाता। मैं तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूल सकता अहीशुव ! युद्ध-क्षेत्र का वैसे क्या हाल है ? मैं तो स्कन्द से उलझता हुआ दूर जा पड़ा था न।'

'अभी तक तो स्थिति नियन्त्रण में है महापाणिक, किन्तु उनका जन-बल हमसे कम से कम चार गुना है, और वे बढ़ते ही जा रहे हैं। उनका सबसे बड़ा लाभ उनके अश्व हैं।'

'सो तो हैं ही— अश्व प्राप्त करने के लिए ही हमने कितना बड़ा मूल्य चुकाया और तब भी निराश ही रहे हैं। इन गिने-चुने अश्वों का ही हमें कितना बल है ? मेरा अश्व तो शायद अब किसी काम का न रह गया हो— मेरे कन्धे में भी भयानक चोट लगी दीखती है अहीशुव ! वह पुराना घाव ही नहीं खुल गया है, शायद कोई अस्थि भी टूट गई हो ! तुम भी युद्ध-क्षेत्र से चले आए हो ! ऐसा न हो कि हमें वहाँ न देख कर हमारे सैनिकों का मनोबल गिर जाए। तुम शीघ्र लौट जाओ भाई, और हो सके तो शत्रुओं की दृष्टि बचाकर एक रथ भिजवा दो। मैं यहीं कहीं कोई सुरक्षित स्थान खोज कर प्रतीक्षा करूँगा।'

'यह कैसे हो सकता है प्रभु ? आप मेरा अश्व लें। मैं यदि आपके साथ-साथ भाग न भी सकूँ, तब भी शीघ्र ही पैदल पहुँच जाऊँगा। देखता हूँ, यदि आपका अश्व किसी योग्य हो !'

वृबु ने एक लम्बी साँस ली और कहा, मैं तुम्हें अधिक चिन्तित नहीं करना चाहता था अहीशुव। मेरे पैर में ही चोट नहीं लगी है, मैंने कहा न कि मेरे कन्धे का घाव भी खुल गया है। अंगत्राण से दिखाई नहीं देता, पर प्रतीत होता है काफी रक्त बह गया है। मैं अश्व की यात्रा नहीं कर सकूँगा और मुझे अभी कुछ विश्राम की भी आवश्यकता प्रतीत हो रही है।'

अहीशुव की चिन्ता बढ़ गई। उसने सहायता के लिए इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। उधर महापणिक का अश्व आहत होकर जमीन पर लोटता-लोटता अब निश्चेष्ट होता जा रहा है और उसका स्वयम् का अश्व उसके पास ही खड़ा अपने साथी की दुर्दशा बड़ी उदास आँखों से देख रहा है। उधर से दृष्टि हटाकर अहीशुव ने सामने देखा, शतद्रु का नीरव विस्तीर्ण पाट फैला हुआ है दोनों और क्षितिज को छूता हुआ। बहुत दूर सामने उस वृक्ष की ओट में शायद अपने अश्व पर आरूढ़ शत्रुओं का सेना-नायक स्कन्द ही टोह लगाए खड़ा है। इस पार दूर-दूर तक तट-वृक्षों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता। युद्ध-क्षेत्र यहाँ से काफी दूर है। महापणिक का दुस्साहस ही तो था। युद्ध के मैदान में भावुकता नहीं, नीति काम देती है, आवश्कता पड़ने पर कूटनीति भी ! शत्रु यदि जाल में फँस गया हो तो पीछे हट कर पराजय का अभिनय भी किया जा सकता है ! यह तो सद्भाग्य ही था कि स्कन्द के साथ और कोई नहीं था— साथ कोई नहीं, यह तथ्य प्रमाणित तो करता है कि उसकी पराजय अभिनय नहीं, वास्तविकता थी, किन्तु तब भी उसे स्थानीय-भूगोल, विशेषकर नदी की गर्भ-भूमि के परिचय का लाभ तो था ही। पीछा करते समय ही तो सुरक्षा और स्वरक्षा का ध्यान रखना बहुत आवश्यक हो जाता है !

बृबु ने कहा, 'सोच-विचार का समय नहीं है अहीशुव ।—तुम्हारा शिविर पहुँचना बहुत आवश्यक है । तुम कहते हो, देवराज का पुत्र जयन्त अभी वहीं है ।'

'सो तो है स्वामिन्, किन्तु आपको अकेला कैसे छोड़ सकता हूँ ? वह देखिए, उस पार ! स्कन्द ही तो है न ?— पुनः नदी में प्रवेश करना चाहता है । सोचता होगा, आप आहत हैं और असहाय । आपके जौहर देख चुका है, तो मेरे भी कुछ देख ले ।' और उसने बृबु का सिर बड़े ही सम्भ्रम और शालीनता से अपनी गोद से उतार कर नीचे रखा तथा खड़े होकर उसने अपने तरकस से तीर निकाल लिया । फिर कन्धे पर लटकते हुए धनुष को उतार कर कान तक खींच कर तीर छोड़ दिया । बृबु ने भी देखा कि स्कन्द का अश्व नदी में उतरने के पहले ही बिदका और आरोही को लेकर पिछले पैरों भागने लगा । स्कन्द ने शायद उसे सम्हालने की चेष्टा भी नहीं की ।

बृबु ने कहा, 'अब नहीं लौटेगा । तुम निश्चिन्त रहो । पास ही कोई आ टपका तो अपनी रक्षा मैं कर सकूंगा—वैसे अब तो यहाँ पर भी निरापद हूँ । तुम उस अश्व का आसन ले आओ । उसको सिरहाने देकर मैं लेटा रहूँगा ।

'उसके चले जाने से ही क्या यह स्थान निरापद हो गया भगवन् ? वह न भी लौटे तो क्या और कोई उसका भाई नहीं आ सकता ? और आप तो आहत हैं, आपको शीघ्र उपचार की आवश्यकता है । आप कब तक रथ की प्रतीक्षा में यहाँ पड़े रहेंगे ? युद्ध की स्थिति है, रथ सकुशल यहाँ पहुँच ही जाएगा, यही कैसे कहा जा सकता है ? अच्छा, मुझे दुर्विनय के लिए क्षमा करें, हम दोनों एक ही अश्व पर नहीं जा सकते ? मैं आपको अपने सामने बिठा कर सम्हाले रहूँगा ।'

'उससे तुम शीघ्र कैसे पहुँचोगे भाई ? इसके अतिरिक्त—अच्छा चलो, यहाँ से तो चला जाए—मुझे सहारा दो—अहीशुव ने अपना हाथ बढ़ाया तो बृबु उसे पकड़ कर उठ खड़ा हुआ । सचमुच वह बहुत दुर्बल हो गया था । शरीर के सारे वस्त्र भींगे हुए थे, पर कोई उपाय नहीं था । अहीशुव ने बृबु का अंगत्राण खोल दिया था । कन्धे से काफी रक्त प्रवाहित हो चुका था । बृबु का कटि-वस्त्र खोल कर उसने घाव को भी बांध दिया ताकि रक्त-प्रवाह रुक जाय । उसने अपने अश्व की ओर देखा, वह तब भी नीचे पड़े हुए आहत-अश्व के पास खड़ा था । अपने आरोही का संकेत पाकर वह उसकी ओर बढ़ आया । आहत अश्व वहीं छोड़ देना पड़ा, कोई उपाय नहीं था । कभी-कभी मनुष्य को निपट अनिच्छा से बड़े हित के लिए छोटे हित की निष्ठुरता से बलि दे देनी पड़ती है । अहीशुव ने आस-पास देखा, कहीं ऐसा स्थान न था जहाँ से वह बृबु को अश्व पर चढ़ा सके । स्वयम् उनमें ऐसी

शक्ति नहीं रह गई थी। बृबु ने ही कहा, 'चलो आगे कहीं देखते हैं, कोई शिला-विला हो।'

बृबु ने अहीशुव के कन्धे का सहारा लिया और अहीशुव ने एक हाथ से अश्व की लगाम थामी तथा दूसरे से बृबु को कमर से घेर लिया। वे धीरे-धीरे आगे तो बढ़ने लगे, किन्तु बृबु की आँखों के सामने वृत्त घूमने लगे, उनका चैतन्य खोने लगा। अहीशुव के घेरे से उनकी कटि खिसकने लगी।

'प्रभु, यह क्या ?' अहीशुव ने ठहर कर बृबु को सम्हालते हुए कहा।

'मुझे कुछ दिखाई नहीं दे रहा है अहीशुव—मैं-मैं डूब रहा हूँ, डूब रहा हूँ।'

अहीशुव समझ गया कि दुर्बलता और रक्त-प्रवाह के कारण महापणिक अचेत हो रहे हैं। उसने बृबु को अपने कन्धे पर उठा लिया। कुछ ही कदम दूर पर एक शिला-खंड था। वहाँ जाकर उसी पर चढ़ कर पहले उसने बृबु को घोड़े पर बिठाया और उन्हें थामे रहकर ही स्वयम् उस पर चढ़ लिया। उसके बाद अपना कटि-वस्त्र खोल कर उसने बृबु से सट कर दोनों की कटि बाँध ली। फिर बाएँ हाथ से उन्हें अपने आलिंगन में कस लिया, दाहिने हाथ से अश्व की वल्गा संभाली। फिर उसने एक बार चारों ओर दृष्टि डाल कर परिस्थिति समझने का प्रयत्न किया। उसने देखा कि वह सामने दूसरी पार वाला अश्वारोही, शायद स्कन्द ही हो, पुनः नदी में प्रवेश कर रहा है। क्या पीछा करेगा ? अचेत बृबु को लिए तो वह युद्ध नहीं कर सकेगा, तेज भाग भी नहीं सकेगा और युद्ध-क्षेत्र तक पहुँचते-पहुँचते तो उनका पूरा दल सामने हो जाएगा। लेकिन अश्वारोही तो पूर्व की ओर बढ़ रहा है, प्रवाह का लाभ उठाना चाहता है। और हाँ, सीधी राह नदी-गर्भ में चट्टानें भी तो हो सकती हैं। जो भूल महापणिक ने की, जान-बूझ कर वही भूल वह क्यों करेगा ? —नहीं, बृबु को साथ लेकर इस ओर बढ़ने में संकट है। स्कन्द उन्हें बीच मार्ग में ही पकड़ सकता है। कुशल इसी में है कि तट ही तट पर पश्चिम की ओर बढ़ा जाए। यदि स्कन्द प्रवाह के सम्मुख अपना अश्व लाएगा तो उसे बहुत समय लग जाएगा और प्रवाह के साथ बह कर पार करेगा तो दूरी काफी हो जाएगी। विपरीत दिशा में ही बढ़ना चाहिए। यदि वहीं सुरक्षित आश्रय मिल गया तो ठीक ही है, नहीं तो लम्बी राह से ही लौटना होगा। शिविर या दुर्योण, जहाँ भी शीघ्र पहुँचा जा सके। इस समय महापणिक की प्राणरक्षा ही सबसे बड़ा कर्तव्य है। सेना का मनोबल रहे या जाए, महापणिक से बढ़ कर इस समय कुछ नहीं है और वह वृक्षों की ओट ही ओट धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढ़ने लगा। सावधानी के लिए वह रह-रह कर अपने

चारों ओर देखता भी जाता था। अचेत महापणिक के आहत शरीर को झटका न लगे, इसलिए अश्व की गति भी बड़ी मन्थर रखनी पड़ रही थी।

रक्त-प्रवाह बन्द हो जाने तथा खुली वायु के स्पर्श से अचेत वृबु को कुछ-कुछ चेत होने लगा था। पहले तो वह अपने बन्धन के कारण कुछ स्तम्भित-सा लगा, किन्तु शीघ्र ही उसे अपनी परिस्थिति समझ में आने लगी। फिर जब सब कुछ समझ में आ गया तो उसने पूछा, 'इधर हम कहाँ जा रहे हैं अहीशुव ?–यह तो युद्ध क्षेत्र का मार्ग नहीं है न।'

'नहीं है महापणिक, हमें युद्ध-क्षेत्र से बच कर निकलना होगा। यदि शत्रु की दृष्टि पड़ गई तो मैं आपकी रक्षा कैसे कर सकूँगा ?'

'सो तो ठीक है भाई, किन्तु इतनी देर तक तुम्हें अनुपस्थित पाकर सैनिकों का मनोबल–'

'इस समय सैनिकों के मनोबल की अपेक्षा मेरे लिए आपकी, राष्ट्रबल की रक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है महापणिक। आपको जबतक सुरक्षित स्थान पर नहीं पहुँचा दूं तब तक मेरे लिए दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है।'

'मैं एक व्यक्ति मात्र हूँ अहीशुव। मेरा अस्तित्व राष्ट्र के लिए है, न कि राष्ट्र का मेरे लिए ! मुझे यहीं उतार दो। अब मुझे चेत भी हो आया है। मेरे लिए कोई संकट नहीं है। मैं यहाँ प्रतीक्षा करूँगा। तुम शीघ्र अपने शिविर में लौट जाओ मेरे भाई, मेरी प्रार्थना सुनो।'

'प्रार्थना कह कर मुझे लज्जित न करें महापणिक, मैं आपका दास हूँ। किन्तु मुझे क्षमा करें, मैं आपकी रक्षा के लिए प्रतिश्रुत हूँ।'

'प्रतिश्रुत ?—यह व्यर्थ की प्रतिश्रुति किसके निकट और किसलिए ?—तुम किसी अन्य के लिए नहीं, केवल दुर्योण के लिए प्रतिश्रुत हो, जिसके लिए हम सभी प्रतिश्रुत हैं, वह हमारी माता है ?'

'हूँ महापणिक, उसके लिए उसी के निकट भी। किन्तु और भी तो माताएँ हैं, जिनके निकट प्रतिश्रुतियाँ होती हैं सन्तान की, और भी ऋण होते हैं मनुष्यत्व को चुकाने के लिए ?–आपने कदाचित् मेरे नाम की ओर लक्ष्य नहीं दिया होगा कभी ?'

'क्यों ? उसमें कुछ विशिष्ट है क्या ?—नागकुल से सम्बन्धित हम लोगों में तो यह एक सामान्य-सा नामाभिधान है।'

'सो तो है। किन्तु मेरे लिए नहीं।—अच्छा स्वामिन्, कभी पहले इस नाम से आप अपना सम्पर्क स्मरण कर सकते हैं ?'

'उसमें स्मरण जैसी क्या बात है अहीशुव ? वर्षों पूर्व एक अहीगव को हमने आर्यों के निकट सन्धि-प्रस्ताव के लिए भेजा था ।'

'और गुप्तचरी के सन्देह में उनकी हत्या कर दी गई थी ? वह सन्देह ही रहा हो, किन्तु यह तो निर्विवाद सत्य था कि उन्होंने अपनी पत्नी की अवहेलना करके एक आर्य स्त्री में रुचि दिखाई थी। अपने किए का उन्हें तो उचित दण्ड मिल गया, किन्तु उनके बाद आपने उनके परिवार की, जैसे फूल की तरह रक्षा कर पालन-पोषण किया, मेरी माँ वह कभी नहीं भूल सकती है महापणिक ।'

'तुम्हारी माँ ?'

'हाँ महापणिक, मैं उन्हीं अहीगव का पुत्र हूँ। मैं तब बच्चा ही था। मेरी माता के दुःख की सीमा न थी—पति की अवहेलना, पति का वध, देश-द्रोह का लांछन, और इन सबके ऊपर निराश्रयता ।— यदि आपकी अहेतुक उदार सहायता न होती, तो वह आत्महत्या ही कर लेती भगवन् ! उसने मुझे शपथ दिलाई है कि चाहे मेरे प्राण चले जाएँ, मैं उस महापुरुष की सेवा से कभी मुख नहीं मोड़ूँगा ।'

'पर वह तो सामान्य-सा कर्तव्य था अहीशुव ?—और तुम्हारे पिता का जो भी अपराध हो, तुम लोग, उसका परिवार तो निरपराध था, उसके किए का दण्ड वे क्यों भोगते ?—यह तो प्रशासन का सामान्य-सा दायित्व था ।'

'वह प्रशासन जाने भगवन् ! किन्तु परिजन यदि मुखिया के सुखोपभोग में भागीदार हों तो उसके दुःखोपभोग में भी क्यों न हों ?—न्याय तो यही कहता है ।'

'न्याय निष्ठुर है अहीशुव, जब हम स्वयम् भी अपराध कर सकते हों तो न्याय करने का हमें अधिकार ही क्या है ?—जो हो । तुम पर और तुम्हारी माता पर सारे दुर्योण को गर्व है ।'

'और एक माता के प्रति प्रतिश्रुत हूँ महापणिक,—महादेवी उर्वशी के निकट, कि आपकी रक्षा में मैं कुछ भी नहीं उठा रक्खूँगा ।—और देखते तो हैं कि इन सभी प्रतिश्रुतियों में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है। आप व्यक्ति नहीं, आप एक प्रतीक हैं, न केवल दुर्योण का किन्तु त्रस्त प्राणियों की इस भीड़ में सच्ची मानवता का। और माता तो भी एक ही है, रूप चाहे अनेक हों ।—मैं अपना कर्तव्य ही करता आ रहा हूँ प्रभो !'

बृबु के अलक्ष्य में ही एक बिजली कौंध उठी ।—यह पुत्र है जो अपने पिता के उत्तराधिकार में पाए नाम और ऋण दोनों को समान-भाव से ग्रहण कर

उनका परिशोध करते हुए अपना ही नहीं, अपनी माता का भी मस्तक गर्वोन्नत कर रहा है—जिसे आर्य कहते हैं नरक से उद्धार करने वाला ! वह स्वयम् भी शायद किसी पुत्र का ही पिता होने वाला है, हो भी गया हो तो भी आश्चर्य नहीं है, किन्तु जिस एक माँ से गर्व को उधार लेकर यह अहीशुव मस्तक उठाए हुए है, वही मृगम्मदा क्या इस गर्व के प्रकृत अधिकारी को जीवित भी रहने देगी ?—कैसी विडम्बना है ?—अपनों को छोड़ कर परायों पर थोपना, चाहे वह गर्व ही हो !

—अहीशुव ने महापणिक को सोच-विचार में डूबा देखकर कहा, 'स्वामिन्, कुछ क्लान्ति अनुभव कर रहे हैं क्या ?—विश्राम करना चाहेंगे ?—वह देखिए, दूर तट पर वृक्षों के ऊपर धुएँ की कुंडलियाँ उठती दिखाई दे रही हैं। बस्ती होनी चाहिए, किन्तु—'

बृबु ने भी अहीशुव के निर्देश का अनुसरण करते हुए धुएँ को देखकर उसकी आशंका को स्पष्ट किया, 'शत्रु की है या मित्र की ?—है न ?'

'हाँ प्रभो !—और सोचना तो यह भी चाहिए कि यह कोई भोजन का समय तो है नहीं। फिर असमय धुआँ कैसा ?—कहीं शत्रुओं ने हमारी ही किसी वस्ती को तो अग्नि-समर्पित नहीं कर दिया ?'

'तब तो और भी कारण है कि उधर ही चला जाए !—उर्वशी कहा करती है न कि वीरों का विश्राम शरों की शय्या पर या अग्नि की लपटों पर होता है। अहिंसा की नहीं तो वीरता की साधना ही सही। अब तो स्वस्थ भी हूँ, और एकदम निश्शस्त्र भी नहीं। यदि बस्ती को आग लगा दी गई है तो पीड़ितों को मौखिक प्रबोध तो दे हो सकेंगे।'

बातों ही बातों में कुछ और आगे बढ़ गये तो देखकर अहीशुव ने कहा, 'धुआँ आवासों के जलने का तो नहीं प्रतीत होता भगवन् ! जलने की जो गन्ध आ रही है, वह भी गन्ध-द्रव्यों की लगती है !'

बृबु ने कुछ सोचकर कहा, 'शवों के दाह में आर्यगण भी सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करते हैं न !'

'नहीं महापणिक ! आप शायद नहीं जानते ! लोमाश-दल की गतिविधियों में मुझे इस प्रकार के धूम का बहुत परिचय मिल चुका है। केवल एक प्रकार की चिरांयध गन्ध, क्रव्य के दाह की गन्ध नहीं है। उसे छोड़ दिया जाये तो यह निश्चय ही किसी यज्ञ कुण्ड से उठा हुआ धूम है। अपनी विजय-कामना के

लिए वे इन दिनों स्थान-स्थान पर यज्ञानुष्ठान कर रहे हैं, और लोमाश-दल ने कई स्थानों पर बलि-पशुओं को बलात् मुक्त करके उनके अनुष्ठानों को नष्ट कर दिया है !—नहीं महापणिक, आपको लेकर उस ओर जाना निरापद नहीं हो सकता।—कोई हमें देख पाए, उसके पहले ही लौट पड़ना चाहिए।' और उसने अश्व की वल्गा खींच ली। अश्व खड़ा हो गया।

वृबु ने कुछ क्षण सोच कर कहा, 'यज्ञ ही हो तो देखा जाए न !—किसकी बलि दे रहे हैं वे ?—जानते हो, महाश्रमण ने यज्ञ के अग्नि-कुंड में स्वयम् अपनी बलि देकर एक ब्राह्मण-पुत्र के प्राणों की रक्षा की थी। कहीं वे वैसा ही नृशंस नर-मेध यहाँ भी न कर रहे हों।'

'तो महापणिक, आप यहीं अपेक्षा करें। मैं अकेला जाकर देख आऊँ।'

वृबु ने मुस्करा कर कहा, 'तुम यज्ञ को विध्वंस करते हो। मैं उसे पूर्णाहुत करूँगा।—चलो, चलो, घबराओ मत ! आया हूँ तो मुझे भी देख लेने दो, आजकल यज्ञ किस तरह किए जाते हैं ? बचपन में देखे थे आर्य नासत्य के शिष्यत्व काल में ! पर वे तो उनके नित्य नियमित व्यक्तिगत अग्निहोत्र थे।'

'किन्तु—हमारा सैन्य-दल हमारी प्रतीक्षा कर रहा होगा प्रभो !' अहीशुव ने लौट पड़ने के लिए बहाने का आश्रय लिया। महापणिक ने ही अश्व को पैर का संकेत किया, वह चल पड़ा।

कुछ ही दूर पहुँचने पर बस्ती के चिह्न स्पष्ट होने लगे। महापणिक ने कहा, 'कोई विशेष बस्ती तो नहीं प्रतीत होती अहीशुव।—केवल ये दोर-चार आडम्बरहीन कुटियाएँ—चलो, चलो, चाहो तो मुझे यहीं उतार कर चल देना ! मैं यहाँ विश्राम करते हुए प्रतीक्षा कर लूँगा।—हिंसा का कहाँ, यहाँ तो शान्ति का वातावरण प्रतीत हो रहा है।—तुम नहीं अनुभव करते ?'

'मुझे भी आश्चर्य हो रहा है भगवन् ! यह कैसा यज्ञानुष्ठान है यहाँ ?'

'आशंका की कोई बात नहीं लगती अहीशुव, यह तो कोई आश्रम लगता है, अवश्य ही अस्थायी है, पर है बड़ा मनोरम। कल-कल-निनादिनी नदी का तट, सघन आम्र-कुंज, मुक्त-मन्थर समीरण, निर्व्याज शान्ति-वह उधर कोई युवक जा रहा है, उसका ध्यान आकर्षित करो न !'

'वह तो इधर ही आ रहा प्रतीत होता है प्रभो।—मैं कुछ निरपेक्ष-सा रहूँ तो कैसा हो ? लोमाश-दल के कारण कई आर्य मुझे जानते हैं और मैं उनकी आँखों का शूल हूँ। परिचय तो अपना एकाएक आप भी न दें। यह बन्धन तो खोल दूँ न ? बिना सहारे बैठे रह सकेंगे ?'

'अब मैं बिलकुल ठीक हूँ, तुम चिन्ता न करो, मैं सब सम्हाल लूँगा।—बल्कि परस्पर हम दोनों भी अपरिचित का ही अभिनय करें।'

अहीशुव ने शीघ्र ही कटि-वस्त्र का बन्धन खोल लिया और वृबु को सम्हलने देकर स्वयम् अश्व पर से उतर गया। युवक ने शायद दूर से ही इन्हें देख लिया था, और वह इन्हीं की ओर बढ़ता चला आ रहा था। अहीशुव ने ऐसा भाव धारण कर लिया मानो वह वृबु को पहचानता ही न हो, जैसे मार्ग चलते किसी आपत्ति में फँसे व्यक्ति को सहायता देने इतना ही परिचय हो !

युवक ने अश्व पर आरूढ़ वृबु का अभिवादन कर पूछा, 'इस विजन-वन में आर्यदेव किसी को खोज रहे हैं या मात्र बिहार पर्यटन के लिए...'

'मै एक आहत यात्रिक हूँ बन्धु ! यह बन्धु दया कर मुझे अपने अश्व पर बिठा कर यहाँ तक ले आए हैं। उधर पूर्व में नदी पार करते समय मेरा अश्व मुझे लिए ही चट्टानों से टकरा कर गिर पड़ा। मुझे भय है, मेरे पैर की अस्थि या तो टूट गई है, या विच्युत हो गई है। यदि आप मुझे अपने यहाँ कुछ विश्राम करने दें। मैं अधिक समय नहीं लूँगा। इस सज्जन ने मुझे आश्वस्त किया है कि मेरे लिए किसी वाहन या शकट की व्यवस्था कर देगा !'

'सचमुच आप क्लान्त दीख रहे हैं। यद्यपि आप स्वयम् प्रवास-पथ में हैं और यह अस्थायी आश्रय ही है, किन्तु मेरे आचार्य अतिथि-देव का स्वागत कर प्रसन्न ही होंगे। आपका परिचय जान लूँ तो आचार्य देव से निवेदन करूँ।'

वृबु ने अहीशुव की ओर देखा, वह अनासक्त-भाव से नदी के प्रवाह की ओर देख रहा था, वृबु ने कहा, 'मैंने कहा न ! एक सामान्य-सा यात्रिक हूँ। अपने आचार्य को क्यों कष्ट देते हैं ?—यह सामने आप ही की कुटिया है न ?—कुछ देर यहीं पड़ा रह कर विश्राम कर लूँगा।'

'आपका यथोचित सत्कार न कर मेरे गुरु दुःखित होंगे। आप इस कुटिया को पवित्र करें, मैं तब तक उन्हें निवेदन करता हूँ। उन्हें कुछ समय लग सकता है, पूर्णाहुति होते ही वे अवभृत स्नान कर आपकी सेवा में पहुँचेंगे।—आप स्वयम् अश्व से उतर सकेंगे या मैं सहायता करूँ ?'

'यदि आप कुछ सहारा दें तो मैं अनुगृहीत होऊँगा !'

'यह तो मेरा सौभाग्य है' कह कर युवक आगे बढ़ा, तब तक अहीशुव भी बढ़ आया। दोनों के सहारे वृबु नीचे उतर आया। युवक ने दौड़ कर कुटिया के भीतर से एक कुश का आस्तरण लाकर बाहर आँगन में ही बिछा दिया। वृबु ने

बैठते-बैठते पूछा, 'आयुष्मन्, आपके आचार्य का नाम जानने का सौभाग्य मिल सकता है ?—यह शान्त आश्रम किसी महर्षि का ही हो सकता है !'

'आश्रम नहीं देव, वह तो दैवदुर्विपाक से नष्ट हो गया है। सचमुच मेरे गुरु आचार्यपाद वसिष्ठ महर्षि ही हैं। कृतघ्न महाराज सुदास उनसे कुछ समय से रुष्ट हैं, अतः महर्षि कहीं अन्यत्र चले जा रहे हैं।?'

'प्रख्यात विद्वान् महर्षि मैत्रावरुण वसिष्ठ का आश्रम है यह ?' बृबु ने आन्तरिक उल्लास से भर-कर पूछा। अहीशुव की आँखों में भी उत्सुकता भर गई थी।

'हाँ आर्यदेव ! मैं उनका अन्तेवासी अग्नीध्र हूँ। वे शीघ्र ही आपका दर्शन करेंगे !'

'दर्शन का सौभाग्य तो मुझे मिलेगा आयुष्मन्। तुम उनसे निवेदन करो।'

अग्नीध्र जब सूचना देने के लिए चला गया तो बृबु ने अहीशुव को लक्ष्य कर कहा, 'यह यदि आचार्य वसिष्ठ का आश्रम है तो अहीशुव, आशंका की कोई बात नहीं है। मेरा प्रकृत परिचय पाकर आचार्य प्रसन्न ही होंगे। तुम जानते हो न, महादेवी उर्वशी इनका आतिथ्य ग्रहण कर चुकी हैं।'

'मैं निश्शंक नहीं हुआ प्रभो !—वैसे तो मैं किसी आर्य का अब विश्वास नहीं करता—अपने ही स्वदेश-बन्धु का विश्वास करना जब कठिन हो गया है, तो आर्यगण तो हमारे जन्मजात शत्रु हैं।—आचार्य वसिष्ठ के बारे में मैं महादेवी से भी सुन चुका हूँ, किन्तु······'

'किन्तु क्या ?'

'आश्रम के नष्ट हो जाने की बात उस शिष्य ने कही थी न ?–उस आश्रम को नष्ट तो अपने आचार्य गाधि के पुत्र विश्वरथ ने किया था। आप भूल रहे हैं क्या ?'

'नहीं, भूल नहीं रहा हूँ। पर उससे अब अपना क्या सम्बन्ध ?—उसने तो कान्यकुब्ज में अपना स्वतन्त्र राज्य ही स्थापित कर लिया है।'

'किन्तु विश्वरथ ने हमारे ही लिए तो महर्षि ऋचीक को अपनी बहन देकर अश्व संग्रह किये थे, फिर हमारे ही नायक इलिवश ने···'

'देखो अहीशुव, जिसे शत्रुता ही करनी हो, उसे इतने दूर की कौड़ी लाने की आवश्यकता नहीं होती।—विश्वरथ ने तो बिना किसी कारण वसिष्ठ से

शत्रुता ठान ली थी ! बल्कि वसिष्ठ ने तो उसे अपनी कामधेनु उपहार में देकर अपना सौहार्द ही प्रकट किया था !—सभी आर्य एक जैसे नहीं होते। और यह भी तुम भूल जाओ कि कोई तुम्हारा जन्मजात शत्रु है। मनुष्य तो वह है जो प्राणिमात्र को जन्म-जात मित्र मानता है। सच्ची मनुष्यता तो इसमें है कि वह शत्रु को मित्र बना ले !'

'और यदि कोई हठ करके मित्र ही न बनना चाहे ?'

'शत्रु वह भी नहीं अहीशुव।—वह पशु है। क्रोध उस पर नहीं किया जाता, दया की जाती है, उसे पालतू बनाने का प्रयत्न किया जाता है, और यदि इसमें भी सफलता नहीं मिलती तो उसे दूर हटा दिया जाता है, अपने तौर पर जीवित रहने के लिए !'

'मैं आपसे तर्क नहीं करूँगा भगवन्।—मैं तो केवल आपकी ओर से आश्वस्त होना चाहता हूँ। मेरा अश्व और मैं तैयार हूँ, आप यदि कुछ और कष्ट कर सकें।'

'नहीं अहीशुव, मैं यहीं प्रतीक्षा करूँगा। युद्ध-क्षेत्र से हम, प्रतीत होता है, काफी दूर निकल आए हैं। अब तुम विलम्ब न करो। सैन्य-दल तुम्हारी प्रतीक्षा में बेचैन हो रहा होगा।'

'तो मैं चलूँ प्रभो ?'

'हाँ, भाई, मेरी चिन्ता से निर्मुक्त होकर ! भगवान् पशुपतिनाथ तुम्हारी रक्षा करें।'

अहीशुव ने प्रणाम किया और अपने अश्व की ओर बढ़ गया। महापणिक उसे तब तक देखते रहे जब तक कि वह आँखों से ओझल नहीं हो गया। आचार्य के आने में अब भी विलम्ब देख कर वृबु उसी कुशास्तरण पर लेट गया। थका हुआ तो था ही, मन्द-मन्द हवा चल रही थी ! चेष्टा करने पर भी आँखें अधिक खुली न रह सकीं। वह निद्रा में निमग्न हो गया।

वृबु अधिक समय सो नहीं पाया कि आचार्य वसिष्ठ अपने शिष्य अग्नीध्र के साथ अतिथि का स्वागत करने के लिए आ उपस्थित हुए। देखा कि अतिथि सो रहा है, तो उन्होंने अपने शिष्य से धीमे स्वर में कहा, 'अतिथि बहुत थका हुआ प्रतीत होता है। जगाना उचित नहीं होगा। सिर के नीचे एक उपधान दिया जा सकता तो अच्छा होता, किन्तु उससे निद्रा भग्न हो सकती है।—क्या युद्ध-भूमि में आहत हुआ है ?'

अग्नीध्र ने इधर-उधर देखा, शायद अतिथि के साथी अश्वारोही को खोज रहा था। आचार्य का प्रश्न सुन कर उसने कहा, 'नहीं आचार्यवर !—मैं उस अश्वारोही को देख रहा था, जो इन्हें यहाँ तक पहुँचा गया है। लगता है, इन्हें यहाँ पहुँचा कर ही वह चल दिया है।—ये कह रहे थे कि अश्व पर आरूढ़ नदी पार करते समय किसी चट्टान से टकरा कर अश्व समेत गिर पड़े थे। शायद पैर की अस्थि में आघात पहुँचा है।'

'वह इनके जागने पर ही देखा जा सकता है !—मैंने युद्ध-वेश देख कर सोचा था कि कहीं युद्ध-भूमि में आहत न हुए हों।—तुमसे कहीं प्रच्छन्न तो नहीं रखा है ?'—आर्य तो ये प्रतीत नहीं होते !'

'आपका तात्पर्य, अनार्य-पक्ष का कोई शत्रु है ?' अग्नीध्र ने चिन्तातुर होकर पूछा।

वसिष्ठ ने कुछ मुस्करा कर कहा, 'आर्त्त-जन की जाति नहीं पूछी जाती, उसके लिए पक्ष-विपक्ष का विचार भी नहीं किया जाता।—फिर ये तो अतिथि हैं। अतिथिदेवो भव।'

दौर्बल्य और क्लान्ति के कारण वृबु को नींद तो आ लगी थी, किन्तु वह गहरी नहीं थी। अचेतन-मन तो सतर्क भी था !' फुसफुसाहट जब उनके कानों को पहुँची तो आँखें सहसा सजग हो गईं। किन्तु शायद सतर्कता का ही आग्रह था कि वे आँखें बन्द किए उनका वार्तालाप सुनने का प्रयत्न करते रहे थे। वसिष्ठ का निश्चिन्त करने वाला स्वर सुन कर वे अधिक अपने आपको रोक नहीं सके। हाथ फैला कर अँगड़ाई लेने का अभिनय किया और फिर आँखें खोलकर मानो हड़बड़ाते हुए उठ बैठे कहते-कहते, 'ओह, ऐसे शान्त, नीरव वातावरण और मन्द-मन्थर पवन में आँखें मुँद ही गईं !—क्षमा करें, आप ही हैं न, स्वनाम-धन्य आचार्य वसिष्ठ ?—अविनय तो हुई है, किन्तु मेरा प्रणाम स्वीकार कर बाधित करें।'

वसिष्ठ अग्नीध्र से वार्तालाप में मग्न थे। चौंक कर अतिथि की ओर दृष्टि डाली और कहा, 'प्रणाम कह कर मुझे पाप का भागी न बनाएँ आर्य। आप पितृस्थानीय हैं, और फिर अतिथि !—मेरा ही प्रणाम स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें।'

वृबु ने मुस्करा कर कहा, 'आपकी विनय और शिष्टाचार आपके योग्य ही है, किन्तु आचार्य और गुरुपद तो सर्वथा सबके लिए पूज्य है ! ऋषिवर, आपकी कीर्ति से मैं सर्वथा अपरिचित नहीं हूँ। अनायास दर्शन का सौभाग्य मिल

गया, मेरा आहत होना वरदान बन गया! उठ कर मैं आपका वन्दन नहीं कर सकता……'

'आप अभी उठने का कष्ट कदापि न करें। मैं सुन चुका हूँ कि आपका पैर आहत है। क्या कोई घाव भी हुआ है?—रक्त बहा है कुछ?' और वह बृबु के पास ही आ पहुँचे।

'नहीं आचार्य! चोट भीतरी है। अश्व का सारा भार इसी पर आ पड़ा था न, और नीचे था कठोर शिला-पृष्ठ।—अस्थि-भंग न भी हुआ हो तो भी मुझे भय है कहीं अस्थि सन्धि-च्युत ही हो गई हो!' और उन्होंने अपना आहत पैर दोनों हाथों से उठाकर सामने फैला दिया।'

'आपकी आज्ञा हुई तो देखकर मैं निदान करने का प्रयत्न करूँगा। गुरुकुल में मैंने इसकी शिक्षा भी प्राप्त की है। किन्तु आपका यह युद्ध-वेश……'

'हाँ ऋषिवर, और आपको यह जान कर शायद खेद भी हो कि इस समय जो अतिथि आपसे आश्रय माँग रहा है, वह आपके शत्रु-पक्ष का है! सिन्धु तट के पश्चिम में इस समय आर्यों और पणिकों में जो संघर्ष चल रहा है, उसमें मैं पणिक-वर्ग का एक सैनिक हूँ, किन्तु विश्वास करें, यह आघात युद्ध-भूमि का नहीं है।'

'मेरे लिए कोई पक्ष-विपक्ष नहीं है महानुभाव, फिर आप तो आहत हैं, और अतिथि भी।—मैं स्वयम् प्रवास में हूँ, अतः आपका यथोचित सत्कार शायद न हो सके, किन्तु जैसा कुछ उपलब्ध है वह प्रस्तुत है। मेरी कुटिया पर पधारें, वह पास ही है……'

'ऋषिवर, औपचारिकता के फेर में क्यों पड़ते हैं?—मैं यहाँ ठीक हूँ। आपका शिष्य बड़ा ही विनीत और योग्य है! मुझे सुख पहुँचाने में उन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा है। उस भद्र व्यक्ति ने मुझे आश्वासन दिया है, वह शीघ्र ही कोई वाहन भिजवाएगा। मैं यहीं बैठ कर विश्राम के साथ ही प्रतीक्षा भी कर लूंगा। आप क्यों व्यर्थ कष्ट उठाएँगे?'

'मेरे शिष्य की कर्तव्य-परायणता से आप सन्तुष्ट हुए, यह जान कर मैं प्रसन्न हूँ, किन्तु मेरी कुटिया को यदि आप पवित्र नहीं करेंगे तो मेरा व्रत अपूर्ण रहेगा। मेरी अर्द्धांगिनी अर्घ्य लिए आपकी प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी है। आज हमारे लिए यह बड़े पुण्य का दिन है। यज्ञ की पूर्णाहुति के समय अतिथि-सेवा का अवसर सहज नहीं मिल जाता!—और फिर आपके इस क्षत का परीक्षण भी तो मैं वहीं कर सकूंगा।'

'पर मैं चल भी तो नहीं सकता न आचार्यवर !' वृबु ने कहा।

'यहाँ शिविका तो उपलब्ध नहीं हैं किन्तु हम दोनों में से प्रत्येक अकेला आपको उठा कर वहाँ तक ले चलने में सौभाग्य समझेगा।'

'उसकी आवश्यकता नहीं होगी ऋषिवर। मैं किसी के कन्धे का सहारा लेकर कुछ दूर तक अवश्य चल सकता हूँ। किन्तु मैं जो एक पणिक हूँ। आपके आर्यगणों से हम युद्ध में प्रवृत्त हैं। मैंने सुना है, आप वैसे ही इस समय देवराज एवम् उनके प्रिय सखा महाराज सुदास के रोष-भाजन हैं। यदि वे सुनेंगे कि आपने किसी आर्यों के शत्रु को आश्रय दिया है तो क्या वे आप पर कुपित नहीं हो उठेंगे ?'

'आप कह ही चुके हैं, कुपित तो वे हैं ही। क्यों हैं यह शायद आप नहीं जानते होंगे। प्रयोजन भी नहीं है। किन्तु, किसी के कोप से भयभीत होकर धर्म-पथ या न्याय-पथ छोड़ देने की मेरी शिक्षा नहीं है। पणिक मेरे और गण के साथ युद्धरत हों, किन्तु इस समय वे अधर्म-पथ पर नहीं है। पणिकों में भी मैं जानता हूँ, ऐसे महानुभाव हैं, जिनको मैं देवराज इन्द्र से कई गुना अधिक सम्मान देना चाहूँगा।'

'आप जैसे सुधी चिन्तक जिसे सम्मान दें, वह अवश्य भाग्यवान् है।—यद्यपि मैं श्रमण नहीं हूँ आचार्य, किन्तु हमारे यहाँ तो श्रमणों की एक परम्परा रही है…'

'मैं श्रमणों की बात नहीं कह रहा भगवन् ! मैं कह रहा हूँ, आपके यहाँ के जन-सामान्य की बात। किन्तु, आप सेवक की कुटिया पर चलें न।—मैं सहारा देता हूँ। यदि आपको कुछ भी कष्ट हो तो मैं आपको अपनी पीठ पर ले लूँ—'

'नहीं नहीं, एकदम ऐसा पंगु नहीं हूँ। इस पैर को मैं टिका नहीं सकता, भार तो दूर की बात है।' और फिर अग्नीध्र की ओर देख कर कहा, 'आयुष्मन्, मुझे हाथ का सहारा देंगे ?'

अग्नीध्र आगे बढ़े, उसके पहले स्वयम् वसिष्ठ ने आगे बढ़ कर वृबु का हाथ थाम लिया और वे नीचे झुक गए ताकि उनके कन्धे का सहारा लेकर वृबु उठ खड़े हों। जब वे धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे तो अग्नीध्र ने आसन समेटा, कुटिया में रख कर कुटिया के द्वार बन्द किए और वह भी उनके पीछे हो लिया।

'आप श्रमणों की बात कह रहे थे आचार्य !' वृबु ने वार्तालाप का सूत्र सम्हाला।

'श्रमणों की नहीं भगवन्, मैं सामान्य गृहस्थ पणिकों की ही बात कह रहा था। आप लोगों की संस्कृति कितनी मानवीय है ?—अपने श्रम का ही उपभोग करो, प्राणि-मात्र को समान समझो, आप ही लोगों ने तो माना है कि परस्पर व्यवहार का मूल हिंसा नहीं, लोभ नहीं, संग्रह नहीं, अपितु दया, क्षमा, करुणा, त्याग, अपरिग्रह आदि हैं। ये ही मूल्य तो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं !'

'यदि आप यह सब अनुभव करते हैं आचार्यवर, तो इन यज्ञादिक अनुष्ठानों में आपकी प्रवृत्ति कैसे होती है ?—अभी भी तो आप किसी यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करके आ रहे हैं !' वृबु ने पूछ लिया।

वसिष्ठ किंचित् मुस्कराए, 'आपका आक्षेप शायद यज्ञ के व्याज से की जाने वाली हिंसक बलि-प्रथा पर होगा।—हमारी ब्राह्मण-संस्कृति में भी अब तो इस पर विवाद होने लगा है, जो इस प्रवृत्ति के बढ़ते हुए विरोध का ही प्रमाण है ! किन्तु इसके मूल में जाने पर क्या यह हम नहीं देख सकते कि यह हमारा आदिम संस्कार है, जब हमारे पूर्वजों ने अग्नि पर अधिकार किया ही था ?—उन पूर्वजों को हम अंगिरा कहते हैं—और तभी यह यज्ञ-कुण्ड की अग्नि हमारे सामाजिक-जीवन का आधार बन गई थी। हम उसके चारों ओर एक स्थान पर बैठ कर सुरक्षा के साथ ही साथ, समान-वितरण के द्वारा अपनी आवश्यकताओं का उपभोग करते हैं—'

वृबु ने मुस्करा कर कहा, 'और सुरक्षा के बाद सबसे बड़ी आवश्यकता तब आहार ही तो थी, जिसे अन्य पशुओं की तरह मनुष्य भी आखेट द्वारा ही प्राप्त करता था ! यज्ञाग्नि तब उस वध्य पशु को पकाने का साधन भी बन गई ! किन्तु आचार्यवर, मैं समझता हूँ उस समय भी मानवों का एक दल अपने आहार के लिए, इन कुछेक हिंसक मांसाहारी पशुओं की तरह नहीं, बल्कि अनेक अहिंसक शाकाहारी प्राणियों की तरह ही वनस्पतियों की कृपा पर जीवित रहता था। वे अपने आस-पास सारी प्रकृति को कल्पवृक्षों से हरीभरी पाते थे। मानव की अहिंसा के उसी आदिम-मूल से श्रमण-संस्कृति का उद्‌भव हुआ है न !'

'और आज इन दोनों धाराओं के मेल की आवश्यकता है ! मनुष्यता का कल्याण इसी में है—आपको विशेष कष्ट तो नहीं हो रहा है ? नहीं तो मैं उठा लेता हूँ आपको। मेरी कुटिया जरा दूर है, उधर ठीक नदी के तट पर !'

'नहीं आचार्य, आप चिन्ता न करें। इतना भी यदि नहीं चलूँगा तो युद्ध-भूमि में मेरा जाना व्यर्थ नहीं हो जाएगा?—आप अपना कथन जारी रखें। आपके विचार मुझमें नवीन उत्साह जगा रहे हैं। देखता हूँ, सचमुच मेरे लिए इस दुर्घटना ने एक अवसर ही पैदा कर दिया है!'

'मेरे लिए भी!—मैं आपको यज्ञ के बारे में बता रहा था न?—इस यज्ञ-संस्था का जो मूल भाव है, सामाजिकता, मैं उसी पर बल देना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि कम-से-कम आनेवाली पीढ़ियाँ तो इसे इसी नवीन मूल्य-बोध में स्वीकार करें। बलि और आहुतियाँ दी जाएँ, किन्तु पशुओं की नहीं। हमारे अपने भीतर जो आदिम पशु-प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें संकल्प से समिधा बनाकर उनकी आहुतियाँ दी जाएँ। मेरी यही यज्ञ-प्रक्रिया है महानुभाव, अपने शिष्यकुल को मैं यही शिक्षा देता हूँ।—अपने इस युद्ध से यदि आप उपराम पा सकें तो मैं आपसे कुछ दिन हमारा आतिथ्य ग्रहण कर रुकने का अनुरोध करूँगा, ताकि आप हमारी यज्ञ प्रक्रिया भी देख सकें।'

बृबु ने हँस कर कहा, 'आपका अनुरोध हो, और मेरी स्वयम् की इच्छा भी हो, किन्तु आप के ही गण के युद्ध-कामी नायक अवकाश दें तब न! - मैंने तो... हमने तो उन्हें हृदय की समस्त आन्तरिकता के साथ निमन्त्रण दिया था सम्पूर्ण सहयोगिता के आधार पर सह-अस्तित्व का। जब-जब भी संघर्ष के प्रसंग आए हैं, और एक बार तो मेरे पिता की रहस्यमय हत्या के बाद देवराज इन्द्र के विशेष दूत श्येन के साथ मल्ल-संघर्ष के बाद भी ...'

' तो क्या आप...'

बृबु ने भी वशिष्ठ का प्रश्न पूरा नहीं होने दिया, मुस्करा कर उन्होंने कहा, 'एक सामान्य पणिक ही हूँ आचार्य, किन्तु यह आप समझ रखें कि हमारे यहाँ सभी नागरिक समान हैं। कर्तव्य-विभाजन और प्रशासनिक सुविधा के लिए चाहे किसी को कोई विशिष्ट-पद से अभिहित कर दिया गया हो। तो मैं कह रहा था कि प्रत्येक अवसर पर हमने स्नेहपूर्ण सह-अस्तित्व का प्रस्ताव दुहराया है।'

'यही तो वैशिष्ट्य है आप की संस्कृति का। साम्य के ऐसे ही भाव में तो मनुष्यता का सच्चा विकास सम्भव है! मुझे कभी आप के गण के विशिष्ट व्यक्तियों से सम्पर्क का अवसर नहीं मिला, सुनता अवश्य आ रहा हूँ। मेरा एक

मित्र है जमदग्नि, वह तो आप के अधिनायक—क्या महानायक—क्या कह कर पुकारते हैं आप उन्हें ?'

वृबु ने हँस कर कहा, 'पणिक कह कर ही तो पुकारते हैं। कह चुका हूँ उपसर्ग या प्रत्यय लगा कर भी व्यक्तित्व का प्रत्यय बढ़ जाता हो, ऐसा हम नहीं मानते। वैसे महानायक का पद तो आर्यों के संघर्ष-काल से ही प्रारम्भ किया है; वह युद्धरत सैनिकों का सर्वोच्च नायक ! प्रशासन में जिसे सबसे बड़ा उत्तरदायित्व दिया जाता है, वह है महापणिक...'

'हाँ। स्मरण आया महापणिक ही तो। जमदग्नि उन्हें कक्षोन गांग्य कह कर ही स्मरण करता है सदैव। वह पूर्व में महानदी गंगा तक हो आया है न। उसके अत्युच्च कगारों को देख कर ही उसे यह उपमा सूझी होगी। शत्रु पक्ष का होने पर भी उन्होंने जमदग्नि को प्रचुर दान दिया तथा सुनता हूँ हरयूपिया के किसी पूर्ववर्ती संघर्ष में उसके प्राणों की रक्षा भी की थी'

'यह आप के मित्र की गुणग्राहकता है आचार्य !'

वसिष्ठ ने जैसे नहीं सुना, वह अपने ही ध्यान में मग्न कहते रहे, 'और उसके शौर्य का इतिहास तो शायद आप भी नहीं जानते होंगे।'

इस बार वृबु ने अवश्य उत्सुकता दिखाई, 'वह क्या है ?'

'आपने अभी देवराज के जिस दूत मल्ल श्येन की बात कही थी, जानते हैं वह कौन है ?'

वृबु ने केवल मुस्करा दिया। वशिष्ठ ने कहा, 'वह स्वयम् देवराज थे ! यह मुझे बहुत बाद में विदित हुआ। आपके महापणिक के अदम्य-शौर्य की प्रशंसा से मर्माहत होकर ही उन्होंने उसकी परीक्षा करनी चाही थी। मुहँ की खाकर लौटना पड़ा था न !'

'देवराज इस युद्ध में तो भाग नहीं ले रहे हैं न ?' वृबु ने पूछा।

'क्या खाकर लेंगे ? तब भी इस बार उनका संकल्प बड़ा दृढ़ सुना है। महाराज सुदास को भी उन्होंने इस युद्ध में लड़ने के लिए आमंत्रित किया था। महाराज सुदास मुझसे रुष्ट हों, पर अब भी मेरे मतामत का सम्मान करते हैं। अब अधिक दूर नहीं है सेवक की कुटिया। वह जो उधर नदी-तट पर आम्र-कुंज है न ? बस वहीं पर। और देखिए, यदि आप शीघ्र ही युद्ध-भूमि में लौट भी जाना चाहें तो भी आपको अपना पैर ठीक हो जाने तक तो रुकना ही पड़ेगा न !

मेरा अनुरोध है कि वह समय आप यहीं बिताएँ। जैसा उपचार और परिचार आपको अपने शिविर में मिल सकता है वैसा ही आपको यहाँ पर मिले, मैं इसके लिए पूरा प्रयत्न करूँगा। मेरा पुरस्कार यह है कि मुझे अनायास आपके विचार, आपकी संस्कृति से परिचय का लाभ हो जाएगा।'

'आपकी तुलना में मैं निपट अज्ञ, एक बहुत सामान्य व्यक्ति हूँ ऋषिवर। आप ज्ञान-विज्ञान की साधना में प्रवृत्त हैं। मैं तो अपने तौर पर कर्म और श्रम की ही आराधना करता आया हूँ।'

'यही तो चाहिए। ज्ञान व्यक्ति को अकेला कर देता है, अद्वैत कर देता है, श्रम और कर्म उसे सामाजिक बनाते हैं। अद्वैत, लक्ष्य यह भी है, किन्तु यह तो चरमता का लक्ष्य है। इसीलिए हमारे नए सामाजिक-विधान में नए ऋषियों ने जीवन को चार आश्रमों में विभाजित कर दिया है। अन्तिम संन्यास आश्रम में ही हम सब ओर से दृष्टि हटा कर ज्ञान और निःश्रेयस की उपासना से मोक्ष और यदि आपके श्रमणों की शब्दावली में कहा जाए तो कैवल्य प्राप्त करते हैं। किन्तु इसके भी पहले मानवता का आदर्श स्थापित करने के लिए हमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के आश्रमों को भी अतिक्रमित करना होता है। इन प्रारम्भिक आश्रमों में हमें युद्ध भी करने पड़ते हैं, हिंसा, काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ आदि मानसिक-रिपु ही नहीं, इनके समूर्त-प्रतिनिधि मानव भी हमें ललकारते हैं। महाराज सुदास के साथ मैंने भी युद्ध लड़े हैं, आवश्यकता पड़ने पर अभी लड़ सकता हूँ—पर देखिए, बातों ही बातों में सेवक की कुटिया भी आ गई। कितना कष्ट दिया है हमने आपको ? फिर द्वार की ओर मुहँ करके उन्होंने पुकारा—अरे अरू ! अपनी सहभागिनी को क्या कह कर आपका परिचय दूँ भगवन् ?'

बृबु ने कुछ हिचकिचाहट के साथ कहा, 'मैं विभांडक बृबु हूँ आचार्यवर।'

'ऐं ऽ !—तो आप ही हैं दुर्योण के महापणिक—'

'यह एक व्यर्थ की औपचारिकता है ऋषिवर। कहा था न मैंने ? मैं एक सामान्य-सा पणिक हूँ।'

'अतिथि के रूप में ही नहीं, आत्मीय के रूप में भी आप हमारे पूज्य हैं।-महादेवी मृगम्मदा मेरी मातृष्वसा हैं तात !'

अरुन्धती अर्घ्य लेकर द्वार पर प्रस्तुत हो गई थी। वसिष्ठ ने उसे सम्बोधित कर कहा, 'देखती हो अरु ?—आज कितना वड़ा सौभाग्य है हमारा ?—जिस

तरह उस दिन अचानक भगवती मृगम्मदा-मातृष्वसा ने दर्शन दिए थे, आज उसी तरह महापणिक विभांडक स्वयम् दर्शन देकर हमें कृतार्थ कर रहे हैं ।—और तात, यह है मेरी सहजाता सहधर्मिणी अरुन्धती । इसकी पूजा स्वीकार करें ।'

विभांडक बृबु आचार्य वसिष्ठ का अकृत्रिम हृदयोल्लास देख कर मुग्ध हो गए ।

उधर नायकों के एकाएक रणक्षेत्र से हट जाने के कारण युद्ध की प्रगति स्वतः ही शिथिल हो गई थी, किन्तु कुछ ही समय में पणिकों के शिविर में चिन्ता भी फैलने लग गई थी । सैनिकों ने महापणिक को शत्रुओं के सेनापति का पीछा करते हुए देखा था, स्कन्द भयभीत हो गया था, उसे परास्त करने का अच्छा अवसर था । शायद इसीलिए नायक अहीशुव भी अपने प्रतिद्वन्द्वी को भगा कर स्वयम् महापणिक के पीछे लग गये थे ।—उनमें से अब तक कोई भी तो नहीं लौटा है ! शत्रु अकेला है, और ये हैं दो । दोनों प्रचुर शूरवीर ! यों तो भय या आशंका की कोई बात नहीं है, हो तो शत्रु के लिए ही हो सकती है ।—किन्तु कहीं शत्रु का कोई जाल तो नहीं है ? उनका कोई सशस्त्र-दल उधर कहीं छिपा बैठा हो, और स्कन्द बहेलिया बन कर उन्हें लुभाता हुआ उस जाल तक खींच ले गया हो ! देवराज का पुत्र जयन्त यदि इस स्थिति का लाभ उठा कर आक्रमण तीव्र कर दे ? स्थानापन्न नायक और्णवाभ हर प्रकार की परिस्थिति के लिए तैयार तो है, किन्तु नायकों की बात बिलकुल दूसरी होती है ।—क्या किसीको सामने भेजकर उनकी टोह ले आना उचित नहीं होगा ?—किन्तु अब कोई अश्वारोही कहाँ है उनके पास ? शकट पर जाए तो अनावश्यक शत्रु का ध्यान आकर्षित हो सकता है और बेचारे वृषभ भाग कर भी कितना समय ले लेंगे ?

अभी दो-चार अश्व दुर्योण में हैं ।—कुछ समय तक यदि और वे नहीं लौटते हैं तो दुर्योण यह समाचार भी भेजना होगा । आर्यों का यदि कोई नया दल आ टपका तो हमें भी अपना जन-बल कुछ तो बढ़ाना ही पड़ेगा । वैसे प्रति सन्ध्या को युद्धक्षेत्र के समाचार लेकर एक दूत दुर्योण जाता है । उसके पहले महापणिक और नायक की टोह लगा लेने के लिए और्णवाभ ने एक धावक खोज निकाला, जो पैदल ही उत्तर-दिशा में शत्रु की दृष्टि से यथा-सम्भव बचता हुआ टोह में निकल पड़ा । जब तक वह लौट नहीं आता, तब तक दुर्योण जानेवाले सन्देशवाहक को रोक रखना होगा ।

धावक ने चारों ओर नदी-तट पर घूम-फिर कर देख डाला और इसी खोज-बीन में उसे महापणिक का आहत अश्व दिखाई दे गया।—अश्व सचमुच मृत नहीं हुआ था, बल्कि अहीशुव के अश्व ने उसके घावों को चाट कर उसकी बहुत कुछ प्राकृतिक चिकित्सा सम्पन्न कर दी थी। नदी-तट की खुली स्वास्थ्यकर वायु भी थी। जिस तरह महापणिक उससे लाभान्वित हुए थे, उसी तरह आहत अश्व भी लाभान्वित हुआ था। अतः जब धावक ने उसे देखा, वह वहुत-कुछ स्वस्थ हो चुका था। धावक को देख कर वह उत्साहित हो उठा और हिनहिनाकर उठने का प्रयत्न करने लगा। धावक ने सहायता की तो वह उठ खड़ा हुआ। यह सोच कर कि उपयुक्त चिकित्सा से अश्व पूरी तरह स्वस्थ हो जाएगा और अश्वों की हमें अत्यन्त आवश्यकता भी है, वह उसकी वल्गा थामे अपने साथ ले आया, यद्यपि उसके लँगड़ेपन के कारण उसे शिविर पहुँचने में विलम्ब भी लग गया।

शिविर में बड़ी उत्कंठा के साथ उसकी प्रतीक्षा की जा रही थी और जब वह आहत-अश्व को लेकर अकेला ही लौटा तो स्वाभाविक था कि और्णवाभ की चिन्ता बढ़ जाती। किन्तु उसने साहस नहीं खोया। अहीशुव या अहीशुव का अश्व, दोनों में से कोई नहीं लौटा था, इससे आशा तो की ही जा सकती थी। स्कन्द भी तो नहीं लौटा है। अधिक से अधिक हुआ हो तो यही हो सकता है कि संघर्ष में महा-पणिक का अश्व आहत हो गया हो, और ये दोनों बन्दी बना लिए गए हों। यदि अश्व कुछ बोल सकता तो सब रहस्य प्रकट हो जाता! वह यदि कुछ कहता भी तो सैनिक कहाँ उसकी भाषा जानते थे? जो हो, अभी किसी भी प्रकार के सन्देह को प्रकट नहीं होने देना चाहिए। रात हो गई, अतः सबेरे तक प्रतीक्षा करना उचित होगा। तब तक शत्रु की ओर से भी किसी नई कार्यवाही की आशंका नहीं की जानी चाहिए। और्णवाभ हैं ही। सारे शिविर में पूरी सतर्कता रहेगी, यदि कोई महापणिक को पूछे तो कहा जाए कि वे विश्राम कर रहे हैं। छिपे तौर पर उन दोनों की खोज जारी रहेगी। इस बीच दुर्योण जाने वाले सन्देशवाहक को रोकना उचित नहीं होगा। उसके न पहुँचने पर वहाँ व्यर्थ चिन्ता फैल जाएगी, सम्भव है वहाँ से कोई आ भी पहुँचे। इससे उत्तम यही है कि सन्देहवाहक नियमानुसार जाए। यदि वे पूछें तो समयानुकूल जितना उचित हो उन्हें बता दिया जाए ताकि न तो वे अन्धकार में रहें और न ही व्यर्थ का चिन्ता-भार सहें। हाँ, वहाँ से नए सैन्य-दल के लिए अवश्य अनुरोध करे। महापणिक और नायक के विषय में कुछ न कहा जाए। यदि पूछें तो कह दिया जाय कि शत्रु का पीछा करने के कारण क्लान्त होकर विश्राम कर रहे हैं। दूसरे दिन फिर जैसी परिस्थिति होगी, उसके अनुकूल कार्य किया जाएगा।

सन्देशवाहक के दुर्योण के लिए प्रस्थान करने के एक-दो घटिका बाद अहीशुव भी शिविर में लौट आया। उससे महापणिक का सारा वर्णन सुन कर चिन्ता तो मिटी, किन्तु इसी समय महापणिक को लाने के लिए रथ की व्यवस्था करने पर भी विचार हुआ। वसिष्ठ का आश्रम काफी दूर पर था, और रात के अंधकार में सारथी के मार्ग भटक जाने का भी अन्देशा था। बहुत विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय लिया गया कि महापणिक वसिष्ठ के आश्रम में अधिक सुविधा और स्वास्थ्य-कर वातावरण में हैं वहाँ वे सुरक्षित भी हैं, और आचार्य वसिष्ठ की देख-रेख में उनका उपचार भी वहाँ अधिक अच्छी तरह हो सकेगा। यहाँ शिविर में लाकर उन पर मानसिक बोझ ही लादा जा सकता है। अहीशुव ने इस बीच और्णवाभ द्वारा उठाए हुए कदमों का समर्थन किया। सैन्य-दल में महापणिक की अनुपस्थिति के समाचार को फैला कर और्णवाभ ने उचित ही किया है। दुर्योण अवश्य किसी गुप्तचर के साथ सही सूचना भिजवा दी जानी चाहिए ताकि महादेवी और महाश्रेष्ठि अनावश्यक चिन्तित न हों। इस समाचार को शीघ्र ही भेजने की भी अभी आवश्यकता नहीं है। कल के सन्देश-वाहक के साथ भी यह सूचना भिजवाई जा सकती है। यदि सुविधा और अवसर मिला तो स्वयम् अहीशुव एक बार दुर्योण जाकर सारी स्थिति का नये सिरे से सर्वेक्षण कर सकेंगे।

पणिकों के शिविर में जो प्रतिक्रिया हो रही हो, अँधेरा हो जाने पर शत्रु-दल का सेनापति स्कन्द भी अपने शिविर में लौट आया था। उसने महापणिक के अश्व को और अश्वारोही को पानी में गिरते तो देखा था, किन्तु केवल अश्व ही आहत हुआ या अश्वारोही भी आहत हुआ है और आहत हुआ है तो कितना, यह उसे कुछ भी विदित नहीं हो सकता था। वह लौट कर देखना ही नहीं चाहता था, उसी अवस्था में शर-सन्धान कर शत्रु का वध भी कर देना चाहता था, किन्तु तभी उसके सहायक ने पहुँच कर स्कन्द के सारे प्रयत्न व्यर्थ कर दिए थे। दोनों को एक ही अश्व पर चढ़ कर उसने पश्चिम की ओ बढ़ते हुए भी देखा था। शायद युद्ध-क्षेत्र से दूर-दूर रह कर वे शिविर को लौटे होंगे। नदी पार करने में उसे ही बहुत समय लग गया था, प्रवाह के साथ वह कर वह कितनी दूर चला गया था पूर्व में? लौटा तो उसे वह आहत अश्व भी तो नहीं दिखाई दिया था जो हो, थक वह भी कम नहीं गया है। आज रात को विश्राम कर लेना चाहिए। रात बीत जाए तो प्रातःकाल होते ही नई ब्यूह रचना के साथ युद्ध प्रारम्भ कर देना उचित होगा। कल अवश्य कुछ निर्णायक कदम उठाना चाहिए। देवराज को चिन्ता हो जाना स्वाभाविक है। कल उन्हें अवश्य कुछ शुभ-समाचार भेजना होगा। आज का उसका प्रयत्न व्यर्थ गया तो क्या हुआ?

सैनिक-दूत जब समाचार लेकर दुर्योण पहुँचा तो रात हो चुकी थी। सैनिक कार्यालय मुख्य-द्वार के भीतर ही से आया गया था ताकि रक्षा-पंक्ति पर निरन्तर दृष्टि रहे और आवश्यकतानुसार अविलम्ब सैनिक-गतिविधियों को नियन्त्रित किया जा सके। महाश्रेष्ठि का आवास भी वहाँ से अधिक दूर नहीं था, यद्यपि मृगम्मदा का आवास सरोवर-परिसर नगर के दूसरे भाग में था। किन्तु महाश्रेष्ठि ने उर्वशी के आवागमन की सुविधा के लिए निजी तौर पर एक रथ की व्यवस्था कर रखी थी। मृगम्मदा रथ के प्रयोग को विलम्ब-साध्य ही मानती थी और प्राय: अपने अश्व से ही आती-जाती। यदि कभी कुछ विलम्ब हो गया तो कार्यालय में ही रह जाती! महाश्रेष्ठि मन से चाहते थे कि मृगम्मदा अपने नवजात पुत्र में रुचि ले और युद्ध-कालीन परिस्थितियाँ किसी भी तरह उसकी बाधा या बहाना न बनें। पर उर्वशी का तो वज्र-हृदय ही कहना चाहिए! वह तो पुत्र को जन्म दे कर ही छुट्टी पा गई है। उसने अभी तक अपने पुत्र का मुँह तक नहीं देखा है, और जब भी महाश्रेष्ठि या और कोई उसका प्रसंग उठाता है तो वह उसे ऋष्य श्रृंग अर्थात् वध्य मृग कह कर ही सम्बोधित करती है। यदि वह महाश्रेष्ठि के निकट वचन-बद्ध न हो गई होती तो सन्देह है कि वह अब तक रुकी भी रहती। जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, महाश्रेष्ठि का मन आशंका से भरता जाता है। इतने दिन बीत जाने पर अब शिशु को सिन्धु में प्रवाहित करने या अन्य किसी प्रकार से उसका वध करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, और तब महापणिक बृबु के लौट आते ही चले जाने के उसके निश्चय से कौन उसे विरत कर सकेगा? महापणिक मना सकेंगे इसमें सन्देह ही है। जिसे अपने ही रक्त-मांस के अंश की ममता नहीं है, वह क्या अन्य किसी के ममत्व को किसी भी व्याज से कभी स्वीकार करती?

एक उपाय हो सकता है। शिशु को छिपा दिया जाए और उससे कह दिया जाए कि उसे नष्ट कर दिया गया है। किन्तु यह उपाय यदि शिशु के जन्मते ही काम में लाया जाता तो अधिक विश्वसनीय होता। अब तो मृगम्मदा सन्देह भी कर सकती है। और बिना महापणिक से परामर्श किए तो कुछ किया भी नहीं जा सकता। यदि वे स्वीकार कर लें तो प्रयत्न तो किया ही जा सकता है! जब इतने दिन तक धात्री की व्यवस्था उपयोगी रही है तो आगे भी रह सकती है! धात्रियों का अभाव नहीं होगा। और इतने पर भी अगर उर्वशी चली ही जाना चाहे तो? पर जाएगी कहाँ! इस देश में कौन उसका अपना यहाँ बैठा है! महाश्रेष्ठि मन ही मन ही हँसा। उसका स्वयम् का ही अब इस देश में यहाँ कौन बैठा है? इस युद्ध के प्रसंग के बाद क्या प्रयोजन रह जाएगा उसका यहाँ? बृबु और इस उर्वशी के अतिरिक्त और तो कोई अब उन्हें सम्मान की

दृष्टि से भी नहीं देखेगा ! वणि यदि विश्वासघात न करता तब तो बात ही दूसरी थी। सम्मान ही नहीं, जन-साधारण में तो उनका आतंक भी था। वणि था, तो जीवन में एक सार्थकता भी अनुभव होती थी, स्वर्ण की चमक से आँखों में प्रकाश भरता था ! औरस न हो, पर वणि को उन्होंने अपना पुत्र ही तो मान लिया था ! अब स्वर्ण के प्रति भी मोह कहाँ रहा है ? याकि अवसर के अभाव में वे मन को बहला रहे हैं ? अपने बचाव के लिए वणि ने देवराज के कान भर दिए हैं, नहीं तो तब भी कुछ आशा थी। वृबु पर भी कहाँ तक निर्भर किया जा सकता है ? वह अत्यन्त भावुक है, भावुकता में भर कर वह किसी समय यदि अर्बुद से रुष्ट हो जाए तो ? क्या मृगम्मदा के प्रति अब अनायास ही उनके मन में मोह पैदा हो गया है। आज कुलिशा जीवित रहती तो वह भी उन्हें उतना ही सुख दे पाती। मृगम्मदा का एकान्त जीवन सुख-सुविधा से बीते इतना स्वर्ण उनके पास है, बहुत है। इन्हीं विचारों में खोए कार्यालय-कक्ष के आसन पर बैठे-बैठे ही महाश्रेष्ठि अर्बुद की आँखों में कब झपकी समा गई, उन्हें पता ही नहीं चला। पास के दूसरे कक्ष में शस्त्र-निर्माण का नायक दृमीक और नगर-नायक वृंगद मृगम्मदा से व्यवस्था पर विचार-विमर्श कर रहे थे, वे भी नहीं जान सके कि महाश्रेष्ठि तन्द्रा-मग्न हो गए हैं। जब सन्देश-वाहक दूत पहुँचा तो वह भी क्या करता ? महाश्रेष्ठि की तन्द्रा भंग करने की अपेक्षा वह दूसरे कक्ष में चला गया, और उसने सबके प्रति अभिवादन किया और सामने खड़ा हो गया।

मृगम्मदा ने पूछा, 'बहुत विलम्ब कर दिया दूत ! सब कुशल तो है ?'

'विलम्ब से ही चला था महादेवी, मार्ग में तो बड़ी त्वरा से ही आया हूँ। यों तो कुशल ही है, दुपहर के बाद, कहना चाहिए, रण-क्षेत्र में युद्ध हुआ ही नहीं। हमारे महापणिक शत्रुओं के सेनानायक का पीछा करते हुए बहुत दूर निकल गए हैं। मैं उनके लौट आने की प्रतीक्षा करता रहा, बहुत कुछ विलम्ब तो इसीलिए हो गया महादेवी !'

'वे कुशल से लौट तो आए हैं न ?'

'नहीं महादेवी, मेरे प्रस्थान तक तो वे लौटे नहीं थे। किन्तु और्णवाभ ने कहा है, भय या आशंका की कोई बात नहीं है। नायक अहीशुव भी उनके पीछे-पीछे ही गए हैं।'

'तो क्या अहीशुव भी नहीं लौटा है ?' महादेवी के चिन्तातुर-स्वर की उग्रता से पास के कक्ष में अर्बुद की तन्द्रा भी भग्न हो गई। आँखें मलते हुए वे भी इसी कक्ष में चले आए और उन्होंने पूछा——

'दूत आ गया युद्ध-क्षेत्र से महादेवी ?—बड़ी देर लगा दी आज। युद्ध क्षेत्र के क्या समाचार हैं ?'

'समाचार शुभ नहीं हैं महाश्रेष्ठि ! शत्रु-सेनानायक का पीछा करते हुए महापणिक और नायक अहीशुव दोनों कहीं बहुत दूर निकल गए हैं और अभी तक नहीं लौट पाए हैं।' मृगम्मदा ने कहा।

दूत ने कहा—'महादेवी, शत्रु का सेनापति भी अभी तक नहीं लौटा था ! ऐसा प्रतीत होता है कि पीछा करते-करते वे काफी दूर निकल गए !'

'किन्तु यह क्या अच्छी रण-नीति है ?' मृगम्मदा ने कहा—'युद्ध में सर्वोच्च नायक को सदा सेना के केन्द्र में रहना चाहिए, ताकि प्रत्येक सैनिक को बल तथा प्रेरणा मिलती रहे। महापणिक बहुत शीघ्र भावुक हो जाते हैं। मैं बहुत चिन्तित हो गई हूँ महाश्रेष्ठि !'

'यदि दूत कहता है, चिन्ता की कोई बात नहीं है तो फिर भय कैसा महादेवी ? जैसा कि वह कहता है, वे पीछा करते-करते दूर निकल गए होंगे।'

'दूत के कहने का क्या है महाश्रेष्ठि ? वह तो, और्णवाभ ने जैसा कहा होगा, वैसा कह देगा ! आर्यों के दल में तो नायकों का अभाव नहीं है, और उनकी तो सेना की सम्पूर्ति भी बराबर होती रहती है। क्यों दूत ? तुम्हीं कहते थे न कि एक नया दल तो कल ही उनमें सम्मिलित हुआ ?'

दूत ने जैसे स्मरण करते हुए कहा—'हाँ महादेवी, नायक और्णवाभ ने कम-से-कम एक और गुल्म के संवर्धन के लिए निवेदन किया है।'

मृगम्मदा ने सहसा पूछा—'यह नया नायक, देवराज का पुत्र जयन्त कैसा है दूत ?'

'साधारण-सा ही है महादेवी। आज हमारे नायक अहीशुव से उसकी भिड़न्त हो गई थी। थोड़ी ही देर में उसे दुम दबा कर शिविर लौट जाना पड़ा। हाँ, उनका वह सर्वोच्च नायक स्कन्द अवश्य वीर है, किन्तु महापणिक ने आज उसके भी छक्के छुड़ा दिए, उसे रण-क्षेत्र से भाग जाने को विवश किया, और तब भी उसका पीछा नहीं छोड़ा है।'

महाश्रेष्ठि ने कहा—'तब भय की क्या बात है महादेवी ?'

'ऐसी युक्तियों में जाल भी बिछे रहते हैं महाश्रेष्ठि। स्कन्द यदि पराजित ही हो रहा था तो पीछे हटकर वह अपने शिविर ही में जाता, वहीं वह अधिक सुरक्षित हो सकता था। महापणिक की क्या आश्यकता थी उस अकेले का पीछा करने की ? यह क्या कोई द्वन्द्व है या व्यक्तिगत युद्ध है ? मान लीजिए, यदि दूर

कहीं घात में उनका पूरा दल बैठा हो और स्कन्द उनको छल-कौशल से उसी दिशा में खींचे लिए गया हो ?'

महाश्रेष्ठि ने भी चिन्तित होकर कहा--'देखिए, मैं तो युद्ध की इन युक्तियों को समझता नहीं हूँ। किन्तु महापणिक की बुद्धि और शौर्य में मुझे तनिक भी अविश्वास नहीं है और जब और्णवाभ की यह राय है....'

'और्णवाभ को अभी अनुभव कहाँ है महाश्रेष्ठि ? उसने संवर्धन की माँग भी की है। वृंगद, तुम प्रातःकाल तक एक गुल्म के सन्नद्ध होने की व्यवस्था कर दो। मैं स्वयं उसका नेतृत्व करूँगी और मेरा अश्व भी तैयार रहे।'

'आप नेतृत्व करेंगी महादेवी ?' वृंगद ने पूछा और फिर महाश्रेष्ठि की ओर साभिप्राय देखा।

'आप अभी कैसे जा सकेंगी महादेवी ?' व्यंग्य से मुस्करा कर अर्बुद ने कहा—'अभी कुछ ही दिन तो हुए हैं आपको प्रसव से उठे।'

'ओह महाश्रेष्ठि' आप तो तिल का ताड़ बना देते हैं। कितनी बार मैंने आपसे निवेदन किया है कि आप इसे भूल जाइए। मैं भूल चुकी हूँ, किन्तु आप बार-बार सोए घाव को कुरेद-कुरेद कर फिर से हरा करना चाहते हैं। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ, इतनी स्वस्थ मैं पहले कभी न थी !'

'महादेवी, मुझे समझने में भूल न करें। घाव कुरेदने का मेरा तात्पर्य कभी नहीं है। आप स्वस्थ हैं, इसी में तो हमें निर्भय रहने का आश्वासन है। किन्तु मुझे क्षमा करें, अभी मैं कोई ऐसी परिस्थिति नहीं देखता कि आप इतनी चिन्तातुर होकर स्वयं युद्धभूमि में जाएँ। महापणिक अब तक अवश्य लौट आए होंगे। और्णवाभ ने कहलवाया है तो एक गुल्म बृंगद के नेतृत्व में प्रातःकाल युद्धक्षेत्र चला जा सकता है। कल तक आप और प्रतीक्षा कर लें, तब तक मह पणिक के सकुशल लौट आने का समाचार अवश्य मिल जाएगा। क्यों दमीक, तुम क्या कहते हो ?'

'आपके कथन से मैं पूरी तरह सहमत हूँ महाश्रेष्ठि। महादेवी के युद्धक्षेत्र में अभी जाने की कोई आवश्यकता नहीं है, औचित्य भी नहीं है।'

'और वृंगद, तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?' महाश्रेष्ठि ने पूछा।

'मुझे आप युद्धभूमि में जाने का अवसर दें महादेवी ! मैं स्वयं आश्वासन देता हूँ कि युद्धक्षेत्र में पहुँचते ही मैं स्वयं महापणिक के दर्शन करूँगा और आपको सूचना प्रेषित करूँगा।'

बहुमत के आगे मृगम्मदा को झुकना पड़ा। दूसरे दिन प्रातःकाल ही एक और प्रशिक्षित गुल्म बृंगद के नेतृत्व में युद्धक्षेत्र के लिए चल पड़ा।

दूसरे दिन इधर आर्यों ने नए संकल्प के साथ आक्रमण प्रारम्भ कर दिया था। उनकी सेना में एक नया दल पहले ही था। उनके पास इतना अधिक सैन्य-दल था कि वे दो भागों में बँट कर बारी-बारी से युद्ध करते। एक दिन एक भाग युद्ध करता, तब तक दूसरा भाग विश्राम करता। दूसरे दिन विश्राम कर चुका दूसरा भाग ताजा होकर युद्ध में पिल पड़ता और पहला दल का थका भाग विश्राम के लिए चला जाता। किन्तु आज सारी सेना जुट कर आक्रमण पर तुल गई है। पणिक भी बड़ी दृढ़ता के साथ जमे हुए शत्रु का प्रतिरोध कर रहे हैं और तब तक बृंगद का नया गुल्म भी पहुँच कर तत्काल समर-भूमि में जूझ पड़ा है। बृंगद को अवकाश ही नहीं मिला कि वह महापणिक का पता लगाकर उनका दर्शन करे। युद्ध करते-करते ही कुछ साथी सैनिकों से पूछताछ कर उसने इतनी ही सूचना प्राप्त की कि महापणिक कल के अभियान में कुछ आहत हो गए हैं, किन्तु क्लान्त बहुत हैं और अपने निजी पट-वेश्म में विश्राम करते हुए ही युद्ध का संचालन कर रहे हैं। वैसे भय या आशंका की कोई बात नहीं है। संन्ध्या होते-होते शत्रु का दबाव और भी बढ़ गया और सुरक्षा के लिए पणिकों को कुछ और पीछे हट जाना पड़ा। कुछ तो इस कारण से और कुछ यह सोच कर कि सही सूचना पाकर दुर्योण में कहीं आतंक न फैल जाए, या महापणिक की अनुपस्थिति को लेकर महादेवी या महाश्रेष्ठि कुछ अन्यथा कल्पना न कर लें, उन्हें कोई सूचना ही नहीं भेजी गई। मिथ्या सूचना भेजने की अपेक्षा यही हितावह समझा गया।

उधर दुर्योण में देर रात गए तक भी जब कोई सूचना नहीं प्राप्त हुई तो सबका चिन्तित हो जाना स्वाभाविक था। मृगम्मदा का मन तो अस्वस्ति की सीमा तक पहुँच गया। वह सारी रात कार्यालय में ही बेचैन बैठी रही। रात किसी तरह बीती, तो दूसरा दिन बिताना दूभर हो गया। रह-रह कर वह स्वयं द्वार के बुर्ज पर चढ़ कर युद्धक्षेत्र की दिशा में दूर दिगन्त तक आँखें फाड़-फाड़ कर देख आती, कि उधर से उसे किसी सम्वाद का कोई संकेत मिल जाए। तीसरे पहर तक एक गम्भीर रूप से आहत सैनिक अर्ध-चेतन अवस्था में एक शकट पर लाद कर लाया गया था। उससे केवल इतना ही विदित हो सका कि महापणिक और नायक अहीशुव देर रात गए शिविर को लौट आए थे। यह भी उसने बोल कर नहीं, केवल सिर झुका कर संकेत से ही बताया था। जब उससे बार-बार पूछा गया कि क्या उसने स्वयं उन्हें अपनी आँखों से देखा है? अहीशुव के सम्बन्ध में तो फिर भी उसने स्वीकार सूचक सिर झुकाया, किन्तु महापणिक के सम्बन्ध में सिर हिला कर ही अस्वीकृति प्रकट की थी। मृगम्मदा तो उसी समय युद्धक्षेत्र के लिए प्रस्थान करने पर तुल गई थी, किन्तु महाश्रेष्ठि और दमीक ही ने नहीं, सरोवर-परिसर की

अप्सराओं ने भी समझाया तब कहीं वह प्रातःकाल तक रुक कर प्रतीक्षा करने के लिए सहमत हुई। इस बीच में द्मीक ने यह भी अनुरोध किया कि जब उन्हें जाना अनिवार्य ही हो जाए तो वे भी अपने साथ कुछ प्रशिक्षित सैनिकों का एक दल ले जाएं। मृगम्मदा को तत्पर देख कर इस बार महिला-वाहिनी ने उनके साथ जाने की तैयारी कर डाली। किन्तु मृगम्मदा ने ही उनको समझाया कि आर्यों जैसे बर्बर शत्रु के सामने महिला-वाहिनी को अभी आक्रमणात्मक युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए, और वैसे भी उनकी नगर की प्रतिरक्षा के लिए बहुत आवश्यकता है। बहुत सम्भव है कि यह युद्ध दुर्योण के द्वार तक आ ही पहुँचे और तब उन्हें भी अपना शौर्य दिखाने का प्रचुर अवसर मिलेगा।

उस दिन सन्ध्या को भी जब निश्चित सूचना नहीं मिली तो प्रातःकाल होते ही मृगम्मदा ने अपना सैनिक वेश सजाया और अश्व पर आरूढ़ होकर युद्धक्षेत्र के लिए द्वार पर आ खड़ी हुई। बिदा देने के लिए न केवल महाश्रेष्ठि और द्मीक तथा अन्य सैनिक अधिकारी ही उपस्थित थे, बल्कि सरोवर-परिसर की अप्सराएँ और नगर के अन्य कई स्त्री-पुरुष भी उपस्थित थे। महाश्रेष्ठि ने मृगम्मदा के पुत्र को लिए उसकी धात्री को भी सबके आगे खड़ा कर दिया था। मृगम्मदा ने एक-एक कर सबसे बिदा ली। मुस्करा कर कहा—'क्या आप लोग सोचते हैं कि मैं युद्धक्षेत्र से वापिस नहीं लौटूंगी? मैं शीघ्र महापणिक और अपनी सेना के साथ विजयी होकर लौटूंगी, आप पशुपतिनाथ से यही प्रार्थना करें। और मुझे विश्वास है आपका स्नेह मुझे इतनी सरलता से छोड़ेगा नहीं।' उसने फिर मुस्करा कर सहज भाव से सबको अभिवादन किया, किन्तु एक बार भी उसने अपने पुत्र की ओर नहीं देखा। कहा नहीं जा सकता, महाश्रेष्ठि की आँखें मृगम्मदा की इस निष्ठुरता से भर उठी थीं या कि स्वयं मृगम्मदा के लिए भर उठी थीं। मृगम्मदा देखते-देखते सामने मार्ग पर अदृश्य हो गई थी।

जब मृगम्मदा युद्धक्षेत्र में पहुँची तो वहाँ भीषण मारकाट मची हुई थी। युद्ध अपने चरम रूप में था। अश्व पर आरूढ़ महादेवी को सैनिकों ने एक नवशिक्षित अधिकारी ही समझा। उसकी ओर ध्यान देने का किसी को अवकाश ही नहीं था। कुछ देर उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ा कर स्वयं परिस्थिति समझने की चेष्टा की। फिर पास से भागे जा रहे एक सैनिक को रोक कर उससे युद्ध के बारे में नवीनतम सूचना चाही। जितना कुछ उससे मालूम हो सका वह यह था कि और्णवाभ मारा जा चुका है। वृंगद कुछ समय पूर्व ही आहत होकर शिविर में विश्राम के लिए भेज दिया गया था। 'महापणिक?' युद्ध की विभीषिका से सैनिक अपने आपे में नहीं था, कुछ-कुछ कटु भी हो गया था, व्यंग्य से बोला, 'महापणिक?

महापणिक हम जन-साधारण को युद्धाग्नि में झोंक कर किसी विश्राम घर की सुख-शय्या पर लेटे हुए अपने हाथ सेंक रहे होंगे....'

'पर किस जगह विश्राम कर रहे हैं ?'

'वह क्या कहीं इस संकट-भूमि के पास होगा ? कहते हैं, शिविर में हैं। और शिविर इस बीच दो बार पीछे हट चुके हैं। यहाँ होते तो कम-से-कम दिखाई तो दे ही जाते न !'

'और तुम्हारे नायक अहीशुव ?'

'बस। उन्हीं के बल-बूते पर अभीतक सेना जमी हुई है, नहीं तो कभी की उखड़ नहीं जाती ? वे और कहाँ होंगे, वहीं तो होंगे जहाँ शत्रु का सबसे अधिक जमाव होगा ! बेचारे आहत तो वे भी हो गए थे, मैंने उन्हें कुछ ही समय पहले तो जल पिलाया था पर अपनी बिलकुल चिन्ता न करते हुए वे ही शत्रु को दीवार बन कर रोके हुए हैं।'

मृगम्मदा ने और अपेक्षा नहीं की। कोश से खड्ग निकाल लिया। कटि को और भी कस कर बाँध लिया। और अश्व को एँड़ लगाकर वह शत्रु की सेना में निश्शंक घुस पड़ी। बरसों की सोई हुई उसकी रण-लिप्सा अवसर देख कर फुंकार कर उठी। उसके अदम्य उत्साह और फड़कते हुए सधे हाथ के आगे शत्रु या तो कट कर या हट कर उसे मार्ग देने लगे ! जिधर वह मुड़ती उधर ही दूर तक उसका मार्ग स्वतः ही प्रशस्त हो जाता। हताश पणिकों में इस नए अश्वारोही नायक ने मानों अकस्मात् आकाश से प्रकट होकर नए प्राण फूंक दिए। और ठीक क्षण पर ही अहीशुव को उसके वहाँ पहुँच जाने का लाभ मिला। यदि कुछ ही क्षणों का और विलम्ब हो जाता तो स्कन्ध झपट कर उसके प्राण ले ही चुका होता। अहीशुव पहले ही बहुत आहत हो चुका था, उसमें अब आत्म-रक्षा की शक्ति भी शेष नहीं रह गई थी, और वह चारों ओर से शत्रुओं द्वारा इस तरह घेर लिया गया था कि उसके लिए निकल भागने का कोई मार्ग ही नहीं था। मृगम्मदा के हाथ का खड्ग ठीक समय पर स्कन्द के अश्व की गर्दन पर गिरा और स्कन्द औंधे मुँह नीचे जा गिरा। स्कन्द के अन्य साथी व्याकुल हो गए और इसी बीच मृगम्मदा के संकेत से एक सैनिक अहीशुव के अश्व की वल्गा थाम कर उसे घेरे से बाहर निकाल ले गया। मृगम्मदा के खड्ग ने कुछ और दाँव पेंच दिखाए तो शत्रु भी तितर-बितर हो गए, कुछ ही क्षणों मे शत्रु के सैनिक अपने-अपने शिविरों को लौटने लगे। यही बहुत हुआ कि वे ठीक समय पर अपने गिरे हुए नायक को उठाकर सुरक्षित स्थान तक पहुँचाने में सफल हो गए। सन्ध्या भी तब तक न केवल शत्रुओं के मन पर, किन्तु बाह्य वातावरण पर भी छाने लग गई थी।

पणिकों में उत्साह भर गया था, किन्तु आर्य-सैनिक साहस खो चुके थे। इस नए नायक का आतंक फैलता जा रहा था। इसके पहले कि उनका मनोबल गिर जाए, आर्यों के नायक ने अपने सैनिकों को शिविर में लौट आने के आदेश प्रचारित कर दिए। इस नए नायक के आकस्मिक आक्रमण से आर्य आज की जीती हुई बाजी हार गए। शिविर लौट कर समस्त वस्तुस्थिति का पर्यवेक्षण करने की मृगम्मदा को जल्दी थी। अँधेरा हो, इसके पहले ही दोनों सेनाएँ अपने-अपने शिविर को लौट गईं और उस दिन का युद्ध बन्द हो गया।

इस बीच पणिकों के दल में सभी सैनिक एक कान से दूसरे कान जान गए थे कि उनका नया सेनानायक और कोई नहीं, पुरुष-वेश में दुर्योण की सर्वजन-अभिनन्दिता उर्वशी महादेवी मृगम्मदा है। वे उनमें अब तक अपने अप्रतिम सौंदर्य, मधुर आकर्षक नृत्य-संगीतादि कलाओं, तथा. दया, करुणा, उदारता आदि सद्गुणों के लिए ही प्रख्यात थीं। आज अनायास उनका प्रखर तेज, और अप्रतिम शौर्य भी प्रमाणित हो गया। रणक्षेत्र में खड्गहस्त होकर वे ऐसी प्रचंड चंडिका भी हो सकती हैं. इसकी वे कल्पना भी नहीं करते थे। देखते-देखते वे उनकी आराध्या देवी बन गईं, जिनके संकेत पर अपने प्राण न्यौछावर कर देना वे अपने लिए सौभाग्य समझते। उन्हें शीघ्र ही मार्ग दिखाया गया और आदेशानुसार उन्हें अहीशुव के शिविर में पहुँचा दिया गया।

शय्या पर लेटा हुआ अहीशुव महादेवी को द्वार पर देखते ही उठने की चेष्टा करने लगा तो मृगम्मदा ने उसे रोकते हुए कहा, 'नहीं नहीं अहीशुव, तुम्हें उठने की आवश्यकता नहीं है। तुम आहत हो और ये औपचारिकताएँ घर पर ही भली लगती हैं। देखती हूं, तुम तो जगह-जगह क्षत-विक्षत हो गए हो। कहीं विशेष गम्भीर क्षत तो नहीं लगा है?'

अहीशुव उठ ही बैठा, और अपने पास ही महादेवी को बैठने का संकेत करते हुए बोला, 'आपने ही समय पर पहुँच कर मेरी प्राणरक्षा की है महादेवी। मैं तो पहले ही आपके उपकारों से....'

'उसे भूल जाओ अहीशुव, हम सभी एक ही उपकार में बँधे हुए हैं, और वह है दुर्योण का उपकार। मैं सोचती हूँ, तुम्हें आज ही दुर्योण लौट जाना चाहिए, इन क्षतों की समुचित-चिकित्सा वहीं पर हो सकेगी। वृंगद भी यदि ऐसा ही आहत हो तो वह भी तुम्हारे साथ ही चला जाए। मैं उसे भी स्वयं देखने जा रही हूँ।'

'हमारी चिन्ता आप ही न करेंगी तो और कोन करेगा महादेवी? आप तो हमारी साक्षात् मातृदेवी हैं। किन्तु आप दुर्योण को असहाय छोड़ कर कैसे चली आईं?'

'दुर्योण तुम लोगों को लेकर ही दुर्योण है अहीशुव! अश्ममयी दीवारें, जिह्मबार द्वार, या ईंट-मिट्टी से बने खाली प्रासाद दुर्योण नहीं हैं। जहाँ हम सब हैं, वहीं तो दुर्योण है। तब भी वह असहाय नहीं है, महाश्रेष्ठि हैं, और पर्याप्त सेना के अतिरिक्त अभी तो पूरी महिला-वाहिनी वहाँ मरने-मारने के लिए सन्नद्ध है!'

'महाश्रेष्ठि? क्या उन पर पूर्णतः निर्भर किया जा सकता है महादेवी?'

'तुम देखोगे, वे बहुत बदल गए हैं और निर्भर होकर हम उनसे आशा ही क्या कर सकते हैं? किसी सैनिक-दायित्व को वहन करना तो उनके बस का है नहीं। अच्छा, महापणिक को नहीं देख पा रही हूँ। वे कहाँ हैं, कैसे हैं? मैंने तुम पर उनका अतिरिक्त दायित्व दिया था।'

मुस्करा कर अहीशुव ने कहा, 'स्वयं महापणिक प्रमाण देंगे महादेवी, कि मैंने उस दायित्व के पालन में किंचित् भी प्रमाद नहीं किया है। वे अवश्य यहाँ नहीं हैं -- सैनिकों का कहीं मनोबल न गिर जाए इसलिए उनकी अनुपस्थिति को यहाँ छिपा रखा गया है। पैर में उनके कुछ अस्थि-च्युति हो गई है, नहीं तो वे एकदम सकुशल हैं। यहाँ रहने से वे स्वयं भी विश्राम करना न चाहते, और पूरा विश्राम मिलता भी नहीं...'

उतावली होकर मृगम्मदा ने कहा, 'वह मैं समझती हूँ अहीशुव, पर तब वे हैं कहाँ?'

'महाराज सुदास के कुल-पुरोहित आचार्य वसिष्ठ के आश्रम में। आप भी तो उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुकी हैं न?'

'आचार्य वसिष्ठ का आश्रम? पर वह तो बहुत दूर असिक्नी के तट पर है।'

'आपने सुना नहीं क्या, वह आश्रम तो हमारे आचार्य गाधि के पुत्र कान्यकुब्जेश्वर विश्वरथ ने जला कर नष्ट कर दिया था'

'मैंने सुना है। और यह भी कि महाराज सुदास उनसे रुष्ट हो गए हैं।'

'महाराज सुदास ही नहीं महादेवी, देवराज इन्द्र भी शायद अब उनसे सन्तुष्ट नहीं हैं। इसीलिए कहीं अन्यत्र चले जाने के लिए वे स-परिवार प्रवास पर निकल पड़े हैं, और इस समय उन्होंने अपना अस्थायी आश्रम इधर पश्चिम में शतद्रु के तट पर स्थापित किया हुआ है। लौटते हुए हम तो वहाँ संयोग से ही पहुँच गए थे...'

'तुम भी तो साथ ही थे न? कितना दूर है यहाँ से?'

'स्वयं पहुँचा कर आया हूँ न। होना चाहिए यही दो और तीन योजन के बीच। नहीं, आप आराम से बैठिए। आहत अवश्य हूँ किन्तु हतमनस्क नहीं

हूँ। मैं स्वयं ही आपकी सेवा में उपस्थित होकर सब वर्णन सुनाना चाहता था, किन्तु क्या करूँ आर्यों के इन आकस्मिक आक्रमणों से अवकाश ही नहीं मिल पाया। बल्कि, आज तो मैंने निश्चय भी कर लिया था कि थोड़ा अँधेरा होते ही निकल पड़ूँगा, किन्तु एक तो यही आहत हो गया हूँ, और भी आप स्वयं ही यहाँ आ गई हैं। उधर महापणिक भी चिन्ता कर रहे होंगे। मैंने उन्हें आश्वस्त किया था कि यहाँ पहुँचते ही रथ की व्यवस्था करके उन्हें यहाँ बुलवा लूँगा। अब आप ऐसा करें कि रात भर तो यहाँ विश्राम कर लें और प्रातःकाल होने के पहले यहाँ से प्रस्थान कर जाएँ वसिष्ठाश्रम के लिए! एक सैनिक आप के साथ चला जाएगा। आप यदि महापणिक को वहाँ कुछ दिन रुके रह कर विश्राम के लिए प्रेरित कर सकें तो यह उनके लिए ही नहीं, दुर्योण के भविष्य के लिए भी बड़ा हितकर होगा!'

'अभी वे वहाँ हैं तो तत्काल उन्हें प्रेरित करने की वैसी क्या आवश्यकता है? अवसर हुआ तो वह भी किया जा सकेगा! किन्तु इस समय तो तुम्हें दुर्योण जाकर अपनी चिकित्सा करवा लेनी चाहिए।'

'नहीं महादेवी, ऐसा कोई गम्भीर क्षत नहीं है। आज रात के विश्राम के बाद तो कल मुझे पुनः स्कन्द का ऋण व्याज सहित लौटाना है!'

'वह बहुत कुछ तो मैंने चुका दिया है अहीशुव। अब तो मेरा ऋण है तुम पर। इस शरीर को पूर्णतः स्वस्थ कर आओ, तब मुझसे उऋण हो सकोगे। अच्छा, तुम मुझे इस बीच महापणिक का पूरा हाल कह सुनाओ। वे कहाँ कैसे आहत हुए? आचार्य वसिष्ठ ने उनका किस तरह स्वागत किया? उनकी पत्नी अरुन्धती कैसी हैं? मुझे कभी स्मरण करते हैं वे?'

'यह सब जानने के लिए मैं रुका नहीं रह सका महादेवी! मुझे वैसे ही बहुत विलम्ब हो चुका था। हम दोनों ही सैन्य-दल से अधिक अनुपस्थित नहीं रह सकते थे।' और फिर अहीशुव ने महापणिक और उसके साथ घटी उस दिन की सारी घटनावली कह सुनाई।

महादेवी मृगम्मदा ने उठते हुए कहा, 'तो अहीशुव, तुम शीघ्र दुर्योण जाने के लिए तैयार हो जाओ। मैं वृंगद को देखने जाती हूँ। उसे भी तुम्हारे साथ ही चले जाना चाहिए।'

'यह कैसे हो सकता है? आप यहाँ अकेली रहेंगी?'

मुस्करा कर मृगम्मदा ने कहो, 'अकेली कहाँ हूँ? यह अपनी सारी सेना जो है! और अब यहाँ वरिष्ठ नायक कौन है?'

'वृंगद के बाद तो अब नायक कुरल ही है महादेवी।'

'वही शीघ्र ही उत्तेजित हो जाने वाला नवयुवक न ? बहुत अच्छा ओजस्वी नवयुवक है ! तुम मेरी और यहाँ की चिन्ता बिलकुल छोड़ दो। मेरे हाथ की मुट्ठियाँ कई बरसों से निष्क्रिय पड़ी ऐंठ गई थीं; जब से उन्होंने खड्ग की मूठ छुई है, वे रह-रह कर कसमसा उठती हैं। उनकी प्यास अब बुझानी पड़ेगी। कुरल कहाँ मिलेगा अभी ?'

'किन्तु महादेवी, वह तो अभी अनुभव-हीन है।'

'अनुभव तो युद्ध करने से आएगा न। यदि इतने ही उत्सुक हो तो स्वयं वहाँ का स्थानीय दायित्व सम्हाल कर दमीक को यहाँ भेज देना। सक्रिय युद्ध के लिए वह भी बड़ा उत्सुक है। अब तुम्हें महापणिक के बारे में भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। अवसर पाते ही मैं स्वयं वसिष्ठाश्रम हो आऊँगी।'

यही व्यवस्था की गई। अहीशुव और वृंगद दोनों एक ही रथ में उसी रात दुर्योण समुचित उपचार के लिए भेज दिए गए। युद्धक्षेत्र का सम्पूर्ण दायित्व मृगम्मदा ने सम्हाल लिया। दायित्व जब सन्हाल लिया तो विश्राम का प्रश्न ही कहाँ था ? नव-नियुक्त नायक कुरल को लेकर वह देर रात तक शिविर में घूम-घूम कर प्रत्येक सैनिक से मिली, उनका कुशल-क्षेम और कठिनाइयों के बारे में पूछताछ की, और उनका विश्वास प्राप्त किया। इसके बाद उसने गुल्म-नायकों को बुलाकर अपनी व्यूह-योजना समझाई। उसने स्पष्ट किया कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा करने के स्थान पर स्वयं ही आक्रमण कर देना चाहिए, ताकि उचित स्थान, समय और संघर्ष के प्रकार की सुविधा मिल सके। विजय के लिए ये तत्व बड़े महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि पणिकों ने इस बार नगर के बाहर बहुत दूर निकल कर शत्रु का सामना करने की नई परम्परा डाली है, और इसका लाभ भी मिला है, किन्तुं तब भी उनकी भूमिका प्राय: प्रतिरक्षात्मक ही रही है। यों तो युद्धभूमि में तत्परता तो दिन-रात अनवरत बनाए रखनी ही होती है, तब भी प्रातःकाल नित्यक्रियाओं आदि के लिए कुछ शैथिल्य एक नियम-सा बन गया है। मृगम्मदा ने इस स्थिति का लाभ उठाकर अपना प्रभाव जमा देने के लिए अपने सैन्य दल को तैयार कर लिया। दूसरे दिन सूर्योदय से बहुत पहले पणिकों का दल आर्य स्कन्धावार पर निर्मम होकर टूट पड़ा। दो दिनों के अनवरत युद्ध के कारण, तथा जिस विश्राम की उन्हें युद्धक्षेत्र में भी सुविधा और अपेक्षा हो गई थी, वह न मिलने के कारण, आर्य न केवल क्लान्त ही थे, वे कुछ-कुछ क्षुब्ध भी थे। गई सन्ध्या को पणिकों के उस नए नायक ने अपने अपूर्व शौर्य से इन्हें तन और मन दोनों से विश्रृंखलित कर दिया था, और आज तो वे बलात् विश्राम करने के मनोभाव में थे। इस सर्वथा अप्रत्याशित और आकस्मिक आक्रमण से आर्य सेना

एकदम वित्रस्त हो गई। जब तक वे सम्हल पाएँ, उनके आत्रे से अधिक अश्व और बहुत बड़ी संख्या में सैनिक मार डाले गए। उनमें हाहाकार मच गया। सैनिक अपने शस्त्रास्त्र जहाँ-तहाँ छोड़ कर प्राण लेकर भागने लगे। उन्हें किसी तरह रोक रखने के उनके सेनापतियों के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए। सूर्योदय होने तक पणिकों ने गए दो दिनों में खोई हुई अपनी सारी भूमि पुनः हस्तगत कर ली। उनको शत्रुओं द्वारा छोड़ दिए गए शस्त्रास्त्रों का विपुल भंडार भी अनायास प्राप्त हो गया। पणिकों में प्रसन्नता की अभूतपूर्व लहर आत्म-विश्वास बन कर फैल गई। नए सेनापति के जय-जयकार से आकाश गुंजित हो उठा। आगे अपरिचित भूमि में युद्ध का जोखिम उठाना उचित न समझ कर पणिक शत्रु की घात में वहीं रुक गये। शत्रु को तत्काल आक्रमण करने का साहस ही नहीं रहा!

काफी प्रतीक्षा के बाद भी जब शत्रु का कोई प्रत्याक्रमण नहीं हुआ तो मृगम्मदा ने अपने दल को सतर्क कर दिया कि बहुत सम्भव है शत्रु अभी कुछ भी हलचल न करें, किन्तु रात के अँधेरे का तथा उन्हीं की तरह आकस्मिकता का लाभ उठाने का प्रयत्न कर सकते हैं। ऐसी आशंका का सफलता के साथ सामना करने की मृगम्मदा ने विशिष्ट व्यूह-रचना की, जिसमें शत्रु स्वयं ही फँस जाए। सभी सैनिकों को छोटे-छोटे दस समूहों में बाँट दिया गया। सन्ध्या का अन्धकार होते ही केवल दो समूह शिविरों में रह गए। शेष समूहों में से चार समूह अलग-अलग पूर्व की ओर तथा वैसे ही चार समूह पश्चिम की ओर भेज दिए गए। आधा योजन चले जाने पर दोनों दलों को कुछ-कुछ दूरी रखते हुए उत्तर की ओर फैल जाना था, ताकि बिना किसी सन्देह के शत्रु की सेना चारों ओर से घिर जाए। इधर शिविर में दो दल विजयोन्माद का अभिनय करेंगे ताकि शत्रु की सेना उनपर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित हो उठे। मृगम्मदा स्वयं शिविर में रह कर उनके आक्रमण का सामना करेगी और तब अँधेरे में मशाल का निश्चित संकेत देखते ही वे चारों ओर से शत्रु पर टूट पड़ेंगे। मृगम्मदा का अनुमान यथार्थ निकला और उसकी योजना अत्यन्त सफल रही। इस रात्रि-युद्ध में आर्य सेनापति स्कन्ध को ऐसी मुँह की खानी पड़ी कि यदि उसे विगत असुर-युद्धों से अपनी विजयों के यश की चिन्ता न होती तो वह कभी का भाग खड़ा होता।

आर्यों के इस अभियान में वणि को भी आना पड़ा था। एक तो इन नए सेनापतियों के लिए स्थानीय भूगोल जानने वाले किसी विश्वस्त व्यक्ति की आवश्यकता थी, और दूसरे इसी बहाने देवराज को उसकी नई स्वामि-भक्ति की परीक्षा का अवसर भी था! अवश्य ही पहचान लिए जाने के भय से वह सदा छद्मवेश में रहता, तथा उसकी सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध था। वह भी पणिकों की इस नई रण-

नीति और सेना के ऐसे अनपेक्षित पुष्ट-संगठन को देख कर स्तम्भित हो गया था, किन्तु जब उसे नए सेनापति के रूप-रंग आदि के बारे में बताया गया तो उसे निश्चय हो गया कि सेलकेत की परम्परा में वह उवर्शी मृगम्मदा ही हो सकती है। महापणिक बृबु के बारे में अवश्य वह निश्चित नहीं था कि वे कहाँ हैं, यद्यपि यह तो लगभग निश्चित था कि वे अपने शिविर में नहीं हैं।

वणि ने अपने संरक्षकों को यह विश्वास दिला दिया कि मृगम्मदा रण-नीति में अत्यन्त कुशल है, इस विषय की उसकी शिक्षा-दीक्षा सुदूर उत्तर में उफ्रातु-तट के अनेक समृद्धतर देशों में सम्पन्न हुई है, जिसका कुछ प्रमाण इन दो दिनों में ही मिल चुका है। उसकी विद्यमानता में रक्षा-पंक्ति को उच्छिन्न करना कदापि सरल नहीं होगा। स्कन्द चाहता था कि युद्ध जल्दी से जल्दी समाप्त हो। विलम्ब से एक तो उसकी सेना का मनोबल क्षीण होता जा रहा था, दूसरे देव-सेनापति के रूप में अर्जित उसकी कीर्ति धूमिल होती जा रही थी, और देवराज की दृष्टि में उसके शौर्य का अभिमान कसौटी पर पहुँच चुका था। वणि ने अवसर देख कर एक छल-युद्ध की योजना प्रस्तुत की, दुर्योण पहुँच कर किसी तरह महाश्रेष्ठि अर्बुद को प्रचुर लोभ देकर प्रभावित करने की। महापणिक यदि दुर्योण में नहीं है, तो वहाँ सर्वेसर्वा महाश्रेष्ठि होना चाहिए। महापणिक अगर वहीं हों, तब भी वे वहाँ आहत या अन्य किसी व्याधि से ग्रस्त होकर अक्षम ही पड़े होंगे, वरना स्वयम् मृगम्मदा युद्धक्षेत्र में दौड़ी न आती। सेना का एक भाग यहाँ डटा रह कर मृगम्मदा और पणिकों को अटकाए-भटकाए रहे, किसी गम्भीर संघर्ष का अवसर दिए बिना। और शेष भाग छिपे-छिपे किसी दूसरे मार्ग से सीधा दुर्योण पहुँच जाए। उसे यहाँ सम्मुख युद्ध लड़ने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह नगर प्राचीर के बाहर से ही नगर के भीतरी भागों में आतंक फैलाने का प्रयत्न करे। इस बीच महाश्रेष्ठि भीतर से ही या तो द्वार खोल दें, या फिर जैसा कि उन्होंने भूतपूर्व महापणिक कुयव के समय में किया था, कुछ आर्यों के भीतर प्रवेश की सुविधा जुटा दें।

युक्ति तो उत्तम है, किन्तु अर्बुद से सम्पर्क कौन करे, और कैसे करे? वणि की तो पोल खुल चुकी है। उसकी यह आशंका निर्मूल नहीं है कि पहले तो स्वयम् महाश्रेष्ठि उसका विश्वास नहीं करेंगे। दूसरे दुर्योण-निवासी देखते ही उसे फाड़ खा सकते हैं। विचार-विमर्श के बाद इसके लिए सर्वथा उपयुक्त पात्र देवराज के पुत्र जयन्त ही पाए गए। देवराज का पुत्र होने के कारण देवराज के प्रतिनिधि के रूप में उनकी विश्वसनीयता कभी सन्देह का विषय नहीं हो सकती थी। देवराज की मुद्रा उनके पास है ही, और नगर प्रवेश के लिए वणि ने अपने पास

वाली दुर्योण की मुद्रा जयन्त को सौंप दी। स्कन्ध ने और कोई उपाय न देखकर इसी युक्ति के अवलम्बन का निश्चय किया तो वणि ने नगर के बाहर और भीतर का, तथा नगर में अर्बुद की हवेली की स्थिति आदि का भूगोल विस्तार के साथ जयन्त को समझा दिया, यही नहीं उसने अर्बुद की आकृति-प्रकृति आदि का भी पूर्ण परिचय दे दिया ताकि वह खूब सोच-समझ कर उनसे सम्पर्क स्थापित करे। सम्पर्क उनके अकेले में उनके निवास पर ही किया जाए, वे वणिक् प्रकृति के हैं इसलिए उनसे भय की कोई बात नहीं है। यदि वे जयन्त के प्रस्ताव से सहमत न हों तो वह उनसे सहज ही निपट ले सकता है ताकि वे जयन्त का रहस्य किसी पर प्रकट न कर सकें। वैसे वणि को विश्वास है कि पर्याप्त स्वर्ण का आश्वासन मिल जाने पर भी वे प्रभावित न हों, ऐसे नैष्ठिक दृढ़-निश्चयी व्यक्ति वे नहीं हैं। शेष में वणि ने जयन्त को एक व्यक्तिगत भार भी दे दिया। अवकाश और सुविधा हो तो जयन्त उपान्त में वणि के आवास पर भी चला जाए और उसकी पत्नी कैकसी को आश्वस्त कर आए कि वणि शीघ्र ही उसके लिए एक आश्चर्यजनक उपहार लेकर प्रकट होने वाला है।

महादेवी मृगम्मदा के अभियान की चमत्कारिक सफलता के समाचार दुर्योण में घर-घर चर्चा का विषय बनते जा रहे हैं। नगर के आबाल-वृद्ध सभी हर्षोन्मत्त हो उठे हैं, और प्रतिदिन नृत्य-उत्सव मनाए जा रहे हैं। युद्ध का सम्वाद लाने वाले दूत को वे द्वार से ही कन्धों पर बिठा कर नगर में घुमाते हैं। युद्ध-भूमि से आहत होकर चिकित्सा के लिए आए हुए योद्धा पूरी तरह स्वस्थ न होने पर भी पुनः शीघ्र रणक्षेत्र लौट जाने का आग्रह करते हैं। उनके लिए महादेवी के नेतृत्व में युद्ध करना, न केवल एक आह्लादप्रद अनुभव था, बल्कि प्रशिक्षण का एक अमूल्य अवसर भी था। दुर्योण-निवासी सभी अपना मस्तक ऊँचा उठाकर चलने लगे थे। इस नए उत्साह में लोग महापणिक की बात ही भूलते जा रहे हैं कि वे कहाँ हैं, कैसे हैं, इन दिनों उनके समाचार क्यों नहीं आ रहे हैं? हाँ अधिकारी-वृन्द उन्हें कभी भूल नहीं सकता था, यद्यपि युद्ध-सम्बन्धी कोई सूचना उन्हें नहीं भेजी जा रही थी। वस्तुतः उनसे सम्पर्क रखने का उन्हें कोई अवकाश भी नहीं था। यह भी सभी माने बैठे थे कि युद्ध-सम्बन्धी सभी समाचार वसिष्ठाश्रम में यों भी पहुँच ही जाते होंगे। आचार्य वसिष्ठ कोई सामान्य व्यक्तित्व तो है नहीं। युद्ध के ही क्यों, उन जैसा बहुज्ञ व्यक्ति कहाँ क्या हो रहा है इसकी सारी अभिज्ञता अनायास अपने पास रखता है! महाश्रेष्ठि को केवल एक ही खेद था कि मृगम्मदा जैसी महामहिमामयी देवी अपने ही पुत्र के प्रति इतनी विरक्त क्यों है? माना कि संस्कार है, किन्तु रक्त-मांस का सम्बन्ध क्या संस्कार की तुलना में कुछ नहीं है?

बूढ़ा अर्बुद अनायास ही मृगम्मदा को पुत्री की तरह स्नेह करने लग गया था।

उस दिन अर्बुद कुछ जल्दी ही अपने आवास लौट रहा था। रात तो हो ही चुकी थी। रणक्षेत्र से अच्छे ही समाचार प्राप्त हुए थे। युद्धस्थल में अब दिनोंदिन आर्यों की सेना कम होती दिखाई दे रही थी। स्पष्ट ही उनका पर्याप्त ह्रास हो चुका था। कई सैनिक भयग्रस्त होकर अरण्य में भाग गए थे और कई शायद अपने घर भी लौट गए थे! मनोबल उनका क्षीण होता जा रहा था और महादेवी मृगम्मदा के नाम से ही लोग थरथर काँपने लग जाते थे। महाश्रेष्ठि सोच रहे थे, जय-पराजय चाहे जिस दल की हो, युद्ध अन्ततोगत्वा दोनों ही दलों के लिए हानिकारक ही होता है। धन-जन की हानि तो होती ही है, नीति और आचरण का भी नाश हो जाता है! उत्पादन, व्यापार, व्यवसाय सभी में व्याघात पहुँचता है। घर की दिशा में कुछ ही दूर पहुँचे होंगे कि उन्हें मन ही मन हँसी भी आई। आज वे मना रहे हैं कि युद्ध जितना शीघ्र समाप्त हो जाए उतना ही अच्छा है। किन्तु अभी कुछ ही दिन पहले तक तो वे यही मनाते रहे हैं कि युद्ध प्रारम्भ हो तो उनका व्यवसाय चमके, और उनकी पूछ, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान बढ़ जाए। युद्ध-काल में ही तो वस्तुओं का अभाव होता है, और उनके मूल्य बढ़ जाते हैं! इसी दिन के लिए तो व्यवसायी के भण्डारों के द्वार सदा बन्द रहते हैं, और जब वे खुलते हैं तो चारों ओर हिरण्य की धूप खिल जाती है! मन की गहराइयों में सोया हुआ लोभ का साँप अब भी कभी-कभी अपना फण उठा देता है, किन्तु अब वह परिस्थिति रही कहाँ? वणि ने उनके सिर पर जो कच्चे धागे से बाँध कर एक नग्न खड्ग लटका दिया है! वे अगर अब कुछ करें भी तो किस लिए, किसके लिए? यह मृगम्मदा और उसका नवजात पुत्र भी मरीचिका नहीं होंगे, यह कौन कह सकता है?

बड़े ही उन्मन भाव से उन्होंने द्वार उन्मोचित किया कि पीछे से किसी ने गुहार लगाई।

'महाश्रेष्ठि' जरा सुनें। अपने बहुमूल्य समय का कुछ अंश इस सेवक को देने की कृपा करेंगे?'

'कौन?' कह कर महाश्रेष्ठि ठिठक गए। एकदम अँधेरा तो नहीं था, किन्तु रात तो गहरी हो ही रही थी। उधर हाट-बाजार में चहल-पहल थी, किन्तु इधर सद्गृहस्थ सोने चले गए थे और इन दिनों वणि के रहस्योद्घाटन के बाद तो वे पत्ता खड़कने से भी आतंकित हो उठते थे। उन्होंने कुछ मुड़ कर देखा कि आगन्तुक एकदम अपरिचित व्यक्ति है, तो बोले, 'मैं इस समय किसी से

नहीं मिलता। आवश्यक कार्य हो तो प्रातःकाल कार्यालय में आकर मिल सकते हो !'

'महानुभाव, क्षमा करें, मुझे आपसे ही काम है और कार्य गुरुतर महत्व का है। मैं आपके लिए ही युद्धभूमि से आपके विश्वस्त भृत्य वणि का सन्देश लाया हूँ।' अन्तिम वाक्य उसने पास आकर अत्यन्त धीमे स्वर में कहा था, ताकि आस-पास भी यदि कोई हो तो सुन न सके।

किन्तु महाश्रेष्ठि अर्बुद ने तो स्पष्ट ही सुना। वणि का सन्देश ? उन्होंने चौंक कर शीघ्र एक बार चारों ओर दृष्टि घुमा कर देख लिया, किसी ने सुना तो नहीं, कोई देख तो नहीं रहा है ? नहीं, आस-पास कहीं कोई नहीं है। किन्तु कब, कोई कहाँ से आ टपकेगा, इसका कुछ ठिकाना है ? टालना भी हो, तब भी चुपके-चुपके टालना होगा, किसी को कानोंकान भनक नहीं होनी चाहिए। उन्होंने निश्शब्द आगन्तुक को संकेत किया। दोनों जब द्वार में प्रविष्ट हो गये तो अर्बुद ने द्वार के पल्ले खींच कर उन पर अर्गला चढ़ा दी, और तब जाकर सन्तोष की साँस ली।

किसी तरह अपने आपको सम्भाल कर अर्बुद ने खड़े-खड़े ही पूछा—'अर्थात् आप युद्धक्षेत्र में आर्यों के शिविर से आ रहे हैं, और वह निर्लज्ज कुलांगार वणि भी आया है इस अभियान में आपके साथ ?'

'अपने स्वामी की तरह वह भी देवराज की कृपा का अधिकारी है महाश्रेष्ठि।' और इसके पहले कि महाश्रेष्ठि उसके व्यंग्य को समझ कर कुछ कहें, आगन्तुक ने ही कहा—'किसी मिथ्याबोध में देवराज आपसे कुछ रुष्ट हो गए थे, किन्तु मुझे आपको सूचित करते हुए प्रसन्नता है कि आपके स्वामिभक्त सेवक वणि ने ही अपनी अथक चेष्टाओं से आपके प्रति उन्हें प्रीत कर दिया है।'

'सो तो ठीक है, किन्तु आप हैं कौन ?'

'मैं महामहेन्द्र देवराज इन्द्र का आत्मज युवेन्द्र जयन्त हूँ।'

'देवराज इन्द्र के सुपुत्र ? आप परिहास तो नहीं कर रहे हैं ?' अर्बुद ने आश्चर्यहत होकर पूछा।

जयन्त ने यज्ञोपवीत में बँधी और कटि से कसी हुई मुद्रिका निकाल कर महाश्रेष्ठि के सम्मुख कर दी। अर्बुद ने आगे बढ़ कर दीप-शिखा को कुछ उकसाया। मुद्रिका वैसे भी चमक रही थी, देख कर अर्बुद की आँखें भी चमक उठीं। सम्भ्रम के साथ उसे सिर से छुआ कर जयन्त को लौटाते हुए वह उसे अपने कक्ष में ले चला। फिर जयन्त को एक ऊँचे आसन पर बिठा कर स्वयं भी पास बैठते हुए बोला—'मुझे क्षमा करें युवेन्द्र ! इस युद्धकाल को देखते हुए सावधान

रहे बिना त्राण नहीं है। आप बुरा न मानें। किन्तु आर्यों के इस अभियान के साथ वणि ने आने का दुस्साहस कैसे कर लिया ?'

'देवराज इन्द्र का अनुग्रह हो तो किसी को कहीं भी भय क्या है ? आप ही की तरह वह भी तो आर्यों से सहयोग करने के लिए प्रतिबद्ध है ! उन्हीं की प्रेरणा से मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।'

'मुझसे अब क्या और किस लिए ये अपेक्षाएँ हैं ?'

'किसलिए का उत्तर तो आप जानते ही हैं, देवराज इन्द्र अपना दिया हुआ वचन कभी नहीं भूलते। यहाँ के भावी महापणिक के रूप में आपको उनके सखा होने का गौरव प्राप्त है महापणिक !'

'मेरी अब वैसी कोई वासना नहीं है युवेन्द्र।'

जयन्त ने मुस्करा कर कहा—'कदाचित् आप इस समय इस पद के दायित्व को देखकर संकुचित हो गए हों। किन्तु महाप्रतापी देवराज के रहते आपको किसी का भय नहीं रह जाएगा। आपका यह सिंहासन निष्कंटक हो, इसी के लिए तो हमारा यह अभियान है ! इस अभियान के शेष होते ही यहाँ आपके सहयोग और परामर्श के लिए सुयोग्य और दक्ष आर्यभटों की सेवाएँ आपको उपलब्ध करा दी जाएँगी। आप चाहेंगे तो आपके निर्देश में सुभटों का एक आर्य-सैन्यदल यहाँ नियुक्त कर दिया जाएगा। यह सिंहासन तो आपका प्राप्य है, केवल इसी के लिए तो मुझे यहाँ आकर आपको इस समय कष्ट देने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।'

'तब आप किस लिए पधारे हैं ? स्पष्ट करें।'

'इस अभियान में भी हम आपके सक्रिय सहयोग की कामना करते हैं......'

'मुझे क्षमा करें, मैं न तो राजनयिक हूँ, न ही युद्धनयिक।'

'हमें आपके उस तरह के सहयोग की अपेक्षा नहीं हैं महापणिक। क्षमा करें; मेरे लिए तो आप महापणिक ही हैं, आपका सहयोग मिल गया तो यह कुछ ही दिनों की बात है और इस सहयोग के लिए महामहेन्द्र देवराज इन्द्र, मेरे महाप्रतापी पूज्य पिता ने मुझे आपको यह आश्वासन देने का अधिकार दिया है कि अभियान के सफलतापूर्वक सम्पन्न होते ही आपको पाँच मंजूषा-भार हिरण्य उपहार दिया जाए। आपके प्रकृत प्राप्य से यह उपहार अतिरिक्त है !'

'पाँच मंजूषा-भार हिरण्य ?' महाश्रेष्ठि की आँखें फैल गईं।

'हाँ महापणिक। यह हिरण्य-भार हमारे महा-सेनापति स्कन्द के दुर्योण-प्रवेश पर आपके अभिषेक के समय आपको उपहार-स्वरूप समर्पित कर दिया जाएगा !'

अपने आपको तुरन्त संयत कर अर्बुद उठ खड़ा हुआ और अतिरिक्त सम्भ्रम दिखाता हुआ बोला—'आप बड़ी दूर से आए हैं। पथ की क्लान्ति तो है ही। आपके लिए कुछ आपानक की व्यवस्था करता हूँ। वाष्प-स्नान करना चाहेंगे ?'

'वाष्प-स्नान ? मैं समझा नहीं महापणिक।'

अर्बुद ने मुस्करा कर कहा--'उष्ण-स्नान युवेन्द्र। यात्रा या किसी भी प्रकार की कान्ति के लिए तो यह रामबाण है। आपके यहाँ इसकी व्यवस्था नहीं है ?'

'आपके ये उपकरण अद्‌भुत हैं महापणिक ! देखना अवश्य चाहूँगा।' जयन्त ने कहा--'किन्तु आप मेरा किसी को अभी वास्तविक परिचय न दें !'

'आप निश्चिन्त रहें। आपके भोजन-शयन आदि की व्यवस्था भी मैं बता देता हूँ।'

'आपको किसी प्रकार की असुविधा तो नहीं होगी ? वैसे मैं प्रातःकाल अँधेरे-अँधेरे ही निकल पड़ना चाहूँगा।'

'उसकी व्यवस्था हो जाएगी युवेन्द्र। इन नित्य-कर्मों से निपट लिया जाए तो फिर निश्चिन्तता के साथ आपकी योजना पर विचार-विमर्श कर सकेंगे। उसके लिए सारी रात पड़ी है अपने सामने।'

जयन्त भी उठ खड़ा हुआ और मुस्करा कर बोला--'महत्त्वपूर्ण मन्त्रणाओं के लिए रात्रि का शान्त वातावरण ही सबसे अधिक उपयुक्त रहता है महापणिक। यही सोचकर तो मैं भी रात्रिकाल में ही यहाँ पहुँचा हूँ।'

जयन्त की मुस्कराहट का अर्बुद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु उसने जयन्त को अपने और भी भीतरी कक्षों का मार्ग बताया जयन्त निर्भय मन से उसके पीछे हो लिया। उसे अपने प्रयोजन की सफलता में सन्देह नहीं रह गया था !

रणक्षेत्र में आर्यों की सेना में नियमित कमी के साथ ही साथ युद्ध का उत्साह भी मन्द होने लगा और पणिक भी इससे अप्रभावित न रहे। चुनौती ही न हो तो कोई लड़े किससे ? मृगम्मदा के समर्थ नेतृत्व में पणिकों ने अपनी खोई हुई भूमि और प्रतिष्ठा ही पुनः नहीं प्राप्त कर ली थी, बल्कि शत्रु को पीछे हटाते-हटाते वे नदी-तट तक पहुँच गए थे। किन्तु अब और आगे बढ़ते जाना संकट-जनक हो सकता था। यह अग्रसरण भी इतना सहज और लगभग बाधाहीन ही था कि मानों शत्रु उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हों। चतुर सेनानायक मृगम्मदा को शत्रु की किसी गहरी चाल का सन्देह हो गया। यदि आर्यों को खदेड़ते-खदेड़ते पणिक नदी पार हो जाएँ, तो आवश्यकता पड़ने पर वे सहज ही लौट नहीं सकेंगे, नदी स्वयं एक बड़ी बाधा बन जाएगी। शत्रु के पास अश्व हैं, वे सहज ही आगे-पीछे गतिविधि कर सकते हैं और नदी पार

तो वे मानों अपने ही क्षेत्र में हैं। सम्भव है, वे नए सैन्य-दल की प्रतीक्षा कर रहे हों। तो क्यों न इस अस्थायी शान्ति का लाभ अपने सैनिकों को यथासम्भव विश्राम देकर उठाया जाए? यों उत्साह और वातावरण बनाए रखने के लिए इधर-उधर छिटफुट झड़पें होती रही हैं, किन्तु बात नायकों तक नहीं पहुँच पाती। और यदि पहुँच भी जाती तो युद्धक्षेत्र में उनके पदक्षेप के साथ ही संघर्ष का पटाक्षेप हो जाता, दोनों दल सहज होकर अपने शिविरों को लौट जाते और शीघ्र ही स्थिति यथापूर्व स्थापित हो जाती!

इसी अप्राकृतिक मौन में मृगम्मदा अस्थिर हो उठी। क्या अब यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं रही? क्या वह दुर्योण लौट जाए? कुरल यहाँ है ही। हमीक को भी वहाँ से भेजा जा सकता है। युद्ध-क्षेत्र देखने को वह भी बहुत उत्सुक है। बल्कि अहीशुव और वृंगद भी तो स्वस्थ हो गए होंगे। वे तो जाना ही कहाँ चाहते थे? मृगम्मदा ने हठ करके उन्हें भिजवा दिया था। वे यहाँ आकर कार्यभार सम्हाल लेंगे तो यहाँ कोई भय नहीं है। कम-से-कम तब तक तो अवश्य नहीं, जब तक कि कोई नया सैन्यदल न आ जाए। देवराज स्वयं अगर नेतृत्व करने आ टपकें तब तो युद्ध की कुछ सार्थकता भी है।

पर मृगम्मदा दुर्योण लौटे भी तो किसके लिए? बृबु तो वहाँ है नहीं। तो क्या ऋष्य शृंग के लिए? जो जन्म के पहले से ही उसके लिए ऋष्य था उसी ऋष्य शृंग के लिए? जिसे अब तक देखा तक नहीं है—उसका कुवाँ-कुवाँ रुदन अवश्य सुनाई पड़ गया हो। किन्तु उसकी स्मृति का प्रयोजन ही क्या है उर्वशी के लिए? उसने तो मान लिया है कि जनमते ही उस शिशु को सिन्धु में प्रवाहित कर दिया गया है जिसको नहीं किया गया, वह अन्य अस्तित्व है, केवल मृगम्मदा को लुभाने के लिए। और वही हो तो भी अब तो उसे प्रवाहित नहीं किया जा सकता। इतने दिनों में तो इस जगत् की चेतना भी उसमें अवश्य विकसित हो गई होगी। और केवल उस धात्री का ही क्यों, अन्य कई व्यक्तियों की प्रीति, आशा और विश्वास का आधार बन गया होगा वह! स्वयं बृबु की आशा और विश्वास का, उसके भविष्य के सुनहरे स्वप्न का प्रतीक··· ···

नहीं, बृबु ने कभी खोल कर नहीं कहा, किसी संकेत या असावधान-क्षण में मन के किसी आवेश से भी प्रकट नहीं होने दिया कि वह उस शिशु को मृगम्मदा से अधिक चाह सकता है। मन की गहराइयों में किसी की कामना क्या हो, यह तो कौन जान सकता है? किन्तु तब शिशु था ही कहाँ? आकाश-कुसुमों को छूने का व्यर्थ प्रयास करनेवाले अकर्मण्य स्वप्नदर्शियों में बृबु नहीं है। किन्तु अब, जब कि वह शिशु एक वास्तविकता है, तब भी क्या उसका मन उतना

ही अनासक्त है ? चल कर मिल क्यों न लिया जाए उससे ! वसिष्ठाश्रम दूर नहीं है, सुविधा है, साधन है और अवसर भी ! स्पर्श-दर्शन के लिए तन-मन कितना व्याकुल रहा है ? कोई क्या जाने कि मृगम्मदा के मन के भीतर भी वाहर की तुलना में कहीं अधिक भयानक और तुमुल संग्राम मचलता रहा है ? बाह्य युद्ध में उसकी यह निर्मम क्रूरता क्या उसके आन्तर-युद्ध की ही प्रतिक्रिया नहीं है इस युद्ध से ही उसने कुछ सन्तुलन प्राप्त किया है वरना अब तक भी क्या वह बृबु के पास दौड़ नहीं पड़ता ' वह आहत हो गया है, इसकी पीड़ा क्या वह प्रतिक्षण अनुभव करती, सहती नहीं आ रही है ? वह ठीक तरह से चल-फिर नहीं सकता, स्कन्ध का उसका पुराना व्रण फिर खुल गया है और यह सब मृगम्मदा केवल दूसरों के मुँह से सुनकर भी निष्क्रिय बैठी रही है, जब कि वह इतना निकट है कि मानों चाहने पर हाथ बढ़ा कर ही उसे छू लेगी। युद्ध, यह भी क्या कोई सार्थकता है उसके जीवन की ? कब तक कोई उलझा रहे इन उपलक्ष्यों में ?

क्यों है वह इतनी विवश ? क्या ऐसी ही विवशता बृबु की भी है ? समर्पण, किन्तु क्या वह स्त्री ही के लिए है, पुरुष के लिए नहीं ? सच है कि वसिष्ठाश्रम वह अपनी इच्छा से नहीं गया, किन्तु रुक तो वह वहाँ अपनी इच्छा से ही गया है। स्पष्ट है कि विश्राम भी उसे वहाँ मिल गया है। मृगम्मदा यदि कभी इस तरह परवश हो जाती तो सबसे पहले उसे बृबु की शरण का ही ध्यान आता, वहीं उसे विश्राम मिलता, शान्ति मिलती, अभय मिलता ! मान लिया कि उसे भय नहीं है—भय मृगम्मदा को भी किसी का कहाँ है ? किन्तु अपने आपसे भी तो भय होता है। आज मृगम्मदा को यही अपने आप से ही तो भय हो उठा है ! इसीलिए तो वह भागकर बृबु के वक्ष में मुँह छिपा लेना चाहती थी। प्रसव-जैसी सामान्य-सी असुविधा में भी उसने तो बृबु का आवास ही चाहा था, कि वह पास रहेगा, तो उसे किसी का भय नहीं है। बृबु की वह निर्भरता तो मृगम्मदा पर नहीं है। क्या वह स्त्री है इसलिए समर्पण उसी को करना होगा, पुरुष को नहीं ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, उर्वशी इस परम्परा में पैदा ही नहीं हुई। आत्मनिर्भरता। वशिष्ठाश्रम में पड़े रह कर ही क्या तुमने प्रमाणित नहीं कर दिया कि यह केवल एक छल है ? तब तो मृगम्मदा स्वयं भी उतनी ही आत्मनिर्भर है ! समर्पण के पथ पर दोनों छोर से चलना होगा, पूर्ण समर्पण बीच मार्ग में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। समर्पण किसने किसको किया ? यह प्रश्न ही निरर्थक होना चाहिए, तभी समर्पण है ! मन यदि विद्रोही हो जाए, तो उसे दबाने की शक्ति उसमें है। वह पुरुष से भी एक कदम आगे जा सकती है, जा रही है, उसने पुत्र के मोह को उच्छिन्न कर दिया है, सम्भव हुआ तो देखेगी कि बृबु इस परीक्षा में कैसे उतरता है ?

एकाध दिन और देख लेती है वह ! एक नैतिक प्रतिश्रुति थी दुर्योण के लिए, वह समाप्त हो गई है। एक ऋण था, वह चुका दिया गया है। वृबु ने उसकी प्राणरक्षा की थी, अपने रक्त-मांस से एक नया प्राण रच कर उसने उसे सौंप दिया है। अब, कौन होता है वृबु उसका ? वह ऋष्य शृंग, ऋण ही तो था वह। मूलधन की प्रतीति भी तो कभी नहीं हुई। क्या प्रमाण है कि वह स्वप्न सच था ? तू ही तो है मृगम्मदा, जो यह सब सोच रही है, जिस पर यह सब बीत रहा है ! पैदा ही तू हुई थी अपने लिए, केवल अपने लिए ! तभी तो माँ जन्म देकर ही चल दी थी ! पिता ने पाला था अपने ही किसी भविष्य की आशा में। सभी तो यहाँ अपने ही लिए पैदा होते हैं। और तब भी कैसी विडम्बना है कि जीवन भर कस्तूरी-मृग की तरह भटकते फिरते हैं अपनी ही गन्ध की खोज में अपने आपको सर्वथा भूल कर। नहीं, अब और नहीं भटकेगी वह ! अपने को यदि पाना है तो अन्य सब कुछ को खोना सीखना होगा। लक्ष्य की यदि प्रतीति हो गई है तो उपलक्ष्यों में क्यों भटके वह ? लक्ष्य का अनुसन्धान क्यों न करे ? वृबु, ऋष्य शृंग, दुर्योग, पणिक, यह युद्ध, सभी तो उपलक्ष्य हैं, एक विराट मरीचिका ! इनमें तू अपना अस्तित्व खोकर ही रह सकती है। मृगम्मदा ! और यदि अस्तित्व तुझे खोना ही है तो इस तिक्त लवण-समुद्र में घुल कर क्यों ? अपनी सुगन्व को, अपने अन्तर की ऊष्मा को पहचान पगली ! तू स्वयं ही तो वह आशय है, जिसमें महासमुद्र अपने आँधी-तूफानों सहित विलीन हो जाते हैं, जहाँ से सृष्टि उद्भव होती है और फिर विलीन हो जाती है, जहाँ एक कम्पन में सब कुछ सृष्ट होता है और दूसरे कम्पन में नष्ट हो जाता है। सृष्टि और प्रलय के इस रहस्य को अन्यत्र तू कहाँ पाएगी ?

और एक प्रातःकाल सैनिकों ने उठ कर देखा कि वे अनाथ हो गए हैं, उनके प्राणोपम प्रिय सेनानायक का कहीं पता नहीं है। कुरल तथा उसके अन्यान्य साथी गण पहले छिपे-छिपे और फिर प्रकट रूप में चारों ओर खोज आए, किन्तु मृगम्मदा या उसके अश्व का कहीं सन्धान नहीं मिला। वे मानों प्रभात की मन्द झीनी वायु में विलीन हो गए। क्या यह सम्भव नहीं है कि वे दुर्योण चली गई हों ? परामर्श के लिए, यदि महापणिक वहाँ हों, तो उनसे भेंट करने के लिए, अथवा अपने नवजात शिशु को ही देख लेने के लिए ? नियमानुसार सन्ध्या को दुर्योण में भी दूत ने पूछने के बहाने सूचना पहुँचा दी। चिन्ता वहाँ भी व्याप्त हो गई। सावधानी के लिए वृंगद, जो अब स्वस्थ हो चुका था, युद्धक्षेत्र भेज दिया गया और उसे विशेष रूप से कहा गया कि महादेवी की सूचना प्राप्त होते ही अविलम्ब वह दुर्योण समाचार भेज दें, वरना यहाँ चिन्ता बनी रहेगी।

दोपहर तक तो अवश्य शत्रुदल को भी महादेवी के अदृश्य हो जाने का आभास नहीं हुआ, किन्तु प्रतीत होता है, उसके बाद उन्हें भी मालूम हो गया और उन्होंने बचीखुची अपनी सारी शक्ति बटोर कर अन्तिम प्रयत्नस्वरूप एक भयानक आक्रमण कर दिया। महादेवी की अनुपस्थिति से वहाँ वैसे ही हाहाकार मचा हुआ था, वे किसी संघर्ष के लिए तैयार नहीं थे, कि उन्हें इस भयानक आक्रमण का सामना करना पड़ा। फल स्पष्ट था। भयानक भगदड़ मच गई। पणिकों में कुछ प्राण लेकर और अनेक वहीं प्राण छोड़कर भाग निकले। युद्धक्षेत्र में पणिकों के शिविर में घोर अव्यवस्था फैल गई। इतने दिनों की समस्त उपलब्धियों पर देखते-देखते पानी फिर गया।

दुर्योण के सैनिक कार्यालय में महाश्रेष्ठि अबुर्द, नायक अहीशुव, दमीक आदि सभी अधिकारी युद्धक्षेत्र के अन्तिम समाचारों के लिए देर रात तक व्यग्र हुए बैठे रहे और जब युद्धक्षेत्र से भागा हुआ पहला व्यक्ति वहाँ आया तो वह इतना हताश, निस्तेज और अशान्त था कि उससे कुछ पूछने का इन्हें साहस ही नहीं हुआ। जल पीकर अपने आपको संयत करने में ही उसने काफी समय ले लिया और फिर रुक-रुक कर उसने युद्ध-क्षेत्र का सारा वर्णन कह सुनाया। महादेवी का तो खैर, कोई पता नहीं लगा, किन्तु शत्रु ने इसका लाभ उठाकर अकस्मात् जो भयानक आक्रमण कर दिया था उसके फलस्वरूप नायक कुरल युद्धभूमि में ही निहत हो गए और सारा पणिक सैन्यदल तितर-बितर होकर या तो खेत रहा या खेत छोड़कर इधर-उधर भाग निकला। अब वहाँ वृंगद कुछ मुट्ठी भर सैनिकों के साथ प्राणों की बाजी लगाकर उन्हें दुर्योण की ओर आगे बढ़ने से रोकने की चेष्टा कर रहे हैं और यदि शीघ्र ही एक अच्छे कुशल नायक के नेतृत्व में उन्हें सहायता नहीं भेजी गई तो उन्हें रोक रखने में वे न केवल असफल होंगे बल्कि उनके स्वयं के प्राणों की रक्षा भी नहीं हो सकेगी।

महाश्रेष्ठि ने सारी बात सुनकर कहा, 'शत्रु यदि यहाँ तक आने में सफल हो गया तो यहाँ उसे अच्छी शिक्षा मिल जाएगी दूत। हम यहाँ पूरी तरह तैयार हैं। क्यों न अहीशुव?'

'वह तो ठीक है महाश्रेष्ठि किन्तु हमें शत्रु का प्रतिरोध यहाँ नहीं, वहीं दूर शतद्रु के तट पर ही करना चाहिए। मैं अब स्वस्थ हूँ। दमीक, तुम शीघ्र एक गुल्म तैयार कर दो, ताकि पौ फटते ही हम यहाँ से प्रस्थान कर सकें।'

दमीक ने कहा, 'नायक अहीशुव, गुल्म तो मैं तैयार कर दूंगा, किन्तु तब यहाँ नगर-रक्षा के लिए हमारे पास महिला-वाहिनी के अतिरिक्त केवल गिने-चुने दो गुल्म रह जाएँगे!'

अर्बुद शायद कुछ दूसरे ही विचारों में व्यस्त था। उसने कहा, 'अहीशुव,

अभी हम पहले महादेवी की इस आकस्मिक अनुपस्थिति पर तो विचार करें। क्या यह सम्भव नहीं है कि वे आश्रम चली गई हों ?' दूत के सम्मुख महापणिक या वशिष्ठाश्रम के सन्दर्भ का स्पष्ट आभास नहीं देना था !

इसी प्रसंग में द्मीक ने अपनी शंका प्रस्तुत की, 'कहीं वे किसी छल में फँस कर शत्रु के हाथों बन्दी तो नहीं बना ली गई हैं ?'

अर्बुद ने अहीशुव की ओर देखा, वह इन्हीं की ओर देख रहा था। इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता था। तभी दूत ने स्पष्ट किया 'नहीं महाश्रेष्ठि, शत्रुओं के द्वारा उनके बन्दी कर लिए जाने की कोई सम्भावना नहीं है। प्रातःकाल जब उनकी खोज में हम व्यस्त थे तभी शत्रुदल का एक दूत महादेवी के लिए उनके सेनापति का एक सन्देश लाया था !'

'सन्देश लाया था !' अहीशुव ने आश्चर्य से दूत की ओर देख कर पूछा, 'क्या सन्देश था ?'

'सन्देश तो क्या कहा जाए उसे ? आप तो जानते हैं महादेवी के प्रचंड आक्रमणों से आर्य-सेना में निराशा फैल गई थी, उनके कई सैनिक भय के मारे भाग गये हैं। कदाचित् वह महादेवी से मिलकर अस्थायी सन्धि या युद्ध-विराम जैसा कुछ प्रस्ताव प्रस्तुत करना चाहता था।'

'और उस समय हम लोगों ने उनको स्पष्ट कह दिया कि वे हवा में उड़ गई हैं और चाहें तो वे हम पर उसी समय आक्रमण कर सकते हैं।' व्यंग्य से मुँह बिचका कर अहीशुव ने दूत के मिस कहा।

'नहीं नायक। ऐसा उत्तर तो मूर्खतापूर्ण होता न। हमने उनसे यही कहा कि इस समय वे गम्भीर परामर्श में व्यस्त हैं, और वे सन्ध्या को या दूसरे दिन प्रातःकाल प्रयत्न करें। यदि महादेवी के अदृश्य होने का उन्हें पता लगा होगा तो वह इसके बाद ही हो सकता है ! उस समय तक होता तो वे आक्रमण के लिए अब तक रुके नहीं रहते !'

अहीशुव ने पूछा—'तुम जानते हो, नदी-तट पर युद्धक्षेत्र के आसपास कुछ आर्य ऋषियों के आश्रम हैं, वहाँ भी छानबीन की गई है महादेवी के लिए !'

'आर्यों के आश्रम में महादेवी क्यों जाने लगीं महानायक ? और उन ऋषियों को ही सैनिकों या युद्ध-बन्दियों से भी क्या लेना-देना ? नदी-तट पर पूर्व में तो कोई आश्रम है भी नहीं। कहते हैं, पश्चिम में अभी-अभी कोई एकाध आश्रम बना है। उसकी स्थापना में भी आर्यों की कुछ दुरभिसंधि हो सकती है, किन्तु स्वेच्छा से महादेवी के वहाँ जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता।'

कार्यालय के बाहर कुछ-कुछ कोलाहल-सा सुनाई पड़ रहा था। महाश्रेष्ठि उद्ग्रीव हो उठे। उन्होंने दूत से कहा—'बाहर यह कैसा कोलाहल है दूत?'

'जाकर देखूँ महाश्रेष्ठि? मैं आया तब तो सब कुछ नीरव शान्त था!'

'देखो जरा, बात क्या है?' और जब दूत बाहर चला गया तो अर्बुद ने अहीशुव से कहा, 'क्या सोचते हो अहीशुव? क्या महादेवी महापणिक से मिलने वसिष्ठाश्रम तो नहीं गई हो सकती हैं?'

'कुछ कहा नहीं जा सकता महाश्रेष्ठि। पता लगाया जाए? किन्तु यदि वे वहाँ नहीं गई होंगी तो महापणिक चिन्तित हो उठेंगे और सम्भव है, विश्राम छोड़कर तत्काल यहाँ भागे चले आएँ।'

दमीक ने कहा—'सेना का मनोबल बनाए रखने के लिए अब तो उनका प्रकट होना भी आवश्यक है महानायक।'

महाश्रेष्ठि का माथा ठनका। महापणिक अगर अभी ही लौट आए तो सारी योजना मिट्टी में मिल जाएगी। कितना चमत्कारिक-सुयोग है कि अनर्थों की जड़ मृगम्मदा जैसे ठीक समय पर ही अदृश्य हुई है—अनर्थों की जड़ और मृगम्मदा! पणिकों के जीवन में जिसने नव-जीवन का और स्वयम् अर्बुद के उत्तप्त मरुस्थली-जीवन में जिसने शीतल-सजल हरियाली का संचार किया, वह मृगम्मदा अनर्थों की जड़? नहीं नहीं, अनर्थों की नहीं, इस समय दुश्चिन्ता की जड़ चाहे हो गई हो!

अहीशुव ने देख कर पूछा—'क्या सोच रहे हैं महाश्रेष्ठि? क्या महापणिक को सूचना पहुँचा देना उचित होगा?'

'उसकी कुछ सार्थकता तो समझ में नहीं आ रही आयुष्मान्। यदि महादेवी वहाँ ही गई हों, तो वे युद्ध की गतिविधियों से अनभिज्ञ नहीं हो सकतीं और अब तक उन्हें लौट कर अपना दायित्व सम्हाल लेना चाहिए था! अब तो महापणिक को भी सूचना प्रातःकाल ही पहुँचाई जा सकती है। मैं सोचता हूँ, महापणिक अभी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो पाए होंगे—हुए होते तो इस तरह निष्क्रिय वहाँ जमें नहीं रहते। इधर यदि दूत की आशंका सही निकली और कल तक शत्रु-सेना र्योण पर आ लगी, तो यहाँ भी पर्याप्त व्यवस्था रहनी चाहिए। कल तक क्या हम और प्रतीक्षा न कर लें?'

बाहर कोलाहल का पता लगाने गया हुआ दूत लौट कर आया तो वह बहुत घबराया हुआ था और द्वार से ही कहता आया, 'जिसकी मुझे आशंका थी, वे आ पहुँचे हैं महाश्रेष्ठि...'

'कौन आ पहुँचे हैं रे?' सभी की आँखें उस पर टिक गईं। बाहर कोलाहल पहले से अधिक बढ़ गया ही प्रतीत हुआ, लगा जैसे बढ़ता ही जा रहा है।

दूत ने कहा—'आर्यों के दल ही हो सकते हैं महाश्रेष्ठि और कौन ऐसी घातक चेष्टा कर सकता है ? वे प्राचीर के बाहर से ही काष्ठ के जलते हुए टुकड़े भीतर नगर में फेंक रहे हैं और इससे लोगों में आतंक फैलता जा रहा है। कहीं भयानक आग न लग जाए।'

अहीशुव ने अर्बुद की ओर देखा, वे नीची दृष्टि किए कुछ सोचते-से लग रहे थे। अहीशुव ने कहा—'यह तो सचमुच बड़ी विषम समस्या प्रस्तुत हो गई है महाश्रेष्ठि, युद्ध नहीं, यह तो स्पष्ट नृशंस हत्याकांड है, जिस तरह वधिक कँटीली-बाड़ में घेर कर निरीह पशुओं की हत्या करता है। मैं देखूँ बाहर जाकर ?'

अर्बुद ने जैसे धैर्य नहीं खोया। अहीशुव को रोककर उन्होंने दमीक से कहा—'तुम जाओ दमीक, जनता को आश्वस्त करो, भय की कोई बात नहीं है। किसी तरह वे रात्रि व्यतीत करें। द्वार पर एक अतिरिक्त गुल्म नियुक्त कर दिया जाए। रात्रि को अब और किया ही क्या जा सकता है ?'

अहीशुव ने कहा—'कुछ तो करना ही होगा महाश्रेष्ठि। मैं चाहता हूँ कि तत्काल प्राचीर पर हमारी एक रक्षा-पंक्ति स्थापित हो जाए। सैनिक प्राचीर पर चढ़ कर चारों ओर फैल जाएँ, वे सब धनुर्धारी हों और बराबर दृष्टि रखेंगे कि कई बार की तरह कहीं से भी कोई भी व्यक्ति परिखा लाँघ कर दीवार पर चढ़ने का प्रयत्न न करे। सतर्क रह कर वे बराबर एक सैनिक से दूसरे सैनिक तक घूमते रहेंगे और दूर पर भी यदि कोई दिखाई दे जाए तो उसे अपने तीर का लक्ष्य बनाने से न चूकेंगे। मैं स्वयम् प्राचीर पर चढ़ कर टोह लेते रहना चाहत हूँ। दमीक, तुम जाओ और महाश्रेष्ठि ने जैसा आदेश दिया है, वैसी व्यवस्था कर दो, इसके अतिरिक्त धनुर्धारियों के गुल्म को भी तैयार करके मुख्य द्वार पर भेज दो, मैं वहाँ उनकी प्रतीक्षा करूँगा।' दमीक उठ गया तो अहीशुव ने महाश्रेष्ठि से कहा—'और महाश्रेष्ठि' मेरा आपसे निवेदन है कि आज रात आप यहीं कार्यालय में ही विश्राम करें, तो अच्छा है। न जाने कब कैसी आवश्यकता पड़ जाए ? मैं भी जरा बाहर देखूँ। जनता के मनोबल को तो बराबर बनाए रखना ही है !'

'सुनो अहीशुव' 'जब अहीशुव उठ कर जाने के लिए उद्यत हो गया तो महाश्रेष्ठि ने कहा—'अवश्य सैनिक विषयों में तुम्हारी सतर्कता ही उपयोगी है, किन्तु इस ओर यदि हम इतना ध्यान न देकर एक और प्रकरण की ओर ध्यान दें तो अधिक अच्छा हो !'

'आप आदेश दें महाश्रेष्ठि।'

'प्राचीर पर यदि कुछ हलचल हुई तो हमारे सैनिक क्या सहज ही शत्रुओं का

लक्ष्य नहीं हो जाएँगे ? प्राचीर का तो उद्देश्य ही है किसी की दृष्टि में न आने देना !'

'इन जड़ उपकरणों का उद्देश्य तो इस पर निर्भर करता है महाश्रेष्ठि' कि हम उनका किस तरह प्रयोग करते हैं ? इस समय तो शत्रुओं का लक्ष्य सारा ही नगर हो रहा है। प्राचीर पर हम कोई प्रकाश नहीं कर रहे हैं। अन्धकार में हमारे सैनिक किसी को दिखाई नहीं देंगे। शत्रु भी नहीं दिखाई देगा, किन्तु यदि वे जलता हुआ काष्ठ-खंड फेंकने का उपक्रम करेंगे तो सहज ही हमारे सैनिकों को दिखाई दे जाएँगे। इसके अतिरिक्त, आप तो जानते हैं, गए एक ऐसे ही अवसर पर शत्रुओं को दीवार पर चढ़ने में सफलता मिल गई थी।'

प्रसंग आगे न बढ़ जाए इस भय से महाश्रेष्ठि ने प्रसंग बदल कर कहा—'पर इससे भी महत्त्व का एक आवश्यक कार्य है अहीशुव !'

'वह क्या है ?'

''महापणिक के नवजात पुत्र के प्राणों की रक्षा।'

'ओह ! उसका तो किसी को ध्यान ही नहीं आया !'

मन ही मन मुस्करा कर अर्बुद ने कहा—'मुझे है आयुष्मान्, बराबर है।'

'आपका दायित्व भी तो बड़ा है महाश्रेष्ठि। किन्तु क्या आप सोचते हैं, उस नवजात के लिए सचमुच कोई संकट है ?'

'संकट क्या कुछ कह कर आता है ? और देखो न, आर्यों के इस अग्नि-कांड के लिए तो हमने कोई उपाय भी नहीं कर रखा है।'

'महापणिक के पुत्र की रक्षा के लिए क्या किया जाए ? आप बताइए।'

'महादेवी का तो कहीं पता ही नहीं है। होता भी तो वे इसका दायित्व ग्रहण करतीं इसमें सन्देह ही है। इसे किसी तरह महापणिक के पास ही पहुँचा दिया जाना चाहिए।'

'अर्थात् वसिष्ठाश्रम पहुँचा दिया जाना चाहिए।' अहीशुव ने दुहराया।

'वहीं तो हैं न महापणिक। इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ?'

'पहुँचाया कैसे जाए उसे ?' कुछ सोच कर अहीशुव ने कहा।

'रथ की व्यवस्था करनी होगी। धात्री उसे कम-से-कम वहाँ तक तो पहुँचाने जा ही सकती है।'

'किन्तु अकेले महापणिक उसकी क्या व्यवस्था कर सकेंगे ? यदि धात्री पर ही निर्भर करना है, तो वह सुविधा तो वसिष्ठाश्रम में नहीं है महापणिक।'

'धात्री अपने बच्चे को यहाँ छोड़ कर वहाँ रहने के लिए कदाचित तैयार नहीं होगी, किन्तु यहाँ की परिस्थिति देखते हुए भी तो हमें पहले से ही सावधान रहना चाहिए ! देख तो रहे ही हो, दुर्योण पर विपत्ति के घने बादल मँडरा रहे हैं।'

अहीशुव ने किंचित् मुस्करा कर कहा—'कहीं हम व्यर्थ ही आतंकित तो नहीं हो गए हैं महाश्रेष्ठि ? अभी कल तक हम विजय-तूर्य बजाते हुए सूर्य की तरह चमक रहे थे। महादेवी तो युद्ध में अभी दो दिन पहले ही तो उतरी हैं। उसके पहले भी हमारी अपनी प्रतिष्ठा थी, आर्यों में हमारा आतंक था, वे सहसा आक्रमण करने का साहस नहीं कर पाते थे और अभी कुछ ही दिन पूर्व ही महानायक शुष्ण ने अनेक समरों के विजेता और दाशराज-युद्ध के प्रतापी महाराज सुदास को पराजित किया था।'

'तुम ठीक कह रहे हो आयुष्मान्, कदाचित् मैं ही अत्यधिक आतंकित हो गया हूँ किन्तु मैं तो सैनिक व्यक्ति नहीं हूँ, मुझे तो अत्यधिक सतर्कता रखने में ही सुरक्षा का विश्वास होता है ! इसके अतिरिक्त एक बात और है। सूर्योदय के पहले रात्रिकाल में नक्षत्रों के क्षीण प्रकाश में भी प्रकृति के अनेक व्यापार सम्पन्न होते रहते हैं, किन्तु जब सूर्योदय होता है, तो हम समझते हैं कि प्रकृति जागृत ही अब हुई है, यदि सूर्य को ग्रहण लग जाए तो समस्त चराचर प्रकृति स्तब्ध हो जाती है और यह तो ऐसा प्रकरण है कि हम जोखिम भी नहीं ले सकते।'

'तो ठीक है। कल प्रातःकाल ही सारी व्यवस्था कर दी जाएगी, किसी नायक को मार्ग भी तो बता देना होगा। साथ में कोई नायक तो अवश्य होना चाहिए न।'

'तुमने सच ही कहा अहीशुव, मैं कुछ अधिक ही आतंकित हूँ। कल प्रात.काल तक क्या विलम्ब नहीं हो जाएगा ? यह जो जलते हुए काष्ठ-खंड नगर में फेंके जा रहे हैं, यह प्रमाण है कि शत्रु प्राचीर के बाहर तक आ पहुँचे हैं, न पहुँचे हों तब भी पहुँचना प्रारम्भ हो गए हैं, इसमें तो सन्देह नहीं है। प्रातःकाल तक उनकी संख्या कितनी हो जाएगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। रथ नगर-द्वार से सुरक्षित निकल भी सकेगा या नहीं और फिर दिन के प्रकाश में तो पूरे मार्ग वह किसी भी उत्सुक दृष्टि का लक्ष्य होने से बच नहीं सकता। मेरा आशय समझते हो न ?'

'आप स्पष्ट कहें न ! महापणिक के नवजात पुत्र के लिए मैं भी आप से कम चिन्तित नहीं हूँ महाश्रेष्ठि ! किन्तु दुर्योण की रक्षा का भार भी मुझ पर है ! मुझे आप आदेश दें।'

'आदेश नहीं आयुष्मान्, मैं परामर्श ही देना चाहता हूँ। मैं सोचता हूँ, यदि रथ को सुरक्षित निकल पड़ना है, तो वह रात्रि के अन्धकार में ही सम्भव है और वह भी आज ही रात्रि को, इसके पहले कि शत्रु का जमाव यहाँ सघन हो और उन्हें इसकी गन्ध भी लग सके ! अपने प्रसव-काल में महादेवी के आचरण से कुछ अत्यन्त निकट के लोगों को छोड़ कर किसी को पता भी नहीं है कि महापणिक

पिता भी बन गए हैं—शायद अभी तो महापणिक स्वयं भी नहीं जान पाए होंगे ! अतः अभी तो किसी को सन्देह भी नहीं होगा और मैं यह भी सोचता हूँ कि रथ के साथ और किसी को न भेज कर तुम स्वयं ही जाओ, रथ को वहाँ सुरक्षित पहुँचा कर ही तुम्हें शीघ्र लौट आना होगा। मैं तब तक यहाँ कार्यालय में ही बैठा तुम्हारे लौट आने की प्रतीक्षा करूँगा। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में हर किसी का विश्वास भी तो नहीं किया जा सकता। तुम लौट कर आओ, तब तक द्मीक तो है ही। वृंगद का कोई समाचार नहीं है। यदि उसे इस बीच कुछ हो न गया हो तो आशा है, वह भी लौट आ सकता है !'

अहीशुव कुछ क्षणों तक विचार में खोया रहा और फिर बोला—'आपका विचार ही उचित प्रतीत होता है महाश्रेष्ठि ! मुझे ही यह दायित्व लेना चाहिए। किन्तु इसके पहले मैं चाहता हूँ कि हमारे धनुर्धारी तत्काल प्राचीर पर चढ़ कर अपने-अपने मोर्चे सम्हाल लें। मैं शत्रुओं को किसी भी प्रकार का कोई अवसर देना नहीं चाहता। बिना यहाँ की सन्तोषप्रद व्यवस्था हुए, मैं स्वस्थ मन से बाहर जा ही नहीं सकूँगा। मैं द्मीक को देखता हूँ, उसे भी कुछ आवश्यक तथ्य समझा देने हैं।'

अर्बुद ने मुक्ति की साँस ली, किन्तु इसके साथ ही उनका हृदय और भी उग्रता से धड़कने लग गया। अब तक तो बात ही बात थी, किन्तु अब काम का अवसर आ गया है, मन को भुलाए रखने का बहाना भी नहीं रह गया है ! इस कठोर परीक्षा में क्या वे सहज उत्तीर्ण हो सकेंगे ?

इधर अपने मन के अनुकूल सुरक्षा-व्यवस्था सम्पन्न कर अहीशुव जब महापणिक के नवजात पुत्र ऋष्य-श्रृंग को धात्री-पुत्र और धात्री के साथ रथ पर आरूढ़ करा कर दुर्योण के मुख्य-द्वार से बाहर निकला, तो प्राची की ओट में ऊषा की लालिमा अपनी मन्द मुस्कुराहट छिपाने का व्यर्थ प्रयास कर रही थी। प्रकाश और अँधेरे की उस आँखमिचौनी में अहीशुव की गृद्ध-दृष्टि ने नगर-प्राचीर के चारों ओर शत्रु-दल के द्वारा खेले जा रहे आँखमिचौनी के खेल को अच्छी तरह समझ लिया। महाश्रेष्ठि ने सच ही कहा था कि रथ यदि अभी ही नहीं निकल गया तो भविष्य में शायद निकल ही नहीं पाए। रात्रि को यद्यपि उसके सामयिक-कदम से जलते हुए काष्ठ-खंडों का उपद्रव समाप्त हो गया था, किन्तु वह तो प्रारम्भ मात्र था। निकल तो गया है किन्तु वशिष्ठाश्रम सकुशल पहुँच जाए तब है !

समस्त वातावरण धूप-गन्ध से छाया हुआ था। आचार्य वशिष्ठ अपना प्रातः-कालीन अग्निहोत्र निष्पन्न कृत्य कर चुके थे। भगवती अरुन्धती तो आसन से उठ भी चुकी थीं। पास ही एक आसन पर बैठे विभांडक बृबु बड़े मनोयोग से यज्ञानुष्ठान

की सारी प्रक्रियाएँ देख रहे हैं,उनका पैर अभी भी पट्टियों में बँधा हुआ है। ऊपर उठते हुए यज्ञ-धूम की ओर देख कर बृबु ने पूछा—'आचार्य, महाकाश में उठते हुए इस धूप-गन्ध से आप किस देवता को प्रसन्न और तृप्त करते हैं ?'

आचार्य वसिष्ठ ने मुस्करा कर कहा, 'अपने हृदय के देवता को तात ! इस देवता को छोड़ कर और किसे तृप्त करना है ?' और वे आसन से उठ खड़े हुए। अग्नीध्र पहले ही उठ कर आचार्य की प्रतीक्षा कर रहा था। उसे सारी सामग्री सहेज लेनी थी। उसने अपना काम प्रारम्भ कर दिया। किन्तु उसके कान दोनों गुरुजनों के वार्तालाप पर लगे हुए थे।

परिहास के तौर पर बृबु ने कहा, 'किन्तु यह गन्ध धूम तो ऊपर महाकाश में ही अधिक उठा है। ऊपर भी तो आर्यों के अनेक देवता सुने गए हैं, उषस्, सावित्री, पूषण, द्यु, पर्जन्य, अग्नि।

'तैंतीस देवता हैं पितृव्य !' मुस्करा कर वसिष्ठ कह रहे थे और आवश्यक नहीं कि वे मनुष्य के समरूप हों, किन्तु मुझे पहले आपके पैर की परिचर्या कर लेने दें। अग्नीध्र, भगवती अरु से कहो, मैं आर्य-पितृव्य का पदार्चन करना चाहता हूँ, वे औषधोपचार की सामग्री प्रस्तुत करें।'

'अब तो पीड़ा बिलकुल नहीं मालूम देती आचार्य।' बृबु ने कहा, 'मैं तो अब आँगन में चल-फिर भी लेता हूँ। अब पट्टी न बांधें तो कैसा हो ? यदि कुछ असुविधा होती है तो मेरा अनुमान है, वह इस पट्टी के कारण ही है !'

वसिष्ठ ने मुस्करा कर रहा, 'गुरुजनों की पदार्चना का मेरा सुख आप छीन लेना चाहते हैं ? ऐसा सौभाग्य किसे मिलता है ?'

'ऐसे सौभाग्य में कठिनाई कहाँ है आचार्य ? हम पणिक तो इसे विनिमय कहते हैं। आपके इस सौभाग्य के लिए क्या मेरा दुर्भाग्य कारण नहीं हुआ है ? और वे फिर मुस्करा दिए।

भगवती अरुन्धति उपचार की मंजूषा लिए आ रही थीं। वार्तालाप का कुछ अंश उसने भी सुन लिया था। वही बोली, 'जो दूसरों के सौभाग्य के लिए दुर्भाग्य अपने सिर ले लेते हैं, वे ही तो पूजा और अर्चना के योग होते हैं तात ! आर्य पुत्र ने तैंतीस देवता ही बताए हैं, आप हमारे इतने निकट आ गए हैं कि दिखाई ही नहीं देते, नहीं तो देवताओं की संख्या तैंतीस नहीं, चौंतीस है' और मुस्कराती हुई वह भी आचार्य वसिष्ठ के साथ ही बृबु के पैरों के पास बैठ कर पट्टी खोलने मे अपने पति की सहायता करने लगी।

'मेरे लिए भी दुर्भाग्य कहाँ ? यह तो सौभाग्य ही हुआ है ! व्यवहार का कुछ आधार तो होता ही है और कहीं कुछ न हो तो मूल्य तो है ही। सदैव लाभ का न

हो, तब भी व्यवहार सुलभ तो हो ही जाता है। मैं कभी यह सोच भी नहीं सकता था कि आर्यों के यज्ञानुष्ठानों को विध्वंस करने वाला अहीशुव ही मुझे एक परम-याज्ञिक महर्षि के आश्रम में पहुँचा जाएगा और मैं उस आर्य महर्षि की संगति को अपने जीवन की विशिष्ट उपलब्धि मानने लगूँगा और अब तो मुझे उसके लिए पुनः मूल्य भी तो नहीं चुकाना पड़ेगा।'

'किन्तु आप तो कह रहे थे आपने अपनी किशोरावस्था में महाभाग नासत्य का शिष्यत्व भी ग्रहण किया है? देखिए, अब पैर में शोथ तो बिलकुल नहीं रहा है। अरु अब तुम इस पुराने लेप को धो डालो। जल बहुत उष्ण तो नहीं हैन? मैं तब तक दूसरा लेप तैयार करता हूं।'

पर आचार्य, यदि शोथ नहीं है तो अब लेप और पट्टी की क्या आवश्यकता है?' बृबु ने पूछा।

'सावधानी के लिए आज और पट्टी बाँध लेने दें तात। पीड़ा तो नहीं है न? उन्होंने पैर को एकाध स्थान से दबा कर पूछा।

'पीड़ा को आपने इस आश्रम में आने ही कहाँ दिया है आचार्य? आपके स्पर्श में अमृत है और इस बिटिया अरुन्धति की तो दृष्टि ही में अमृत है।'

'वह सभी के घट में है तात, आवश्यकता होती है केवल उस घट के मुख को खोलने की और सच्चा स्नेह तथा सेवा-भावना उस मुख को सहज ही खोल देते हैं। पट्टी आज भर रहने दीजिए, कल से इसकी आवश्यकता नहीं रहेगी। आपके घट का अमृत हमें भी तो मिलने दीजिए।'

'आप अपने देवताओं के बारे में कह रहे थे न? तैंतीस देवताओं को तृप्त करने का जिसे सौभाग्य प्राप्त हो उसे अमृत की क्या कमी है?'

'अमृत की प्यास क्या कभी कम होती है पितृव्य? तैंतीस ही क्यों? तैंतीस कोटि देवता क्यों न हो जाएँ? आपने कहा था कि यह यज्ञ-धूम तो ऊपर ही उठा है। ऊपर ही क्यों, वह तो वातावरण में चारों ओर व्याप्त हो गया है। आप भी तो उससे प्रसन्न हुए होंगे।'

'वह अवान्तर और अतिरिक्त लाभ हो सकता है आचार्य, किन्तु आपने तो उसे अपने हृदय के देवता के प्रीत्यर्थ ही बताया था न।'

लेप की स्निग्धता की परीक्षा करते हुए वसिष्ठ ने कहा, 'हृदय का वह देवता बाहर नहीं है क्या? शायद इसमें दोष आर्यों का ही है। उन्होंने अब तक अपनी दृष्टि को तैंतीस देवताओं तक ही सीमित रखा है न! कुछ के नाम आपने गिनाए ही हैं, वे आद्याशक्ति-प्रकृति के विशिष्ट रूप ही हैं भगवन्, जो अपने आविर्भाव से हमें सुख पहुँचाते हैं, सुरक्षा प्रदान कर निर्भय करते हैं और जीवन में प्रेरणा देते हैं। यह यज्ञ, यह अग्नि भी तो वैसा ही एक देवता है और इसको तथा

इसके माध्यम से ही अन्यान्य देवताओं को हम भविष्य अर्पण कर प्रसन्न करते आ रहे हैं। जिसकी हमें वासना होती है, जिसे हम पाकर सुख अनुभव करते हैं और जो हमें प्रिय है, वही हम अपने देवताओं को भी अर्पित करते हैं। किन्तु यह प्रेम से उत्पन्न आराधना तो नहीं है, यह है भय से उत्पन्न साधना, स्वार्थ से भरी हुई। इसमें सुरक्षा हो, पर आनन्द कहाँ है? हमारी इस साधना का नाम है होम आप जानते हैं, इसका दूसरा नाम है पशु-कर्म ?'

'पशु-कर्म ?' बृबु ने दोहराया, 'हमारे आराध्य देव का नाम भी तो है पशुपतिनाथ।'

'हम सभी मूलतः पशु ही तो हैं।' वसिष्ठ ने कहा, 'मनुष्य तो अब कहने लगे हैं हम अपने आपको, शायद मनन कर सकने की सामर्थ्य के कारण! जिस तरह यहाँ आकर हमने अपने आपको आर्य कहलाना अच्छा समझ लिया है। आपने जो पहले यहाँ आने पर यज्ञों के प्रति अवज्ञा व्यक्त की थी, वह अहैतुक नहीं थी। हम अभी तक इस पशु-कर्म में ही तो बँधे हुए हैं। इसके विपरीत जब मैं आपकी और आपके श्रमणों की संस्कृति की ओर देखता हूँ, तो मैं विस्मय से मुग्ध हो जाता हूँ। आपने हमारे इस पशुकर्म के स्थान पर पुष्प-कर्म का एक एक उच्च मानवीय आदर्श प्रस्तुत कर दिया है।'

विभांडक बृबु केवल मुस्कराते रहे, तो अग्नीध्र ने जो अपना कार्यक्रम निपटा कर वहाँ खड़ा बड़े मनोयोग से इस गम्भीर वार्तालाप को सुन रहा था, पूछा, 'गुरुदेव, इस पुष्पकर्म पर कुछ और भी प्रकाश डालने की कृपा करें न।'

'तुमने लक्ष्य नहीं किया आयुष्मान ?' वसिष्ठ ने अग्नीध्र की ओर मुँह फिराकर पूछा, 'अपनी यज्ञ-प्रक्रिया में परम्परागत-प्रक्रियाओं से एक स्पष्ट अन्तर है न!'

'वह क्या है भगवन् ? मेरे ध्यान में नहीं आ रहा है!'

'तुमने अन्य यज्ञानुष्ठानों में कहीं कलश-पूजा देखी है? जल से भरे कलश की पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम् ?'

'देखी तो वह अपने ही यहाँ आचार्य और पूछना भी चाहता था किन्तु अनुष्ठान की समाप्ति के बाद अन्य कर्मों में व्यस्त होकर पूछना भूल ही जाता था! आज अनायास अवसर आ गया है तो बताने का अनुग्रह करें न?'

'वह जल-कलश इस विराट प्रकृति का प्रतीक है अग्नीध्र! इस महतोमहीयान का अणोरणीयान सूक्ष्म प्रतीक, अगाध स्थूल महासिन्धु का एक सूक्ष्म बिन्दु!' फिर उसने बृबु की ओर सम्मुखीन होकर कहा, आपके यहाँ वह प्रतीक एक चित्र, एक मूर्ति, एक वृक्ष, एक प्रस्तर-खंड तक हो सकता है। सारा विश्व ही

तो उसी एक सत्ता से भासमान है। आपने अपने हृदय के निगूढ़ अन्तस्तल में जिस सूक्ष्म आत्मन का अधिष्ठान किया है, वह इस चराचर-व्यापी परमात्य-सत्ता का ही तो अंश है! कितनी सहजता और सरलता से आपने इस सत्य को साक्षात्कृत कर लिया है, यह मेरे लिए आश्चर्य का ही विषय है तात। मैं जव आपसे कह रहा था कि इस गन्ध-धूम से मैं अपने हृदय के देवता को प्रसन्न करना चाहता हूँ, तो मेरा आशय उसी सर्वव्यापी परमात्म-सत्ता से था। मेरे हृदय में तो वह अणोरणीयान होकर ही समासीन हो, किन्तु यह महतोमहीयान बाह्य विश्व भी क्या है? क्या यह उसी सूक्ष्म का अछोर विस्तार नहीं है? प्रकारान्तर से मनुष्य की हृदय-गुहा में निहित वही तो है। मैं तो तात, देखता हूँ कि इन दोनों विचार-धाराओं का संश्लिष्ट रूप ही मानव के उत्थान का सही साधन हो सकता है।' सो तो ठीक है आचार्य, किन्तु विचार-धाराओं के संश्लेषण के पहले, विचार करने वाले तो संश्लिष्ट हों! आपके समाज में तो यज्ञ के मूल में ही नृशंस हत्याओं का विधान है।'

आर्य ऋषियों की मूल कल्पना को समझना होगा पितृव्य, इसके लिए! उनके मत से तो यह सारी सृष्टि ही एक अनवरत विराट यज्ञ-प्रक्रिया है। वह सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रप, सारी भूमि को धारण किये हुये होकर भी केवल दस अंगुल में समाया हुआ परम पुरुष इस विराट यज्ञ-कुण्ड में निरंतर अपनी स्वयम् की आहुतियाँ देकर इस सृजन-कार्य को सम्पन्न कर रहा है।' और उन्होंने इसी आशय की एक ऋचा सुना दी।

'यह तो ठीक है आचार्य, किन्तु इस सृष्टि में तब ये युद्ध, विग्रह, छल-कपट, हिंसा, ये सत्-असत् आदि क्या हैं और क्यों हैं?'

'यही तो एक सनातन प्रश्न है पितृव्य।' उन्होंने फिर एक और ऋचा सुनाते हुए कहा, 'सृष्टि के प्रारम्भ में क्या था? अस्तित्व-अनस्तित्व, प्रकट-अप्रकट, भूमि-आकाश, दिवा-रात्रि, मृत्यु-अमृत्यु, कुछ नही था। केवल 'एक' था गहनम् गंभीरम्, निश्चल, निर्विकार अपने ही में अनुप्राणित! क्या था वह गूढ़ तमस से आवृत तमस-रूप? निरूपण के लिये कहा उन्होंने 'सलिलम् सर्वमा इदम्।' और तव 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमम् यदासीत्।' उस प्रथम में ही कामना उदित हुई कवियों और मनीषियों ने वाद में समझा कि यह कामना ही सत् और असत् के बन्धन का कारण है। और चूंकि ये असत्य हैं, इसलिये इनसे उत्पन्न जगत के व्यापारों से प्राप्त सुख और दुःख भी असत्य है।'

यह तो आप हमारे अक्रियावादियों की बात कह रहे हैं। ये कहते हैं कि कर्म बन्ध का कारण है, इसलिये कर्म करना ही नहीं चाहिए।' बृबु ने कहा।

यही तो मानवी-मेघा का कौशल है तात !—कौन जानता है कि यह सृष्टि कैसे हुई ? जो इस परम व्योम को जानता है, वह जानता है या वह भी नहीं जानता ? —अस्ति और नास्ति की यह द्वन्द्व भावना मनुष्य के ही चिन्तन का तो विषय है तात ! तब वह अपनी धारणा के अनुसार अर्थ लगा कर उसी भावना में बद्धमूल ही रहता है। कोई निपट अक्रियावादी है, तो कोई घोर व्यवहारवादी।'

एक लम्बी साँस लेकर बृबु ने कहा, 'मुझे खेद है आचार्य, कि अब तक केवल एक ही प्रकार के युयुत्सु-प्रवृत्ति और क्रूर आर्यों से ही मेरा सम्पर्क रहा। आपके यहाँ भी ऐसे निर्भीक चिन्तक हैं, यह जान कर प्रसन्नता ही नहीं, भविष्य के लिए आशा भी होती है आयुष्मान् !'

'शस्त्र-भूमि में एक ही प्रकार की मानसिकता मिलती है, उन्हें शास्त्र-भूमि मिलने के अवसर ही नहीं आते। प्रयत्न अधिक से अधिक दोनों भूमियों के मेल के हों, तभी सन्तुलन बना रह सकता है। हमारे यहाँ चिन्तन की यह गहराई वर्णाश्रम-व्यवस्था के बाद ही आ पाई है, किन्तु जैसा कि आप कहते हैं, हमारे-यहाँ वर्ण-व्यवस्था में भी परस्पर सहकार और आदान-प्रदान कम होता चला जा रहा है, जिसका परिणाम यह है कि मनुष्य समग्र न रह कर सम्प्रदायों में विभक्त होता जा रहा है। तब कोई केवल नृशंस शस्त्र-जीवी ही हो रहता है, तो कोई निपट सन्यासी शास्त्र-जीवी। आज दुर्भाग्य से अपनी मान्यताओं की एकाग्र-स्वीकृति में हम केवल खंड-व्यक्तित्व ही रह गए हैं, समग्र-व्यक्तित्व कहीं खोजे नहीं मिलता। हमारी अनेकानेक विषमताओं और दुःखों का कारण यही खंड-व्यक्तित्व है।'

'हमको दूर करने का तो एक ही उपाय है आयुष्मान् ! और वह है जैसा कि मैंने पहले कहा था। विभिन्न-विचारों का, विभिन्न-संस्कृतियों का सम्यक संश्लेष। तभी एक समग्र मानवीय-सभ्यता विकसित हो सकती है।'

'पर प्रयत्न इसके लिए कहाँ हो रहा है तात ?'

'हम पणिकों का तो सदा से यही प्रयत्न रहा है भाई ! कृषि-कर्म और व्यवसाय की जिस जीवन-पद्धति को हमने अंगीकार किया है, उसका मूल-आधार ही पारस्परिक सहकार-सहयोग है। हम लोग अपने पुण्य-अभियान लेकर दूर-दूर तक समुद्री-यात्राएँ करते रहे हैं, किसी का कुछ छीनने-झपटने के लिए नहीं, बल्कि विनिमय के लिए, आदान-प्रदान के लिए, मिल-जुल कर परस्पर एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। और इसके लिए अनिवार्य है शान्ति, सौहार्द्र और परस्पर विश्वास। फल भी इसका देख ही सकते हैं, पणिकों को सभी तरह की समृद्धि सहज ही प्राप्त है। मैंने तो पणिकों की ओर से बार-बार आपके देवराज

को निमन्त्रण भेजे हैं कि यदि उसका गण विपत्ति में है, अभाव में है, तो वह हमारे पास आए, हमारा आतिथ्य स्वीकार करे, हम उसे सब प्रकार का सम्पूर्ण सहयोग देंगे। साधनों का कहाँ अभाव है? किन्तु मुझे आश्चर्य होता है आयुष्मान्, वह क्यों हिंसा चाहता है? हिंसा तो हिंस्र पशुओं का स्वधर्म है, हिंसा से ऊपर उठ कर ही तो हम मनुष्य हुए हैं! यदि हिंसा की यह प्रवृत्ति मनुष्य में नष्ट नहीं हुई, तो अन्य कई पूर्व-युग की दैत्याकार-वलिष्ठ प्रजातियों की तरह, मुझे भय है, यह मानव-प्रजाति भी एक दिन नष्ट हो जाएगी।'

वसिष्ठ ने एक लम्बी साँस ली और कहा, 'यही तो दुर्भाग्य है तात। मनुष्य में सत्ता का लोभ जागृत हो उठा है। हमारे अपने ही गण में दाशराज-युद्ध हुआ—'

मुस्कराते हुए वृबु ने बीच ही में कहा, 'और वह भी एक असुर-राज की कन्या शर्मिष्ठा के पुत्र को अधिकार-वंचित करने के लिए। आपने ही तो उस युद्ध की पुरोहिताई की थी आचार्य?'

'हाँ तात, वह मेरी भूल थी! मैं गुरुकुल से आया ही आया था। मेरे पिता मित्र और वरुण देवराज के सखा हैं और महाराज सुदास पर देवराज की कृपा-दृष्टि है। वह युद्ध मेरी शिक्षा की कसौटी बना दिया गया था। और अनुभव तो; कितना ही बड़ा क्यों न हो; किसी गुरु-दक्षिणा से नहीं प्राप्त हो सकता, आत्म-बलिदान के सिवा तो वह कभी प्राप्त नहीं होता! उसके बाद ही मैंने समझा है तात, कि वृषपर्वा का वह कन्या का सम्प्रदान तो देवों और असुरों के पुनर्मिलन का बहुत अच्छा अवसर प्रमाणित हो सकता था, उसका हम लोगों ने लाभ नहीं उठाया। इसलिए तो बाद में देवराज का रोष-भाजन बन कर भी मैं महाराज सुदास के पक्थ-अभियान का सहयोगी नहीं बन सका, बल्कि मैंने उसका विरोध भी किया है।'

'सो तो देख ही रहा हूँ आचार्य,' वृबु ने कहा, 'इसीलिए तो आप आश्रम छोड़ कर इस तरह भटकने को बाध्य हुए हैं। किन्तु आपके इस विग्रह-विरोधी परामर्श की अवहेलना तो स्वयम् युद्ध—नीति के लिए हानिकर प्रमाणित हुई न। क्या महाराज सुदास या देवराज यह भी नहीं देख पाए?'

'पहले युद्ध का विजयोन्माद और फिर सत्ता का उन्माद, दोनों मिल जाएँ तो फिर भविष्य देखने की चिन्ता या अवकाश किसे हो?—हमारे गण में पहले राज्य-संस्था नहीं थी। शायद तब हम पूरी तरह संगठित नहीं रहे होंगे और अन्य दूसरे युयुत्सु-गणों से सहज ही पराजित भी हो जाते रहे होंगे। किन्तु तव

हममें ऊँच-नीच का, स्वामी-सेवक का भाव भी नहीं था। संघर्षों में यदि हम कभी पराजित होते, तो कभी विजयी भी होते थे। सुरक्षा के नाम पर ही हमने राज्य-संस्था स्वीकार की थी और अपने में से ही किसी को राजा चुन कर स्वेच्छा से हमने अपने सभी अधिकार उसे सौंप दिए थे। किन्तु जहाँ एक बार सत्ता का स्वाद जीभ को लग जाता है, वह सरलता से कहाँ छूट पाता है? जिस श्वान को रक्त का स्वाद लग जाता है, वह आवश्यकता पड़ने पर अपने ही मुख की हन्वस्थि को चबा कर भी अपना स्वाद पूरा करता है! आप ही बताइए, कैसे छूटे यह स्वाद?'

'सरलता से न हो, पर छूटता है आयुष्मान्, छूट सकता है। आपने भी विजय का स्वाद तो चखा ही था। अपने आत्मन् का आपने सर्वथा बलिदान नहीं हो जाने दिया न! यह प्रजा यदि अपने ही अन्त:करण से न पैदा हो; तो विचारों के आदान-प्रदान से भी पैदा हो सकती है! यदि सारा गण सदैव सावधान और सजग रहे, तो सत्ता कैसे कहीं एक स्थान पर एकत्र हो? दोष सत्ता का नहीं, दोष है उसके एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने का। मैंने देखा है, मैं देश-विदेश में बहुत घूमा-फिरा हूँ। उत्तर-पश्चिम में उफ्रातु और तिग्रा की उपत्यका में, उससे भी दूर पश्चिम में नील-नदी के आँचल में, जहाँ कहीं भी मैंने देखा है कि सत्ता किसी एक व्यक्ति या एक कुल में जाकर समाहित हो गई है, वहाँ शेष जन-सामान्य का शोषण प्रारम्भ हो गया है। सत्ता में तो प्रकृति ने ही गुरुत्वाकर्षण भर रखा है, जरा-सा केन्द्रीयकरण होते ही वह अधिकाधिक सत्ता आकर्षित करने लगती है। मनुष्य को अपनी सत्ता कभी विस्मृत नहीं करनी चाहिए, नहीं तो वह मनुष्य से उतर कर पशु ही नहीं, नितान्त जड़ पदार्थ हो जाएगा! आपके यहाँ तो इतिहास की परम्परा नहीं है हो ही कैसे? अपने अनुभवों को सुरक्षित रखने के लिए आप लोग अपनी स्मृति और श्रुति पर ही तो निर्भर करते हैं! इतिहास तो अपने विगत अनुभवों का लेखा-जोखा होता है न!'

'अपने अनुभवों को सुरक्षित रखने का अन्य उपाय भी क्या है तात?'

'वह अपनी वाणी को संकेतों में अभिव्यक्त कर किसी माध्यम पर अंकित या उत्कीर्ण कर देना! नदी-तट के उन देशों ने लिपिका आविष्कार करके अपने अनुभवों को भावी पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखने का सहज उपाय खोज निकाला है।'

'मैंने भी सुना है तात और ऐसी लिपि का प्रचलन आपके यहाँ भी तो है।'

'है, हमारे यहाँ भी काफी प्राचीन काल से है और हमने इस आविष्कार को बिलकुल स्वतन्त्र रूप से और सर्वथा एक दूसरे ही उद्देश्य-साधन के लिए किया

हैं। दुर्भाग्य यह है आयुष्मान्, कि जहाँ-जहाँ यह राज्य-तन्त्र है, वहाँ-वहाँ इस लिपि का उपयोग भी वे अपनी सत्ता को प्रायः अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही करते आए हैं।'

'वह कैसे तात? मैं समझा नहीं।'

'मैंने इतिहास कहा था न? इन इतिहासों में वहाँ परस्पर हिंसक युद्ध-विग्रह, जय-पराजय या सत्ताधारियों के आदेश ही उत्कीर्ण करके भावी पीढ़ियों या जन-सामान्य की सूचना के लिए सुरक्षित और प्रचारित कर दिए जाते हैं। इन्हें पढ़ कर भावी पीढ़ी हिंसा के अतिरिक्त और कौनसा आदर्श ग्रहण करेगी? सम-सामायिक जनता तो आतंक के मारे अपनी सही-सही स्वाधीनता भी उन आदेशों को समर्पित कर जैसे-तैसे जीवन बिताने को बाध्य होती है।'

'तो आपके यहाँ इस लिपि का उपयोग किस प्रयोजन के लिए किया जाता है?'

'सम्यक लोक-व्यवहार के लिए, आदान-प्रदान की खतौनियों के लिए और पारस्परिक सद्भाव को बढ़ाने वाली मानव की मूल-प्रवृत्तियाँ, जैसे भक्ति, करुणा, अहिंसा, अपरिग्रह, उल्लास, नृत्यादि प्राणि-मात्र के प्रति समभाव, सौहाद्रं दर्शाने वाली कृतियों और अनुकृतियों को अवरेखित करने के लिए। पणिकों ने अब तक लिपि के आविष्कार से इतिहास का नहीं, जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर के उद्घाटन के लिए कला और जीवनादर्श का उपयोग लिया है!'

'लिपि का आविष्कार तो मानवता के लिए एक वरदान है तात, किन्तु क्या इतिहास यह जीवनादर्श का उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता?'

'क्यों नहीं कर सकता? किन्तु तब उसे राज्याश्रय से मुक्त होना होगा। उधर बावेरू में ऐसे कई कल्पित-वास्तविक आख्यान, गिलगमेश, उत्नपिश्तिम, ऐक-किदू, मर्दुक, बेल, तयमात, इश्तर, अनु, अडामा, एनलिल आदि के, प्रचलित-प्रचारित हैं, किंतु सभी में कम-अधिक युद्ध-विग्रह-हिंसा-द्वेश आदि ही भरे पड़े हैं। यही सब कुछ तो पशुओं में भरा मिलता है, जिसे हम बिना पढ़े ही अपने आस-पास नित्य देखते हैं। मनुष्य तो यह सब कुछ नहीं है न! वह इन सबसे ऊपर उठ कर ही मनुष्य बना है। जिन्हें वह अपने आसपास नहीं देखता, पर जिनका निर्माण करता है वह है उसके मानवीय-गुण अहिंसा, क्षमा, करुणा, प्रेम, भक्ति, श्रद्धा। इनका प्रचार क्यों नहीं किया जाता? हमारे चारों ओर कैसा विषैला वातावरण फैला दिया गया है? यही देखिए न! इस आश्रम में मुझे मनकी

अशेष शान्ति और तन की सभी सुविधाएँ, परितृप्तियाँ प्राप्त हैं, किन्तु मन क्यों चाहता है कि पैर में अब यह पट्टी न बँधे, स्कन्ध की आकुलता समाप्त हो जाए, और मैं अविलम्ब युद्धक्षेत्र में पहुँच जाऊँ ? मानों यहाँ पड़ा-पड़ा मैं व्यर्थ हो रहा हूँ, जबकि यह भी प्रतीत होता है कि जीवन की सार्थकता के क्षण शायद ये ही हैं। जीवन में यह सामंजस्य और सौमनस्य क्यों नहीं है ?'

'अविद्या के कारण, हमारे अज्ञान अर्थात् सत्य को न जानने के कारण। और तब भी किसी एक ही को पकड़ कर हम ज्ञान का अभिमान भी कर लेते हैं। इसीलिए ऋषि कहता है, **"अन्धम् तमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमोयउ विद्याथाम् रताः।"** जो अविद्या में ग्रस्त हैं वे घोर अंधकार में हैं और उनसे भी बुरे वे हैं जो तथाकथित विद्याओं में रत हैं। इसी खण्ड-व्यक्तित्व के कारण तो यह मानव आज अपने सहज आनन्द से वंचित हो गया है। अपना उदाहरण दूँ ? आपने उस दिन पूछा भी था। विश्वरथ ने, देखिए न, मेरी कितनी हानि करनी चाही है ? यदि मैं उसे अपना घोर शत्रु समझूँ, तो मुझे दोष देगा ? किन्तु मैं दूँगा, क्योंकि वह मेरे खंड-व्यक्तित्व से सोचने का परिणाम होगा। विश्वरथ वैसा ही सोचता है, किन्तु मैं वैसा नहीं सोचता।'

'यह मनः स्थिति आपने कैसे प्राप्त की आचार्य ?'

'उसी समग्र भाव से सोच कर ! विश्वरथ ने एक अच्छे आश्रम को जला डाला, हमारा गोधन नष्ट कर दिया—यह सब एक उत्पादक-श्रम का ध्वंस ही तो था, इसका दुःख मेरा ही क्यों, सारी मानवता का दुःख है। मेरा ही विशेष दुःख क्यों हो वह ?'

'इसलिए कि वह आपके श्रम का उपार्जन था।'

'उस उपार्जन के पहले मेरी जो निरपेक्ष स्थिति थी, आज फिर से क्या वैसी ही निरपेक्ष स्थिति नहीं हो गई है मेरी ? बीच में वह एक उपसर्ग ही तो आ जुटा था। मैं चाहूँ तो क्या वैसा ही उपार्जन फिर नहीं कर सकता ? तब फिर दुःख किस बात का ? बेचारी अरु इस बात को लेकर अभी से दुःखित है कि आरोग्य लाभ करते ही आप हमें छोड़ कर चले जाएँगे और तब हमें भी यहाँ टिके रहने का कोई बहाना नहीं रह जाएगा। मैंने क्या कहा था अरु ? स्मरण है ?—'

वृबु के पैर की पट्टी बँध चुकी थी। वह वृबु के पैरों को बड़े प्यार से सहला रही थी। वसिष्ठ की बात सुन कर सहसा उसकी आँखें डबडबा आईं, तो उन्हें छिपाने के लिए उत्तर दिए बिना ही वह उठ कर भीतर कुटिया में चल दी। इस

अकृत्रिम-स्नेह से वृबु प्रभावित होकर कुटिया के खुले द्वार की ओर ही ताकता रहा, फिर जैसे मोह से जाग कर बोला, 'दुःख मुझे ही क्या कम होगा आचार्य ? सन्तान का सुख कैसा होता है ? मैं नहीं जानता। आप लोगों में आकर आप से जो स्नेह मुझे मिला है, कह नहीं सकता, अब कभी मिलेगा भी, किन्तु आचार्य, यह जो अभी आपने कहा; आप यहाँ से चले क्यों जाएँगे और कहाँ चले जाएँगे ?'

वसिष्ठ ने एक लम्बी साँस ली और कहा, 'हम चाहे जितना अपने मन को समझा लें तात, किन्तु हैं, तो उसी खंड-व्यक्तित्व के शिकार ! महाराज सुदास के यहाँ अब मेरा कोई प्रयोजन नहीं रहा। किसी को तुष्ट करने के लिए मैं उसके अच्छे-बुरे सभी कर्मों का समर्थन कैसे कर सकता हूँ ? सम्भवतः विश्वरथ ने ही मेरे विरुद्ध उनके कान भर दिए हैं। उधर देवराज भी गत युद्धों में मेरी उदासीनता से तुष्ट नहीं हैं। तब मैं यहाँ रह कर क्या करूँ ?'

'मैं आपसे एक निवेदन करूँ आचार्य? आपको अपनी आत्मीयता में पाकर मेरा दुर्योण धन्यम्मन्य हो उठेगा। आर्यों जैसा वैभव शायद हम आपको न दे सकें किन्तु हमारे सरल हृदयों की सारी विभूति आपके चरणों में होगी। युद्ध का यह संकट तो शीघ्र ही टल जाएगा, तब तक आप यहीं विश्राम करें। बेटी अरुन्धति की इच्छा तो पूरी होगी ही, मैं भी अपने भाग्य की सराहना करूँगा।'

वसिष्ठ ने कुछ क्षणों तक सोचा, फिर कहा, 'तात, इससे अधिक प्रसन्नता और सुख की बात हमारे लिए भी दूसरी नहीं होती। जिसे अकृत्रिम स्नेह का ऐश्वर्य मिल जाए, उसे और चाहिए ही क्या ? किन्तु मैं तो आपके और आपके प्रिय नगर दुर्योण के लिए एक अन्तहीन बाधा ही बन जाऊँगा ! आर्यगण अभी भी आपको अपना चिर शत्रु मानते हैं, दुर्दान्त देवराज इन्द्र का नारा ही बन गया है, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।' मुझे आपके आश्रय में देख कर तो उस अग्नि में घी पड़ जाएगा। मैं आपके लिए कष्ट का कारण क्यों बनूँ ? मुझे पौरव-राज संवर्त का निमन्त्रण भी मिला हुआ है, किन्तु मैं अभी वहाँ भी नहीं जा रहा हूँ। अभी मैं पूर्व में गंगा तट पर मेरे गुरु ऋचीक के आश्रम में जाना चाहता हूँ। भविष्य की योजना वहीं उनके परामर्श से ही बन सकेगी। और यह जो संयोग-वियोग के सुख-दुःख हैं, इन पर तो हमें विजय पानी ही होगी। इसीलिए तो आपके श्रमणों में ही एक वर्ग दुःखवादियों का है। वे मिथ्या नहीं कहते यह जीवन और जगत केवल दुःख का मूल है। यहाँ मनुष्य खो कर ही दुःखित नहीं होता, पाकर भी उतना ही दुःखित होता है।'

अग्नीध्र ने पूछा, 'भगवन् ! पाकर मनुष्य कैसे दुःखित होता है ? पाने के लिए ही तो उसकी सारी चेष्टाएँ हैं ?'

'किन्तु यह संसार तो क्षण-भंगुर है न ! तुम्हारी प्राप्ति शाश्वत तो नहीं हो सकती। उस प्राप्ति से मोह हो जाता है। पितृव्य महापणिक जब तक यहाँ पधारे नहीं थे, हम इन्हें जानते भी नहीं थे और तब भी हमारा जीवन एक निश्चित क्रम में सुख से ही बीत रहा था। अब ये हैं, जब तक हैं उनके सान्निध्य का सुख हमें है। इनके चले जाने के बाद हमारा जीवन पूर्ववत क्यों नहीं हो जाना चाहिए ? कितनी बाधाएँ हैं इस जगत में ? मृत्यु के आगे तो किसी का वश भी नहीं चलता। पर देखो तो अग्नीध्र, यह तो अश्व के टापों की ध्वनि है और दूर से शायद रथ की घरघराहट भी प्रतीत होती है। पितृव्य के लिए रथ की प्रतीक्षा तो तभी से थी। प्रतीत होता है आपके नायक को युद्ध से अब कुछ अवकाश मिला हो !'

'सब कुछ कुशल हो तब है आचार्य।' बृबु ने सचिन्त कहा।

अग्नीध्र आगे बढ़ा ही था कि सामने से अश्वारूढ़ अहीशुव आता दिखाई दिया। इन पर दृष्टि पड़ते ही वह अश्व पर से उतर पड़ा और दौड़ कर आते ही महापणिक के पैरों पर प्रणिपात हो गया। बृबु ने बड़ी चिन्ता के साथ देखा कि अहीशुव की मुखश्री और भी करुण और विगलित हो उठी है। अन्य उपस्थितों ने उसे यात्रा की श्रान्ति समझा हो, किन्तु बृबु का हृदय आशंका से भर उठा। दोनों हाथों से अहीशुव को उठाते हुए उन्होंने पूछा, 'इतने व्याकुल क्यों दिखाई दे रहे हो भाई ?--सब कुशल तो है न ?'

'कुशल नहीं है महापणिक, रथ लेकर किसी तरह आ पहुँचा हूँ—'

'तो चिन्ता क्या है ?—मैं अब स्वस्थ हूँ। अभी आचार्य से पट्टी खोल देने के लिए ही कह रहा था। रथ यदि पहले आ जाता तो मैं पहले भी जा सकता था। रथ पर तो बैठे-बैठे भी युद्ध किया जा सकता है न !—अब घबराने की कोई बात नहीं है।'

'रथ आपको लिवा ले जाने के लिए नहीं, आपकी धरोहर आपको सौंपने के लिए लाया हूँ भगवन !'

'मेरी धरोहर ! तो रथ में क्या, मृगम्मदा अस्वस्थ हैं ?' और वे उठने का प्रयत्न करने लगे। अग्नीध्र ने आगे बढ़ कर सहायता देना चाहा। इसी बीच अरुन्धति भी वहाँ आ खड़ी हुई थी। वसिष्ठ ने सुन कर कहा, 'आप बैठे रहें तात, मातृपद को मैं देखता हूँ रथ में।'

अहीशुव ने कहा, 'रथ में महादेवी नहीं हैं महापणिक। महादेवी तो गए तीन दिनों से हमें छोड़ कर सहसा अदृश्य हो गई हैं।'

'अदृश्य हो गई हैं ? कहाँ और तब मेरी यह धरोहर……'

'वह है आपका नवजात पुत्र, महापणिक !'

'मेरा नवजात पुत्र ? और महादेवी अदृश्य हो गईं प्रसूति-कक्ष से ही ?—किसी ने उनको रोका नहीं ? मैंने तो पुत्र कभी चाहा नहीं था। तुम तीन दिन बाद सूचना दे रहे हो ? और अभी तक वह मान्स-पिंड उसकी जन्मदात्री माँ के अभाव में भी जीवित है मेरा उपहास करने के लिए ?' महापणिक उत्तेजित होकर खड़े हो गए। अग्नीध्र को सम्हालने में परिश्रम करना पड़ा।

अहीशुव ने सिर झुका कर कहा, 'नहीं महापणिक, वे प्रसूति-कक्ष से अदृश्य नहीं हुईं। प्रसव तो उसी दिन कुशलतापूर्वक हो गया था जिस दिन आप दुर्योण से युद्धभूमि के लिए चल पड़े थे। नवजात का पालन अवश्य उन्होंने नहीं किया। वह सफलतापूर्वक एक धात्री करती आ रही है। महादेवी उर्वशी ने तो शायद अपने पुत्र को देखा भी नहीं है—जन्म से ही वे उसे ऋष्य शृंग कह कर सम्बोधित करती रही हैं—अदृश्य होने के पहले तीन दिन तक तो वे समर-भूमि में सेनाओं का नेतृत्व कर शत्रु को अविस्मरणीय चुनौती देती रही हैं। वे अदृश्य समरभूमि से हुई हैं महापणिक, प्रसूति-भवन से नहीं।

अरुन्धति ने समझ में आने योग्य सब कुछ सुन लिया था, वह अब वहाँ खड़ी नहीं रही, वह सामने-पथ पर रथ की दिशा में तेज कदमों से चल पड़ी।

'तो इस ऋष्य शृंग को यहाँ क्यों ले आए भाई ? मेरे पैर की यह बाधा ही क्या कम है ?

'दुर्योण सुरक्षित नहीं रहा भगवन्। शत्रुओं ने उसे चारों ओर से आग लगा दी है !'

'क्या कह रहे हो अहीशुव ? दुर्लंघ्य परिखा और जिह्मबार द्वार को पार किए बिना कोई नगर को आग लगा सकता है ? हमारे सैनिक क्या विमुग्ध होकर शत्रु का कौशल देखते रहे ?'

'यह सब तो मैंने नगर से प्रस्थान कर लेने के बाद देखा है महापणिक। इसके पहले शत्रु ने अवश्य बाहर से जलते हुए काष्ठ-खंड फेंके थे नगर-प्रान्त में। मैंने तत्काल प्राचीर पर धनुषधारियों को नियुक्त कर उसे रुकवा दिया था। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि इतनी जल्दी शत्रु मुख्य द्वार भेद कर भीतर कैसे प्रवेश कर गए ? महिला वाहिनी पूरे उत्साह में वहाँ विद्यमान थी। दृमीक को मैं खूब सावधान कर आया था। उसके पास स्वयम् दो गुल्म थे। सम्भव है वृङ्गद भी युद्धक्षेत्र से लौट आया हो।'

'और महाश्रेष्ठि अर्बुद ? महादेवी को किसलिए युद्धभूमि में जाना पड़ा ?—खैर, उसे सुनने के लिए बहुत समय मिलेगा। किन्तु मैं यहाँ से सीधा युद्धक्षेत्र में चलना चाहता हूँ। तब तक इस शिशु का क्या हो ?'

'युद्धक्षेत्र में जाने का अब क्या प्रयोजन है महापणिक ? युद्धक्षेत्र तो अब दुर्योण नगर है ! महादेवी के अकस्मात् अदृश्य हो जाने के बाद छल और बल से शत्रु-सेना ने हमारी सेना का अतिक्रमण कर लिया और वहाँ की सारी विजित भूमि हमें खाली कर देनी पड़ी है।'

'और महादेवी ! अदृश्य वहीं से हुई हैं न ?—यदि कहीं शत्रुओं ने उन्हें बन्दी कर लिया हो ?'

'उसकी सम्भावना नहीं है भगवन्।' फिर अहीशुव ने संक्षेप में युद्ध का इन दिनों का सारा वर्णन कह सुनाया। दुर्योण पर आक्रमण की चर्चा करते हुए उसने कहा, 'मुझे सन्देह होता है महाश्रेष्ठि अर्बुद पर। मुझे नगर से दूर हटाने का उन्हें बहाना अवश्य था, किन्तु उनके आग्रह के मूल में शिशु की प्राण-रक्षा का प्रश्न, कम-से-कम हमारे प्रस्थान के समय तक तो इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, जितना मुझे वहाँ से दूर कर देने का। सैनिकदायित्व तो वे मेरी अनुपस्थिति में ही ले सकते थे ! दृमीक अभी इतना अनुभवी कहाँ है कि वह महाश्रेष्ठि का विरोध कर सके।'

'कुछ आधार है तुम्हारे पास महाश्रेष्ठि पर सन्देह का ?'

अहीशुव ने कुछ मुस्करा कर कहा, 'एक तो वह वैसे ही पुराने पापी हैं महापणिक और उनका हिरण्य-लोभ क्या उम्र के बोझ से भी दब सका है ? सन्देह के लिए पुष्ट-आधार तो यह है कि एक दिन पहले रात्रि को एक अपरिचित सैनिक आपकी मुद्रिका दिखा कर मुख्य द्वार से नगर में प्रविष्ट हुआ था। यद्यपि उस समय महाश्रेष्ठि सैनिक कार्यालय में ही थे और द्वारपाल ने उस सैनिक को बता भी दिया था, किन्तु उसने महाश्रेष्ठि के आवास का ठिकाना मालूम कर वहाँ उनसे मिलना उचित समझा। मुझे तो गुप्तचर से यह सूचना कल प्रातःकाल मिली, नहीं तो मैं तत्काल उस सैनिक को बन्दी बनाने में संकोच नहीं करता। किसी अपरिचित सैनिक के पास आपकी मुद्रिका कैसे पहुँची ? कुछ आप प्रकाश डाल सकते हैं इस पर ?—किसी को शायद वहाँ का हालचाल जानने के लिए आपने यहाँ से नियुक्त किया हो ?'

'नहीं अहीशुव। यहाँ आकर तो मैं युद्ध को एकदम ही भूल गया। शान्ति और सद्भाव का ऐसा मनोमुग्ध कर वातावरण तुमने कभी देखा है ?' और उन्होंने

वसिष्ठ की ओर गर्व से देखा। फिर कहने लगे, 'किसी भी अपरिचित नए व्यक्ति को मुद्रिका देने का कोई प्रश्न ही नहीं है भाई। हाँ, मेरी नामांकित एक मुद्रिका तो वणि के पास अवश्य है, वह प्रायः ही गुप्त प्रेषों पर आता-जाता रहा है न!—किन्तु, क्या वणि का इतना साहस हो सकता है कि वह—और उसे तो सभी पहचानते हैं!'

'वह नहीं महापणिक, वह किसी अपने विश्वस्त आर्य-नायक के सहज-प्रवेश के लिए उसका उपयोग क्यों नहीं कर सकता? पुराना पापी वह भी तो है और अर्बुद का सदैव दाहिना हाथ रहा है!'

'तुम्हारा अनुमान असम्भव नहीं है अहीशुव। किन्तु क्या तुम सोचते हो कि महाश्रेष्ठि इतने अधम हो सकते हैं कि शत्रु-सैन्य के प्रवेश के लिए द्वार ही खुलवा दें?'

'यह तो मैंने आप जैसे गुरुजनों से ही सुना है कि भूतपूर्व महापणिक के शासन में भी उन्होंने ऐसा ही विश्वासघात किया है! परिखा उसके बाद से ही तो अलंघ्य बनाई गई थी। अचूक धनुधारियों की वाहिनी मैं प्राचीर पर नियुक्त कर आया था; चढ़ कर प्राचीर को पार करना नितान्त असंभव था। वृक्रस द्वार पहले तो बाहर से दिखाई ही नहीं देते, उनको तोड़ने के लिए भी कितने हाथी आवश्यक होंगे?—जो हो, पुष्ट प्रमाण तो मेरे लौटने पर ही मिल सकता है कि शत्रु को प्रवेश द्वार खोलने से मिला है या वे अपने बल से प्रविष्ट हुए हैं।'

'हाँ अहीशुव, जब तक पुष्ट प्रमाण न मिल जाए किसी पर सन्देह करना उचित नहीं है। मनुष्य मात्र को हमें सामान्यतया भला मान कर ही चलना चाहिए। फिर सामने दृष्टि डालते हुए उन्होंने कहा, 'यही है क्या धात्री?—पर यह क्या यहाँ रुकेगी?'

सामने से अरुन्धति अपनी गोद में शिशु को लिए बड़ी मग्न हुई आगे-आगे चली आ रही थी, उसके पीछे थी धात्री अपने शिशु को लिए हुए। अहीशुव ने कहा, 'धात्री को मैं अपने साथ ही लौटा ले जाऊँगा इसी आश्वासन पर ला सका हूँ। उसका परिवार है न देखने के लिए। दो बच्चे और घर पर उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

अरुन्धति ने बड़े उल्लास के साथ शिशु को वृबु की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'आहा, कितना सुन्दर है तात! बिलकुल मृगम्मदा मौसी की अनुहार गया है। मुझे क्या पुरस्कार मिलेगा?'

शिशु को लिए हुए हाथ बढ़ाए अरुन्धति उनके सामने खड़ी है, वृबु को इच्छा न होते हुए भी अपनी गोद से हाथ उठा कर उसके लिए स्थान करना पड़ा और जैसे ही उनकी दृष्टि शिशु के खिले हुए पुलक-कम्पित चेहरे पर पड़ी कि स्वतः ही उसे लेने के लिए उनके हाथ बढ़ गए। वसिष्ठ और अग्नीध्र भी बच्चे

पर झुक आए। वृबु के मन में तुमुल संग्राम मच रहा था: यही है वह ऋष्य शत्रु, ऋष्य शृंग, जिसके कारण उनकी प्रिया उनसे छिन गई है। किन्तु उस प्राणाधिक प्रिया का अन्तिम एकमात्र अभिज्ञान भी तो यही है, उसी की अनुहार, बिलकुल उसी की प्रतिकृति! —और यही क्यों? स्वयम् उनके नाशवान शरीर का, उनके अस्तित्व का अमृत-कुम्भ भी तो यही है, जो उनके वंश को, उनकी परम्परा को काल की सीमा के पार ले जाने का आश्वासन लिए हुए है। वे निर्निमेष उसकी ओर देखते रहे, उसे अपने आपको सर्वथा भूले हुए।

अरुन्धति ने फिर दुहराया, 'कोई सामान्य-से पुरस्कार से सन्तुष्ट होने वाली नहीं हूँ मैं तात।'

'अँ? —तुम्हारा पुरस्कार न? हाँ-हाँ बेटी! यदि तुम समझती हो कि यह मेरी बहुत बड़ी निधि है, तो लो, इसी को तुम्हें दिया।' और मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए उन्होंने बच्चे को उसकी ओर बढ़ा दिया।

शिशु को अपने हाथों में लेकर अरुन्धति बोली, 'आपने तो ऐसे कह दिया जैसे मौसी का इसमें कोई अधिकार ही न हो!

वृबु ने मनकी पीड़ा को दबाते हुए आँखें बन्द कर कहा, 'अधिकार होता तो इसे और मुझको अनाथ छोड़ कर वह क्यों चली जाती?'

अरुन्धति ने न समझ कर आश्चर्य से कहा, 'क्या कहते हैं आप? वे तो अपने वीर आर्यपुत्र की परम्परा में युद्धभूमि में गई हैं न?'

'और युद्धभूमि से ही अपने कुल की परम्परा में पुत्र को पति की गोद में अकेला छोड़ कर, एकदम छोड़ कर चली गई हैं।—यह पुत्र तो ऋष्य था, ऋष्य शृंग कह कर ही पुकारती रही हैं इसे इसके जन्म के पहले से ही।'

'अर्थात्—ओह, मैं भूल ही गई कि वे उर्वशी हैं!—हे भगवान्! तो इस निरीह शिशुको—'

'उनकी धरोहर समझ कर मैं पालूंगा। उनकी जिद थी कि नारी पुरुष से सर्वथा निरपेक्ष रह कर भी अपना समग्र जीवन पूर्णता के साथ जी सकती है, इसलिए तो हम कभी औपचारिक-विवाह सूत्र में भी नहीं बँधे! और देख ही तो रही हो, पति से ही नहीं, पुत्र से भी वे निरपेक्ष होकर चल दी हैं। पूणंतः न जिया हो उन्होंने अपना जीवन, यह भी नहीं है। स्त्री की समस्त गरिमा के साथ ही नहीं, पुरुष की समस्त गरिमा के साथ भी, वे सिर ऊँचा किए जीती रही हैं।— ठीक है, तो उनका आदर्श ही सही। मैं अब तक पुरुष होकर ही जिया हूँ, इस शिशु के

लिए अब माँ होकर जीवित रहूँगा !—किन्तु अभी तो जब तक मैं दुर्योण से लौट न आऊँ तब तक यदि तुम चाहो तो मेरी धरोहर समझ कर इसे पालो ।'

'मैं चाहूँ ?—आपको इसमें सन्देह होता है तात !'

'प्रकारान्तर से तुम भी तो एक उर्वशी ही हो बेटी ।'

'नहीं तात, विवाह के बाद स्त्री पितृ कुल की बेटी नहीं रहती, वह स्वसुर कुल की वधू बन जाती है । मैं आर्य हूँ, अपने आर्यपुत्र के चरणों की दासी । उनके पितृ-ऋण को चुकाने का भार मुझ पर है !' और उसने गर्व से अपने पति वसिष्ठ की ओर देखा, फिर कहा, 'आर्य कुलों में मातृपद की बड़ी प्रतिष्ठा है तात, मैं आपके इस पुत्र की माता बनने के लिए भी उतनी ही उत्सुक हूँ । मेरी ही कोख का यह भविष्य-दूत हो !'

विभोर होकर वृबु ने कहा, 'मेरे लिए तुम्हारी मौसी का यही एक अभिज्ञान है बेटी ! यदि यह भी मेरी आँखों के सामने न रहे तो मेरे लिए वह एक स्वप्न ही रह जाएगी । वैसे तुम्हारा पुत्र ही तो है यह, किन्तु तुम स्वयम् अष्टपुत्र सौभाग्यवती बनो !—अहीशुव, धात्री से कहो, वह अरुन्धति को बच्चे का कार्यक्रम समझा दे । और आचार्य, अब मुझे इस समय विदा दें ।—'

'अभी आप कैसे जा सकते हैं तात ? अभी तो मुझे आपका स्कन्ध-प्रवेश देखना है—

'अब आप इन चिन्ताओं को छोड़िए ।—अभी यह बिटिया कह देगी, स्कन्ध ही क्यों, आपका यह नवजात शिशु ।—नहीं आचार्य'

अहीशुव ने कहा, 'आचार्य वसिष्ठ ठीक कह रहे हैं महापणिक अभी आपके यहाँ से चल निकलने में किसी को कोई लाभ नहीं हो सकता । दुर्योण में यदि शत्रु का नगर-प्रवेश हो गया है तो बाहर से हम तब तक क्या कर सकते हैं, जब तक कि हमारे पास पर्याप्त सैन्य-बल न हो ? हम लड़ तो अवश्य सकते हैं किन्तु उससे तो नागरिकों की कठिनाइयों का समाधान नहीं हो सकता । मुझे आप अवश्य तत्काल लौट जाने की अनुमति दें । वहाँ की सारी स्थिति का अध्ययन करके मैं पुनः कल या परसों तक लौट कर आपको सारी सूचना दूंगा, फिर जैसा आप कहेंगे वैसी ही व्यवस्था हो जायेगी ।'

अरुन्धति ने बच्चे को अपने हाथों में ही झुलाते हुए कहा, 'और तात, यदि आपका दुर्योण में कोई प्रयोजन न रहा हो, तो भी क्या चिन्ता है ? आप का यह एक पुत्र ही क्यों, हम दोनों भी तो आपके पितृत्व की छाया चाहते हैं । जहाँ आप चाहेंगे वही हमारा आश्रम खड़ा हो जायेगा । मुझे एक ही साथ पिता और श्वसुर की सेवा का सौभाग्य दें, मेरा वही सबसे बड़ा पुरस्कार होगा तात !'

वसिष्ठ ने कहा, 'और, यह आर्य, श्रमण और उर-संस्कृतियों का त्रिवेणी-संगम मानवता का एक नवीन आदर्श ....'

आगे ...... नहीं, आगे लेखन अवरुद्ध है।

पता नहीं, क्या बात हो गई? आधी पंक्ति के बाद ही लिखना एक दम रुक गया मुरारी दा को क्या ऐसा आवश्यक काम पड़ गया कि वाक्य भी पूरा नहीं कर सके? क्या आगे की किरचियाँ गायब हैं? बीच-बीच में ऐसा हुआ है, किन्तु वहीं मुरारी दा ने वैसा संकेत भी दे दिया है! इस किश्त को आए हुए ही दस-बारह दिन बीत गए हैं। कैसा मूर्ख हूँ कि तत्काल ही नहीं पढ़ गया। अन्तिम पृष्ठ ही उलट कर देख लेता! प्रायः ही कोई भी वस्तु पढ़ने के पहले उसका आदि और अन्त देख ही लेता हूँ। और इस बार इस किश्त के साथ कोई उनका पत्र भी तो नहीं था। कहीं लिफाफे में ही कुछ अटका तो नही रह गया? देख तो अवश्य लिया होगा। एक बार और देख लेना अच्छा है। मन में सन्देह तो न रहे!

ओह—लिफाफे में चिपका ही तो रह गया है! किन्तु इस पर तो स्याही, पानी, सभी कुछ गड्डमगड्ड होकर फैल गए हैं? और अब तो सूख गए हैं। कुछ पढ़ने में भी नहीं आता। पत्र तो कैसे कहा जा सकता है इसे? लिखावट भी तो उनकी नहीं! किसी वर्ण-वोध नौ सिखुए का कलम-खेल हो—एक अक्षर यहाँ तो दूसरे की टाँग वहाँ। पर नहीं, इन दो-चार अक्षरों की बनावट तो बिलकुल उनकी अपनी है। काँपते हाथों से लिखा गया है! काँपते हाथ ही क्यों, सारा वदन भी काँपता रहा होगा, तभी तो स्याही ढुल गई है, शायद पास रखा पानी का गिलास भी लुढ़क गया हो और यह क्या लिखा है, 'छाती में ज्वालामुखी और भूकम्प—लिख नहीं पा रहा कोई इन्हें भेज दे—मनस्वी—पता—'

मेरा कलेजा काँप उठा है! बीमार तो थे ही। कहीं लिखते-लिखते ही दिल के दौरे का शिकार तो नहीं हो गए? वसिष्ठाश्रम में मृगम्मदा के प्रत्याख्यान पर विभांडक वृबु का भी तो हृत्स्तम्भ होने लगा था! और आज तो इस पत्र को आए हुए भी तो दो हफ्ते बीत रहे हैं। इस बीच .... हाय राम! कहाँ हैं वे? कैसे हैं वे? अपने किसी आत्मीय को उन्होंने कोई खबर पहुँचाई थी या नहीं? स्रग्धर अमेरिका में हों, किन्तु शान्ताजी तो देहरादून में ही थीं। पहुँच गईं है या......। मेरा भी कुछ कर्तव्य तो है। स्रग्धर अमेरिका में है, अब तक तो मार्गरेट भी वहाँ पहुँच गई होगी। खबर पाकर सब पहुँच भी गए हों, किन्तु अपनी ओर से एक तार अमेकिा और एक तार देहरादून तो दे ही देना चाहिए! उत्तरकाशी में यदि जवाब देने योग्य कोई होता तो अब तक कुछ न कुछ समाचार आ ही जाते। इससे अधिक इस समय और कर ही क्या सकता हूँ? ईश्वर से प्रार्थना तो करूँगा ही कि मुरारी दा को कुछ ऐसा-वैसा न हो जाए!

२४

बहुत समय तो अवश्य नहीं हुआ है। याद पड़ता है मौसम लगभग ऐसा ही था। धूप बहुत तेज नहीं हुई थी, हवा में हलचल थी, ताजगी थी, खुमार भी था। पन्द्रह-बीस महीने। और भी छोटा करना हो तो कह लो डेढ़ेक साल! इससे क्या अन्तर पड़ता है कि तब सूर्य-भगवान देवयान से उत्तरायण की यात्रा पर जा रहे थे और अब पितृयान पर दक्षिणायन से लौट रहे हैं! यात्राएँ आखिर चक्राकार ही तो होती हैं। सबेरे हम घर से निकलते हैं और शाम को फिर लौट आते हैं। पृथ्वी अपनी कीली पर तो घूमती ही है, इसके अतिरिक्त वर्षारम्भ में जिस सम्पात से चलती है, वर्षांत में फिर उसी सम्पात पर लौट जाती है। अर्थात् क्या तो निर्गम और क्या आगम? जन्म से मृत्यु और फिर मृत्यु से जन्म! बस चलते रहना है, चरैवेति, चरैवेति! यही तो नियति है यहाँ हर किसी की! परिदृश्य बदल जाता है, पर वह चलता रहता है और परिदृश्य सभी का बदलता रहता है। हम समझते हैं कि चल हम ही रहे हैं, किन्तु परिदृश्य भी तो चलता रहता है, कोई तेज कदमों से, कोई धीमें कदमों से।

अन्तर कुछ देखना ही हो, तो तब दिन और रात बराबर हो चुकने के बाद, दिन बढ़ते जाने की प्रक्रिया में है और अब रात बढ़ते जाने की प्रक्रिया में है। पर यह अन्तर भी क्या है? पृथिवी कुछ और चक्कर अपनी कीली पर लगा ले, तो फिर वही पुराना क्रम शुरू हो जाएगा-इसीलिए तो जन्म और मृत्यु, जीवन के एक चक्र में भी हम साल-दर-साल जन्म-तिथियों की गाँठ लगाते रहते हैं। गाँठ कोई काम नहीं आती, मृत्यु एक दिन सब गाँठें खोल देती है। सब कुछ जानते हुए भी हम निर्ग्रंथ नहीं बनते, जन्म लेने के लिए फिर किसी गर्भ में मचलने लगते हैं।—मुरारी दा कहीं मचलने लग गए हैं क्या? या कि वे जीवन-मृत्यु के पार हो गए हैं?

लोड-शेडिंग अब भी बादस्तूर चालू है। अब, इसे तो भ्रम ही कहना चाहिए कि तब यह इतना व्यापक नहीं था, जितना अब है। हम वर्तमान में ही तो जीते हैं। अतीत स्मृति में धुंधला पड़ता जाता है और भविष्य आशा की चमक में लकदक!

वास्तविकता तो वर्तमान में ही है, नग्न वर्तमान जो अतीत की स्मृति से धुंधला न हो, भविष्य की आशा से चमत्कृत न हो। उस दिन पहले-पहल जिस सन्ध्या को मुरारी दा इस घर में आए थे, संकोच-वश मैं उन्हें खाने के लिए नहीं कह सका था। हैसियत तो मेरी तब भी नहीं थी और आज भी नहीं है- किन्तु उस दिन तो घर में, न बिजली थी न कोयला था, न गैस थी, न मिट्टी का तेल ही था। आज भी वही हालत है। अब यदि किसी घर में नून-तेल-लकड़ी न भी हो, तो भी यह नहीं कहा जाता कि मियाँ छकड़ी भूल गये हैं। जब सब कुछ नियम ही हो जाए तो कहावतें भी अर्थ खो देती हैं। और अपवाद तो अपवाद ही ठहरे, कौन तो उन्हें याद करता है और कहाँ उन्हें दुर्वाद मिलता है ?

याद पड़ता है, वह सन्ध्या भी ऐसी ही गहरी, सोच में डूबी हुई, निरामरण, निस्पृह थी। डेढ़ साल ऐसी कोई लम्बी अवधि नहीं होती कि स्मृति धुंधली पड़ जाए। और मुरारी दा तो एक बार उदय होकर इस सारे ही समय चेतना पर छाए रहे हैं। जो अस्त होने के पहले अपने आत्मन ही की नहीं, आत्मीयता की अन्यतम गहरी प्रतीति से मन-प्राण को आलोकित-आलोड़ित कर गया है, वह कैसे धुंधला हो सकता है ? सूर्य के प्रखर-प्रकाश में आँखें बन्द कर लेने पर भी पलकों पर अँधेरा नहीं मूर्त' होता है उसी सूर्य का अनुरक्त-गोलक। बैठा हूँ निपट निष्क्रिय, उदासीन। लोड-शेडिंग न होता तो भी लिखने-पढ़ने का कोई मूड नहीं है—कागज-कलम तब से छू ही नहीं पाया हूँ। और अँधेरा तो है ही—बाहर ही नहीं, मन में भी। टाइम और स्पेस ऐसे अँधेरे में तो खो ही जाते हैं। अँगुली पकड़ कर जो ले चले थे पाँच हजार वर्ष पूर्व की अँधेरी गुहा में, उन्हें ही टटोल रहा हूँ – अन्धकार में अँगुली छूट गई है, उन्हें खो बैठा हूँ, मृत्यु के अन्धकार में। वह अन्धकार मेरी ही आँखों में तो है। डेढ़ वर्ष पूर्व उन्हें पहले-पहल देखा था। उसके पहले वह मेरे लिए नहीं थे। अपने लिए तो वे थे ही, पार्थिव पैमाने का उनका सत्तर-अस्सी वर्ष का निश्चित अस्तित्व तो था ही। आज फिर नहीं हैं मेरे लिए वे। अपने लिए तो वे होंगे ही निश्चय से कहीं-न-कहीं–पाँच हजार वर्ष के अपने अस्तित्व की प्रतीति तो उन्होंने दी ही है। मृत्यु उनकी नहीं, मेरी दृष्टि को हुई है – मैं ही उन्हें देख नहीं पाता !

विभांडक वृबु, उर्वशी मृगम्मदा या ऋष्यशृंग के आगे के आख्यान जानने का भी कोई उपाय नहीं है।—उन्हीं का क्यों, अब तो मार्गरेट, स्रग्धर या शान्तादेवी के समाचार पाने की भी आशा नहीं है। प्रयोजन भी क्या है ? पटेल मरा कि खूंटा उखड़ा, पांड़े से अपना क्या मतलब ? यह तो मुरारी दा ही नेह का ऐसा नाता जोड़ गए ! संयोग ही कहना चाहिए, निकले थे हरि-मिलन को और बीच में टकरा गया

मैं तो ओटन लगे कपास ! जो हो, मेरे कपास की ओटन तो हो ही गई। कहते थे, अनुवाद के लिए बहुत अधिक सामग्री बची भी नहीं थी, यदि उस रात का हादसा न हुआ होता तो और दो-एक किश्तों में सब पूरा हो जाता। किरचियाँ तो बहुत पहले ही नष्ट कर दी गई थीं, बचा-खुचा उस रात हादसे में सब कुछ स्वाहा हो गया। वह खुद कैसे बच गए यह भी एक चमत्कार ही था। बिस्तर पर चौकी जमाए चिमनी के प्रकाश में उसी आख्यान की किश्त का अनुवाद लिख रहे थे। दावात-कलम, कागज, चिमनी वाली कन्दील, सब कुछ चौकी पर ही सजा हुआ था। बीमार तो थे ही। कूच के बिगुल की पुकार भी तो उन्होंने सुन ली थी, पर वह बीमारी कोई ऐसी भी नहीं थी कि लिखने-पढ़ने का काम भी रुक जाता। लिख-पढ़ भी रहे ही थे। और उन्होंने ही तो लिखा था, कि यहाँ हर मनुष्य भीष्म है, उसे इच्छा-मृत्यु का वरदान मिला हुआ है ! शायद उनकी यह इच्छा अन्तर्मन में बहुत गहरे आकार ले रही थी ! तभी तो कोई पूर्व-संकेत नहीं था, कहीं किसी भी ब्याज से कोई लक्षण प्रगट नहीं था, दुर्घटना का कोई पूर्वाभास नहीं था। दर्द ने कोई दस्तक नहीं दी, वह तो सीधा कलेजे को एकदम निर्ममता से चीरता हुआ सब कुछ को ढकेल कर मानों आँखों के सामने खड़ा हो गया था। एक प्राणान्तक टीस सारे शरीर को कौंध गई थी, मुँह की साँस मुँह में, आँखों में पहले कन्दील की रोशनी का पीला अँधेरा और फिर तीखी पीड़ा का काला अँधेरा। हाथ की कलम हाथ में लिए हुए, दूसरे हाथ से कलेजा थामे, दर्द से दुहरे होकर बिस्तर पर लुढ़क पड़े थे। किन्तु इस स्तम्भित कर देने वाली भयानक पीड़ा के बावजूद उनकी संज्ञा लुप्त नहीं हुई थी। अस्तित्व की गहरी पर्तों से उठकर उनके ज्ञान-तन्तु जैसे और भी सजग हो उठे थे। जब लिखने बैठे थे तो संकल्प किया था, कि उस दिन की किश्त पूरी करके ही उठेंगे। उन्हें स्मरण था कि मैं यहाँ बैठा उसकी प्रतीक्षा में अत्यन्त व्यग्र हूँ। दर्द की उस चरम अनुभूति के क्षण में उन्हें यह भी प्रत्यय हो गया था कि वह सामान्य पीड़ा नहीं, एकदम हृत्प्रहार है, जो सहज ही मारान्तक होता है। आँखों के सामने अँधेरा था, पर कलम उनके हाथ में थी। टटोल कर उन्होंने दावात में कलम डुबो भी ली, लिखने के लिए कागज भी टटोल लिया, पर लिखते-लिखते ही उन्हें कागज के गीलेपन से भय हुआ कि दावात लुढ़क गई है। उसे ठीक करने का प्रयत्न किया तो एक ओर रखा हुआ कन्दील गिर पड़ा, चिमनी ने लुढ़क कर पास रखे कितने कागज और कितना बिस्तर जला डाला, उन्हें कुछ पता नहीं। चिल्ला कर उन्होंने लोगों का ध्यान आकर्षित किया या कमरे में आग की लपटें देखकर पास-पड़ोसी स्वयम् ही कमरे में आ घुसे, उन्हें कुछ नहीं मालूम ! किसी से कुछ कहा अवश्य था, पर क्या कहा, यह भी पता नहीं। जब उन्हें होश आया तो वे अस्पताल के एक एकान्त कमरे में बिस्तर पर पड़े थे। चेतना तब भी किसी

शामक-औषधि के कारण स्पष्ट नहीं थी। मैं सोचता हूँ, उस दर्द की आत्यन्तिक पीड़ा में भी वे मुझे नहीं भूले थे, किसी से जो कुछ उन्होंने कहा था, वह शायद यही था कि वह किश्त मुझे भिजवा दी जाए।

इस दुर्घटना की या पहले वाली अपनी बीमारी की खबर उन्होंने किसी को नहीं भिजवाई थी। मैंने कारण पूछा था, आखिर उनकी पुत्रवधू शान्ता तो पास ही, देहरादून में ही थी! वे मुस्कराकर प्रश्न को ही टालना चाह रहे थे। जब मैंने जोर दिया तो बोले, 'शान्ता की बात छोड़ो। यह क्यों नहीं पूछते कि तुम्हें खबर क्यों नहीं भिजवाई ?'

मैंने कहा' 'मैं आपका होता ही क्या हूँ, कि आप मुझे खबर भिजवाते ?'

'यही तो बात है। दौड़ा तो मुझे पड़ा है, बेकार दूसरों को क्यों दौड़ाता ?'

'किन्तु लोक-व्यवहार ही नहीं, सम्बन्धों के सूत्र भी तो होते हैं।'

'हाँ-हाँ, होते क्यों नहीं ? और वे अस्तित्व में गहरे भिद भी जाते हैं! देखो न, न चाह कर भी आखिर चढ़ ही गया न तुम्हारे कन्धे !'

'मेरे कन्धे ? क्यों लज्जित करते हैं मुरारी दा ? आप यहाँ न जाने कब से अस्पताल में—'

'अरे, तो क्या अस्पताल देहरादून में नहीं है ? दिल्ली में नहीं है ? स्रग्धर को पता पड़ जाता तो क्या वही बोस्टन के किसी अच्छे से अस्पताल में नहीं ले उड़ता मुझको ? फिर भी काली-कमली वालों का आदमी जो मुझे यहाँ छोड़ गया, वह क्या यूँ ही छोड़ गया था ?'

मैं चुप ही रहा था। क्या लाभ था यह कहने से कि मैंने बोस्टन और देहरादून दोनों ही जगह तार भिजवा दिए थे ? बूढ़े के मन में वितृष्ण ही तो बढ़ती! माना कि बोस्टन बहुत दूर है, पर देहरादून तो दूर नहीं था। सच ही तो, यहाँ कौन किसका होता है ? सब अपने में ही तो मगन रहते हैं सर्वदा! मुरारी दा ने बृबु और मृगम्मदा के मन्तव्यों का अनुवाद मात्र ही नहीं किया है, उनको पूरा वहन किया है।

कलकत्ता चले आए, तब भी मुझे सूचना कहाँ पहुँचाई उन्होंने ?—भाग्य का व्यंग्य ही तो है, कि जब निराश होकर मैं बोस्टन और देहरादून तार भेज रहा था; तब वे कलकत्ता आ पहुँचे थे। उत्तर काशी में वे काली कमली वालों के आश्रम में ही तो रहते थे। उनका कार्यालय यहाँ भी है, किन्तु मुरारी दा ने किसी को भी सूचना देने का निषेध कर दिया हो, तो वह बेचारा भी क्या करता ? और यह एहसान भी क्या कम था कि उत्तर काशी में ही नहीं, यहाँ तक पहुँचा जाने तक उनकी सेवा और सार-सम्हाल में उन्होंने किसी तरह की कोर-कसर नहीं होने दी! पैसा अवश्य सहायक था, किन्तु इस युग में पैसा जब मुफ्त में ही मार लिया जा सकता हो तो सेवा और

श्रम की आवश्यकता ही क्या है ?—पैसे और साधनों का अभाव मुरारी दा को अवश्य नहीं था। अच्छी खासी पेन्शन उन्हें मिल ही रही थी और बैंक बैलेन्स पहले से ही काफी वजनदार था ! पैसा पास हो तो नाते-रिश्ते के भी बहुत आ जुटते हैं, किन्तु मुरारी दा अपने बचपन से ही अनुभव करते आए हैं कि पैसे के बल पर जुट जाने वाले रिश्तेदार, रिश्तेदार नहीं होते। सुविधाएँ पैसे से जुटाई जा सकती हैं और इसी के बल पर वे सरलता से यहाँ आ पहुँचे थे। खर्चा ही उनका क्या था ? चाय पीना तक तो छोड़ दिया था, मैं जो गवाह हूँ ! यात्रा करने लायक स्वास्थ्य प्राप्त करने तक तो उन्हें उत्तरकाशी अस्पताल में ही रहना पड़ा था। वहाँ का डाक्टर शायद यहाँ के डाक्टर का शिष्य भी रह चुका था, उसके सिफारिशी पत्र ने भी अवश्य कुछ सहायता पहुँचाई होगी। और फिर पैसे का प्रभाव तो कहीं चूकता नहीं। मुरारी दा को उसकी चिन्ता नहीं थी।

उसकी चिन्ता उनके चिकित्सक को तब हुई, जब उन्होंने देखा कि उनका रोगी अब अधिक दिन का मेहमान नहीं है। उन्होंने पूछा, 'आपके किस नजदीकी रिश्तेदार को आपकी सूचना भिजवाई जाए ?'

'क्या यह जरूरी है डॉक्टर ?'

'जरूरी क्यों नहीं है ? आप एक संस्कारशील नैष्ठिक हिन्दू हैं, पढ़े-लिखे और साधन-सम्पन्न भी। समय आने पर आपकी विधि-विधान से उत्तर-क्रिया क्यों न हो ?'

'तो क्या ये साधन अपर्याप्त हैं ?'

'अपर्याप्त न हों, किन्तु श्रद्धा और भक्ति ? वह तो इनमें नहीं मिलती।'

'शव के साथ किसकी श्रद्धा और भक्ति होती है डॉक्टर ?' कह कर वे मुस्करा दिए थे। फिर कहा, 'एक अनाथ के शव का आप क्या करते हैं ?'

'उसे नगर-निगम के कर्मचारी आधा-अधूरा जला-जुलु कर अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेते हैं।'

'तो मुझे ही क्यों अपवाद बना रहे हैं डॉक्टर ?

'देखिए, यहाँ स्टोअर्स में जो नकदी पैसे के अलावा आपकी चेक बुक जमा है, इसे देखते हुए मेडिकल विभाग की बदनामी भी हो सकती है। यदि आप स्वयम् कोई नाम नहीं सुझाएँगे, तो मजबूर होकर मुझे यहाँ काली कमली वालों को सूचना देनी पड़ेगी–'

'और तब हुआ मेरा नाम प्रस्तुत ! और यह नहीं कि किसी मजबूरी में उठाना पड़ा हो मेरा नाम उन्हें। जिस समय भरती हुए थे, तभी स्टोअर्स के रजिस्टर में मेरा नाम लिखा दिया गया था। डॉक्टर को यह बात बाद में जाकर मालूम हुई। मुझे भी ये तथ्य मुरारी दा से नहीं, स्वयम् डॉक्टर से मालूम हुए थे, जब सूचना पाकर मैंने उनसे भेंट की थी।

–

अर्थात् मुरारी दा के मन में चैतन स्तर से भी गहरे कहीं मेरा नाम नक्श हो गया था, शायद वही प्रेरणा उन्हें कलकत्ता ले आई हो! कहाँ उपलब्धियों के ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए वे महामानव, और कहाँ उतनी ऊँची दृष्टि उठाने में भी असमर्थ क्षुद्रातिक्षुद्र मैं? और सम्पर्क भी कितना-सा? उनके अन्तिम तीनों दिन अवश्य साथ रहा हूँ। इसे अपना ही तो सौभाग्य कहूँगा! शायद मुझे गौरव देने के लिए ही उनके ये तीन दिन बड़ी शान्ति के साथ बीते थे, बल्कि चिकित्सकों की धारणा तक हो गई थी कि वे संकट से बाहर हो गए हैं। संकट में वे थे ही कब? पर बेचारे डॉक्टर उस स्थिति को समझ ही कैसे सकते हैं? उनका विषय स्थूल शरीर है। कुछ आगे बढ़ कर अँधेरे में मन को भी टटोल लेते हैं, किन्तु अस्तित्व के स्तर, मन की दुर्गम गहराइयों के पार भी हैं, यह वे कैसे समझेंगे? स्थूल जीवन की बात न हो, तो वह भी कहाँ जन्म और मृत्यु की सीमा में बद्ध है? तो क्या मुरारी दा का और मेरा पहले के किसी जन्म का संस्कार है? यदि संस्कार था, तो इतने वर्षों तक हम क्यों नहीं मिले?—इस धरा-धाम पर मैं भी डेढ वर्ष पहले ही नया नहीं आया हूँ। उन्होंने अपना सामंजस्य पाँच हजार वर्ष पूर्व के वृबु से बाँध लिया था, योग भी सब उनके वृबु की नियति से सध गए थे, बँध गए थे, इसलिए उन्हें संयोग भी नहीं कहा जा सकता। क्या वृबु के युग में मेरी भी कहीं कोई संयुति-संगति थी? अन्तिम बार तो वृबु को वसिष्ठ के आश्रम में ही तो छोड़ा है।

पूछने पर बताया था मुरारी दा ने कि वृबु वसिष्ठ के साथ ही अपने पुत्र के लिए पूर्व दिशा में कौशिकी नदी के तट तक चले आए थे! दुर्योण का पतन तो हो ही चुका था, इसलिए उनके वहाँ लौटने का कोई प्रश्न नहीं था और मृगम्मदा अदृश्य पुनः मिलने के लिए थोड़े हुई थी? अर्बुद और वणि का क्या हुआ? इसका उन्हें भी कुछ पता नहीं लगा था। शायद इस सम्बन्ध में किरचियाँ उत्कीर्ण ही नहीं हुई हों—उत्कीर्णक भी तो पणिक ही थे, वे कहाँ से बच रहे होंगे? इतिहास से यदि कुछ अनुमान लगाया जा सकता हो, तो वही आधार है। आर्य-युग में बड़े-बड़े यज्ञों के प्रणेता जो 'विश' नाम से अभिहित हो गए हैं, शायद उनका अर्बुद और वणि से सम्बन्ध रहा हो! सिन्धु के पूर्व में मारवाड़ियों की जो व्यवसाय-प्रधान जाति बसी चली आ रही है, वह भी हमें उनका स्मरण दिला सकती है। कहते हैं, बाद में सूख कर गायब हो जाने वाली सरस्वती उसी प्रदेश में बहती थी और लक्ष्मी की कृपा तो आज भी उस धरती के पुत्रों पर है ही।

कौशिकी के तट पर विभांडक वृबु का अपने पुत्र ऋष्यशृंग के साथ एकाकी जीवन उनके पूर्वार्ध विभांडक नाम से ही प्रारम्भ हुआ होगा! आर्य-प्रभाव से उनका मूल नाम झड़ गया हो, तो क्या आश्चर्य है! शायद वसिष्ठ के आग्रह से ही बाद में जाकर उन्होंने अपने पुत्र की वेद-वेदांग की शिक्षा महर्षि ऋचीक के आश्रम

में करवाई हो। आर्य-सस्कृति से विद्वेष तो वृवु को कभी था नहीं, किन्तु उसका गहरा प्रभाव वसिष्ठ के साथ रहने पर ही उन्होंने ग्रहण किया होगा। वे न हुए हों, किन्तु उनका पुत्र ऋष्य शृंग तो आर्य-संस्कृति में दीक्षित हुआ ही, वह आगे जाकर स्वयम् वेदर्षि के रूप में जाना गया है। वसिष्ठ और ऋष्य शृंग का सम्पर्क भी उत्तरकाल में वरावर बना रहा होगा। दशरथ के पुत्रेष्ठि-यज्ञ में ऋष्य शृंग की पुरोहिताई वसिष्ठ ही की प्रेरणा का फल था।

'पूछने को तो मार्गरेट के बारे में भी पूछना मैं नहीं भूला था। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा था।

'क्या वह पत्र पढ़ लेने के वाद भी तुम्हें विश्वास होता है मार्गरेट जीवित थी?

'क्या कह रहे हैं आप?' मैंने आश्चर्य-हत होकर कहा था, 'वह पत्र तब किसका लिखा हुआ था?'

'फिर तुमने पढ़ा क्या?—वह तो एथेना का लिखा हुआ था न।'

उनका आशय मैं समझ गया। उस सम्बन्ध में तब और पूछ ही क्या सकता था? प्रकारान्तर से दूसरे सन्दर्भ में पूछा, 'विलियम की बीमारी की सूचना आपने उसे दी थी क्या?'

'मेरे लिए उसका प्रयोजन ही क्या रह गया था भाई? और फिर जब मुझे वह पत्र मिला तब तक तो वह लौट ही चुकी होगी। नहीं क्या?'

'आपके सुपुत्र ने निश्चित सूचना नहीं दी उनकी आपको?'

'यदि खोई हुई माँ मिल जाए तो बाप को याद करने का अवकाश ही कहाँ रहता है पुत्र को? और एक ऐसे बाप को, जिसे माँ ही छोड़ दे?' और वे मुस्करा ही नहीं, हँस भी पड़े थे।

'सचमुच आपको कुछ नहीं मालूम उनके बारे में?'

'विश्वास नहीं होता तुम्हें, तो मैं क्या करूँ? पर तुमसे कभी झूठ बोलूँगा, यह विश्वास करते हो?'

मन ही मन सोचा, मुरारी दा मार्गरेट द्वारा प्रत्याख्यात होकर उसके प्रति रुष्ट हो गए हैं। विभांडक भी तो मृगम्मदा से रुष्ट हो गए थे, वरना अपने पुत्र ऋष्यशृंग को स्त्री-मात्र की छाया से भी दूर क्यों रखते? क्या इसीलिए तो कहीं मुरारी दा ने अपनी पुत्रवधू शान्ता तक को अपनी बीमारी की सूचना देना गवारा नहीं किया? पूछने का मन हुआ था, पर चुप मार गया। सच हुआ तो उनके मन को ठेस ही पहुँचती।

उनके साथ बिताए वे तीन दिन मेरे जीवन के अविस्मरणीय दिन हैं। वड़ी इच्छा थी कि उन्हें मैं अपने घर ही लिवा ले जाता। मेरे प्रति उनका प्रेम और विश्वास मुझे

गहरे छू गया था ! अस्पताल के नितान्त व्यावसायिक और कृत्रिम सहानुभूति से भरे वातावरण से मुझे ही विरक्ति हो रही थीं, तो उनका संवेदनशील-मन कैसे उसमें रम सकता था ? यह जानते हुए भी कि मेरे घर पर मेरे स्नेह की आन्तरिकता के अतिरिक्त अस्पताल की और कोई भी सुविधा उन्हें नहीं मिल सकेगी, जब मैंने उनसे अनुरोध किया था तो बोले वे, 'अपने घर को बीमारी का अड्डा क्यों बनाना चाहते हो भाई ? और फिर मैं तो अब एकाध दिन का मेहमान भी नहीं रहा हूँ न। डॉक्टर की बात पर विश्वास नहीं होता ?'

'डॉक्टर का कोई वेद-वाक्य नहीं होता मुरारी दा। देख आप भी रहे ही होंगे, यहाँ बीमारों की लाइन लगी रहती है। वे तो चाहते ही हैं कि बिस्तर जल्दी खाली हो।'

'तो बुरा क्या है ? चाहते तो किसी दूसरे बीमार के लिए ही हैं, अपने लिए तो नहीं !'

'तभी तो कह रहा हूँ। मेरे घर पर तो किसी की प्रतीक्षा नहीं है ! ऐसी सुविधाएँ अवश्य वहाँ नहीं हैं, पर उस कमरे को मैंने अब पहले से कुछ अधिक रहने के काबिल बना लिया है ! बहुत दूर भी नहीं है यहाँ से, जब जरूरत हो तभी डॉक्टर बुलवा लिया जा सकता है ! आपके सन्तोष के लिए नहीं, मैं अपने सन्तोष के लिए कह रहा हूँ। आखिर मेरा भी तो कुछ अधिकार है आप पर।'

कुछ क्षण सोच कर उन्होंने कहा, 'उसे क्या चाह कर भी मैं कभी अस्वीकार कर सका हूँ ? और सुविधा की बात करते हो तो क्या नहीं जानते कि सुविधा ही नहीं औषधि भी तुम हो गए हो ? डॉक्टर ने जो कहा है कि मैं संकट से बाहर हो गया हूँ, व्यर्थ चाहे वह हो, पर उसके विश्वास से मिथ्या नहीं है। अन्तिम समय का तुम्हारा यह साथ मेरे लिए अमृत हो रहा है ! किन्तु तुम्हारे तुम ही नहीं, तुम्हारी पूरी गृहस्थी है। इसीलिए तो मैंने शान्ता तक को अपने रोग-शोक में शरीक नहीं किया ! तुम अकेले होते तो भी एक बात थी।'

'उस कमरे में हम दोनों अकेले ही रहेंगे मुरारी दा !'

'तो एक काम करो न। यह भी तो अपना अलग कमरा ही है। डॉक्टर से पूछ लो, भला आदमी है, मुझसे सच्ची सहानुभूति रखता है। आपत्ति शायद नहीं करेगा। नर्स को भी सुविधा हो जाएगी और तुम भी जब चाहोगे, घर आ-जा सकोगे।'

'पर कितने दिन चलेगा यह ?

मुस्कराकर बोले थे वे, 'मुझे स्वस्थ होता देखकर सोच रहे हो न ? नहीं, एकाध दिन से अधिक नहीं चलेगा यह !'

'नहीं-नहीं मुरारी दा, मेरा यह मतलब नहीं था।' और मैं लज्जा से भर उठा।

मैं कहाँ कहता हूँ कि तुम्हारा यह मतलब था ? मैंने तो केवल तुम्हारा भ्रम निवारण करना चाहा है भाई। अच्छा दो दिन ठहर जाओ। उसके बाद भी यदि तुम कहोगे तो मैं अवश्य चला चलूँगा।'

और उन्हें फिर से अनुरोध करने की नौबत ही नहीं आई ! इसीलिए तो कहता हूँ कि उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान था ! चाहते वे अन्तर्मन से रहे हों, पर स्पष्ट उन्हें चेतना-स्तर पर हीं हो चुका था।

सोच रहा हूँ, यहाँ उनके जीवन की बृबु के जीवन के साथ संगति नहीं रही। बृबु को अन्तिम दिनों में संश्लिष्ट-संस्कृति के उद्योक्ता और ज्ञान-विज्ञान के महान ज्ञाता महर्षि वसिष्ठ का साथ मिला था और मुरारी दा के हिस्से में पड़ गया मुझ जैसा अज्ञ–शिरोमणि मूर्ख भट्टाचार्य ! कि बाधा पड़ गई। सामने दरवाजे के अँधेरे से आवाज आई, 'डैडी, बाहर कोई आपको पूछ रहा है।

'मुझे पूछ रहा' है ?—इस समय ! पूछा नहीं कौन है ?'—बड़ा बुरा लगा। इन दिनों मुरारी दा और उनसे संबद्ध विचार तथा क्रिया—कलापों की जुगाली लोड शेडिंग का सहनीय से भी आगे प्रियतर बना देती है।

लड़के को इतने प्रश्नों से क्या मतलब ? उसने कहा, 'कोई नया आदम है। भेज दूँ।'

कहीं पूजा का चन्दा माँगने वालों में तो नहीं है ? लड़का समझा नहीं है, कह देना चाहिए था, घर में नहीं हैं, या कि सो गए हैं। रात के इस अँधेरे में किस अजनबी आदमी को भीतर आने दिया जाए ? आजकल वैसे ही दिन-दहाड़े पिस्तौल और छुरे की नोक पर लूटपाट मची हुई है। मैं कुछ कहूँ या उठ कर बाहर जाकर देखूँ कि एक और आवाज आई दरवाजे के अँधेरे से ही, 'क्षमा कीजिएगा, इतनी रात को परिचय नहीं दूँगा तब तक आप पहचान नहीं पाएँगे। दर्शन का कभी अवसर ही नहीं मिला न।

सुनते-सुनते ही मैंने अनुभव किया कि एक साहबी वेशभूषा वाले व्यक्ति ने मेरी आवाज की दिशा में ही आगे बढ़ कर मेरे पांव छू लिया। मैं सहसा ही निरस्त्र हो गया, बोला, 'जीते रहो भाई, किन्तु परिचय के बिना कैसे समझूंगा कि आपके प्रणाम के योग्य हूँ या आशीवार्द के ?–अरे, कौन है बाहर ? रसोईघर से जलाकर मोमबत्ती तो दे जाओ भाई। और हाँ पीने के लिए पानी और एक कप चाय, मेरे लिए नहीं, नहीं तो मैं रात को सो नहीं सकूंगा।

अतिथि महोदय कह रहे थे, यह तकल्लुफ क्यों कर रहे हैं आप ! मैं भी कुछ नहीं लूंगा, सोना मुझे भी है।' मैंने हाथ पकड़ कर उन्हें अपने पास सोफे पर बिठा लिया और कहा, 'यह क्या कोई तकल्लुफ है ? अतिथि को भी गृहस्थी की प्रतिष्ठा रखनी चाहिए। बस यही अनुरोध है।'

लड़का जब बाहर से जली हुई मोमबत्ती लेकर आया तो उसके पीले प्रकाश में मैंने देखा कि पच्चीस-तीस की उम्र का, स्वास्थ्य से भरपूर, गौर-वर्ण, दिखनौटा जवान है। साहबी पोशाक में सब अंग तराशे हुए से, या जैसे साँचे में ढले हुए हों। चेहरा क्लीन शेव्ड और सिर पर घने घुँघराले काले लम्बे बाल, जिनकी लहरों पर मोमबत्ती की रेखाएँ रह रह कर फुदकती-फिसलती जा रही थीं। ऐसा व्यक्तित्व जिसे देख कर प्रसन्नता ही नहीं होती, उत्साह भी होता है और जब मुझे लगा कि वह भी मुझे उसी तरह अपलक देख रहा है तो, मैंने आँखें नीची कर लीं।

मैं पूछूँ, उसके पहले वही बोला, 'पहले कभी दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला, इसलिए कल्पना से भी नहीं जान पाए होंगे और पहले से कोई सूचना भी तो नहीं दी। मैं हूँ स्रग्धर, आपके गहरे प्रशंसक और घनिष्ठ मित्र मुरारीलाल जी का अभागा पुत्र····

'अरे, स्रग्धर हो!' और भावातिरेक में मैंने बाँह बढ़ा कर बैठे-ही-बैठे उसे अपने आगोश में लिया, उसने भी कहीं कोई बाधा नहीं दी। किन्तु तत्काल मुझे ध्यान आया, मुरारी दा का पुत्र हो, पर मुरारी दा तो नहीं है न! साहबी वेशूभषा में ही नहीं, स्वयम् पूरा साहब लग रहा है, यूरोपियन और जर्मन यहूदी माँ का पुत्र। कहीं इस तरह के भारतीय स्नेह प्रदर्शन को बौड़मपन ही समझता हो! मैंने तभी उसे मुक्त कर दिया और मोमबत्ती के उस लपकते-झपकते प्रकाश में उसके मुँह की प्रतिक्रिया देखने की चेष्टा की। अरे, उसकी तो आंखें डबडबा आई हैं।

मैंने कहा, आप तो बहुत अधिक भावुक हो उठे हैं।'

'मुझे आप कह कर लज्जित न करें अंकल। आप मेरे लिए पिता के समान पूज्य हैं। कितना अभागा हूँ मैं, कि अन्तिम समय में उनकी सेवा से दूर, उनके दर्शन भी नहीं पा सका।' और उसने फिर मेरे घुटनों पर सिर छिपा लिया तो अनायास मेरा हाथ सान्त्वना में उसकी पीठ थपथपाने लगा।

'धीरज रखो भाई। ऐसे ही प्रसंगों में तो प्रारब्ध को मानना पड़ता है। दुःख होता है, पर अपना वश तो नहीं चलता न?—कहाँ से आए हो, देहरादून से या····

सिर उठा कर रुमाल से आँखें पोंछते हुए उसने कहा, 'देहरादून ही कहिए। यों चला दिल्ली से ही था। प्लेन बहुत लेट हो गया था।'

पास से अखबार का कागज उठाकर हवा करते हुए मैंने कहा, 'कोट उतार लो भाई। इस लोड-शेडिंग ने तो भले आदमियों का जीना दुश्वार कर दिया है।—प्लेन से आए हो, तब तो लेट सही, सवेरे ही पहुँचे गए होगे?

'नहीं अंकल। होटल में पहुँचे बस घंटा भर हुआ होगा।'

'तो फिर सीधे यहीं क्यों न चले आए भाई?—पता तो था ही और जब इसे घर ही समझते हो तो क्या संकोच था? अच्छा फिर खाने-वाने का····

'नहीं अंकल, आप मेरे लिए बिलकुल चिन्ता न करें। लेट होने की वजह से बहुत कुछ तो प्लेन में ही खाने को मिल गया था। और फिर होटल में पहुँचते ही यहाँ आने की जल्दी थी, इसलिए नहा-धोकर पहला काम खाने से निपटने का ही किया। पहले तो सोचा भी था कि इतनी रात गए क्यों कष्ट दिया जाए आपको? सवेरे ही मिल लूंगा। किन्तु मन नहीं माना। जिनकी बाँहों में पिताजी ने आखिरी दम तोड़ा, यहाँ आकर भी शीघ्र उनके दर्शन नहीं करता तो रात भर सो नहीं पाता। देखिए न, ग्यारह से भी ऊपर हो रहे हैं।'

'ग्यारह बज रहे हैं?' मैंने आश्चर्य से पूछा। इस समय तक तो मैं सो जाता हूँ लोड-शेडिंग आज कुछ अधिक ही रहा प्रतीत होता है और फिर चेतना पर मुरारी दा भी तो छाए हुए थे! तो क्या अपने प्रिय पुत्र के स्वागत के लिए ही वे अनायास मेरी स्मृति में आ पैठे थे? मैंने कहा, 'कैसा संयोग है? मैं तुम्हारे पिता मुरारी दा के बारे में ही सोचता बैठा था! भला हो इस लोड-शेडिंग का, इसके माहौल में बच्चे तक नहीं सो पाते। देहरादून में सब कुशल से तो हैं न?' बच्चा तभी एक ट्रे में दो कप चाय, एक गिलास में पानी और एक प्लेट में बिस्कुट ले आया।

देख कर मैंने कहा, 'भाई, माफ करना, हम लोग एटिकेट्स तो जानते नहीं। पता नहीं, इस समय चाय के साथ बिस्कुट दिए जाने चाहिए या नहीं! हम तो केवल यह जानते हैं कि पीने के साथ कुछ खाने को भी दिया जाना चाहिए। वैसे इस महँगाई में कई दिनों तक गुड़ की चाय की भी आदत डाल ली थी!'

स्रग्धर ने मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए कप उठा लिया और कहा, 'मैं भी तो आप ही लोगों में से हूँ। मुझे क्यों जाति बाहर कर रहे हैं?' और शायद मुझे सन्तोष देने के लिए ही एक बिस्कुट भी उठा कर चबाने लगा।

मुरारी दा का पुत्र स्रग्धर है, तो अब जल्दी सो जाने का प्रश्न भी नहीं है, अतः मैंने भी चाय की प्याली उठा ली और कहा, 'शान्ताजी को मेरा पत्र और सब सामान सुमून ठीक-ठाक मिल गया था न?'

'वह क्यों नहीं मिलता? लेकिन अंकल....और कुछ ठिठक कर उसने कप पुनः अपने ओठों से लगा कर चुप्पी मार ली।

आगे का उसका कथन सुनने की व्यर्थ प्रतीक्षा में कुछ क्षण बीत जाने पर मैंने कहा, कहो न क्या कहना चाहते थे? रुक क्यों गए? चीनी कम हो, तो संकोच मत करना—हो सकता है, नीचे जमी रह गई हो। चम्मच दिया है न?'

उसने जैसे चैन की साँस ली, जैसे वह चाहता ही रहा हो कि विषय बदल जाए, उसने कहा, कुछ-कुछ मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए भी, 'आप तो मुझे बिलकुल मेह-मान बनाए दे रहे हैं। चीनी एकदम ठीक है। बहुत अच्छी चाय बनी है, मुझे ऐसी

ही चाय पसन्द है। पानी अलग, दूध अलग, चीनी अलग, वह भी कोई चाय है? फिर सब अलग-अलग ही क्यों न पी लिया जाए ?'

मैंने सोचा, शायद व्यंग्य कर रहा हो। बोला, 'तुम्हें अगर कम मीठी पसन्द हो तो इसे रहने दो। दूसरी मँगवाए देता हूँ। वैसे सब कुछ उबाल कर तो मैं भी नहीं पीता।'

'अब आपको कैसे यकीन दिलाऊँ कि मुझे यह चाय बहुत पसन्द आई है। लीजिए, आप भी बिस्कुट लीजिए न !' और उसने प्लेट मेरी ओर बढ़ा दी। स्पष्ट हो अपने अधूरे कथन के लिए अब उसे संकोच हो आया था और शायद चेष्टा कर रहा था कि मैं कहीं उसे पुनः छेड़ न दूं।

किन्तु प्रश्न मेरी प्रामाणिकता का था, सन्देह पैदा हो ऐसी गुँजायश तो मैंने नहीं रहने दी थी। फिर भी पैसे-कौड़ी का मामला हो, तो सहज ही किसी को सन्देह हो जा सकता है ! मैंने फिर पूछा, 'तुम कुछ कह रहे थे भाई रुक क्यों गए ?' और स्मरण दिलाने के लिए कहा, मैंने पूछा था कि शान्ताजी को सब सामान ठीक-ठीक मिल गया था या नहीं।'

इतस्ततः करते हुए उसने कहा, 'कोई खास बात नहीं थी अंकल कल फिर मिल ही रहे हैं। आपके दर्शन करने के लिए ही इतनी रात गए भी चला आया। अब चलूंगा। आप भी विश्राम करें। सवेरे आपका कोई खास कार्यक्रम तो नहीं है ?'

'तो क्या इतनी रात को होटल लौटना ही होगा ?'

'विदेशों की तरह यहां भी तो होटल रात-रात भर गुलजार रहते हैं न।'

'हाँ, सब ओर अब तो निशाचर-संस्कृति ही सभ्यता का प्रतीक होती जा रही है। खैर, तुम जाना ही चाहोगे तो रोकूंगा नहीं। किन्तु मेरे मन में खटका हो गया है चिरंजीव ! सामान ठीक-ठाक पहुँच जाने के सम्बन्ध में तुम कुछ कहते-कहते रुक गए, ठिठक गए ! क्या आप लोगों को उसमें कुछ गोलमाल का सन्देह हुआ है ? बैंक के हिसाब में तो गड़बड़ी की आशंका होनी नहीं चाहिए। पासबुक, चेकबुक सभी तो मौजूद थीं। रहा सवाल नकद कैश का। पर क्या उसके साथ अस्पताल के सुपरिंटेंडेंट का सर्टिफिकेट नहीं था ? कहीं भूल न जाऊँ, इसलिए सतर्क तो था ! पर खैर जब आ ही गए हो, तो कल अस्पताल चलकर व्हेरीफाइ कर लिया जा सकता है—मैं सचमुच परेशान हो उठा था। गया था होम करने और जला बैठा हाथ ही।

मैं अपनी ही रौ में वह चला था, इसलिए ध्यान ही नहीं दिया कि स्रग्धर भौंचक बना आँखें फाड़े मेरी ही ओर देख रहा है। मेरी बात समाप्त होते ही वह उठा, और मेरे पैर पकड़ कर बोला, 'यह क्या कह रहे आप ? आपके ऊपर अविश्वास ?'

और तभी कमरे में ही नहीं, वाहर-भीतर सभी ओर अन्धकार को चीरते हुए प्रकाश की बाढ़ ने सारे वातावरण को छा लिया। सभी स्विच 'आन' थे। प्रकाश की उस चकाचौंध में मानों मैंने स्रग्धर को पहली बार देखा। दिव्य भव्य रूप, मानों सन्देह सौंदर्य मूर्तिमान हो गया था। चालीस वर्ष का हो, पर तीस से अधिक कहाँ दिखाई देता था? सचमुच उर्वशी का ही तो पुत्र था। मुरारी दा ही कौन किसी देवता से कम थे? जिसे देखकर आँखें सहज जुड़ा जाती हैं। कैसे भूल पाई होगी मार्गरेट ऐसे लाल को अपने गर्भ से जन्म देकर? उर्वशियाँ जो इतनी निष्ठुर कही जाती हैं, वह अयथार्थ तो नहीं है।

—और स्रग्धर मेरे पाँव पकड़े सिर उठा कर कह रहा था, 'मैं तो आपसे कहना चाहता था अंकल—और बड़ी लज्जा अनुभव कर रहा था, कहीं आप मुझे एकदम पराया न समझ लें--कलकत्ते में इतने दिन एक अच्छे अस्पताल के प्राइवेट वार्ड में उनका क्या कुछ कम खर्च हुआ होगा? किन्तु आपने तो उनकी सारी राशि इनटैक्ट लौटा दी?' और उसकी वाणी गद्‌गद् हो उठी थी।

आँसू मेरी आँखों में भी नहीं रुके। उठकर स्रग्धर को छाती से लगाते हुए मैंने कहा, 'वे तुम्हारे पिता थे स्रग्धर, तो मुझे भी उन्होंने अनायास एक अग्रज का स्नेह और विश्वास दिया था। आखिर वे कलकत्ता आए भी तो मेरे ही लिए न। मैंने किया ही क्या उनके लिए!—यहाँ आकर भी उन्होंने मुझे सूचना नहीं दी, कि मुझे कष्ट होगा। मालूम ही मुझे तो तब पड़ा जब डॉक्टर ने हिसाब-किताब समझने के लिए मुझे सूचित किया। मेरा ही सौभाग्य था कि मुझे सुख देने के लिए और तीन दिन खींच ले गए! उनके प्यार और विश्वास की तुलना में मैंने तो कुछ भी नहीं किया भाई। फिर किसी तरह अपने भावावेश को संयत कर मैंने कहा, इतनी रात को क्या अब होटल लौटना जरूरी ही है बेटे?—होटल की सुविधाएँ तो नहीं हैं, पर रात तो गुजार ही सकते हो। जिस दिन तुम्हें अमेरिका पहुँचाने के लिए मुरारी दा यहाँ आए थे तब एक रात उनके साथ जिस कमरे में बिताई थी, आज उनके वंशधर को पाकर वह कमरा फिर उनकी स्मृति में उजागर हो जाए तो कितना सुखकर होगा? तुम्हें देखकर लगता है मानों वे ही लौट, आए हों।'

भावाविष्ट स्रग्धर भी रो उठा था, उसने कहा, 'आपका यही आदेश हो और आपको कोई असुविधा न हो, तो मुझे इससे बढ़कर और किसमें सुख मिलेगा? मैं तो कलकत्ता आया ही आपके लिए हूँ।'

'और क्या तुम सचमुच कुछ खाओगे नहीं? भोजन का समय नहीं है, पर बच्चों का घर है, एकाध व्यक्ति का भोजन तो बचा ही रखना पड़ता है। और दो रोटी सेंकने में समय भी क्या लगता है?'

स्र-धर ने जेब से एक कूपन की किताब निकाल कर दिखाई और कहा, 'ये देखिए डाइनस' कूपन। आज की ही तारीख के हैं न? मैं तो चाहता ही था कि पिताजी के बारे में आपसे चर्चा ही करता रहूँ, खयाल केवल आपकी असुविधा का ही है। आपमें मुझे वे ही नजर आ रहे हैं।'

'कहाँ वे और कहाँ मैं?–मेरी उनसे क्या तुलना करते हो बेटे?—पर चलो, तब ऊपर ही चलते हैं। लुंगी, पाजामा, जो चाहोगे, ऊपर मिल जाएगा। बस, बाथ रूम यह नीचे है। है अपना ही, पर अटेच्ड नहीं है। अरे भाई, अभी पूरे अंग्रेज कहाँ बने हैं हम? हिन्दुस्तान की संस्कृति में तो इसे बस्ती से बाहर होना होता था!'

'मैं क्या हिन्दुस्तान की संस्कृति की उपज नहीं हूँ अंकल?' उसने मुस्करा कर कहा।

'अरे भाई, सो तो हो, किन्तु विलायत-फिरत हिन्दुस्तानी ही तो विलायती साहबों के कान कतरने लगता है। और तुम तो एकदम नई दुनिया से लौट कर आ रहे हो! कितने दिन हुए लौटे?'

'यही चार या पाँच दिन! बोस्टन लौटा तो आपका तार प्रतीक्षा करता मिला, और किसी तरह वहाँ आरजी व्यवस्था करके पहले प्लेन से दिल्ली पहुँचा हूँ। परसों हम उत्तरकाशी भी हो आए। शान्ता तो पहले भी हो आई थी।'

'ओह! तो मेरा तार जब बोस्टन पहुँचा तब तुम वहाँ नहीं थे।'

'बोस्टन में होता तो बात ही क्या थी?—बोस्टन ही क्यों, कहीं पर भी होता और सूचना मिल जाती तो क्या इतनी देर लगाता? मुझे तो उन्होंने अपनी बीमारी की भी सूचना नहीं दी। मृत्यु के आगे तो किसका वश है अंकल? किन्तु तब मन को यह सन्तोष तो होता कि विश्व में अच्छी से अच्छी चिकित्सा का उन्हें लाभ पहुँचाने में और अपनी सेवा में मैंने एक पुत्र के नाते कुछ उठा नहीं रखा.....'

मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, 'वे तुम्हारी भक्ति के प्रति आश्वस्त थे स्रग्धर। स्वयम् मुझसे उन्होंने कहा था कि यदि तुम्हें मालूम पड़ जाता तो तुम उन्हें चिकित्सा के लिए बोस्टन ले उड़ते।'

'आप तो जानते हैं अंकल, उनसे बढ़ कर तो मेरे जीवन में कुछ नहीं है। माँ ने तो केवल जन्म देकर ही छुट्टी पा ली, पर उसके बाद?—'

'तुम अमेरिका गए तो माँ के लिए ही थे न?'

'अस्वीकार नहीं करूँगा। किन्तु क्या केवल अपनी माँ को खोजने ही गया था? जिसने अपने जीवन में कभी माँ का अस्तित्व ही नहीं अनुभव किया, उसकी क्या आसक्ति हो सकती है माँ के लिए? किन्तु जो अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ वर्ष केवल उसी के लिए धूनी रमाए बैठा रहा, क्या पुत्र होकर भी मैं उस पिता के अभाव को

अनुभव नहीं करता ? अमेरिका मैं अपने लिए नहीं गया अंकल। आपसे क्या छिपाऊँ, मैं पिताजी की व्यथा समझ कर ही अमेरिका गया था और जैसे ही मुझे कुछ सूत्र हाथ लगे प्रतीत हुए, मैंने उनको वहाँ बुलवा लिया था। मेरी ही गरज होती तो उन्हें कष्ट क्यों देता ? अन्तर केवल यही तो था कि वे सबको पहचानते थे, मैं किसी को नहीं पहचानता था ! किन्तु चालीस वर्षों के व्यवधान में वह पहचान भी कितनी सहायक होती ?

सोने के लिए वह रात नहीं थी। लोड-शेडिंग ने अपना हिस्सा पहले ही पूरा कर लिया था, इसलिए पंखे ने भी पूरा सहयोग दिया। कमरा छोटा है, नीचा भी है, पर है खुला हुआ। गृहस्थि का अप्रयोजनीय टूटा-फूटा पुराना असबाब, अल्लम-गल्लम कूड़ा-करकट अब भी इसी कमरे में है, पर उसे कलाकार लड़के ने कलात्मक ढंग से ढाँक-ढूंक कर छिपा दिया है। यों तो पुस्तकों की अलमारियाँ भी परिवार के सदस्यों के लिए कूड़ा-करकट ही हैं, पर उन्हें कैसे छिपा कर रखा जाए ? तब तो मुझे भी छिपाकर रखना होगा। शायद वह दिन दूर भी नहीं है। जो हो, अब कमरा पहले से अधिक रहने लायक है। बाहर सड़क की बत्तियों का प्रकाश ही कमरे में इतना रहता है कि लिखने-पढ़ने का या कोई बारीक काम न हो, तो भीतर रोशनी की जरूरत नहीं होती।

जब बराबर बिछे पलंगों पर लेट लिए तो मैंने कहा, 'अपनी बीमारी की सूचना मुरारी दा ने मुझे ही कब दी ? वह तो किश्तों का अनुवाद पढ़ते-पढ़ते बीच ही में छूट जाने का और फिर उनके हाथ के असम्बद्ध शब्द, फैली हुई स्याही, आदि संकेत मिले, तो मैंने तत्काल तार देना ही उचित समझा। किन्तु तार तो मैंने बोस्टन ही नहीं, देहरादून शान्ता जी को भी दिया था। शायद वे भी वहाँ नहीं होंगी। या कि—जैसी कि आजकल डाक-तार विभाग की हालत हो गई है, शायद उन्हें तार मिला ही न हो।'

'आपका तार शान्ता को मिल गया था न ! ठीक समय पर ही मिला होगा। दूसरे ही दिन बच्चों-कच्चों से लदी वह उत्तरकाशी पहुँची भी। किन्तु पिताजी वहाँ थे ही कहाँ ? आश्रम में किसी ने ठीक पता भी नहीं दिया। किसी ने बताया, बिस्तर में आग लग जाने से वे झुलस गए, किसी ने कहा, हार्ट अटेक हो गया, इसलिए अच्छे इलाज के लिए किसी बड़े शहर चले गए हैं। बेचारी शान्ता, यदि अस्पताल में खोज कर लेती तो पता चल जाता कि वे कलकत्ता ही गए हैं और तब तो वह आपसे ही सम्पर्क करके सब हाल मालूम कर सकती थी। पर वह तो इतनी व्याकुल हो गई थी कि तुरन्त देहरादून लौट आकर मुझे तार द्वारा सूचना देने के अतिरिक्त उसे अन्य कुछ सूझा ही नहीं।

'मुझे ही कहाँ मालूम था कि मेरे तार देने के पहले ही वे कलकत्ता आ पहुँचे थे, वरना मैं तार में ही यह सब सूचना नहीं दे देता ?—कहते-कहते मुझे यह भी लगा कि मुझे यदि मालूम हो जाता तो उनसे पूछे बिना मैं तार देता ही कैसे ? और तब क्या वे मुझे तार देने की इजाजत देते ? वैसा कुछ अगर उनका मनोभाव होता तो वे स्वयम् कभी से सूचना नहीं पहुँचा देते ? किन्तु इस भाव को मन में ही दबाए रखना उचित समझ कर मैंने कहा, 'अच्छा ही किया शान्ताजी ने, की तुम्हें सब सूचनाएँ सीधी भेज दीं। पर क्या तुम्हें शान्ताजी के तार से ही सूचना मिली ? मेरा तार तुम्हें नहीं मिला ?'

'वह तो बोस्टन लौटने पर ही मिला न ! मैं बोस्टन था ही कहाँ ? शान्ता को मैंने अपना कार्यक्रम बता रखा था। उसी ने दोनों जगह तार भेजे, एक वाशिंगटन और एक न्यूयार्क, रॉक-अवे....'

'कैलॉग-हाउस न ?'—मुझे स्मरण था, कैलॉग-दम्पत्ति वहीं तो रहते हैं।

'जी ! पर मैं तब कुछ कानूनी उलझनों में व्यस्त वाशिंगटन में था। मूलतः उपयोगी तो आपके तार ही हुए। शान्ता को अगर आपका तार न मिलता तो क्यों तो वह उत्तरकाशी जाती और क्यों मुझे तार भेजती ? तब मैं भी बोस्टन जब लौटता तब ही आपका तार देख पाता।'

—तो शान्तादेवी ने सूचना पाते ही अपना कर्त्तव्य तो किया ही। मुझे सूचना देने का प्रयोजन ही क्या था ? सूचना जहाँ पहुँचानी सार्थक थी, वहाँ उसने पहुँचाई ही। समय पर वैसे कुछ नहीं हुआ। इसका तो वह भी क्या करती ? मैंने ही कौन-सा समय पर तार दिया था ? उनके आधार पर जब तक कोई सक्रियता प्रारम्भ हुई तब तक तो मूल प्रयोजन ही समाप्त हो चुका था। ये ही तो जीवन की विडम्बनाएँ हैं !

अमेरिका का प्रसंग आया तो मैंने पूछा, 'आपके मिस्टर विलियम कैलॉग कैसे हैं अब ?—इज ही ऑलराइट ?'

'आपको नहीं मालूम ? लेकिन, हाउ वुड यू नो ? पिताजी को भी तो मालूम नहीं हुआ था। दैट पूअर चैप ! उसकी चेतना फिर नहीं लौटी अंकल। पिताजी वहाँ से रवाना हुए, उसके बाद एक हफ्ते तो वह जीवित रहा—जीवित क्या रहा ? डॉक्टर्स उसे जीवित रखते रहे, कहते रहे...

सहसा दिल को एक गहरा धक्का-सा लगा। समर्पित-प्रेम का एक अन्यतम आदर्श जिसने कभी प्रतिदान की आशा नहीं की। जब जो मिल गया, उसी में परम सुख माना और उसके भी जब छिन जाने की आशंका प्रस्तुत हुई तो बिना किसी प्रतिवाद या वाद के चुपचाप रंगभूमि से खिसक लिया ! पूअर चैप, किन्तु अपने सन्तोष में ही

कितना समृद्ध ? स्रग्धर कैसे समझ सकता है उस समृद्धि को ? मार्गरेट ने अपना इतिहास तो पहले कभी किसी पर प्रकट नहीं किया न !

स्रग्धर की गहरी सांस ने मुझे सावधान कर दिया । वह कह रहा था, 'माँ की पुख्ता खबर उसी से तो मिल सकती थी, किन्तु क्या किया जाए ? स्ट्रोक के बाद उसे तो फिर होश ही नहीं आया ।'

—माँ, अर्थात् मार्गरेट —कहाँ है वह ? कैसी है ? उस पर तो दुहरा वज्रपात हुआ है । उसका तो 'बिल' भी नहीं रहा और 'देवता' भी नहीं रहे ! क्या वह भी समय पर नहीं लौट पाई थी ? लौट पाई होती, तो अवश्य ही सावित्री की तरह अपने सत्यवान को वह काल के मुँह से बचा लाती ! कहाँ है वह ? स्रग्धर के साथ··· क्या इसीलिए सीधा यहाँ न आकर स्रग्धर अपनी माँ को होटल में बिठा लेने के बाद ही यहाँ आया है ? बहुत पहले ही पूछना चाहिए था, किन्तु मन पर जो मुरारी दा छाए हुए थे । शायद इस बीच स्रग्धर ने कुछ कहा भी है । कहा होगा ! मैंने अपनी ही ओर से पूछा, अपनी माँ को भी साथ लाए हो क्या ?'

'साथ ?' और मानों हैरानी के साथ वह बिस्तर पर उठ बैठा और रुआसे स्वर में बोला, 'परहैप्स शी प्रिफर्ड टु गिव्ह कम्पनी टु फादर !'

'क्या मतलब ?' मैं भी आवेश में उठ बैठा ।

क्या बताऊँ अंकल ? मुझे एक बड़े ही सघन रहस्य में उलझा कर वे एकदम अदृश्य हो गई हैं, सिम्प्ली डिसएपीअर्ड इन थिन एअर ! उन्हीं को ट्रेस आउट करने के लिए तो मैं वाशिंगटन, न्यूयार्क, बोस्टन—जहाँ कहीं भी उनके संकेत मिले हैं, पिलर टु पोस्ट, मारा-मारा फिरता रहा हूँ । वरना बोस्टन में आपका तार मुझे ठीक समय पर मिल जाता और मैं समय पर पहुँचकर शायद पिताजी के अन्तिम दर्शन तो कर ही लेता ।'

—डिसएपीअर्ड इन थिन एअर ! –झीनी हवा में उड़ गई । इन्हीं शब्दों में तो भृगम्मदा भी खो गई थी ! आख्यान की उस अन्तिम किश्त में मुरारी दा यही तो लिख रहे थे ! क्या उस समय ही मार्गरेट हवा में अदृश्य हुई है ?––अलक्ष्य में कहीं मुरारी दा तो नहीं और मुरारी दा ही क्यों ? स्वयम् मृगम्मदा तो नहीं उसे अदृश्य हो जाने के लिए प्रेरित कर रहे थे ? स्रग्धर भी क्या अपने माता-पिता की पाँच हजार वर्ष पूर्व के वृबु-मृगी की भूमिका से परिचित है ?

मैंने पूछा, 'तुम्हारी उनसे भेंट तो हुई न ।'

'भेंट ?—अरे अंकल, एक बार देख भी पाता, चाहे जैसी निर्मम और निष्ठुर क्यों न रही हों वे, रो-रो कर क्या पिघला नहीं देता उन्हें ?—आखिर कभी तो पिताजी को उन्होंने प्यार किया ही था, चाहे मजबूरी से ही हो ।'

'तुम जानते हो न उनके विवाह के इतिहास को ?'

'कैसे जानता अंकल ? कौन और क्यों सुनाता है ऐसा इतिहास अपनी सन्तान को ? वह तो पुत्र समझ सकता है केवल देख कर ही और स्वयम् अनुभव करके ही। वह स्थिति कभी मेरे भाग्य में आई ही नहीं। तब भी, समझ आने पर पिताजी को देख कर ही बहुत कुछ समझता रहा हूँ। उनकी मूक पीड़ा, स्त्री मात्र के प्रति उनकी निपट विरक्ति, मेरे प्रति उत्कट आवेग, क्या किसी संवेदन-प्रवण पुत्र को बहुत कुछ नहीं समझा देते ?--हाँ, जब मैं अमेरिका जाने को बहुत व्यग्र था और वे मुझे जाने देने के लिए सहमत हो गए थे, तब अवश्य उन्हें वह इतिहास मुझे बताना पड़ा था, केवल इतिहास, ठोस घटनाओं का ढाँचा मात्र। अपनी कल्पना से प्रत्यक्ष भी कितना-सा कर पाता ? और अब जबकि उस इतिहास की प्राणाकुल गहराई और वेदना-संकुल विशालता का कुछ-कुछ आभास मिलने लगा है तो दोनों ही खो गए हैं। कैसा अभागा हूँ मैं अंकल ?'

'भाग्य-अभाग्य की गुत्थी बड़ी विचित्र है इस जगत में बेटा ! सुलझा सकना दूर, उसे समझ सकना भी आसान नहीं है। जानते हो, तुम्हारा एक बहुत बड़ा सौभाग्य क्या है ? तुम्हारा जन्म एक अत्यन्त गहरे, अबाइडिंग लव्ह में हुआ है।'

किन्तु इसकी प्रतीति कैसे हो मुझे ? इतिहास तो कहता है कि पुत्र को जन्म देकर ही मां ने पति को छोड़ दिया कह लीजिए, छोड़ने को मजबूर होना पड़ा—वह भी पिता के प्रेम का ही तो प्रमाण है ! किन्तु लौटने की सब सुविधाएँ होते ही वह लौटी क्यों नहीं ? सूचना ही भेज देती ! देह मुक्त हो गई होती, तो भी एक बात थी —'

मैंने सहसा कहा, 'तुम जानते हो कि वे देह मुक्त नहीं हुई ?' अनायास ही स्रग्धर कितना अर्थपूर्ण पद प्रयुक्त कर गया है !

'अब हो गई हो — पर यह चालीस वर्ष का लम्बा अन्तराल कहाँ जाएगा ?'

मैंने लम्बी साँस लेकर कहा, 'हम लोगों की देह-मुक्ति की समझ बड़ी रूढ़ है स्रग्धर। तुम जानते हो न, मुरारी दा अपने उत्खनन में प्राप्त किन्हीं पुरालेखों के अनुवाद मुझे भेजा करते थे ?'

'शायद इसी सिलसिले में तो आपसे उनका परिचय हुआ था। पर वे पुरालेख क्या हैं यह मैं नहीं जानता। मुझे स्वीकार करना चाहिए, पुरातत्व में मेरी गहरी रुची कभी नहीं रही।'

'जिसे नव-निर्माण में रुचि हो वह पुरातत्व में रुचि लेने ही क्यों लगा ? किन्तु अपने माता-पिता को तनिक भी समझना चाहते हो बेटे, तो मैं सुझाव दूंगा, तुम उन्हें पढ़ो।'

'किन्तु वे अब उपलब्ध कहाँ हैं? उत्तरकाशी में उस रात उनके सारे कागज-पत्र तो जल कर राख हो गए न।'

उनके अनुवाद मेरे पास हैं। यदि तुम चाहो तो तुम्हारे लिए मैं उनको खोज निकालूंगा।'

'चाहूँगा क्यों नहीं अंकल? अब तो मेरे जीवन का मिशन ही यही है। वल्कि आपके साथ ही बैठ कर पढ़ना चाहूँगा, ताकि जहाँ समझ में नहीं आएगा, आपकी सहायता उपयोगी होगी। आप पर उनका कितना विश्वास था, यह मैं ही जानता हूँ और इस नाते ही, अब जबकि वे नहीं रहे हैं, आप ही मेरे पिता हैं।' और उसके स्वर काँप कर रह गए।

—सोच रहा हूँ, क्या स्रग्धर को मार्गरेट के उस पत्र का अनुवाद भी वता देना उचित नहीं होगा जो मुरारी दा ने मुझे भेजा था? किन्तु—नहीं। पहले मार्गरेट के हाल के इस विचित्र आचरण के बारे में तो जान लेना चाहिए। उससे यदि कहीं संगति नहीं बैठी या विरोध या विरोधाभास प्रकट हुआ, तो वेचारे स्रग्धर के मन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

स्रग्धर पूछ रहा था, 'नींद आ रही हो तो सोइए अंकल! वैसे भी आपको बहुत कष्ट दिया है। यों, कल सन्ध्या तक तो हूँ ही।'

'क्या कह रहे हो? कल ही कैसे जा सकते हो?'

'केवल आपके दर्शन करने थे अंकल, वरना यहाँ काम ही क्या है? पिताजी की अस्थियों का यदि कुछ योग हो जाय, तो गया होता हुआ लौटे जाना चाहूँगा।'

'तो क्या मुरारी दा के साथ ही मेरे सारे सम्बन्ध समाप्त हो गए? तुम जो कह रहे थे कि उनकी अनुपस्थिति में तुम मुझे उनका स्थानापन्न मानते हो, वह क्या मुँहदेखी बात ही है?'

'नहीं अंकल, मुँह देखी बात नहीं है। अच्छा, जब आप आदेश देंगे तभी जाऊँगा। मेरा वैसे अब है भी क्या? कहीं न कहीं बसना तो होगा ही! शान्ता यदि स्वीकार कर ले तो आपकी सेवा ही सही।'

मैंने मार्गरेट के पत्र में प्रस्तावित स्रग्धर के उत्तराधिकार की बात स्मरण कर मन-ही-मन हँस कर कहा, 'हाँ शान्ताजी से पूछ लेना बड़ा आवश्यक है भाई! गृहस्थि की स्वामिनी वही तो होती है! अभी तो मेरे लिए सचमुच यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि तुम मेरे कहने पर कुछ यहाँ रुक सकोगे। मैं जानता हूँ, तुम कम व्यस्त नहीं हो, देहरादून में वेचारी शान्ता और बच्चे भी अकेले तुम्हारी प्रतीक्षा में व्यग्र होंगे। मैं आवश्यकता से अधिक तुम्हें रोकूंगा भी नहीं! हां, तुमने यह जो कहा था कि वाशिंगटन के कुछ कानूनी उलझनों में व्यस्त थे। ये उलझनें तुम्हारे लिए वहाँ कैसे पैदा हो गईं?'

'यही तो रहस्य है अंकल। और कथा भी लम्बी तथा आश्चर्यजनक है! पूरी कथा सुनाने में समय भी तो लगेगा। कल सुनाऊँ तो कैसा हो? आप थक गए होंगे।'

'तुम सुनाओ, मैं उत्सुक, हूँ, पर हाँ! अगर तुम्हें थकावट महसूस हो रही हो तो सो जाओ, वैसे यात्रा की थकावट तो होगी हो।'

'हवाई यात्रा की थकावट भी कोई थकावट होती है? हाँ तो मैं कह यह रहा था कि विलियम की मृत्यु के बाद में तो किंकर्त्तव्य- विमूढ़ हो गया था। क्या करूँ, माँ का पता अब किससे लग सकेगा? कुछ सूझ ही नहीं पड़ता था। विलियम के बाद एक ही व्यक्ति बच रहता था, जिससे माँ के बारे में कुछ पता लगने की सम्भावना हो सकती थी और वह थी विलियम की पत्नी एथेना। अब जब कि पति की मृत्यु हो गई है तब तो उसे शीघ्र लौटना ही होगा, मैंने उसकी प्रतीक्षा करना ही उचित समझा। मि. कैलॉग के सेक्रेटरी से मैं कह भी आया कि वे लौट आएँ तो मुझे अमुक होटल पर शीघ्र सूचना भिजवा दी जाए।'

मैं साँस रोके स्रग्धर की कथा पर कान लगाए था। उपन्यास लिख लेता हूँ, इसलिए जानते हुए भी उत्सुक था कि एथेना के नाम में छिपी मृगम्मदा के रहस्योद्‌घाटन की स्रग्धर पर क्या प्रतिक्रिया होती है?

स्रग्धर कह रहा था, 'इसी तरह निष्क्रियता में और एक सप्ताह बीत गया कि एक दिन संध्या के समय होटल के अपने कमरे में जिस अजनबी ने मुझे दर्शन दिए वह था कैलॉग कार्पोरेशन के एर्टनियों का एक कर्मचारी। आते ही उसने पूछा, कि क्या मैं ही भारत के श्री मुरारीलाल का पुत्र श्री स्रग्धर हूँ? मेरे 'हाँ' कहने पर उसने मुझे केवल यही कहा कि मैं श्रीमती एथेना कैलॉग का उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया हूँ और मुझे अपना स्वत्व प्राप्त करने के लिए अपना परिचय प्रमाणित करना होगा। अधिक जानकारी मुझे उनके न्यूयॉर्क स्थित कार्यालय से मिल सकती है और अपने कार्यालय का एक कार्ड थमा कर वह जैसे आया था वैसे ही चला गया।—मेरी हालत देखिए अब। रात भर मैं सो नहीं सका। श्रीमती एथेना कैलॉग और उनका वारिस मैं? आखिर क्यों?—किस-किस सम्बन्ध से? श्रीमती एथेना कैलॉग, अर्थात् मि. विलियम कैलॉग की पत्नी। उनकी प्रतीक्षा मुझे अवश्य थी, इसलिए नहीं कि उनका वारिस बनना था मुझे, बल्कि इसलिए कि माँ का कुछ भी ठिकाना अब मुझे उनसे ही मिल सकता था! और श्रीमती एथेना को अभी ही किसी उत्तराधिकारी को चुनाना क्यों आवश्यक हो गया था, जब कि उनके पति का देहावसान हुए हफ्ता भर ही हुआ है? किसी ने उनके लड़के के नाम की जगह शरारत से भर कर मेरा नाम तो नहीं दे दिया? यह तो साफ था कि वे लौट आई थीं। पति की मृत्यु के

कारण बेचारी बाहर निकलती ही कैसे ? गुत्थी तो उनसे भेंट करने पर ही सुलझ सकती थी, मैंने सोचा था, इसी बहाने संवेदना-प्रकाश का कर्त्तव्य भी हो जाएगा। न पहचानतीं हों या किसी की शरारत हो, तो भी मिलने का बहाना तो है ही। सुन रहे हैं न अंकल !'

'हाँ-हाँ, बड़े मनोयोग से सुन रहा हूँ। तुम कहते जाओ।'

'सो, दूसरे दिन, अन्य किसी से मिलने के पहले मैं सीधा रॉक-अवे कैलॉग-हाउस पहुँचा। दूर से ही बँगले में कर्मचारियों की सजगता और सक्रियता देख कर आशा हो चली थी कि गृह स्वामिनी लौट आई हैं। सभी कर्मचारी शोक की काली पोशाक में थे। उनकी मुख्य परिचारिका मार्था से भी भेंट की गृहस्वामिनी अवश्य लौट आई थीं, किन्तु पति की मृत्यु की सूचना पाकर नहीं, वह तो यहाँ आने पर ही उन्हें मालूम हुआ था। पति के अकस्मात् बीमार हो जाने की सूचना भी उन्हें नहीं थी, वरना वे तत्काल लौट आतीं ! उनके सख्त आदेश थे कि किसी को भी उनके लौट आने की सूचना नहीं दी जाए। शोक में पूरे दो दिन तो वे अपने कमरे में ही बन्द रहीं बिना खाए-पिए ही। बहुत आग्रह पर कभी एकाध कप कॉफी पी लेती। तीसरे दिन नहा धोकर शोक-सूचक कपड़े पहने, जैसे-तैसे कुछ नाश्ता किया। मार्था को बुला कर कहा कि वे आवश्यक कार्य से बाहर जा रही हैं, आवश्यक हुआ तो उन्हें बोस्टन ही नहीं, वाशिंगटन भी जाना पड़ सकता है, वरना शाम तक लौट आएँगी। किसी को उनकी कोई सूचना नहीं दी जाए, ये आदेश पुनः दुहराए गए, वैसे भी उस एकांत स्थान पर कोई उनके बारे में जानने को उत्सुक नहीं था। तीसरे पहर के बाद ही ड्राइवर लौट आया था। उसने बताया कि वे न्यूयॉर्क में अपने अटर्नी के कार्यालय में गई थीं और वहीं से उसे यह कह कर लौटा दिया गया कि उन्हें वहाँ देर हो सकती है, गाड़ी वे स्वयम् ड्राइव करके चली आएँगी। देर हो जाये, तो कोई चिन्ता न करे।—और तब से वे प्रतीक्षा कर ही रही हैं, पाँच-छह दिन हो गए थे। मुझसे सब बातें इसलिए मार्था ने बताई कि उनके अब तक न लौटने से उसे चिंता हो गई थी। शायद उसने यह भी सोचा हो कि मुझ जैसे अजनबी को बतलाने से किसी अनिष्ट की आशंका ही क्या हो सकती है ?

मैंने कहा, 'एटर्नी से वह सब कुछ सुन कर भी तुमने अपना परिचय नहीं दिया वहाँ ?'

'वह सब कुछ सुन कर ही तो नहीं दिया अंकल।—वैसे शायद दे भी देता। मन में न जाने कैसा एक भय बैठ गया था ! मुझे अपने पर ही सन्देह होने लग गया था, जैसे मैं 'मैं' नहीं हूँ। और उस एटर्नी की भेंट तो मुझे एक दुःस्वप्न जैसी लग रही

थी नितान्त अवास्तविक ! उसकी प्रामाणिकता को जाँचने की अपेक्षा मेरी दिलचस्पी अपनी माँ को खोज लेने में थी। और सन्ध्या को देर हुए होटल लौटा, तो वहाँ एक और आश्चर्य मेरी प्रतीक्षा कर रहा था !'

'वह क्या ?' मैंने उत्सुक होकर पूछा।

'काउण्टर पर माँ की ओर से उपहार में सील-मुहर किया हुआ मेरे नाम का एक बड़ा सुन्दर बक्सा था ! काउण्टर-गर्ल ने मुझ से बाकायदा रसीद लेकर वह बक्स मुझे दिया तो मुझे आश्चर्य ही हुआ। मेरे नाम से डाक आदि कुछ भी आती है तो काउण्टर-गर्ल कभी मेरे दस्तखत नहीं लेती। उन्हें अपने ग्राहकों की ओर से उनकी अनुपस्थिति में उनका प्रतिनिधित्व करने का अधिकार होता है और उनकी ओर से होटल-कर्मचारी की रसीद पर्याप्त समझी जाती है। पूछने पर लड़की ने बताया कि यह पार्सल किसी संभ्रान्त महिला की एंक नौकरानी दे गई है और अपनी स्वामिनी के सन्तोष के लिए उसे मेरे द्वारा हस्ताक्षरित रसीद ही चाहिये। पार्सल वहाँ छोड़ कर वह कुछ शॉपिंग के लिए चली गई थी, लौटते समय वह यह रसीद काउण्टर-गर्ल से लेती जाएगी। इस बीच मैंने बक्से को उलट-पुलट कर देख लिया था। वह बड़ा आकर्षक और मजबूत भी था। सुन्दर टाइप में उस पर मेरे नाम का लेबल तो था, किन्तु अन्य इबारत जर्मन में थी, जिसे मैं नहीं समझता। मैंने उस लड़की से पूछा, जर्मन वह भी नहीं जानती थी, किन्तु उसने पार्सल लानेवाली नौकरानी से पूछा था अंग्रेजी में वह बनता था 'विथ डीपेस्ट लव्ह फ्रॉम हिज मदर टु डीअरेस्ट सगधर !'

मैंने साँस रोक कर पूछा, 'क्या उस पर भेजने वाले का नाम नहीं टंकित था !'

'था ! नीचे लिखा था 'मार्गरेट लाल'। तभी तो मुझे विश्वास हुआ। उस नौकरानी से मिलने के लिए मैं काउंटर पर लगभग आधघण्टे तक उसकी प्रतीक्षा करता रहा। फिर मैंने सोचा कि पार्सल में माँ ने मेरे लिए कुछ आवश्यक सूचनाएँ लिख भेजी हों और यदि जर्मन में हुईं तो उस नौकरानी से ही समझ भी सकूँगा, मैं ऊपर अपने कमरे में चला गया। काउंटर-गर्ल से यह कहना मैं नहीं भूला कि वह नौकरानी आ जाए, तो उसे ऊपर मेरे कमरे में भेज दे। मुझे उससे बहुत आवश्यक कार्य है। काफी देर तक राह देखने के वाद भी जब ऊपर कोई नहीं आया तो मैंने नीचे जाकर पुन: खोज की। काउंटर-गर्ल ने कहा कि मेरे ऊपर जाने के कुछ ही मिनिट वाद वह नौकरानी काउंटर पर आ उपस्थित हुई थी। काउंटर-गर्ल ने उसे मेरा सन्देश सुनाया था, पर उसने कहा कि बाहर उसकी स्वामिनी उसकी प्रतीक्षा कर रही है, वह ठहर नहीं सकती, यदि आवश्यक हुआ तो वह दूसरे दिन सवेरे आकर मिल लेगी। काउंटर-गर्ल ने स्वयं देखा था कि उसकी गाड़ी तो बाहर खड़ी थी, किन्तु उसका अनुमान था कि वह शायद लाउंज में ही बैठी मेरे लौट आने की प्रतीक्षा कर रही थी। मुझसे मिलने का उसमें कोई आग्रह नहीं था।'

'तुमने उसके वेश, उम्र, चेहरे-मोहरे आदि के बारे में कुछ नहीं पूछा ?'

'पहली ही बार तो नहीं, पर जब दूसरी बार गया था तब अवश्य पूछा था। उसने बताया कि वह एक दुबली-पतली साठ-सत्तर के करीब बुढ़िया-सी लगती थी, किन्तु चाल-ढाल और चुस्ती में वह अपनी उम्र से कहीं कम लगती थी ! वेश उसका शोक-सूचक सादा, किन्तु बहुमूल्य था, जो उसके स्वामी की समृद्धि का, परिचायक था। गाड़ी की एक झलक से भी यह स्पष्ट था ! शायद उसके गृहस्वामी की मृत्यु हो गई है, इसलिए वह शोक के वस्त्र पहने हुए थी।'

उसके चेहरे के बारे में अवश्य तुमने नहीं पूछा होगा। अच्छा, मार्था को तो तुमने देखा ही है, तुम्हारे खयाल से क्या वह नौकरानी मार्था नहीं हो सकती थी ?'

'नहीं अंकल ! मार्था दुबली-पतली नहीं है। उम्र अवश्य उसकी पचास से अधिक नहीं है, किन्तु उसमें वह चुस्ती कहाँ ? उसके तो बाल भी सब काले और छँटे हुए छोटे-छोटे से हैं। इसके विपरीत लड़की ने उस नौकरानी के बाल बिलकुल सफेद और कन्धे तक लटकते हुए बताए थे। पर आप तो इस तरह पूछ रहे हैं, मानों ऐसी किसी नौकरानी को आप जानते हों ?'

मैंने एक लम्बी साँस ली और कहा, 'जानता किसी को नहीं बरखुरदार, अमेरिका तो मेरा स्वप्न में देखा हुआ भी नहीं है। किन्तु जो कुछ तुम बता रहे हो, उससे मुझे सन्देह होता है कि तुम उस सन्ध्या को अपनी ममतामयी माँ के बहुत निकट पहुँच गए थे। तुम जब तक उसकी प्रतीक्षा में काउंटर पर खड़े रहे, लाउंज में बैठी वह तुम्हें नयन भर कर भरपूर दृष्टि से देखती रही !'

'सन्देह तो मुझे भी हुआ था अंकल, पर तब, जब दूसरी बार मैं उनकी खोज में काउंटर पर गया था और जब वे मेरी रसीद लेकर जा चुकी थीं। दूसरे दिन भी बहुत विलम्ब तक मैंने लाउंज में बैठे-बैठे ही उनकी प्रतीक्षा की, बल्कि सबेरे की चाय भी मैंने वहीं ली। उसके बाद तो वहीं क्यों, अन्यत्र भी, बोस्टन, न्यूयार्क, वाशिंगटन, कहीं भी जहाँ होटल में जाना हुआ, मैंने आँखें फाड़-फाड़ कर हर वैसी महिला की ओर टकटकी लगा कर देखते ही रहने की धृष्टता की है, किन्तु मेरा भाग्य ही मन्द हो तो कोई क्या करे ?'

मैंने स्रग्धर का ध्यान बटाने के लिए पूछा, 'उस बक्से में क्या कुछ उनके बारे में नहीं निकला ?

'नहीं अंकल, वैसा कोई संकेत तो उसमें नहीं था, किन्तु अभिभूत कर देने वाली वस्तुएँ उसमें थीं। इट वॉज ए ड्रीम आफ ए लाइफ-टाइम। मेरे जीवन की चरम सार्थकता.......'

'क्या था ? कुछ पैसा-वैसा.......'

'वह भी कम नहीं था अंकल, पूरे दस हजार डालर के नोटों की गड्डी। वट दैट वॉज नथिंग, माँ की गम्भीर ममता और वात्सल्य को प्रतीक तो थी एक रेशमी वस्त्र में बँधी पोटली, जिस पर चिपके लेबल पर अंग्रेजी में टंकित था, 'अपनी पुत्र-वधू के लिए अगर और जब भी वह आए!' और आप विश्वास करेंगे अंकल? ब्रेकेट में पुत्र-वधू के आगे लिखा था 'टु बी नेम्ड शान्ता।—यह नाम उसने कैसे जान लिया?'

मार्गरेट की निष्ठा का यह भी प्रमाण था और अभिभूत मैं भी हो गया था। बोला, 'जब तुम उस उत्खनित साहित्य को पढ़ोगे, तो तुम्हें फिर आश्चर्य नहीं रहेगा। और अब तो तुम समझ सकते हो न, कि किस तरह तुम्हारी माता और तुम्हारे पिता दो तन एक प्राण थे? क्या यह अत्यन्त गम्भीर प्रेम के अभाव में कभी सम्भव है?—क्या उस पोटली में गहने थे?'

'हाँ अंकल, बहुमूल्य हीरों के कई लाख के होंगे वे! किन्तु उनके मूल में जो भावना है, वह कितनी मूल्यवान है अंकल?'

'मैं समझ सकता हूँ भाई।—तुमने इसके बाद एटर्नी के कार्यालय में भी तो खोज की होगी?'

'की थी, पर वह बाद में। दूसरे दिन तो मैं पुनः रॉक-अवे द्वीप पर ही गया, इस आशा से कि श्रीमती एथेना लौट आई हों या उनके यहाँ माँ का पता ही लग जाए! किन्तु वहाँ कोई नई बात नहीं मालूम हो सकी, सभी कुछ पूर्ववत ही था। एटर्नी के कार्यालय में पूछ-ताछ करके पहले मैंने एक बार फिर कैलॉग कॉर्पोरेशन के कार्यालय में खोज कर लेना मुनासिब समझा।—वहाँ जाकर मैं तो पागल हो गया अंकल! लगभग वे सभी जान गये थे, कि शेअरों के सत्वाधिकार और उत्तराधिकार के बल पर मैं ही अब उनका बॉस हो जाने वाला हूँ। सिर पर पैर रख कर भागा वहाँ से बिना कुछ पूछताछ किये। मैं समझ ही नहीं पा रहा था कि क्या कुछ होता जा रहा है! एक ओर तो माँ अपने वात्सल्य की मरीचिका फैलाए मुझे भरमा रही थी और दूसरी ओर एक नितान्त अपरिचित श्रीमती एथेना कैलॉग, जिसका मेरे साथ कभी दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है, जिसे मैंने कभी देखा तक नहीं, अकस्मात अकारण उस कृपा की यह बाढ़।'

मैंने कहा, 'क्या एटर्नी के कार्यालय में भी तुम्हें कोई समाधान नहीं मिला?'

'नहीं अंकल। वे तो किसी श्रीमती मार्गरेट लाल को जानते ही नहीं। श्रीमती कैलॉग अवश्य गत सप्ताह वहाँ उपस्थित हुई थीं और विधिवत एक शपथ-पत्र के द्वारा उन्होंने मुझे वैधानिक रूप से अपना उत्तराधिकारी घोषित किया, क्योंकि कैलॉग दम्पति के कोई अपनी सन्तान नहीं है और अब मिस्टर विलियम की मृत्यु

के वाद वैसी कोई सम्भावना भी नहीं रही है ! उसी दिन श्रीमती कैलॉग ने उस अभिलेख का विधिवत पंजीयन भी करवा लिया था ।–मिस्टर विलियन कैलॉग वर्षों पूर्व अपनी पत्नी एथेना कैलॉग को अपना एकमात्र उत्तराधिकारी नियत कर गये थे । इस तरह मैं स्वतः ही उन दोनों के स्वत्त का उत्तराधिकारी बन गया था !'

'तब तो तुम्हें अब अमेरिका में ही वस जाना पड़ेगा न !' मैंने पूछा ।

स्रग्धर ने मुस्करा कर कहा, मुझे ऐसा कोई लोभ नहीं है अंकल । गम्भीरता से मैंने इस पर सोचा ही नहीं । मैं तो सच ही इसे अभी भी एक स्वप्न ही मानता हूँ । माँ की पहेली को सुलझाना मेरे लिए अभी यही सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है ।'

स्रग्धर की समस्या का आंशिक समाधान तो मैं तत्काल प्रस्तुत कर सकता था, किन्तु यह समस्या तो रहती ही, कि मार्गरेट क्या हुई ? मैंने पूछा, 'क्या तुम्हारे एटर्नी श्रीमती एथेना की तत्कालीन गतिविधियों के बारे में भी कोई प्रकाश नहीं डाल सके ?

'जब मैंने उन्हें सारी दास्तान कही, तो वे भी चक्कर में पड़ गए और परामर्श दिया कि ऐसे गूढ़ मामले में सी. बी. आई. या सी. आई. ए. जैसी किसी संस्था की सहायता लेकर पहले इन महिलाओं का पता लगा लिया जाए, तभी अपनी व्यक्तिगत पहचान आदि को प्रमाणित करने का काम हाथ में लिया जाए ।—मेरी आशंका को उन्होंने भी स्वीकार किया कि कहीं कोई गहरा षड्यन्त्र और उन दोनों महिलाओं के प्राणों का संकट न हो ।'

'तो क्या इसीलिए तुम वाशिंगटन गए थे ?'

'बिलकुल इसीलिए । बल्कि मुझे तो सन्देह हो गया है कि उन दोनों की हत्या कर दी गई है ?'

'तुमने यह मामला किसे सौंपा है, सी. बी आई. या. सी. आई ए को ?'

'वहां जाने पर मैंने सोचा कि इन सरकारी एजेन्सियों की अपेक्षा क्यों न किसी प्राइवेट एजेन्सी की सहायता लूं ? सरकारी एजेन्सियों से वात ही फैल जाने का डर न था, वल्कि कैलॉग कॉर्पोरेशन की प्रतिष्ठा का भी प्रश्न था । इसी सोच-विचार में मैं किसी प्राइवेट डिटेक्टिव्ह एजेन्सी की तलाश में था कि शान्ता का तार आ पहुँचा ।'

मैंने राहत की साँस लेकर कहा, 'अच्छा ही हुआ कि यह मामला अभी तक अपने ही तक सीमित है ।—अच्छा स्रग्धर, इस बीच तुम्हें क्या यह कभी नहीं लगा कि श्रीमती एथेना और तुम्हारी माँ श्रीमती मार्गरेट अलग-अलग दो नहीं, बल्कि एक ही व्यक्तित्व है ?'

मेरी आशा के विपरीत नितान्त-शान्त भाव से, जैसे यह कोई बात ही न हो, स्रग्धर ने कहा, 'यह कैसे सम्भव है अंकल ?—एटर्नी ने भी अपना यह सन्देह

व्यक्त किया था। अपने आप में कितनी एब्सर्ड, बेहूदा है यह बात ?--आप सोचते हैं इस पर कोई विश्वास कर सकता है ?

'मैं करता हूँ और तुम भी करने लगोगे यदि निष्पक्ष और ठंडे दिमाग से सोचोगे।'

'क्या कह रहे हैं आप ?' और इस बार वह आवेश में पुनः उठ बैठा, 'आपका मतलब है, मेरी माँ ही मिसेस एथेना कैलॉग है, अर्थात् एक पुंश्चली स्त्री ?—मेरे पिता के प्राणदान जैसे उपकार और गहरे प्रेम को भुला कर पैसे के लोभ में वह एक यांकी की पत्नी बन बैठे ऐसी छिछली थी मेरी माँ ?'

मैंने कहा, 'उत्तेजित न होओ बेटा,....

'आप बात ही ऐसी कह रहे हैं ! कौन इज्जतदार बेटा अपने निर्दोष माता-पिता के कलंक का दुर्वाद चित्त स्वस्थ रख कर सुन सकता है ?'

'चित्त को तो स्वस्थ रखना पड़ता है बेटे !—अच्छा, तो तुम्हीं बताओ, दोनों महिलाएं यदि अलग-अलग हैं, तो इस सारे व्यापार में संगति कहाँ है ?' कैसे यह सब कुछ घटित हुआ ?'

'किन्तु यदि कोई व्यापार सामान्य तर्क से हमारी समझ में न आए, तो क्या उसे इसीलिए किसी स्वैर या भ्रष्ट कल्पना के माध्यम से सोचना होगा ?—आप यह क्यों नहीं सोचते कि माँ और विलियम की पत्नी एथेना, दोनों में परस्पर गहरा सख्य पैदा हो गया था। अमेरिका तक माँ के लिये एकदम नया देश था, विलियम को छोड़ कर वह जाती ही कहाँ ?—और जब तक युद्ध समाप्त नहीं हो जाता, तब तक वह भारत लौट भी कैसे सकती थी ? विलियम के घर में रहते हुए ही यदि माँ ने उसकी पत्नी एथेना का मन जीत लिया हो, तो क्या यह आश्चर्य की बात है ?—अपने सद्-व्यवहार के अतिरिक्त अपने आपको भुलाए रखने के लिए यह भी सम्भव है कि माँ ने विलियम के व्यवसाय में रुचि ली हो और अपनी प्रतिभा के बल पर उसे प्रतिष्ठा के उस ऊँचे शिखर पर पहुँचा दिया हो, जहाँ वह आज है ! और अपने इन सहज गुणों के कारण क्या वह इस परिवार की एक सदस्या नहीं बन गई होगी ? माँ तब भी थी तो बाहरी सदस्य ही, अतः यह सारा व्यापार उसने शुरु से ही एथेना के नाम से ही चलाया होगा—स्नेह के सम्बन्धों में पृथक व्यक्तित्व का प्रश्न समाप्त भी हो जा सकता है अंकल।'

'त्याग की भावना बलवती हो, तो क्यों नहीं हो सकता ? और मुझे इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है कि तुम्हारी माँ त्याग की मूर्ति ही थी। किन्तु, एथेना का तुमको अपना उत्तराधिकारी बना डालना, इसको कैसे समझा जा सकता है ?'

'यह भी कोई कठिन उलझन नहीं है अंकल ! एक तो कैलॉग-दम्पति को कोई सन्तान ही नहीं है। दूसरे, यदि इस समृद्धि का बहुत कुछ श्रेय मेरी माँ का हो, तो

उसका लाभ उसे क्यों नहीं मिलना चाहिए ?—मेरी माँ ने अवश्य अपनी सखी से मेरे बारे में, अपने पुत्र के बारे में सब कुछ कहा ही होगा और जब कि इस क्रिटिक्स पीरियड में संयोग से मैं भी यहाँ उपस्थित हूँ, तो श्रीमती एथेना अपनी सखी के एहसानों के बदले और कर ही क्या सकती थी ?—अलबत्ता, आप यह कह सकते हैं कि अभी ही इस सब की क्या जरूरत आ पड़ी है, जबकि विलियम की मृत्यु का घाव अभी सूखा ही नहीं है। मेरा खयाल है, रहस्य यही है ! कहीं-न-कहीं से उन्हें आशंका है कि कोई विलियम के उत्तराधिकार का दावा करने वाला आ टपकेगा, जिससे स्वयम् उनके प्राणों का भय है। और इसीलिए इस उत्तराधिकार के मामले को जल्दी-से-जल्दी निपटाकर वे अदृश्य हो गई हैं। क्या मेरी कल्पना एकदम असम्भव है ?'

स्रग्धर की भावना समझ कर मुझे मन-ही-मन कष्ट हुआ, किन्तु यदि अभी ही उसे सही बात न बता दी जाए, तो सम्भव है भविष्य में भिन्न परिस्थितियों में उसका मन और भी गहरी ठेस पा सकता है। इसलिए मैंने कहा, 'तुम्हारी कल्पना अयुक्तिक तो नहीं है बेटे, लेकिन ट्रुथ इज स्ट्रेंजर दैन फिक्शन।—मैं ही क्यों ? मुरारी दा, तुम्हारे पिता भी इस तथ्य को जानते थे। अमेरिका से वे बीच ही में क्यों लौट आए, इस पर तुमने कभी सोचा है ?'

'आपका मतलब है, तब वे जानते थे कि माँ ने विलियम से विवाह कर लिया है ?—किन्तु ऐसा होता तो वे मुझे क्यों वहाँ मरीचिका में भटकने रहने के लिए छोड़ आते ?'

'तब उन्हें केवल सन्देह ही हुआ था। मैंने पूछा भी था शायद। वे चाहते थे कि वास्तविकता को तुम अपने तौर पर समझो और ग्रहण करो।—किन्तु निश्चय से तो उन्हें यहाँ लौट आने पर ही पता चला तुम्हारी माँ का पत्र पाकर।'

'माँ का पत्र ?' मानों वह आसमान से गिरा।

'भूल तो नहीं है, किन्तु मुरारी दा के हाथ का लिखा हुआ उसका अनुवाद मेरे पास है। यदि जल न गया हो, तो मूल पत्र उनके कागज-पत्रों में अवश्य मिल जायगा।'

'बचे हुए कागज-पत्र अभी मैंने देखे नहीं हैं अंकल !—क्या लिखा है उस पत्र में ?—कब मिला था वह पिताजी को ? – उन्होंने मुझे क्यों नहीं लिखा उसके बारे में ?'

'सबेरे खोज कर बताऊँगा। वह पत्र उन्हें तब प्रतीक्षा करता हुआ मिला था जब वे अमेरिका से लौट आये थे। उनके पुराने दिल्ली के पते से था, अतः काफी घूमता-फिरता विलम्ब से ही मिला था उन्हें। अमेरिका पहुँच कर तुमने कैलॉग को सबसे पहले अपने पहुँचने की सूचना वाशिंगटन से ही दी थी न ?'

'वाशिंगटन से ही तो पता लगा पाया था मैं ! मैंने तार द्वारा उससे मिलने का उसकी सुविधा का समय भी माँगा था।'

'उसका तुम्हें शायद जवाब मिला ही नहीं। तुम्हारी माँ उस तार को पाकर एकाएक इतनी आतंकित हो उठी कि उसमें तुम लोगों का सामना करने का साहस नहीं रहा और वह पहली उड़ान से यूरोप कहना चाहिए, भाग खड़ी हुई। विलियम तुम्हारी माँ के द्वन्द्व को खूब अच्छी तरह समझता था, विछोह की आशंका और आतंक का उस पर यह फल हुआ कि वह स्ट्रोक का शिकार हो गया। तुम्हारी माँ को इसका पता ही नहीं लग सका, वह अज्ञात-वास जो कर रही थी तुम लोगों से छिप कर ! किन्तु अवसर पाते ही तुम्हारे और तुम्हारे पिता के प्रति उसके प्रेम का अवरुद्ध-प्रपात सारी लज्जा और संकोच को फोड़ कर फूट निकला उस पत्र के रूप में जो उसने जर्मनी से तुम्हारे पिता को लिखा है ! उसमें बीते हुए उन चालीस वर्षों का पूरा इतिहास है स्रग्धर, जिसका दंश वह प्रत्येक क्षण सहती आई है।' और मैंने तब संक्षेप में स्रग्धर को उस सारे पत्र का सार सुना दिया। मैं कहता रहा, वह सुनता रहा बिना हिले-डुले, सारा ही कान बन कर। अपनी रौ में बहते हुए मैंने लक्ष्य नहीं किया कि इस बीच कितना बड़ा तूफ़ान उसके मन में बह चला है !

मेरी बात समाप्त हुई तो मैंने उसकी ओर देखा। कमरे में अपना प्रकाश नहीं था, किन्तु बाहर सड़क की नियोन लाइट के प्रतिफलित प्रकाश में वस्तुओं की स्थूल रेखाएँ स्पष्ट दीख रही थीं। स्रग्धर चुपचाप मन्त्र-कीलित-सा निश्चल बैठा हुआ था। चेहरे के भावों को पढ़ने की सुविधा अवश्य नहीं थी, किन्तु उसकी भावहीन, स्तब्ध-निष्कम्प बैठने की मुद्रा अनायास बहुत-कुछ अभिव्यंजित कर देती थी। स्पष्ट था कि एक भयानक आँधी उस पर से गुजर गई है, किसने उस लहलहाते वृक्ष के पत्ते ही नहीं झाड़ दिए हैं, बल्कि उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं को भी तोड़-मरोड़ कर उसे ठूँठ कर छोड़ा है।—आँधी अगर पहले चल ली होती, तो ध्वन्स शायद इतना मुखर नहीं प्रतीत होता—माँ की ममता के कोमल-नूतन पर्ण अभी ही तो फूटने लगे थे !—तब मार्गरेट थी मात्र उसके पिता की पत्नी, उसकी माँ नहीं। उस ममतामय उपहार के बाद ही तो मार्गरेट को मातृपद, मिल रहा था ! अच्छा हुआ कि अभी ही बता दिया गया। सघन वृक्ष के समूल उखड़ कर गिरने पर तो धरती में एक गहरा गड्ढा बन जाता है, भरने में वर्षों लग जाते हैं और क्षत तो तब भी बना ही रहता है।

उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए मैंने कहा, 'अपने पिता की लिखावट में सबेरे उस पत्र का अनुवाद देखोगे तो तुम्हें भी यकीन हो जाएगा।'

चौंक कर उसने सिर उठाया और कहा, 'यकीन ?—आपकी बात का यकीन नहीं है मुझे ?—तब तो मेरा यहाँ आना ही व्यर्थ हो गया।—नहीं अंकल, अब तो उस

पत्र को देखने का उत्साह भी मुझमें नहीं रह गया है !—वैसे मैं माँ की बात भी नहीं सोच रहा हूँ, सोच रहा हूँ केवल पिताजी की बात।—कि यह सब कुछ भी आखिर में उन्हें मालूम होना था !—कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है पुरुष को अपने प्रेम की ? विलियम ने चुकाई, फिर पिताजी ने चुकाई !—और वह प्रेम आखिर था ही क्या ?—यह कथा सुनने के पहले मैं माँ को प्यार करने लग गया था, एथेना की भक्ति करने लगा था। और अब ?'

'अब क्या नफरत करने लगे हो ? याद रहे, एक ही अस्तित्व में वे दोनों अभी भी वहाँ बराबर बरकरार हो सकती हैं। मत भूलो, कि वह तुम्हारी माँ है और तुम उकेस उत्तराधिकारी हो, केवल सम्पत्ति के ही नहीं, उसके समस्त अच्छे-बुरे के भी।'

और यदि मैं अस्वीकार करूँ ?'

'कर सकते हो, किन्तु अस्वीकार उसकी भौतिक सम्पदा का ही तो कर सकते हो ! किन्तु तुम उसके पुत्र हो —'

'यह कौन जानता है ?'

'और कोई न जाने, पर तुम तो जानते हो ! अपने आपको तुम कैसे धोखा दे सकोगे ?—और क्यों चाहोगे तुम अपने आपको दंड देना ?'

स्रग्धर की गर्दन परिताप और शायद लज्जा के बोझ से नीचे झुक गई। कुछ क्षण उसकी ओर देखते रह कर मैंने कहा, 'कीमत पुरुष ही नहीं चुकाता स्रग्धर, स्त्री भी चुकाती है और कितनी भारी कीमत चुकाती है, यह उस पत्र को पढ़े बिना तुम समझ नहीं सकोगे !—यह बात दूसरी है कि जिस प्रेम के लिए इतनी कीमत चुकाई जाती है, वह वस्तुतः है क्या ?—तुमने ही पूछा था न ? तुम किसी और को प्रेम नहीं करते स्रग्धर, तुम अपने आपको ही प्रेम करते हो ! तुम्हें कीमत चुकानी पड़ती है, इसलिए कि तुम भ्रम में हो, कस्तूरी-मृग की तरह भटकते फिरते हो और तब एक दिन भ्रम के कारण ही बहेलिए के हाथों वध हो जाते हो !'

'तो क्या विलियम कैलॉग और पिताजी भी भ्रम में थे ?'

'विलियम की बात मैं नहीं जानता। किन्तु मुरारी दा इस भ्रम से मुक्त हो चुके थे, शायद ऐसा भ्रम उन्हें हो ही नहीं सकता था। यह तो निश्चित है कि उनकी मृत्यु का कारण प्रेम की विफलता नहीं थी। और विश्वास करोगे ? वे अन्त तक न केवल अपनी पत्नी को उतनी ही गहराई से प्रेम करते रहे, बल्कि सब कुछ जानकर भी अपने प्रति उसके निश्चल प्रेम-बोध से आश्वस्त भी रहे हैं।'

'पिताजी को शायद आपने ही अच्छी तरह समझा है अंकल, किन्तु क्या सामान्य तौर पर यह सम्भव है ?'

'स्वस्थ-चित्तता आवेग से नहीं, विवेक से आती है स्रग्धर ! तुम्हारी तरह मुझे भी शंका हुई थी और मैंने उनसे सीधा ही यह प्रश्न भी कर लिया था। उनका उत्तर

सुन कर मैं तो अभिभूत हो गया। मैं सहज ही विश्वास नहीं कर सका कि विचारों ही में नहीं, सहज भावना में भी कोई व्यक्ति इतना ऊँचा उठ सकता है !'

'क्या उत्तर था उनका अंकल ?'

'उन्होंने सहज भाव से कहा था, शारीरिक सम्बन्धों से ही यदि प्रेम की प्रतीति होती है, तो हमारे व्यवहार में माँ और बहन के सम्बन्धों की क्या सार्थकता है ? उन्होंने उदाहरण दिया वैदिक-युग के धुरन्धर मनीषी महर्षि वसिष्ठ का, जिन्होंने अपनी सहोदरा अरुन्धति से विवाह किया था, यम और उसकी युग्मजा यमी का उदाहरण दिया था। वैसे शारीरिक सम्बन्धों की आज कहीं मान्यता है ? और फिर शरीर ! आज स्वस्थ है, कल अस्वस्थ हो सकता है ! यदि प्रेम उससे ऊपर नहीं उठ सकता, तो तुम एक कुशल चर्मकार हो सकते हो, सहज मनुष्य नहीं। पता नहीं, मुरारी दा के इतिहास से तुम परिचित हो ! मुझे बतलाया था उन्होंने, तुम्हारी माँ जब उनके जीवन में आई, तो वह पत्नी होकर नहीं आई थीं। वह उनकी माँ हो सकती थी, बहन हो सकती थी, पुत्री हो सकती थी। और जब अनायास वह पत्नी बन गई तो उसमें कहीं कोई परिवर्तन नहीं आया था, शारीरिक स्तर पर तो बिलकुल नहीं। और यदि शरीर को शरीर के स्थान पर ही रहने दिया जाए, उससे अधिक महत्त्व नहीं दिया जाए, तो कोई समस्या ही कहाँ है ?'

'क्या, जैसा कि आप कह रहे हैं, सचमुच यह इतना सरल है अंकल ? पूर्वजन्म की हमारी कल्पना यदि सच हो तो हो सकता है, उस युग में यम और यमी मैं स्वयम् ही रहा होऊँ, किन्तु हम देखते हैं कि हमारा मन तो इसी जन्म के संस्कारों से विकसित होता है। अपराध या ग्लानि के बोध से ही क्या हम दुःख और सुख नहीं पाते ?'

'शरीर से या मन से ?' मैंने कहा, 'बोध का यदि 'सहना' ही अर्थ हो, तो वह तो मन का विषय नहीं है, केवल जानने वाला ही मन है। और जैसा कि तुमने कहा, इस जन्म के संस्कारों से वह विकसित ही तो होता है ! निर्मित वह कब से होता आ रहा है यह कौन जानता है ?—हम जिसे अवचेतन कहते हैं, वह क्या इसी जन्म में बना है या कि इसी शरीर में पनपा है ? आज तो तुम्हारा विज्ञान भी कहता है कि शरीर के मूल बीजाणु ये क्रोमोसीम भी तुम पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाते रहते हो।—जान कर ही तो तुम्हारी धारणाएँ बनती हैं–बिगड़ती हैं ! तुम नहीं जानते थे तब तक माँ की भक्ति करते थे, जैसी भी रही हो वह ! और अब जानने लग गए, तो उससे घृणा करने लग गए ! पर वह तो वही जो पहले थी ! बदली वह नहीं, बदला तो तुम्हारा मन ही न ? और अब यदि तुम्हें किसी बहाने से यह विश्वास हो जाए कि तुम्हारी यह जानकारी मिथ्या थी, तो क्या फिर तुम्हारा मन नहीं बदल जाएगा ?

स्रग्धर ने एक लम्बी साँस ली और कहा, तर्क से तो शायद आप सही ही मालूम देते हैं अंकल, लेकिन....'

'तर्क और विश्वास दो जुदा चीजें हैं, यही न कहना चाहते हो ?—शरीर ही की वात लेते हो और उसी को ध्रुव समझना चाहते हो, तो अपनी माँ के उस इतिहास को क्यों नहीं स्मरण करते, जो उसकी अमेरिका-यात्रा में उसके ऊपर गुजर चुका है ? क्या उसका पुराना शरीर सेंट हेलेना में ही चेचक ने नहीं छीन लिया ?--अब जो शरीर है वह तो तुम्हारी मां का नहीं है। मुरारी दा ने अन्तः प्रज्ञा से ही नहीं, स्थूल-बुद्धि से यह तथ्य हृदयंगम कर लिया था कि अब वह शरीर मार्गरेट का नहीं, एथेना का है और जिसके साथ उनके प्रेम का अव्याहत नाता है, वह है अशरीरी किन्तु स्थूल रूप में अस्तित्वशील मार्गरेट ! मुझे समय-समय पर लिखे हुए उनके पत्र प्रमाण हैं और वे क्यों, मैं तो उनके अन्तिम-क्षण तक के मनोभावों का साक्षी रहा हूँ।'

स्रग्धर ने सहसा भावुक बन कर कहा, 'आपके दर्शन करके अंकल, मुझे अब इतना दुःख नहीं रहा कि मैं अन्तिम समय उनके पास रह कर उनकी सेवा नहीं कर सका ! अन्तिम दर्शन नहीं कर सकने का दुःख अवश्य है, पर वह तो मेरी अपनी बात है ! हो सकता है, मैं उनकी और भी उत्तम आधुनिकतम चिकित्सा की व्यवस्था करने में सफल हो जाता, किन्तु जिस मानसिक-शान्ति की उन्हें अपेक्षा थी, उसे तो वे आपही से पा सकते थे....'

'मुझे भी उन्होंने सूचना कहाँ दी भाई ? और जो अन्तिम तीन दिन मुझे उनके साथ रहने को मिल गए, वह उनका नहीं, वह तो मेरा ही लाभ हुआ है ! मेरी सेवा थी ही क्या ? डॉक्टर्स थे, नर्सें थीं और यह सारी चिकित्सा-व्यवस्था मेरे आने के पहले से ही थी ! मैंने तो पहुँच कर केवल एक कार्य किया, उन्हें इंटेन्सिव-केअर युनिट से निकलवा कर एक वातानुकूलित-कक्ष में रखवा दिया ! डॉक्टर ने जब कह ही दिया था कि वे अधिक समय के मेहमान नहीं हैं, तो उस बन्द पिंजरे में उन्हें पड़े रहने देने की क्या तुक थी ?—अमेरिका में वे तुम्हारे विलियम को उस बन्द कमरे में देख आये थे और उसकी हालत पर तरस खाते थे ! कहते थे कि उन सब प्राणोन्मेश का दावा करने वाले जटिल और यन्त्रणादायक यन्त्रों-उपकरणों की अपेक्षा हृदय से प्रेम करने वाले किसी एक आतमीय का यदि उसे स्पर्श मिल जाता, तो वह शीघ्र ही उठ बैठता ! मेरे अपने स्पर्श में तो मैं वह संजीवनी कहाँ से लाता ? पर तब भी डॉक्टरों की आशंका के प्रतिकूल तीन दिन तक उन्होंने सहज शान्ति और चित्त की प्रफुल्लता के साथ मुझे अपनी संगति का सौभाग्य दिया ही।'

गद्‌गद् स्वर में स्रग्धर ने कहा, 'वस्तुतः आपही उनके अन्यतम आतमीय प्रमाणित हुए अंकल ! बल्कि रक्त-मांस के सम्बन्ध तो लौकिक-सीमा और बाधा भी बन जाते

हैं। देखिए न, जितना आपने उन्हें समझा है, पुत्र होकर भी उसका शतांश भी मैं नहीं समझ पाया हूँ। और आपका उनका परिचय बहुत पुराना भी तो नहीं था!

'यही गए डेढ़ साल से ही तो हम एक-दूसरे को जानने लगे थे। आमना-सामना कितनी बार हुआ यह तो एक हाथ की अँगुलियों पर गिना जा सकता है।'

'अवश्य ही आपका-उनका पूर्वजन्म का सम्बन्ध होना चाहिए।'

—पूर्वजन्म का सम्बन्ध? सौ दो सौ वर्ष पूर्व नहीं, पाँच हजार वर्ष पूर्व वे क्या थे? स्वयम् स्रग्धर क्या था, यह तो मैं कह भी सकता हूँ, स्वयम् स्रग्धर भी बृबु का आख्यान पढ़ लेगा तो कह सकेगा! किन्तु मैं!—पहले भी मन में उत्सुकता जगी थी। मुरारी दा तो महामानव थे, कहाँ वे और कहाँ मेरा क्षुद्रतम व्यक्तित्व? और इस महावर्त में यही क्या आवश्यक है कि दो इकाइयाँ हर मोड़ पर साथ रहें ही? एक विशुद्ध संयोग पर कि बृबु को अन्तिम समय में मंत्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठ के साथ देखा गया है, कल्पना के घोड़े दौड़ा कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना इच्छा जन्य धारणा, विशफुल थिंकिंग ही तो हो सकती है!—और उनके उस मिलन को भी कैसे कहा जाए अन्तिम?—

स्रग्धर ने पूछा, 'क्या सोच रहे हैं अंकल?—क्या आप पूर्वजन्म पर विश्वास नहीं करते?'

'नहीं करने का कोई उपाय कहाँ है?—मुरारी दा तो खैर, एक विशेष प्रयोजन लेकर मुझ से मिले थे, हमारी प्रगाढ़ता का आधार हमारी रुचियों की समानता को भी मान लिया जाये, पर तुम आखिर किस सम्बन्ध के सूत्र से यहाँ हो?—मुरारी दा आधार हो सकते थे, पर वे तो अब रहे नहीं। तुम कहते हो, और तुम्हारे कहने पर मैं विश्वास करता हूँ, उनके पैसे-कौड़ी का हिसाब समझने के लिए भी तुम कलकत्ता नहीं आये। फिर एक पंचतारा वातानुकूलित होटल की सारी सुख-सुविधाएँ त्याग कर इस खटमल और मच्छरों भरी रात में यहाँ जो जागरण कर रहे हो, वह यदि हमारे पूर्वजन्म के सम्बन्ध का प्रमाण नहीं है तो क्या है?—कुछ घंटों में ही क्या तुम किसी नितान्त अपरिचित व्यक्ति के प्रति अपना हृदय खोल दे सकते थे!'

स्रग्धर ने मुस्करा कर कहा, 'पूर्वजन्म में मैं यदि उनका पुत्र नहीं था, तो अवश्य आपका पुत्र रहा होऊँगा।'

'पुत्र ही क्यों?—मेरे पिता भी रहे हो सकते हो भाई! जन्म और मृत्यु का यह आवर्त तो एक चक्र है न! आगे-पीछे, पिता पुत्र यहाँ अपना अर्थ खो देते हैं।'

'तो अंकल, आप जो कह रहे थे कि वस्तुतः हम अपने आपसे ही प्रेम करते हैं किसी दूसरे से नहीं, वह तथ्य पूर्वजन्म की पीठिका में कैसे समन्वित होगा? मनुष्य तब तो एक इकाई, अकेला ही नहीं रह जाएगा?'

'तत्त्वतः वह अकेला ही तो है—एकमेवाद्वितीयम्—श्रमण-संस्कृति में जिसे कहा जाता है कैवल्य। यदि हम समग्रता में देखें, तो वह चक्र भी तो एक इकाई है!'

तो क्या यह मृत्यु का व्यापार सचमुच केवल वस्त्र-परिवर्तन ही है?—किन्तु तब, भय को चाहे हम मानसिक तनाव ही मान लें, मृत्यु के साथ रोग, कष्ट, पीड़ा आदि ये शारीरिक द्वन्द्व क्यों जुड़ जाते हैं? बल्कि मानसिक-भय का कारण भी शायद ये ही हों!–विलियम कैलॉग की तो दुःख-पीड़ादि का अनुभव करने वाली संज्ञा ही लुप्त हो गई थी, किन्तु विस्मृति के आक्रमण के पहले तो उसने शारीरिक कष्ट अनुभव किया ही होगा। पिताजी के बारे में जो आप कहते हैं कि उनका अन्त सहज शान्ति और चित्त की प्रफुल्लता के बीच हुआ उस पर अविश्वास करने का कारण नहीं है, किन्तु तब भी दिल के दौड़े का आघात तो उन्हें सहना ही पड़ा था!'

'शरीर के ये उपद्रव तो मृत्यु के अभाव में भी घटते रहते हैं स्रग्धर! मृत्यु से उनका सम्बन्ध क्यों जोड़ते हो? और वस्त्र बदलने की घटना को मृत्यु ही क्यों कहा जाए? तुम्हारी माँ, मार्गरेट ने मृत्यु का वरण किए बिना ही अपना चोला बदल लिया न! हमने मृत्यु और जीवन के अर्थ बड़े रुढ़ और संकुचित बोध में कर लिए हैं। तुम किसी यात्रा में निकल पड़ते हो, तो वस्त्र ही क्यों, तुम्हारा सारा परिवेश, परिदृश्य ही बदल जाता है! नई भूमि, नए लोग, सभी कुछ तो अपरिचित हो जाते हैं। प्रस्थान के समय अपने साथियों-सम्बन्धियों से बिछुड़ने का दुःख भी हो सकता है, तो नवीन दृश्यों के देखने का उत्साह और सुख भी अनुभव किया जा सकता है! हम सब एक अनवरत यात्रा पर ही तो हैं! रुक जाते हैं सरायों में रात भर विश्राम करने के लिए। बस!'

'और ये शारीरिक व्याधियाँ?

'यदि चाहो तो मन को इनसे दूर रखा जा सकता है। वस्त्र तुम तभी तो बदलना चाहते हो, जब तुम्हें लगता है कि वह मैला हो गया है। और यदि वह जीर्ण हो जाए, तो उसे फेंक भी देना पड़ता है। कष्ट होता ही होगा, पर वह वस्त्र को ही होता है! हमें होता हो तो वह उससे बिछुड़ने का मोह ही हो सकता है, कष्ट नहीं। मैं नहीं कहता कि मुरारी दा को कोई शारीरिक कष्ट नहीं था–शारीरिक कष्ट न होता, तो उन्हें अस्पताल की शरण ही क्यों लेनी पड़ती? पर मन को उन्होंने उससे अलग ही रखा, मन को उस अनुभव से दूर ही इधर-उधर गहन-गंभीर विचारों में अटकाए रखा। यह कोई कठिन समस्या नहीं है! आज हम रात भर नहीं सोए हैं, क्या इसका यह मतलब है कि हमारे शरीर को नींद की आवश्यकता नहीं है? वह तो है, किन्तु हमारे मन अन्य ही व्यापार में व्यस्त हो गए, हमारे मन ने उसको अनुभव ही नहीं किया और हम उससे सहज ही उबर गए! इसी तरह मुरारी दा अपने मन की अन्तः प्रज्ञा के द्वारा मृत्यु के बोध से उबर गए।'

'अन्तिम समय में उनकी मनोवृत्ति किसमें अटकी हुई थी अंकल ?'

'अपने आपमें अटकी हुई थी स्रग्धर ! उसके पहले वाली रात तो हमने प्राय: जाग कर ही बिताई थी। नहीं, उन्हें कोई कष्ट नहीं था, बल्कि हमें जागते हुए देखकर दो बार नर्स हमें सावधान भी कर गई, उनकी सहज प्रफुल्ल मुद्रा देख कर उसे विस्मय भी हुआ था कि थकावट के स्थान पर उनके शरीर में ताजगी के लक्षण थे। तापमान भी सामान्य के आसपास ही था। कमजोरी अवश्य थी, पर तब भी बातचीत करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हो रही थी ! मैं उनका ध्यान पारमार्थिक विषयों पर ही केन्द्रित करना चाह रहा था, पर वे दुनिया भर की ज्ञान-विज्ञान की, सामाजिक, सांस्कृतिक-राजनैतिक विषयों की बातें छेड़ते जा रहे थे, इसलिए नहीं कि उनमें कोई उनकी रुचि या आसक्ति रही हो, बल्कि इसलिए कि मेरी रुचि का उन्हें पूरा ध्यान था। वे कहते थे कि स्वार्थ और परमार्थ में भेद कैसा ? सारी सृष्टि को तुम एक समग्र इकाई मान लो, तो तुम्हारे लिए पाप-पुण्य, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र, जन्म-मृत्यु मैं-तुम, अँधेरा-उजेला, कोई द्वन्द्व नहीं रह जाएगा। यदि मैं हूँ, तो यह सारा विश्व मेरे लिए है, इस सारे विश्व का मैं हूँ। और यदि मैं नहीं हूँ तो चिन्ता ही किस बात की ? और किसके लिए ? और सचमुच उन्होंने अपने आपको समूचा इसी वृत्ति में ढाल लिया था। अन्तिम रात्रि को वे गहरी नींद में सोए। शरीर की पहली रात्रि की भूख भी थी। रात को एक बार नर्स जब दवा देने आई तो वे सो रहे थे ? उन्हें जगाना उचित नहीं समझा गया। पर चार बजे वे स्वयम् उठ गए। मैं नीचे फर्श पर उनके पास ही सोया हुआ था। आवाज देकर उन्होंने ही मुझे जगाया और कहा, नर्स से कहो मुझे दवा दे दे। रात को सचमुच बड़ी गहरी नींद आई है, फिर भी सिर क्यों दर्द-सा कर रहा है ? मैंने नर्स को बुलवा दिया। टेम्परेचर, नाड़ी आदि देखकर उसने मुस्करा कर कहा था, 'यू सीम टु बी मच बेटर टुडे मिस्टर लाल ! यू हैड ए डीप स्लीप।' मैंने उनके सिर दर्द की बात कही, तो उसने कहा, एअर-कंडीशनिंग बन्द कर दीजिए और सामने की खिड़की खोल दीजिए, लेट हिम हैव ए लिटिल फ्रेश एअर, ऐंड ही विल फील ऑलराइट। और सचमुच उनका सिर दर्द गायब हो गया। मैं तब भी उनका सिर अपनी गोद में सहला रहा था, वे आँखें बन्द किए सहज मुद्रा में लेटे हुए थे। मैंने पूछा था, 'मुरारी दा, कल से आज आप सचमुच बेहतर दिखाई दे रहे हैं। अगर इसी तरह उत्साह बनाए रखेंगे, तो सप्ताहान्त तक हम घर लौट सकेंगे !' वे केवल मुस्करा कर रह गये। खिड़की में सामने सूर्योदय हो रहा था। कुछ क्षण उधर देखते रह कर उन्होंने मुझसे कहा, हमें अपने वादे निभाने हैं, वी हैव प्रामिसेस टु कीप ! जब हम स्वस्थ हों, तब निकल ही पड़ना चाहिये न ? एक जगह बैठे रह कर तो सफर तय नहीं हो सकता। मैंने सबके ऋण चुका देने का प्रयत्न किया है ! रहा तुम्हारा ऋण !

उसको चुकाने का प्रश्न ही कहाँ है ? मेरे चले जाने के बाद तुम ही तो मेरा प्रत्यय हो ! मेरी आँखों में वाष्प छा गई थी। मैं देख ही नहीं पाया कि कब वह घटना घट गई ? जिससे दुनिया में इतना भय है, इतना आतंक है, जिससे बचने के लिये लोग जाने क्या-क्या नहीं कर गुजरते ?....

शायद मेरा स्वर भी भारी हो गया था। आँखों को स्वच्छ करके देखता हूँ कि स्रग्धर भी रुमाल से अपनी आँखें छिपाये अपने आपको कुछ भी कहने से असमर्थ पा रहा है !

कुछ क्षण स्रग्धर को भी लगे अपने आपको संयत करने में। फिर एक सकरुण उदास स्वर में उसने पूछा, 'उन दिनों हम लोगों में से किसी को स्मरण करने का तो उनके पास कोई बहाना ही नहीं था न अंकल ?'

उत्तर देने के पहले मुझे भी इस प्रश्न ने सोच में डाल दिया। क्या सचमुच ही उन्होंने अपने किसी परिजन को स्मरण नहीं किया अपने अन्तिम दिनों में ! यही प्रसंग क्या कम था कि वे अपने समस्त सम्बन्ध छोड़ कर अनन्त की यात्रा पर चले जा रहे थे ! यात्रा में कोई साथ नहीं जा रहा हो, पर जिसके साथ, एक सराय में ही सही, विश्राम का इतना समय गुजारा हो ! –सराय के मालिक को भी हम उसका सामान सम्हालने के लिए कहते हैं, हिसाब-किताब चुकाते हैं और आवश्यकतानुसार सन्तोष या असन्तोष प्रकाश भी करते हैं ! किन्तु उस समय तो उन्होंने मार्गरेट तक को किसी भी बहाने से स्मरण नहीं किया ! ईश्वर को भी कहाँ स्मरण किया उन्होंने ? नास्तिक थे वे या आस्तिक, इस विषय पर भी न तो उनसे विचार विमर्श का अवसर आया और न ही कभी उन्होंने इस दिशा में अपने स्पष्ट व्यवहार में आग्रह ही दिखाया। किन्तु क्या भाषा में अभिव्यक्त हुये विना किसी भाव का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया जाना चाहिये ? स्रग्धर उत्तर की अपेक्षा में मेरी ही ओर देख रहा है और इस प्रश्न का उत्तर मुझे ही देना है। मैंने कहा,

'इस प्रश्न का उत्तर तो तुम्हें अपने मनसे ही मिल जाना चाहिये स्रग्धर ! क्या कोई किसी को बता कर ही स्मरण करता है ? या कि स्मरण करने की कोई वस्तु परक प्रक्रिया है कि दूसरा कोई सामने उसे पहचान ले ? बल्कि किसी एकदम स्वाभाविक तथ्य को सतर्कतापूर्वक अभिव्यक्ति से दूर रखा जाए, तो क्या यही प्रमाण नहीं है कि वह मन से दूर नहीं है ? मैंने पूछा था उनसे कि यहाँ पहुँचते ही मुझे सूचना क्यों नहीं दी ? वस्तुतः वे किसी को कष्ट या असुविधा नहीं पहुँचाना चाहते थे। सहना तो आखिर सब कुछ उन्हें ही था। अस्पताल में जो सेवा मिलती है, वह इसलिए सेवा नहीं होती कि उसका प्रतिदान अन्य प्रकार से चुका दिया जाता है ! और फिर जो उनका तर्क था उससे तो कोई भी निरस्त्र हो सकता था ! उन्होंने कहा था, जो सबसे अधिक पास रहता है, वह तो मन में रहता है भाई ! बाहर की औपचारिकता पर तुम क्यों बल देते हो ?

स्रग्धर ने कहा, 'आप उनके मन में थे तो भौतिक रूप में भी उनके पास पहुँच ही गए न !

समय पर उपस्थित न हो सकने की अपनी विवशता के फलस्वरूप स्रग्धर के मन में जो ग्लानि पैदा हो गई थी, वह उसके कथन में स्पष्ट हो उठी थी। मैंने उसे आश्वस्त करने के लिए कहा, 'यह तो तुम स्वीकार करते हो न स्रग्धर, कि काल की सीमा उनके लिए बेईमानी हो चुकी थी ? उन्होंने मुझे यही कह कर सन्तोष दिया था। कहा था उन्होंने 'तुम अपने शरीर से अब आए हो मनस्वी, किन्तु मैं तो तुम्हें सदा अपने पास ही मँडराते देखता रहा हूँ। अब और कठिनाई हो गई ! पास होने की प्रतीति के लिए अब तुम्हारी नहीं, तुम्हारे शरीर की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' अगर तुम अपनी भौतिक-उपस्थिति को ही प्रमाण मानते हो, तो आज जो तुम यहाँ इस कक्ष में इस तरह उद्विग्न और उद्भ्रान्त बैठे हुए हो, क्या यह मुरारी दा का नैकट्य नहीं है ? मैं तो उन्हें, जब भी उनका विचार आता है, अपने पास ही मँडराते हुए अनुभव कर लेता हूँ।'

पता नहीं, कितना समाधान उसे मिला, जब उसने कहा, 'दिल को बहलाने के लिए तो ठीक ही है अंकल ! और वे हों या न हों, अपने पास उन्हें अनुभव करना तो सुखद है ही ! अच्छा, आपने हमें जो तार द्वारा उनके सहसा अस्वस्थ हो जाने की सूचना दी थी, उस सम्बन्ध में भी क्या उन्होंने अपनी कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त की थी ?'

यह प्रश्न भी तो उसके मन की उसी शंका का समाधान चाहता है ! मैंने कहा, 'वह बात मैंने उनको नहीं बताई भाई। इच्छा अवश्य हुई थी कि इसी बहाने यदि वे कुछ उत्सुकता दिखाएँ, तो और एक तार तुम लोगों को दे दूँ। पर कुछ सोचकर मैं ही रह गया।'

मैं सोच रहा था कि स्रग्धर ने यदि कारण पूछा तो बता दूँगा कि क्यों मैंने उनको इसकी सूचना नहीं दी ? पर स्रग्धर ने ही लम्बी साँस लेकर कहा, 'अच्छा ही किया अंकल, जो आपने उन्हें नहीं बताया ! आपको मालूम ही कहाँ था कि आपका तार पाकर शान्ता उत्तरकाशी गई थी, किन्तु उन्हें वहाँ न पाकर उसे लौट आना पड़ा था और यह भी आप कहाँ जानते थे कि बोस्टन में मुझे आपका तार वहाँ लौटकर जाने के बाद ही मिला ! दुःख आपको ही कम नहीं हुआ होगा कि तार पाकर भी हम क्यों नहीं पहुँच रहे हैं, तो उनको कितना दुःख हुआ होता ?'

'पर तुम्हारे नहीं पहुँचने का उन्हें कोई दुःख नहीं था। चाहते तो क्या वे स्वयम् कम-से-कम शान्ताजी को खबर नहीं दे सकते थे ? पर मैंने कहा न, एक तो यही, कि वे अनावश्यक किसी को कष्ट देना या उसकी असुविधा बढ़ाना नहीं चाहते थे, जबकि उससे स्पष्ट उनको कोई लाभ नहीं मिलने वाला था ! दूसरे, तुम तो जानते

ही हो, उत्तरकाशी में ही अपना निवास स्थान बना लेने का निश्चय उनके मन के सदा के बैरागीपन का ही तो फल था! बैरागी वही हो सकता है भाई, जो भीतर से उतना ही अनुरागी हो—उनकी अनुरक्ति का आयाम सर्वसमावेशी जो हो गया था! दु:ख हमें भी नहीं होना चाहिए। जैसा कि उनका विश्वास था, मृत्यु ने उनको हमसे छीन नहीं लिया है, बल्कि उसने तो शरीर की सीमा से निकाल कर उन्हें असीम कर दिया है। हमारी स्थूल इन्द्रियों का विषय वे न रहे हों, किन्तु देश और काल की सीमा से परे वे अब हमारे मन का, मनन का विषय बन गए हैं। हमारा मन फिर भी शरीर की सीमामें कैद है, पर वे तो इससे मुक्त सर्वव्यापक और सर्वकालिक हो उठे हैं। नहीं क्या? अब तो तुम अमेरिका में बस कर भी उन्हें सदा अपने पास बसे अनुभव कर सकते हो!'

स्रग्धर चौंका! बोला, 'क्या आप समझते हैं, मैं अमेरिका में बसने जा रहा हूँ?'

'यही तो स्वाभाविक है! आखिर तुम कैलॉग कोस्टल कार्पोरेशन के चेयरमैन जो हो गए हो!'

जैसे यह कोई बात नहीं है, ऐसी उदासीनता से उसने कहा, 'एक बार वहाँ जाना अवश्य होगा, किन्तु वहाँ उस विदेशी भूमि में क्या मुझ जैसे की पौध जड़ें भी पकड़ सकेंगी?'

'वह तो अभी भी कुमारी-भूमि है स्रग्धर। कहाँ-कहाँ से जाकर लोगों ने वहाँ अपनी जड़ें जमाई हैं, इसका कुछ ठिकाना है? बल्कि उसे तो आज भी चाहे 'रेड' विशेषण लगा दिया गया हो, इंडियनों का ही देश कहते हैं।'

स्रग्धर ने मुस्करा कर कहा, 'विशेषण मेरे साथ भी तो लगा हुआ है अंकल! और अभी तो जिसके साथ मुझे जाना होगा उस शान्ता से भी बात नहीं की है। तब भी एक बार अवश्य जाना होगा, शान्ता को भी ले जा सकता हूँ ताकि वह स्वयम् अपने लिए निश्चय करे। आप विश्वास करें, उत्तराधिकार का मुझे तनिक भी लोभ नहीं है, बल्कि उससे तो मैं अपने आपको बड़ा हीन समझने लग गया हूँ, कहीं मेरी मातृ-भक्ति का यही पैमाना नहीं हो जाए! किन्तु तब भी मां की खोज तो मुझे करनी ही होगी। पिताजी के बाद अब तो सम्पूर्णत: वह दायित्व मेरा ही हो जाता है न!'

'उनका पता लग जाएगा, इसकी सम्भावना नहीं है स्रग्धर। तुम जानते हो न, वे जन्म से एक यहूदी थीं.........'

मेरी बात बीच ही में काट कर स्रग्धर ने कहा, 'किन्तु वे मेरी माँ थीं अंकल। मुझमें भी उनका रक्त है, एंड आइ मस्ट बी प्राउड ऑफ दैट! वैसे जाति-गत प्रेजुडिस मुझमें कभी नही था!'

मैंने मुस्करा कर कहा, 'मैं यह नहीं कहना चाहता था स्रग्धर। मेरा तात्पर्य यह है कि वे जन्मना एक उर्वशी हैं—यहूदियों का आदि-पुरुष इब्राहिम उर-प्रदेश से ही प्रवासी हुआ था ! और यदि तुमने भारतीय-मिथकों पर कुछ भी ध्यान दिया हो, तो तुम जानते हो कि उर्वशियां अपने पुत्र को मातृत्व का सुख नहीं देतीं।'

'मैं समझा नहीं अंकल।'

'अपने पिता द्वारा अनुदित उस आख्यान को पढ़ोगे, तो सब सहज ही तुम्हारी समझ में आ जाएगा। किन्तु तब भी तुम्हें एक बार अमेरिका अवश्य जाना चाहिए।'

'जाऊँगा अंकल और मिथक कुछ भी कहते हों, मां की खोज में कुछ भी उठा नहीं रखूंगा। पहले दो मातृ-मूर्तियों को खोजने की चिन्ता थी, अब तो केवल एक ही की रह गई है ! चालीस वर्ष की दूरी के बाद भी जब कैलॉग को खोज ही लिया गया, तो मां तो अभी उसी दिन तो होटल में मुझे अपने आशीर्वाद से अभिषिक्त कर गई है ! जाकर छिपेगी ही कहाँ ? दुनिया ही अब सिमिट कर कितनी-सी रह गई है ? रहा प्रश्न मातृत्व के सुख भोगने का, वह मेरी अब उम्र ही कहां रही अंकल ? किन्तु पुत्र के होते हुए वे अब पुत्र का सुख क्यों न भोगें ? यही तो उम्र होती है माता-पिता की जब वे पुत्र-सुख की लालसा करते हैं। मेरे लिए तो यह एक अवसर है ! पिता की सेवा तो नहीं कर पाया, देखूं यदि मां की सेवा से उसकी कुछ पूर्ति कर सकूं !'

'और जैसी कि तुम्हारी आशंका थी, यदि वे किसी षड्यन्त्र की शिकार हो गई हों ?'

'तो उस षड्यन्त्र का पता लगना चाहिए न ! षड्यन्त्र ही अगर हो तो उसका सम्बन्ध केवल उन्हीं तक सीमित नहीं होगा। तब तो उसका सम्बन्ध इस उत्तराधिकार से, कैलॉग के उस व्यवसाय से और तब मुझसे भी होना चाहिए ! इन सबकी सुरक्षा के लिए क्या यह आवश्यक नहीं है, कि उसका उच्छेद हो ?'

मन ही मन मुस्करा कर, मैंने कहा, 'यदि अमेरिका में ही बसना हो, तो तुम्हारा यह भय यथार्थ है।' और अपने मन में यह भी कहा, नियति को आखिर तुम ही कैसे अमान्य कर सकते हो ? ऋष्य शृंग ने ही क्या देश में सर्वत्र घूमते रह कर तथा स्थान-स्थान पर इसी बहाने अपने आश्रम स्थापित करके, अपनी उर्वशी-मां मृगम्मदा की खोज का प्रयत्न नहीं किया था ?'

मेरी बात के उत्तर में स्रग्धर कह रहा था, 'नहीं अंकल, यथार्थ जैसी कोई बात नहीं है। कह चुका हूँ अमेरिका में बसने का मेरा कोई इरादा नहीं है। वहां हमारा अपना है ही कौन ?'

'जाओगे तो बाल-बच्चों को भी साथ ले ही जाओगे ! तब यहाँ भी कौन रह जाएगा तुम्हारा ? अपने या मुरादी दा के किसी रिश्तेदार का पता लगा है क्या तुम्हें ? जैसा कि मुरारी दा कहते थे, ससुराल में भी तो तुम्हारे अब कोई नहीं है !'

'और कोई न हो अंकल, आप तो हैं। सच कहता हूँ, एक ही साध है। मां मुझे मिल जाए, तो अमरीकी प्रापर्टी बिके या न बिके, उसे अपने साथ ले आकर मैं यहीं कहीं आपके पास बस जाना चाहता हूँ। मैं प्रकृति और संस्कृति दोनों से ही न तो व्यवसायी हूँ और न ही उद्यमी। मूलतः मैं एक इंजिनिग्रर हूँ, सिंचाई, बाँध, पुल-निर्माण आदि मेरे विषय रहे हैं और अपने देश में मेरी सेवाओं के लिए बहुत क्षेत्र हैं। कुछ न हुआ तो भी आपके परामर्श से मैं यहां एक कन्सल्टन्सी फर्म परामर्श-संस्थान ही खोल सकता हूँ। आप तो किसी ऐसी फर्म में काम कर चुके हैं न? हां, यदि आप मुझे अपने पास नहीं रखना चाहें तो बात दूसरी है।'

'तुम्हें यकीन होता है कि मैं कभी ऐसा चाहूँगा? मेरे लिए तुम मुरारी दा की धरोहर ही नहीं, स्वयम् मुरारी दा के अस्तित्व का विस्तार, मुरारी दा ही हो! मुरारी दा के साथ मेरे सम्बन्धों की व्याप्ति के लिए तुमने पूर्व जन्म की बात कही थी, मेरे मन की भावना को समझने के लिए मैं तुम्हें उसी की याद दिलाना चाहूँगा। पूर्वजन्म में विश्वास है न?'

'आप ही ने तो कहा है, आज की रात प्रमाण है।'

'आज की यह रात ही नहीं स्रग्धर, मुरारी दा का सारा जीवन-दर्शन और जीवन-दर्शन ही क्यों? उनका तो समस्त जीवन ही इसका प्रमाण है! तुम उस अनुवाद को पढ़ोगे तो स्वयम् तुम्हें प्रतीति हो जाएगी कि हम सब सूत्र परस्पर एक-दूसरे से गुँथे हुए एक विशिष्ट-संरचना के ताने-बाने हैं और नियति हमको अनायास अपनी उस संरचना में प्रवृत्त करती जा रही है! उसमें यदि कहीं मैं भी हूँ तो मेरे चाहने न चाहने का प्रश्न ही नहीं उठता। बल्कि तुम यहाँ आ जाओ, तो मेरा देखा हुआ स्वप्न सार्थक हो जाए....

स्रग्धर ने पास ही में बजते हुए मंगल-आरती के शंख-घड़ियाल के स्वर सुन कर पूछा, 'यह क्या अंकल, सबेरा हो गया है?'

मैं तो बहरा हूँ न! और अपने स्वप्न में ही व्यस्त भी था। पर थोड़ा कान देकर सुना। सचमुच ही पास के गुरु-आश्रम में मंगल-आरती हो रही थी! बाहर खिड़की से झांककर देखते हुए बोला, 'इधर दक्षिण है न, इसलिए उषा की लाली नहीं दिखाई देती, पर आकाश पांडुर हो गया है और यह देखो लुब्धक नक्षत्र सिर पर आ गया है। साढ़े चार बज गए होंगे। तुम्हारे देहरादून से तो यहाँ एक घंटा पहले सूर्योदय होता है न।'—तमसो मा ज्योतिर्गमय!—हम अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ चले हैं—'

'सचमुच प्रकाश की ओर बढ़ चले हैं क्या?' उसकी मुस्कराहट का आभास पाकर मैं उसके व्यंग्यार्थ को पूरी तरह समझूँ उसके पहले ही उसने पूछा, 'आप अपने किसी स्वप्न की बात कह रहे थे अंकल। क्या था आपका वह स्वप्न?'

'उस दिन देखा था स्रग्धर,, जब मुरारी दा को कन्धे पर उठाए हम उनकी शेष-यात्रा में लिए जा रहे थे।

'आपने उनकी शेष-यात्रा का हाल तो सुनाया ही नहीं। उस दिन तो आपको सचमुच बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा होगा।'

'परेशानी ?--उनकी मृत्यु की न ?'

'वह तो होगी ही। मेरा मतलब है, पोस्ट-मॉर्टम, अस्पताल में शव यात्रा की तैयारी, दाह-संस्कार और आप अकेले।'

'नहीं स्रग्धर, और अकेला क्यों होने लगा ?--पोस्ट-मार्टम की झंझट भी क्यों होती ? वे तो वहीं के पैशंट थे न। नर्स ने खबर दी और शीघ्र ही डॉक्टर ने देखकर सर्टिफिकेट दे दिया प्राकृतिक और शान्तिमय मृत्यु का ! मैं ही क्यों वहां का सारा स्टाफ ही उनसे प्रभावित हो गया था। हां, यह आशंका अवश्य थी कि शव-यात्रा कहीं सत्कारालय की गाड़ी में ही न करनी पड़े। अन्तिम सांस के लिए चाहे मेरी गोद पर्याप्त रही हो, किन्तु उस यात्रा में तो चार कन्धों की आवश्यकता होती ही है ! किन्तु वह भय भी नहीं रहा। ठीक सात बजे मेरा लड़का नियमानुसार हमारे लिए प्रात:काल का चाय-नाश्ता ले आया। देखकर वह भी विस्मय में डूब गया। रात को वह उन्हें बहुत ही अच्छी अवस्था में छोड़ गया था। घर लौट कर उसने अपने और मेरे समस्त साहित्यिक-असाहित्यिक मित्रों-परिचितों को सूचना पहुँचा दी। मुरारी दा के भेजे हुए आख्यान के उस अनुवाद ने उन्हें यहाँ साहित्यिक-क्षेत्र में परिचित कर दिया था। सभी इनके दर्शनों के लिए बड़े लालायित थे। यहाँ घर पर दर्शनार्थियों का तांता लग गया था--'

'तो क्या आप उन्हें घर लिवा लाए थे ?'

'क्यों नहीं लाता ?-- वे क्या कोई अनाथ थे ?--अर्थी फूलों और स्तवकों से लद गई थी। अनायास पचासों प्रतिष्ठित व्यक्ति पीछे चल रहे थे। हमारे कन्धों पर क्या मुरारी दा का शव था ? गए पाँच हजार वर्षों से मानवता तो अहिंसा के बल पर पशुता से ऊँचा उठाए रखने वाले तमाम महाश्रमणों के अतिरिक्त ऋषभदेव, महावीर, बुद्ध, ईसा और गांधी जैसे तीर्थंकरों की समष्टि का शव था वह ! मेरा सबसे बड़ा लड़का बर्तन में आग लेकर जुलूस के आगे-आगे जा रहा था। सोच सकते हो, तुम्हारी कितनी याद आई होगी उस समय मुझे ? जो उसे पहचानता था और मेरी अश्रुपूरित आँखें देख कर मेरे एक बंगाली मित्र ने अर्थी की ओर संकेत करते हुए मुझसे पूछा था, 'इनी के ? आपनार की कौनों गुरुजोन की आत्तीय-जोन मारा गेछे ?'

'क्या मतलब ?' स्रग्धर तो बंगला नहीं जानता न।

'उसने पूछा था कि क्या कोई मेरा गुरुजन या आत्मीय-स्वजन मर गया है ?– अब उसे क्या उत्तर देता ?– पास चल रहे किसी मित्र ने समुचित उत्तर देकर उसका समाधान किया ही होगा ! मेरे मस्तिष्क में तब और ही एक दृश्य कौंध रहा था, वह था पाँच हजार वर्ष पूर्व महर्षि-वसिष्ठ के आश्रम का। वे शतद्रु-तट के अपने अस्थाई आश्रम को छोड़ कर चले जा रहे थे दूर किसी अज्ञात की यात्रा पर ! उनकी पत्नी अरुन्धति के अतिरिक्त उनके साथ था एक महापुरुष अपने शिशु-पुत्र को कन्धे से लगाए ।–शायद तब भी कई वनवासी मित्र उन्हें अश्रुपरित नेत्रों से इसी तरह विदा करने अनायास आ इकट्ठे हुए होंगे। उस महापुरुष का जब आज भी ध्यान करना चाहता हूँ, तो सहसा आँखों के सामने मुरारी दा का चेहरा प्रतिबिम्बित हो उठता है और मेरा शून्य-अन्तर एक अनिवर्चनीय आत्मीयता के गहरे बोध से भर उठता है ।–तुम पूछते हो, मैं तुम्हें अपने पास नहीं रहने देना चाहता ?–

'नहीं अंकल, मेरा वह मतलब नहीं था—'

अश्रु—गद्‌गद् मेरा स्वर ही नहीं था, गला स्रग्धर का भी भर्रा उठा था। भाव-विह्वल हो मेरी आंखें स्वत: ही बन्द हो गई, मैंने कहा, 'तुमने स्वप्न पूछा था न ? वह स्वप्न मैंने तभी देखा था। इस यात्रा पर, आगे या पीछे, जाना तो सभी को पड़ता है। मेरा जब वह दिन आए, तो जुलूस के आगे इसी तरह अग्नि लेकर मुरारी दा का पुत्र चले—'

—किन्तु तब तक मेरे अनदेखे ही सहसा स्रग्धर मेरे विस्तर पर मेरे गले से लिपट गया था और मेरे मुँह पर अपना हाथ रखे हुए सुबुकता हुआ कह रहा था, 'मृत्यु की यह अशुभ बात अब क्यों मुँह से निकाल रहे हैं अंकल ? –मैं आपका पुत्र, आपके पास नहीं हूँ, तो कहाँ हूँ ?' और वह मेरी गोद में मुँह छिपाकर निढाल हो गया।

उसके घने बालों को अपने स्नेह-कम्पित हाथ से सहलाते हुए मैंने कहा, 'यह अशुभ नहीं, बहुत शुभ बात है बेटे। तुम रोते क्यों हो ?—हम मृत्यु की ओर नहीं, अमृत की ओर बढ़ रहे हैं।'

–तभी पत्नी, हाथ में बेड-टी की ट्रे लिए, हमें इस मुद्रा में देखकर हतप्रभ हो दरवाजे पर ही ठिठककर खड़ी रह गई।

●

परिशिष्ट

परस्मैपद

उपन्यास व्यक्ति-जीवन का जीवन्त दस्तावेज है, अतः इससे आज बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ की जाने लगी हैं। यदि उपन्यास इन अपेक्षाओं को पूरी नहीं करता, या आंशिक रूप से भी पूरी करने का प्रयत्न नहीं करता तो सहज ही उपन्यास की मौत का फतवा दे दिया जाता है। पश्चिम के साहित्य जगत में, जिसका कि उपन्यास ब्रेन-चाइल्ड है, ऐसा फतवा एकाधिक बार दिया जाता रहा है। और यह बहुतकुछ अस्वाभाविक या अहेतुक भी नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति-जीवन आज एक ऐसी टूटन से गुजर रहा है, जिसका इतिहास में सानी नहीं। मनुष्य के सामने एक भयावह, अपरिशोध्य संकट की स्थिति आ उपस्थित हुई है। एक अन्तहीन-भीड़ में वह नितान्त अकेला, निस्सहाय और आप अपना ही अजनबी होगया है। उसकी पहचान इतनी धूमिल हो गई है कि अपने नाम तक से उसे पहचानने का उपाय नहीं रहा। उपन्यास का तो जन्म ही दो शताब्दि पूर्व इसलिए हुआ था कि पश्चिम के पुनर्जागरण के फलस्वरूप समाज में मनुष्य को एक सम्पूर्ण-व्यक्ति के रूप में स्थापित एवम् प्रतिष्ठित किया जाए। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति, पुनर्जागरण, व्यक्ति-चेतना आदि ने व्यक्ति के अहम् को जगा दिया था। इसके पहले तक मनुष्य की सत्ता शेष-प्रकृति से विशिष्ट, अलौकिक तथा दिव्यांशी समझी जाती थी। मिथकों ही में नहीं, पुराणों, महाकाव्यों और नाटकों में अनेक स्तरों पर उसकी इस विशिष्टता का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था। दिव्यांश माने जाने के कारण उसके कृत-कर्मों की कसौटी समाज न होकर शास्त्रों के रूढ़ आचार तथा धर्म की कारिकाएं थीं। इनके शिकंजे में मनुष्य एक जकड़न और कर्म की पराधीनता अवश्य महसूस करता था, किन्तु उसकी गति अबाध और ऋजु थी। उसके अन्तस्तल में व्यूह नहीं बन पाते थे और यद्यपि वह उन्मुक्त-उत्फुल्ल जीवन के नवोन्मेशमय व्यक्तिगत उफानों के उल्लास नहीं भोग पाता था, तथापि समग्र आर्ष-मानवता के अनिवार्य (इंटीग्रल) अंग के रूप में अपनी सार्थकता और उसके बोध को भी वह कभी भुला नहीं पाता था। अपने निज के बारे में, व्यक्तित्व के बारे में सोचने-विचारने का न तो उसे अवसर था और न ही उसे आवश्यकता थी। अपने अभावों के अज्ञान में भी वह एक समृद्धि अनुभव करता था।

अठारहवीं शताब्दि के बीतते न बीतते पश्चिम में विज्ञान के विकास ने यह स्थिति नहीं रहने दी। मनुष्य अपनी निजता के बारे में जिज्ञासु हुआ। व्यक्तित्व की स्थापना के साथ ही सामाजिक-संरचना के प्रतिमान बदलने लगे।

उत्पादन के साधन और तरीके बदले, व्यक्तिगत उद्यमों को बढ़ावा मिला। बहुमात्र-उत्पादन (मास-प्रोडक्शन) द्वारा व्यापारिक और व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी, और मनुष्य के स्थान पर संयुक्त-स्कन्ध (जॉइंट-स्टॉक) कम्पनियाँ अस्तित्व में आईं। प्राविधिक-प्रगति के साथ ही साथ समाज एक जटिल यन्त्र बनता गया, और मनुष्य बनता गया उसका एक निहायत व्यक्तित्वहीन पुर्जा मात्र, भीतर से अन्त: सार-हीन, नितान्त शून्य ! इस खोखले व्यक्तित्व को लेकर अपने स्वरूप को सम्मूर्त करने वाले आज के उपन्यास की यह विडम्बना तो होनी ही थी। भारतीय उपन्यास को इस विडम्बना का अपवाद होना चाहिए था, किन्तु इस शताब्दि में और खास कर द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतवर्ष में भी मनुष्य की स्थितियाँ तेजी से बदली हैं। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से तो वह भी विश्व-समुदाय का एक महत्वपूर्ण अंग हो गया है। तब मनुष्य की इस वैश्विक-नियति से वह बच ही कैसे सकता था ? आज जीवन की सबसे बड़ी चुनौती, और इसीलिए आज के उपन्यास की भी, यह है कि मनुष्य के खोए हुए व्यक्तित्व का किसी भी तरह पुनर्स्थापन हो। और भारतीय-उपन्यास के लिए तो, मैं समझता हूँ, चुनौती ही नहीं, यह एक दायित्व है।

इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उपन्यास भारतीय-विधा नहीं है। कोई भी विधा अपने स्थूल रूप में परिवेश-गत तथ्य ही होती है, आत्मगत-तथ्य नहीं। और परिवेश में आज भारतीय-व्यक्तित्व भी कहाँ विशुद्ध भारतीय है ? विशुद्ध भारतीय-परम्परा के नाम पर आज उसके मूल कथ्यात्मक स्वरूप आख्यायिका, वार्ता, आदि की ओर लौटा भी नहीं जा सकता। उन आख्यायिकाओं आदि के नायक सामान्य मनुष्य न होकर, पुराणों और महाकाव्यों के नायकों की तरह अति-मानव होते थे, चाहे फिर वे दिव्य हों या दानव हों। आज के साहित्य में तो पौराणिक और महाकाव्यों के नायकों को भी नितान्त मानवीय-रूप देकर ही प्रत्यायक बनाया जा सकता है। आज के साहित्य की कसौटी, चाहे वह भारतीय हो या अ-भारतीय, चमत्कार या केवल ज्ञान-प्राप्ति नहीं है, बल्कि हार्दिक अनुभूति ही है। भारतीय-साहित्य की विशिष्ट पहचान यह है, कि वह केवल अहम् अर्थात् मन या देह से ही सरोकार नहीं रखता, वरन् आत्मा के गहन-क्षेत्र को भी अपनी खोज का विषय बनाता है, और इसीलिए उपन्यास को अ-भारतीय विधा कह कर अपनी मौलिक जिम्मेदारी से बचा नहीं जा सकता। साहित्य तो यों भी सबकुछ को 'सहित' करने का, सहज-समाविष्ट करने का एक अमोघ भाव है। यह दूसरी बात है कि भारतीय-उपन्यास के सामने अभी इस वैश्विक-दायित्व का प्रश्न खड़ा न किया गया हो। यहाँ उपन्यास अभी अपनी भारतीयता की पहचान लेकर स्पष्ट भी तो नहीं हुआ है ! वह अभी भी पाश्चात्य-

भौतिकता की मांसल दैहिकता, अहम् के व्यूहों में उलझे मन की गुंजालकों और खोखले व्यक्ति-सम्वादी उपलक्ष्यों में मोहग्रस्त है। इस प्रकार के लौकिक साहित्य का महत्व न हो यह बात भी नहीं है, किन्तु भारतीय-साहित्य का प्राण-स्वर यह नहीं है। यह तथ्य भी भूल नहीं सकते कि आज भौतिक-व्यामोह में ग्रस्त पाश्चात्य-जगत विशिष्ट तौर पर चाहे भारतीय-उपन्यास की ओर न हो, किन्तु समग्र भारतीय-चिन्तन तथा आर्ष-साहित्य के प्रति आशा और विश्वास से भरकर उन्मुख हुआ है।

जीवन के अधिकतम निकट होने के कारण उपन्यास आज साहित्य की सशक्ततम विधा है। उसके विपुल-विशद और नमनीय प्रसार में सभी विधाएँ समाहित होजाती हैं। उसने महाकाव्य का गौरव तो हथिया ही लिया है, नाटक-प्रबन्ध-निबन्ध के अतिरिक्त इतिहास-पुराण-दर्शन-विज्ञान आदि के क्षेत्र में भी सरलता से अपने पैर फैलाए हैं। किन्तु आधुनिकता के नाम पर मनुष्य की मौलिक पाशव-वृत्ति की वकालत करने के लिए, उसने ईश्वर, धर्मशास्त्र, देवी-देवता, नियति की भविष्यवाणियाँ, आरोपित नैतिक विधि-निषेध, प्रकृति के अलौकिक चमत्कार, आदि सभी का योजनाबद्ध बहिष्कार कर दिया है। मनुष्य, एक ओर तो अपने व्यक्तित्व और अहम् के प्रति इतना सचेत हुआ है किन्तु दूसरी ओर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसका यह व्यक्तित्व निस्सार और खोखला हो चुका है। आज के साहित्य के दर्पण में वह अपना प्रतिबिम्ब देखता है तो पाता है कि कोई अजनबी उसकी ओर देखकर घृणा से मुँह बिचका रहा है। तो क्या उसने 'आतम'-हत्या कर ली है? यह आतम-हत्या अस्वाभाविक भी नहीं है। पश्चिम के मनुष्य ने व्यक्तित्व की स्थापना में अपने अहम् को ही सबकुछ समझा, देह और मन से परे अपने 'आत्मन' की उसे कभी पहचान नहीं थी, कभी पहचान होने का अवसर आया तो उसने विश्वास ही नहीं किया। यदि विश्वास किया होता तो अपने अहम् के इस तरह संकटग्रस्त होजाने पर वह सहज ही इसका अतिक्रमण करके अपने 'आत्मन' से साक्षात्कार का अवलम्ब पा सकता था—यही भारतीय-साहित्य, और यदि उपन्यासकार समझे तो, सजग भारतीय-उपन्यास का महत्व तथा उसका दायित्व हो सकता है। यह दायित्व सामान्य नहीं है, आज की परिस्थिति में सचमुच यह वैश्विक-दायित्व है, और अपनी गौरवमई परम्परा में भारतीय साहित्यचेता इसे सहज उठा सकते हैं। यह आरोप लगाया जा सकता है, और कहा भी जाता रहा है, कि अपनी एकान्त आध्यात्मिकता में भारतीय-साहित्य व्यक्ति की, और उसके देहवाद तथा मन के गूढ़ व्यापारों की उपेक्षा करके इतना एकांगी हो उठा था कि उसका प्रतिविधान आवश्यक था। किन्तु इस आरोप को भी मिथ्या ही कहा जाना चाहिए। भारतीय आर्ष-साहित्य में इहलौकिक-साहित्य का अभाव नहीं है। वात्स्यायन के कामसूत्र-

जैसे ग्रन्थ यहीं लिखे गए हैं। वैदिक और पौराणिक-जीवन के सम्यक विवेचन से भी यह सहज प्रमाणित हो जाता है। तथ्य है तो यह, कि उसे तड़क-भड़क और उच्छृंखलता के साथ कभी प्रस्तुत नहीं किया गया। वह वर्णाश्रम-व्यवस्था और 'धर्मार्थ काममोक्षाणाम्' के पुरुषार्थ में सहज सन्तुलित जीवन के रूप में स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक चिन्तन-मनन के साथ ही साथ यहाँ दैहिक-साधन का, मनोविनोद का, उत्सव-समारोहों का, व्यक्तित्व-विकास के अवसरों का तथा स्त्री-पुरुषों के मुक्त यौन-मिलन के प्रसंगों तक का, अभाव नहीं था। भारतीय उपन्यासकार को अपनी यह अत्यन्त समृद्ध-धरोहर और परम्परा समझनी ही नहीं, वरन् इस विरासत को स्वीकार करनी चाहिए। विश्व के सम्मुख अपनी विशिष्ट पहचान प्रमाणित करने के लिए अपने पद के ये 'क्रिडेन्शियल्स', प्रमाणपत्र, बहुत आवश्यक हैं। इसका यह अर्थ भी कदापि नहीं है कि आधुनिक खोजों के फलस्वरूप प्राप्त मन की गहराई में गड़े हुए अहम् की ऐषणाओं के मौलिक-पर्तों की वह अनदेखी कर जाए। उपन्यास आज की विधा है, वह मनुष्य को उसके समग्र रूप में स्वीकार करती है। आवश्यकता है एक सम्यक सन्तुलन की। देखना हमें यही है कि यह सन्तुलन कैसे प्राप्त किया जाए ?

वस्तुतः मनुष्य अपने आप में कोई विच्छिन्न इकाई नहीं है, परस्पर मनुष्य-समाज में ही नहीं, बल्कि प्राणी-जगत में और शेष समग्र-प्रकृति में भी। उसका अस्तित्व एक समूचे समग्र अस्तित्व का ही अंग है। भारतीय-पक्ष के विश्व-विख्यात प्रस्तोता स्वामी विवेकानन्द ने कहा है. 'व्यक्ति का जीवन सम्पूर्ण के जीवन में बसा है, उसका सुख सम्पूर्ण के सुख में निहित है। सम्पूर्ण के बिना व्यक्ति की परिकल्पना असम्भव है। यह ऐसा शाश्वत सत्य है, जिसकी आधार-शिला पर समूचा विश्व टिका है। इस अनन्त सम्पूर्ण की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होना, उसके प्रति अगाध सहानुभूति और समानता अनुभव करना, उसके सुख में सुखी और उसकी यातना में दुखी होना, यही व्यक्ति का एकमात्र कर्तव्य है। और इस कर्तव्य से उल्लंघन में ही उसकी मृत्यु है !'—आत्मा की अनुभूति के द्वारा हम मनुष्य के उसी चिदंश की प्रतीति पाते हैं, जो महाभाव-परमात्मा का ही भाव-विशेष है, और जिसके अन्तर्गत मनुष्य मात्र ही नहीं, शेष समस्त प्रकृति भी समान रूप से सन्निहित है। इस दर्शन में जड़ प्रकृति भी प्राणवान हो उठती है और मनुष्य उसके साथ तदाकार होकर उसकी असीम-शक्ति और समृद्धि का अनायास सहभागी हो उठता है। तब उसके मन के अँधेरे कोने में दबी-दुबकी सुप्त पाशव-वासनाएँ भी आत्मभाव के प्रोज्वल-प्रकाश में उदात्त-भाव में परिणत होकर सार्वजनिक-प्रेम का विकीरण करती हुई व्यक्तित्व को पुष्ट और बलिष्ठ करती हैं। प्रकृति मनुष्य से बहुत बड़ी है, मनुष्य

तो उसकी अनन्त विकास-यात्रा का एक प्रयोग-मात्र है, यद्यपि अपने महत्व में वह एक मील का पत्थर होगया—इस मोड़ पर प्रकृति ने मानव के रूप में ऐसा सक्षम और सशक्त-प्रयोग प्रस्तुत किया है, कि अपने आगे के विकास की दिशा का दायित्व विश्वास के साथ और स्वेच्छा से उसे सौंप कर मानो प्रकृति निश्चिन्त हो गई है। दुर्भाग्य यह है कि भौतिक-प्रगति की अन्धी दौड़ में मनुष्य अपने इस पुनीत दायित्व को भुला बैठा है। प्रकृति के विश्वास की उपेक्षा कर वह उससे न केवल कट ही गया है, बल्कि उसके साथ शत्रु-भाव विकसित कर उससे प्रतिद्वन्द्विता के लिए उद्यत है। अभी तो उसे प्रकृति की अणु-मात्र शक्ति का ही पता लगा है, और इसी के बूते पर उसने कैसे-कैसे संहारक-मारक उपकरण तैयार कर लिए हैं ? किन्तु प्रकृति के गर्भ में शक्ति के अन्य कैसे और कितने प्रचंड स्रोत छिपे पड़े हैं ? यह तो वह भी जानता है, कि प्रकृति का एक भ्रुव-कुंचन सम्पूर्ण मानवी-सृष्टि को क्षणांश में लुप्त कर दे सकता है। तब क्यों नहीं वह इस आत्मिक-शक्ति के अनुसंधान में प्रवृत्त होता ? उसके कल्याण की, उसके भावी-विकास की यही दिशा है। भारतीय चिन्तकों ने इसकी प्रतीति बहुत पहले, इतिहास-काल के पहले, ही कर ली थी, और तत्कालीन-साहित्य में उन्होंने इसका उद्घाटन भी करके साहित्य की परिभाषा को सार्थक किया था। उसी आर्ष-परम्परा के उत्तराधिकारी हम भारतीयों को पुनः उस लुप्त-प्राय प्रतीति को प्रस्थापित करना होगा आज के साहित्य के माध्यम से, साहित्य की सशक्ततम, सर्वजन-सुलभ लोकप्रिय विधा उपन्यास के माध्यम से ! सम्पूर्ण मनुष्य की समग्रता के चित्रण के लिए विज्ञान-सम्मत विदेशी-प्रतिमानों को स्वीकार करने में, मैं मानता हूँ, भारतीय-विशुद्धता में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता—साहित्य के क्षेत्र में स्वदेशी और विदेशी के कठघरे बेमानी हैं। प्रश्न उपकरण का नहीं है, वह है अन्तःकरण का। मेरे मत में यह भारतीय-साहित्य की कसौटी तो है ही, एक भारतीय साहित्यकार की भी सच्ची कसौटी है।

इस ट्रेजिडी का मूल कारण यह है कि मनुष्य अपने आप को ही भूल बैठा है। उसकी प्राथमिक-आवश्यकता यह है कि वह अपने आपको पहचाने। अपने मूल-स्वरूप का अवधारण करके ही वह मनुष्य मात्र की आन्तरिक-एकता को समझ सकता है और तभी उसमें सामरस्य की वह भावना पैदा हो सकती है, जिसके अभाव में उसे अपने भीतर नग्न-पशुता का ही आभास होता रहता है। मैंने अपने उपन्यासों में मनुष्य के भिन्न-भिन्न परिवेशों में भी उसके सम्पूर्ण स्वरूप को पहचानने का यत्किंचित प्रयत्न किया है। किसी न किसी तरह, जाने या अनजाने, प्रत्येक उपन्यासकार को यह करना ही पड़ता है। उसकी दृष्टि चाहे जितनी बाहर दौड़े, अन्ततोगत्वा उसकी रचना का अन्तःसार तो उसकी अपनी ही वासनाओं-प्रवृत्तियों

का फल होता है। मैंने अपने इस उपन्यास में अधिक सचेत होकर इस खोज का प्रारम्भ किया है। आज, जबकि जीवन अधिकाधिक संकटापन्न, अनिश्चय, अलगाव और मृत्यु के महान्धकार में दम तोड़ता प्रतीत हो रहा हो, हमारे जीवन-दर्शन के शाश्वत समझे जाने वाले मूल्य-मान कसौटी पर चढ़ गए हों, तो नए सिरे से यह खोज प्रारम्भ करनी होगी। और तब प्रश्न उठता है कि इस खोज का प्रस्थान-बिन्दु क्या हो ?

प्रारम्भ में ही 'आत्मनेपद' में मैंने इस ओर संकेत किया है, कहा है कि प्रस्तुत उपन्यास एक ऐसे 'मैं' की खोज का प्रयत्न है, जो संस्कृति-इतिहास-दर्शन-विज्ञान आदि के सदियों से चले आ रहे घात-संघात से सम्भूत है, और जो पुरुष भी है तथा स्त्री भी। यद्यपि वह एक निर्विशेषक, निर्वैयक्तिक सामान्य मनुष्य ही है, परन्तु 'मैं' इसलिए है कि इसको परखने का समर्थ-माध्यम मैं स्वयं ही हो सकता था। मनुष्य एक ही साथ एक तत्व भी है और एक सत्व भी। तत्व को समझने का तत्परक-प्रयत्न विज्ञान ने किया है, किन्तु सत्व की तत्परक पहचान अभी बाह्य साधनों से सम्भव नहीं हुई है। मनुष्य की आन्तरिकता के विषय में जो कुछ भी जाना-पहचाना जा सकता है वह स्व-परक ही है। मनोविज्ञान और आत्मविज्ञान के बीच अभी दुरतिक्रम्य दूरी तो है ही, आज तो वे परस्पर बहिष्कारक भी बना दिए गए हैं, मानो एक को छोड़े बिना दूसरे को पाया नहीं जा सकता। देशकाल-हीन आध्यात्म के आधार पर ही मुझे विवश होकर इस 'मैं' को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाना पड़ा है, यद्यपि प्रयत्न मैंने इस परियोजना में भी द्रष्टा ही बने रहने का किया है। मैं हूँ, किन्तु 'कर्म' के रूप में ही, 'कर्ता' के रूप में नहीं।

मेरी इस यात्रा का मार्ग मेरे अभिमत से विशुद्ध-भारतीय ही है, पर अवश्य वह है चिन्तन-परक ही। मैंने इस 'मैं' को कालावधि के पाँच हजार वर्ष के लम्बे प्रवाह पर ही नहीं, स्थानिक-आयाम में स-सागरा पृथिवी के अछोर-व्यापी दिगन्तों पर भी फैला कर देखा-परखा है। उसके प्रकृत-स्वरूप को पहचानने के लिए उसे भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक-व्यवस्थाओं की सनातन-पुरातन और अधुनातन समस्याओं में उलझा कर सुलझाने की चेष्टा की है, स्त्री को पुरुष-निरपेक्ष और पुरुष को स्त्री-निरपेक्ष बता कर भी उनकी पारस्परिक-सापेक्ष्यता पर बल दिया है। एक प्रकार से कहा जाए तो मैंने सम्पूर्ण-मनुष्य के चिरन्तन, स्वयम्पूर्ण, सर्वकालिक और सर्वदैशिक-स्वरूप के आकलन का प्रयत्न किया है। वसुधैव-कुटुम्बकम् की दृष्टि को ही मैं विशुद्ध भारतीय-दृष्टि कहता हूँ। वह 'काल' या 'स्थान' से बाधित नहीं होती।

यह मनुष्य क्या है, क्या है इसकी मूल प्रकृति ? संसार तथा उसके यावत चराचर-पदार्थों की तरह मनुष्य भी सामान्य तौर पर एक अनित्य-तत्व है और

साद्यन्त भी । वह जन्म लेता है, और दिन-प्रतिदिन रूप बदलता हुआ कुछ अवधि के बाद मर जाता है । इस सतत-रूपान्तरण के बावजूद हम देखते हैं कि उसका अभिज्ञान, उसकी आइडेंटिटी, कम-से-कम मृत्यु-काल तक तो नहीं बदलती । जन्म के समय जो 'मैं' था, वही मैं आज भी हूँ, और मृत्यु-पर्यन्त तो मैं 'मैं' ही रहूँगा । मनुष्येतर प्राणियों में यह आत्म-अभिज्ञान है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु मनुष्य में है. प्रत्येक मनुष्य यह स्वीकार करता है । अन्य प्राणियों की स्वीकृति का कोई महत्व भी नहीं है । अपने तौर पर तो मनुष्य यह भी जानता है कि अन्य प्राणी भी उसीके समान मृत्यु-पर्यन्त, अपने सतत रूपान्तरण के बावजूद, एक विशिष्ट प्राणी ही रहते हैं । स्पष्ट है कि यह अभिज्ञप्ति, शरीर की क्षण-भंगुरता के बावजूद, क्षण-भंगुर नहीं है । यही नहीं, हम यह भी देखते है कि नींद में हम, शरीर रह कर भी, शरीर में नहीं रहते । शरीर स्थूल है और मूलतः अक्रिय है, उसे सक्रिय कोई अन्य विशिष्ट-सत्ता ही करती है । वह सत्ता सूक्ष्म है, चाहे अपने-आप में एक प्रक्रिया मात्र हो, एक फंक्शन, मात्र एक अभिज्ञप्ति, एक 'अवेअरनेस' ही हो । यह अशरीरी-सत्ता सुषुप्तावस्था के स्वप्नों में ही नहीं, दिवा-स्वप्नों में जागते हुए भी शरीर की उपेक्षा करके स्वतंत्र हो जाती है । अर्थात् 'तत्' से दृष्टि हटा कर 'सत्' या 'सर्व' पर मनन चिन्तन कर सकती है । शरीर-अंश की तरह यह सत्ता-अंश या चिदंश परिवर्तन-शील भी नहीं, बल्कि उससे पृथक एक निश्चल अपरिवर्त्य-तत्व ही हो सकता है । मनुष्य ने इस तत्व को ही 'आतमन' कह कर, और इसी आतमन के एक उथले-चंचल मननशील स्तर को 'मन' कह कर सम्बोधित किया है । जरा-से चिन्तन से यह भी स्पष्ट होजाता है कि यह चिदंश किसी एक ही शरीरी की बपौती नहीं है, बल्कि समान-रूप से वह सभी शरीरियों का समान-प्रकृति का व्यापक-भाव है। इसी व्यापक भाव से वह शरीर तथा अन्य जड़ पदार्थों पर भी प्रक्रियाएँ कर सकता है । अर्थात् यह भाव, पदार्थ की सीमा के बाहर भी 'अभिज्ञप्ति' के रूप में सर्वत्र व्याप्त है । अभिज्ञप्ति के इसी प्रत्यय और सूक्ष्म-विश्लेषण से विश्वस्त होकर आध्यात्मचेता महर्षियों ने अति प्राचीन काल में ही उद्घोषित किया होगा 'अजो नित्यः शाश्वतो-ऽयम् पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।'

आतमन की अमरता और सर्व-व्यापकता का यह विश्वास, भारत या एशिया ही में नहीं, अत्यन्त प्राचीन काल से यूरोप, अफ्रिका, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया की तथाकथित असभ्य-अर्धसभ्य आदिम-जातियों में भी बराबर पाया गया है। एक विलक्षण अन्तःप्रज्ञा से उस समय के मनीषी ही नहीं, जन-सामान्य भी 'काल' और 'स्थान' की सापेक्ष्य-एकता पर स्वभावतः ही विश्वास करके इन्हें सर्वव्यापी-आतमन के ही अन्तर्भुक्त आयाम मानते थे । कहते हैं कि उत्तरी अमेरिका की आदिम जाति

'होपी', आज भी यह समझ कर, कि इस विश्व में जो कुछ है वह ठीक यहाँ और अभी ही (राइट हीयर एंड नाउ) है, अन्य किसी भी प्रकार की रेखाकार-संरचना में विश्वास नहीं करती। सापेक्ष्यतावाद के प्रवर्तक आइन्स्टाइन ने कहा बताते हैं कि उनका सापेक्ष्यता-सिद्धांत एक आदिवासी होपी सहज ही हृदयंगम कर लेता है। आस्ट्रेलिया के आदिवासी भी सामान्यतः समय की चक्राकार-प्रवृत्ति, और स्वप्न तथा मिथक के समय की रेखाकार प्रवृत्ति के बीच का भेद खूब समझते हैं। कहना होगा कि आधुनिक-विज्ञान प्रमाणित चाहे प्रयोगों से ही हो पाता हो, किन्तु उसकी उद्‌भावना तो सर्वथा अन्तःप्रज्ञा की अन्तर्भूमि में ही सम्भव है। नहीं तो विज्ञान के ऐसे गूढ़तम-रहस्य, जिन्हें आजके अच्छे-अच्छे विद्वान सहज नहीं समझ पाते, उस युग के निश्छल हृदयों को अनायास कैसे दृष्ट एवं हस्तामलक हो जाते? प्राचीन बेबीलोन नगर की संरचना के लिए तो कहा जाता है कि उसकी संकलपना प्लेंक के क्वैंटम-सिद्धान्त का स्पष्ट-पूर्वाभास थी।

देश और काल के ऐक्य की यह अभिज्ञप्ति, आत्मन की सर्वव्यापक-केन्द्रीयता तथा उसकी चरमसत्ता का द्योतक थी। सृष्टि की करोड़ों-अरबों वर्ष की अवधि को भारतीय-दर्शन में ब्रह्मा का दिन, और ऐसी ही समान अवधि को प्रलय की रात्रि की संज्ञा दी गई है। और यह अवधि परब्रह्म के भ्रुव-कुंचन का तो एक निमिष-मात्र है! वस्तुतः महतोमहीयान यह सम्पूर्ण सृष्टि, जो नित्य, अखंड और अविनश्वर है, स्वयम् ही कालातीत अद्वैत परब्रह्म है! 'सर्वम् खल्विदम् ब्रह्मम्' एकोऽहम् द्वितीयोनास्ति। जो द्वैत प्रतीत होता है, वह केवल माया है उस परब्रह्म का मात्र चिद्विलास। मापने के अर्थ में यही माया 'काल' का रूप लेकर उस 'है' को 'हो रहा है' में आभासित करती है। इसीलिए काल के विराट गर्भ में गति है, रूपाकार है, परिवर्तन है, जन्म है, मृत्यु है और फिर-फिर जन्म है। इसीको हम कहते हैं इतिहास, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान। इसी तरह 'कहीं हो रहा है', वह 'स्थान' है, अवकाश है, प्रकाश है, विस्तार है, पद और पदार्थ है, स्थिति है, और वही भूगोल है। इस विपुल-विशाल अशेष-सृष्टि के साथ यह 'मैं' भी उसी परब्रह्म का एक क्षुद्रातिक्षुद्र अणोरणीयान-अंश है। क्षुद्रातिक्षुद्र हो, किन्तु है उसी महतोमहीयान का प्रतिनिधि चिदंश, और इसीलिए अपनी क्षुद्रता में भी, बीज-रूप में ही सही, वैसी ही असीम-सामर्थ्य और अनन्त सम्भावनाओं से सम्पन्न है। शरीर माया है इसलिए काल-धर्मा और मरणशील है। किन्तु आत्मन सत् है, कालातीत और अमृतधर्मा। इस द्विविध मरणधर्मा और अमृत-धर्मा मनुष्य के समन्वित रूप को प्राचीन मनीषियों ने सहज ही हृदयंगम कर लिया था। यही भारतीय दृष्टि है, और यही प्रस्तुत उपन्यास की दृष्टि भी है। इसीलिए इसकी कथा एक बद्ध (क्लोज्ड) कथा नहीं है, वह है पाँच हजार वर्ष के लम्बे काल-

प्रवाह पर फैले, निरन्तर विकासशील, ऊर्मिल जीवन-तत्व पर एक विहंगम-भुजंगम दृष्टि। लेखक ने इस प्रवाह को तीन मोड़ों पर पकड़ने का प्रयास किया है: एक पाँच हजार वर्ष पूर्व प्राग्वैदिक-भारत की सिन्धु-घाटी में निवास करने वाली पणिक-जाति के नेता विभांडक बृबु के उपाख्यान में, दूसरा, इसी बीसवीं सदी केआरम्भ से आज तक प्रोफेसर मुरारीलाल मनस्वी के उपख्यान में, और तीसरा, तत्काल आज की सम-सामयिक परिस्थितियों के अवरेखन में। सच तो, काल के चिरन्तन-प्रवाह में सम-सामयिकता एक निरायाम-बिन्दु ही है, अतः अनिवार्य तौर पर यह भी सापेक्ष्य-अतीत ही की कथा है, चाहे उसे तत्काल अतीत कह कर ही क्यों न अभिहित किया जाए ?

पूछा जा सकता है कि मैंने पहले मोड़ के लिए पाँच हजार वर्ष पूर्व का काल-खंड, सिन्धुतट का स्थान-खंड और एक अनार्य-नेता विभांडक बृबु को ही क्यों अपनी खोज का विषय बनाया ? लेखकीय रुचि और स्वाधीनता की ही बात नहीं, ये चुनाव सप्रयोजन हुए हैं। पाँच हजार वर्ष पूर्व के इस काल-खंड को मानव-सभ्यता की प्रगति के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण समय माना गया है। तब सम्पूर्ण विश्व में नदी-घाटी सभ्यताएँ अपने चरम विकास पर थीं। भारत में सिन्धु नदी के तट पर दुर्योण और उत्तर में रावी के तट पर बसा हुआ हरयूपिया जैसे भव्य नगर, जिन्हें आजकल मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के नाम से जाना जाता है, न केवल भौतिक-समृद्धि का ही परिचय प्रस्तुत कर रहे थे, प्रत्युत वहाँ की तत्कालीन प्राविधिक-प्रगति, कलात्मक अभिरुचियाँ और सांस्कृतिक-उपलब्धियाँ अन्य सुदूर अंचलों में ईर्ष्या पैदा करती थीं और वहाँ उनके अनुकरण का प्रयत्न किया जाता था। व्यापार के व्याज से उनका सम्पर्क चारों ओर सुदूर अन्य उन्नत नदी-घाटी अंचलों तक फैला हुआ था। उनके साथ आर्थिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्धों के प्रमाण भी जुटाए जा सकते हैं। सुदूर उत्तर-पश्चिम में मेसोपोटामिया की इतिहास-प्रसिद्ध दजला और फरात नामक नदियों की अन्तर्वेदी में, जिसे आजकल इराक कहा जाता है, सुमेरियन, असीरियन बेबिलोनियन संस्कृतियाँ अपने उत्कर्ष पर थीं। और भी पश्चिम में मिस्र की नील नदी की उपत्यका में एक विशिष्ट-संस्कृति अपने स्थानीय-परिवेश और विश्वासों के अनुरूप मानव की विराटता को प्रस्तर की विशाल-भव्य मूर्तियों और उत्तर-जीवन के नभचुम्बी प्रासादों में रूपायित कर रही थी। मनुष्य तब तक लाखों-करोड़ों वर्ष के अपने पाशव-स्तर को मस्तिष्क की प्रारम्भिक-सतहों में कैद कर चुका था, और नव-मस्तिष्क के चरम विकास के साथ नितान्त बौद्धिक-मानव (होमो सैपिअन्स) बन चुका था। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा में उसने गाय-बैल-श्वान-अश्व-हस्ति

जैसे अनेक जंगली पशुओं को पालतू बनाकर अपना सहायक कर लिया था। उसने न केवल शस्त्रास्त्र और कई अन्य उपयोगी उपकरण ही बना लिए थे, बल्कि अग्नि, नदी-प्रवाह आदि को संयत करके तथा भू-पृष्ठ को कृष्ट करके खेती के आविष्कार में जीवन-क्रम को स्वस्थ-नागरिकता की एक नई दिशा ही दे दी थी। भू-गर्भ से उसने स्वर्ण और रजत के अतिरिक्त कान्स्य और ताम्र जैसी उपयोगी धातुएँ भी खोज निकाली थीं, और चक्र के आविष्कार से उसने मिट्टी के नानाविध पात्र तथा रथ-शकटादि वाहनों के निर्माण से जीवन-संघर्ष को अत्यन्त सहज बना लिया था। प्रकृति का अब वह भोक्त नहीं, भोक्ता बन गया था। जिस तरह हम जल-वायु-वाष्प-विद्युतादि की प्रचंड शक्तियों को साध कर आज आण्विक-युग में प्रवेश कर रहे हैं, उसी तरह कृषि-कर्म को साध कर नव-प्रस्तर-युग का वह निओलिथिक-मानव एक अभूतपूर्व-सुरक्षा के अभिनव जीवन-क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था। शरीर के स्तर से उठकर उसने मानसिकता के सूक्ष्मतर स्तरों का अन्वेषण प्रारम्भ कर दिया था। नौका, हल, तन्तु-यंत्र, नहरें, सिंचाई आदि यान्त्रिक-आविष्कारों के अतिरिक्त वह ज्योतिष, गणित, सामाजिक-व्यवस्था, मुद्राश्रित-व्यवहार-व्यवसाय, न्याय, नीति, दर्शन और धर्म जैसे आधिभौतिक गूढ़-तत्वों का भी विवेचन-विश्लेषण कर रहा था।

योग्यतम के जीवनाधिकार की विकासवाद की कसौटी उसके सामने थी। प्रकृति के इस अनवरत-संघर्ष में जीतने के लिए ज्ञान के विपुल विस्तार और स्थायित्व की आवश्यकता अनिवार्य हो चली थी। श्रुति और जैविक-विकल्प अपर्याप्त प्रमाणित हो रहे थे, तो उसने लिपि का भी आविष्कार कर डाला। उसकी संवेगात्मक, बौद्धिक और कलात्मक-प्रवृत्तियों के लिए नई प्रेरणाएँ, नए क्षितिज और नए आयाम सुलभ होगए। आज के पहले, शक्ति और ज्ञान का ऐसा युगान्तरकारी संगठन उसी युग में सम्भव हुआ था। आज की सभ्यता के प्रचलित विश्वास, निष्ठाएँ, नीतियाँ और मूल्य उसी युग में जन्म लेकर रूप ग्रहण कर रहे थे। यह निर्विवाद है कि अवरेखित इतिहास-काल में उसी उन्नत-युग की उपलब्धियों के मौलिक-प्रतिरूपों (पैन्टर्स) का भोगाधिकार आज तक मनुष्य विना किसी मौलिक परिवर्तन के करता चला आ रहा है। घिस-पिट जाने से आज जिन मूल्य-मानों का अवमूल्यन होता दिखाई दे रहा है, उनके मौलिक स्वरूप की परीक्षा के लिए उसी युग का अनुशीलन-अध्ययन युक्ति संगत और सार्थक हो सकता था, और इसीलिए मैंने उसी पाँच हजार वर्ष पूर्व के प्राग्वैदिक-युग का इस उपन्यास में अनुसन्धान और पुनर्सजन आवश्यक समझा। परम्पराओं को पहचानना इसलिए भी आवश्यक है कि उनमें कौनसी ऐसी सशक्त हैं जो अपने मूल-स्वरूप में या नया रूप धारण कर हमारी आज की परिस्थितियों से जूझने के लिए प्रेरणा और शक्ति दे सकती हैं।

सिन्धु-तट के संस्थानिक-चुनाव के लिए कहा जा सकता है, मैं आग्रही हुआ हूँ। सर्व-प्रथम तो मैं एक भारतीय हूँ, अपने तन-मन प्राण पर ओढ़ी हुई भारतीयता की मिट्टी छोड़ कर मैं और जा ही कहाँ सकता था? अन्यत्र गया भी हूँ, किंतु तब भी भारतीयता ओढ़े रख कर और भारतीयों के साथ साथ ही। किन्तु इस चुनाव में केवल इतनी-सी बात भी नहीं है। देश-विदेश के पौराणिक-साहित्य के यत्किंचित अध्ययन से मुझे लगा है कि अन्य नदी-घाटी संस्कृतियों की तुलना में तथाकथित सिन्धु-संस्कृति यदि प्राचीनतर नहीं हो तो भी समकालीन अवश्य है। पूर्व में चीन की नदी-घाटी की संस्कृतियों का परिचय अवश्य मुझे नहीं है। लिपि का महत्वपूर्ण आविष्कार, सिन्धु-घाटी की कीलाक्षर-लिपि के अतिरिक्त, मिस्र में चित्र-लिपि और मेसोपोटामिया में पृथक कीलाक्षरों के रूप में हो चुका था। मिस्र तथा मध्यपूर्व की लिपियाँ पढ़ी जा चुकी हैं, और यह भी प्रमाणित किया जा चुका है कि वे अपने उत्तर-कालीन विकास में यत्किंचित आनुवर्णिक (अल्फावेटिक) विकास तक पहुँच चुकी थीं। इसके विपरीत अनेक प्रयत्नों के बावजूद सिन्धु-लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। उसके बहुविध-संकेतों से यह भी प्रतीत होता है कि वह आनुवर्णिक-विकास के बहुत पहले की स्थिति में है। क्या यह उसकी अपेक्षाकृत प्राचीनता का प्रमाण नहीं है?

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कोई भी निष्पक्ष-इतिहासकार कह सकता है कि सिन्धुतट के तत्काल निवासी मानवता की विशुद्ध-भावना के अतिरिक्त किसी अन्य शोषणात्मक वाद या नीति के अत्याग्रह से ग्रस्त नहीं थे। धर्म, वैसे तो सर्वत्र ही जीवन-पद्धति का पर्याय था—सिन्धु-भूमि में भी टोटम-टोने-टोटके, नागादि ग्राम-देवता, वृक्षपूजा, पशुपति, मातृदेवी आदि की पूजा का विधान था——किन्तु किसी सम्प्रदाय-विशेष के प्रभाव का वहाँ कोई प्रमाण नहीं मिलता। श्रमण-संस्कृति का मूल-मन्त्र अहिंसा किसी साम्प्रदायिकता का प्रतीक नहीं, प्रत्युत मानव-मात्र के स्व-धर्म और पारस्परिक व्यवहार की जीवन-प्रणाली थी, जो किसीके मताग्रह से नहीं, वल्कि मानवता की स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया के व्यवहारवादी दर्शन के रूप में स्वीकार की गई थी। तत्कालीन समाज-व्यवस्था में राजनीति या मुद्राश्रयी-अर्थ-नीति के प्रवेश का प्रमाण भी नहीं मिलता। नगरों की उत्कृष्ट-संरचना से प्रमाणित होता है कि समाज में उच्च-नागरिकता का भाव जीवन का सामान्य अंग बन गया था। वहाँ के नागरिक पर्याप्त रूप से आत्म-शासित थे। यदि कुछ शासन-व्यवस्था थी तो वह नगर-राज्य जैसी नाम-मात्र की कुछ व्यवस्था रही होगी। यदि श्रेष्ठतम प्रशासन की कसौटी न्यूनतम शासन हो, तो उस शासन-व्यवस्था को श्रेष्ठतम मानना होगा। मिस्र तथा मेसोपोटामिया की शासन-व्यवस्था में राज्यतन्त्र विद्य-

मान था। उस व्यवस्था में प्रजा के शोषण और उन पर उत्पीड़न के प्रचुर प्रमाण, वहाँ के विशाल मृत्यु-सौध, भूगर्भ की विशाल गहरी समाधियाँ, और उनमें मृत-राजपुरुषों के साथ जीवित गाड़ दी गईं राज-महिषियाँ, अनेकानेक भृत्य तथा विलास-सामग्रियों की उपलब्धि से मिल जाते हैं। इसके विपरीत सिन्धु-प्रदेश में स्त्री और पुरुष के बीच पूर्ण-समानता और स्वतन्त्रता का भाव विद्यमान था, उनके बीच कहीं कोई वर्जना या विधि-निषेध नहीं था। आर्थिक दृष्टि से भी वे प्रभूत समृद्ध थे। मेसोपोटामिया के विभिन्न उत्खननों से सिन्धु-तट की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि इन देशों में व्यापक आदान-प्रदान और वाणिज्य-व्यवसाय प्रचलित था। सिन्धु-तट वासियों की सामुद्रिक-यात्राएँ, नगर-निर्माण की अद्भुत कला-क्षमता, आश्चर्यजनक विशाल सार्वजनिक स्नानगृहों का निर्माण, नदी-बन्ध आदि उनके प्राविधिक-ज्ञान तथा गहरे मानसिक बोधों का प्रमाण हैं। इन स्पष्ट प्रमाणों की यदि उपेक्षा भी की जाय, तब भी इस आदर्श समाज-व्यवस्था की विपरीत-स्थिति के भी तो कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। प्रकारान्तर से तो प्राचीन-तम ऋग्वेद में भी उनकी समृद्धि, सामर्थ्य और संश्लिष्ट संस्कृति का ही परिचय मिलता है, जिसका समर्थन पुरातात्विक उत्खननों ने किया है। तब इस प्रकार की समाज-व्यवस्था की कल्पना भी क्या एक कल्पनावी-उपन्यासकार के लिए निराधार कही जाएगी ?

भारतीय भू-भाग में तब एक और उत्क्रान्ति घटित होने वाली थी। मेसो-पोटामिया की नदी-उपत्यकाओं में भीषण जलवृष्टि, भूकम्प और हिम-शैल शिखरों के स्खलन से वहाँ शायद सचमुच एक भयावह जल-प्रलय उपथित होगया था, और सारा भू-प्रान्त जलमग्न हो गया था। भीषण नरसंहार और प्रलयंकर ध्वन्स के अतिरिक्त पूर्व-पश्चिम के सम्बन्ध और आवागमन के समस्त साधन विच्छिन्न होगए थे। कई देशों के तत्कालीन-साहित्य, मिथकों और लोक-कथाओं में इस प्रलय के संकेत मिलते हैं। भारतीय-साहित्य में भी, शतपथ ब्राह्मण में मनु की कथा के मिस इस जल-प्रलय का उल्लेख है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह जल-प्रलय कई घुमन्तु जातियों के इधर-उधर अपनी जीविका के लिए परिव्रजन का कारण हुआ था। भारत में आर्यों के आगमन का कारण भी शायद यह जल-प्रलय ही हो !

दजला-फरात की अन्तर्वेदी में निवास करने वाली जिन जातियों का ऊपर उल्लेख हुआ है वे सेमेटिक-वंश की प्रजातियाँ कही जाती हैं, जो भूमध्य सागर के पूर्व में अरब प्रायद्वीप की उत्तरी सीमा में निवास करती थीं। अनुमान किया जाता है कि इस भौगोलिक-क्षेत्र के उत्तर-पूर्व में अर्थात् डेन्यूब नदी के पूर्व कृष्णसागर के उत्तरी-अंचल में कश्यप-समुद्र के पारतक फैली हुई एक विस्तृत तृणभूमि की पट्टी

थी, जहाँ एक उन्नत-नास, गौर-वर्ण, बलिष्ठ-प्रजाति अपने बड़े-बड़े गोष्ठों के साथ निवास करती थी। आज के नृ-तत्व-विशारद इन्हें इंडो-यूरोपियन रेस या भारोपीय-परिवार के नाम से सम्बोधित करते हैं। भारतीय पौराणिक-परम्परा जिन्हें वैकुठ-निवासी देवगण कहकर अभिहित करती है, वे यही होने चाहिये। ये लोग कद के ऊँचे-पूरे, कर्मठ, साहसी, बलिष्ठ और शूरवीर-योद्धा थे, तथा अपने विशाल गोष्ठों को लिए हुए तृणभूमि की खोज में देश-देशान्तर, पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण हिमालय की तटभूमि तक, बराबर परिव्रजन करते रहते थे! तब शायद भौगोलिक-स्थितियाँ भी आज के समान नहीं थीं। हिमालय इतना ऊँचा और कठोर नहीं था, भारत के मध्य-भाग में विन्ध्याचल और सतपुड़ा के दक्षिण में अरब-बंग समुद्र की एक शाखा लहरा रही थी। देवगणों के इक्के-दुक्के दल हिमालय को पार कर गंगा-जमुना की अन्तर्वेदी तक भी शायद आ पहुँचे थे, उत्तर-पश्चिम के खैबर-बोलन की राह नहीं, बल्कि तिब्बत का पठार पार करके। तिब्बत का संस्कृत नाम त्रिविष्टप 'स्वर्ग' का भी पर्याय है। हिमालय के अंचल में निवास करने वाली गन्धर्व, किन्नर, किरात आदि पहाड़ी जातियाँ उन्हीं देवगणों के अवशेष हैं। विद्वानों का एक दल यह भी विश्वास करता है कि सिन्धु-तट वासी पणिक भी किसी और भी प्राचीन काल में इन देवगणों के समुदाय से ही पृथक होकर यहाँ आ बसे थे।

इसी देवगण के पूर्व-पुरुष दक्ष प्रजापति की साठ कन्याओं में से दिति-अदिति-दनु-कद्रू-वनिता आदि तेरह कन्याएँ मरीचि-पुत्री कश्यप को ब्याही गई थीं। कश्यप-पत्नी दिति से उत्पन्न पुत्र दैत्य, अदिति से उत्पन्न आदित्य, दनु से उत्पन्न दानव, आदि सभी दायाद भाई थे। इनके मूल-आवास कश्यप-समुद्र के तट पर फैले हुए थे। इन्होंने अग्नि का आविष्कार कर लिया था, जिसे ये अत्यन्त पवित्र और जीवन-रक्षक मानते थे; सदा प्रज्वलित रखने के लिए इसे केन्द्र करके इन्होंने यज्ञानुष्ठान की एक विशिष्ट संस्कृति ही विकसित कर ली थी। बाद में जाकर दैत्य और आदित्य आदि भाइयों में उत्तराधिकार और सम्पत्ति को लेकर ही युद्ध-विग्रह होने लगे, जिनका आभास हमें देवासुर-संग्रामों के रूप में मिलता है। जेठे भाई दैत्य अधिक बली और संगठित थे, किन्तु आदित्य अधिक चतुर और नीति-कुशल थे। दैत्यों को उन्होंने पश्चिम की ओर खदेड़ दिया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उनकी एक शाखा ठेठ मध्य अमेरिका तक पहुँच गई जहाँ उन्होंने अपनी 'मय' नामक विशिष्ट संस्कृति का विकास किया। एक शाखा यूरोप में फैल गई। उसी तरह एक दूसरी शाखा मिस्र में नील नदी के तट पर जा बसी। एक शाखा बहुत दूर नहीं गई, कुछ दक्षिण में, कुछ पश्चिम में रमणीक (आर्मेनियन) अंचल, मद्र (मीदिया) अंचल, पारस्य (पर्शिया) अंचल, आदि स्थानों में बस गई। प्रारम्भ में ये सभी भाई मिलकर

'असुर' कहलाते थे, जिसका अर्थ होता है 'प्राणवान'। ऋग्वेद में दो-एक स्थान पर इन्द्र को भी असुर कहकर सम्बोधित किया गया है। किन्तु बाद में जाकर असुरों की देवगण से पृथक एक विशिष्ट संज्ञा होगई, और इनसे शत्रुता के कारण देवगण 'सुर' के नाम से पहचाने जाने लगे। अलग होते-होते असुरों ने अपनी एक नई संस्कृति और धर्म का विकास किया, जिसे जोरास्टर-धर्म कहा जाता है। स्वाभाविक है कि उनके धर्म और संस्कृति में वैदिक-संस्कृति तथा भाषा से बहुत निकट का साम्य है। पुरातत्वविद्, असुरों की इस सभ्यता को 'हीलियोलिथिक' सभ्यता कहकर पुकारते हैं। प्रारम्भ में देवगण कृषि-कर्म से परिचित नहीं थे। आखेट के अतिरिक्त अकृष्टपच्या-भूमि से जो वानस्पतिक-पदार्थ सहज मिल जाते थे, वही उनकी जीविका का साधन था। वे अश्व से भी अपरिचित थे। कुछ दक्षिणपश्चिम में एक केशी-गण था, जो अश्वों से परिचित ही नहीं थे, बल्कि उनकी एक अच्छी खासी नस्ल विकसित कर रहे थे। देवगण के उनसे सम्पर्क, युद्ध-विग्रह और सन्धि के फलस्वरूप देवगण में भी अश्वों का प्रचलन होगया। कालान्तर में उन्होंने पारस्य-अंचल के एलाम प्रान्त में अपना आवास स्थापित किया और सुषा नामक नगरी बसाई। दजला-फरात के नगर-राज्यों से सम्पर्क से खाद्यादि-शस्य की समस्या का समाधान तो हुआ ही, इस सम्पर्क के फलस्वरूप छोटे-बड़े युद्ध-विग्रह, लूटमार आदि की झड़पें भी चलती रहीं। स्वर्ण और रजत जैसी धातुओं से तो ये अवश्य परिचित थे किन्तु लौह धातु का इन्हें पता नहीं था। लोहा वस्तुतः कृष्ण-समुद्र के दक्षिण में ही निकाला जाता था। दधीचि, जिससे इन्द्र ने अपना वज्र बनवाया था, शायद वहीं का निवासी था!

मेसोपोटामिया में हुए इस जल-प्रलय से देवगणों का पश्चिम का न केवल मार्ग ही अवरुद्ध हो गया, बल्कि उस ओर से मिलती रहने वाली शस्य-आदि की सहायता भी बन्द होगई। विवश होकर उन्हें अपने अभियानों की दिशा भारतीय प्रायद्वीप की ओर करनी पड़ी। यही समय था जब इन्होंने अपने आपको 'आर्य' कहना प्रारम्भ किया। असुरों से तथा मार्ग में पड़ने वाले अन्य कबीलों से लड़ते-भिड़ते जब ये पूर्व में दुर्गम पर्वत-शृंखलाओं को पार करते हुए सिन्धु के पश्चिमी तट तक आ पहुँचे, तो इन्हें अपने से कई अधिक उन्नत और समृद्ध पणिक-गण से लोहा लेना पड़ा। वस्तुतः आर्य स्वभाव से ही युयुत्सु थे, लड़ना-भिड़ना उनका व्यवसाय ही था। यज्ञानुष्ठान की उनकी संस्कृति हिंसा-प्रधान संस्कृति थी। उनका सारा समय अपने गोष्ठों और रेवड़ों के साथ चरागाहों की खोज में घूमते फिरना, लड़ना भिड़ना, लूटमार आदि में और इनसे बचता तो दैनिक से लगाकर वर्ष भर चलने वाले यज्ञानुष्ठान में बीतता था। सिन्धु-तट पर आकर उन्होंने यहाँ के मूल-निवा-

सियों के न केवल खेत, धन-सम्पत्ति, अनाज, पशु, गोधन आदि ही लूटे, उन्होंने स्त्रियों तक को लूटा और उनकी बसतियों को अत्यन्त नृशंसतापूर्वक जला डाला। उन्हींके गाए हुए वेदों की ऋचाओं में इसके प्रचुर प्रमाण मिल जाते हैं। सौ-सौ नगरों को जला डालने के शौर्यपूर्ण कार्य के लिए उनका सेना-नायक इन्द्र पुरन्दर कहलाता था। सिन्धु-तट के निवासी पणिक अहिंसावादी थे, पारस्परिक-व्यवहार की उन्होंने एक मानवतावादी-सभ्यता विकसित कर ली थी। वे इन वर्बर आर्यों की क्रूरता का प्रतिविधान नहीं कर सके और पराजित हो गए; किन्तु उनकी उच्चतर संस्कृति पराजित नहीं हो पाई। भारतवर्ष को वैदिक-संस्कृति की मुख्य-भूमि कहा जाता है—आर्यों की यज्ञानुष्ठान की संस्कृति वैदिक-संस्कृति के नाम से ही प्रख्यात हुई है—किन्तु हमारी आज की यह संस्कृति कितनी वैदिक और कितनी प्राग्वैदिक है, यह सरसरी दृष्टि से देखने पर ही स्पष्ट होजाता है। तात्पर्य यह, कि इन आवरणों को उच्छिन्न करके मानवता के विकास की ऐसी घटना-संकुल और औपन्यासिक-सम्भावनाओं से समृद्ध अपनी ही पट-भूमि छोड़कर मैं अन्यत्र कहाँ और क्यों भटकता? कह चुका हूँ कि मैं भारतीय हूँ, अतः इसे यदि मेरा पूर्वाग्रह भी मान लिया जाए तो मुझे आपत्ति नहीं है।

रह जाता है प्रश्न एक अनार्य-नेता विभांडक बृबु के चयन का। इस विषय में कुछ कैफियत मैं प्रारम्भ में 'आत्मनेपद' के अन्तर्गत दे चुका हूँ। यह सच है, कि अन्य अधिकांश भारतीयों की तरह मैं भी अपने आपको एक नैष्ठिक-आर्य ही मानता आया हूँ—मेरा गोत्र ही वसिष्ठ गोत्र कहा जाता है। अपने आपको आर्य समझने और कहलाने मे मैंने गर्व भी महसूस किया है। किन्तु तनिक ही गहराई से जब मैंने अपने आसपास और स्वयम् के संस्कारों तथा रीति-रिवाजों पर दृष्टि डाली तो मुझे लगा कि कतिपय नैष्ठिक पंडितों को छोड़कर प्रायः सारा हिन्दू-समाज प्राग्वैदिक संस्कारों में आपादमस्तक ग्रस्त है। यह उन प्राग्वैदिक संस्कारों की सहज-प्राणवत्ता और लोकेषणा का प्रमाण है। देखा जाए तो आदि-कालीन आर्यों की जीवन-पद्धति में कोई सांस्कृतिक सूक्ष्मता या प्रखरता नहीं थी। यज्ञ उनके यौथ-जीवन का केन्द्र था, जिसके प्रतीक से वे अपने उपार्जन का मिल-बाँट कर उपभोग करते थे। सबका यज्ञ-भाग निश्चित था, और इन भागों को लेकर उनमें प्रायः कलह-विग्रह भी होजाते थे। खाते, पीते और सोम पीकर वे नृत्य-गान के उत्सवों में समय बिताते थे। शासन-व्यवस्था ढीली ढाली थी। 'गोधन और रेवड़ों के अतिरिक्त जमीन-जायदाद का झंझट नहीं था। अन्य कबीलों के साथ युद्ध-विग्रहों में जब उनकी पराजय होने लगी और गण के भीतर अव्यवस्था बढ़ चली, तो इसे दूर करने के लिए बहुत बाद में उन्हें अपने में से ही किसी एक श्रेष्ठ-पुरुष को राजा के रूप में वरण करना पड़ा।

ऋग्वेद में इसका उल्लेख है ! यह राजा ही गण का प्रधान होता था. उसका मुख्य कार्य युद्ध-भूमि में अपने दल का नेतृत्व करना होता था। वस्तुतः वह सेनापति ही होता था, जिसे इन्द्र कह कर अभिहित किया जाता था। कबीले को ही गण कहते थे। किसी राज्य की तरह गण की अपनी निज की कोई भूमि नहीं होती थी। वेद की अधिकांश ऋचाएँ या तो प्राकृतिक-दृश्यों के मनोमुग्धकारी गीति-चित्र हैं या इन्द्र-अग्नि-मित्र-वरुण-मरुत आदि अग्रज एवम् दुर्धर्ष-वीरों के स्तव-गान हैं। सम्भवतः ये लिखने-पढ़ने की कला से भी अनभिज्ञ थे, उनका सारा ही ज्ञान-कोश और साहित्य श्रुति और स्मृति के बल पर ही संचित-जीवित था। ज्ञान-कोश को संचित रखने के साधनों का अभाव होने से उसके बहुविध-विकास की सम्भावना भी नहीं थी। जो कुछ ज्ञान-कोश उनके पास था या निर्मित हो रहा था, उसके संरक्षण के लिए उन्हें अपने में से एक वर्ग ही तैयार करना पड़ा था, जिसका केवल मात्र कार्य चिन्तन-मनन, स्तवन-गायन और समुचित पाठ-बन्ध द्वारा सूक्तों और ऋचाओं को पाठ-भेद और विस्मृति से बचाने के लिए निरन्तर पाठ करते रहना था। इन ऋचाओं के प्रणेता ही ऋषि, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऋचाओं का निरन्तर पाठ करने वाले ही वेदपाठी ब्राह्मण कहलाए। किन्तु ये सब बाद की बातें हैं, जबकि आर्य भारत-भूमि में जम कर बसते जा रहे थे। इसलिए नायक के रूप में मुझे आर्य-संस्कृति का नहीं, वल्कि उस संस्कृति का प्रतिनिधि-पात्र चाहिए था, जिसने विजेता आर्यों की संस्कृति को अपनी लोकैषणा के बल पर पराजित किया था। जय और पराजय को हम बड़े ही स्थूल और अत्यन्त अल्प तत्कालीन-महत्व के अर्थ में ही लेते हैं। जो जीतता है, दीर्घकालावधि में वह जीतता नहीं, जो पराजित होता है वह भी सचमुच पराजित नहीं होता। इस दृष्टि से इतिहास के सत्य का उपन्यास के सत्य से कोई मेल नहीं है। देखा जाए तो आत्मा का सत्य होने के कारण उपन्यास का सत्य ही चिरन्तन सत्य है।

आर्यों के आगमन के पहले कौनसी संस्कृति भारत में प्रचलित थी? —देवराज इन्द्र ने अपने आपको यतियों और मुंडकों का शत्रु घोषित किया है। ये यति संसार के सुखोपभोगों का त्याग करने वाले परिव्राजक थे, जो समाज में अहिंसा, करुणा, क्षमा, आदि मानवीय-गुणों का प्रचार करते फिरते थे, और यह प्रचार लोगों में आर्यों की याज्ञिक-हिंसाओं तथा कर्म-कांड के प्रति जुगुप्सा पैदा करता था। भारत में तब यतियों का प्रचुर-प्रभाव रहा होगा, और इसीसे आशंकित होकर देवराज ने नृशंसतापूर्वक इनका वध करके उनके मान्स से अपने शिकारी कुत्तों को तृप्त किया होगा। संसार-त्यागी ये यति-मुनि वनारण्य में योग और ध्यान-साधन भी करते थे। वस्तुतः सिन्धु-घाटी क्षेत्र के उत्खनन में एक ध्यानस्थ-योगी-अंकित मुद्रा की

प्राप्ति से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है। इन संस्कारों को श्रमण-संस्कृति का नाम चाहे बाद में ब्राह्मण-संस्कृति के वजन पर मिला हो, किन्तु श्रम के तप में विश्वास और निष्ठा के कारण यह नाम बड़ा ही उपयुक्त रहा। प्राग्वैदिक भारत में इस श्रमण-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के और भी कई पुरातात्विक-प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। आगे जाकर इतिहास-काल में आर्य-वर्गों में ही, कर्म-कांड से जटिल यज्ञानुष्ठानों की निष्ठुर वैदिक-हिंसा के प्रति विरोध तीव्र होने लग गया था, जिसके फलस्वरूप इसी श्रमण-संस्कृति से प्रेरित चिन्तन-मनन-दर्शन में विशिष्ट उपनिषद-संस्कृति का आविर्भाव सम्भव हुआ। बर्बर आर्यों की विजय का एक कारण सम्भवतः श्रमण-संस्कृति की अहिंसा-भक्ति और जीवन तथा जगत के प्रति बढ़ती जारही उदासीनता भी थी।

श्रमण-संस्कृति वस्तुतः जैन-धर्म और जैन-दर्शन का उपजीव्य कही जाती है। किन्तु उसकी व्याख्या के लिए मैंने जैन-शास्त्रों और आगमों का आश्रय नहीं लिया। एक माने में वे मुझे साम्प्रदायिक, आनुष्ठानिक (रिचुअलिस्टिक) और आग्रहशील ही अधिक लगे। मुझे अवश्य यह स्वीकार करना चाहिए कि मेरा तद्विषयक ज्ञान नहीं के बराबर है। उनके आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ को मैंने आदर और श्रद्धा के साथ इस उपन्यास में आमन्त्रित किया है। मुझे यह एकाएक अनैतिहासिक नहीं प्रतीत हुआ। पच्चीसवें और अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर को आज पच्चीस शताब्दियाँ बीत गई हैं। तीर्थंकरों की संस्था वंश-परम्परागत नहीं है। यद्यपि जैन-शास्त्रों में तीर्थंकरों का आयु-प्रमाण लक्षाब्दियों में गिनाया गया है, मैंने प्रत्येक तीर्थंकर को सौ वर्ष की प्रभाव-अवधि देकर भगवान ऋषभनाथ को पाँच हजार वर्ष पूर्व विद्यमान मान लिया है। ऋग्वेद में उनका उल्लेख भी है। मैं नहीं जानता कि उस युग में ऋषभ की पूजा का भी उनके नाम के साथ कुछ तालमेल या अर्थ की संगति बिठाई जा सकती है। शायद बात पूर्वापर-सन्दर्भ की भी हो। बेबिलोनियन सभ्यता में भी वृषभ एक सम्पूजित पशु है। ऋषभनाथ के पूर्व की जैन-शास्त्र-वर्णित तथाकथित भोग-संस्कृति का तात्पर्य मैंने मुक्त समाज-व्यवस्था से लिया है। समाज-शास्त्रियों का मत है कि वह मातृ-सत्ताक और पितृ-सत्ताक व्यवस्थाओं का संक्रमण-काल था। स्त्री और पुरुष में पूर्ण समानता थी, उनके सम्बन्ध सर्वथा निर्बन्ध थे। वर्जनाएँ या अन्य प्रकार के विधि-निषेध यदि थे तो वे न्यूनतम थे। अहिंसा की निष्ठा में, एक नरमेध-यज्ञ के अवसर पर बलि-पात्र एक ब्राह्मण-पुत्र शुनःशेप की प्राणरक्षा में महाश्रमण तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ के यज्ञ-कुंड में कूद कर प्राणत्याग की घटना का भी मैंने बड़ा डरते-डरते प्रयोग किया है, और उसे अन्ततोगत्वा दर्शकों की कल्पना और अनुमान का विषय बना कर ही छुटकारा पा लेना उचित समझा है। यद्यपि उपन्यास के पात्र किसी इतिहास के नहीं, स्वयं लेखक की स्वतन्त्र सृष्टि

होते हैं, किन्तु इतिहास या पुराण-प्रसिद्ध पात्र जन-साधारण और पाठक के मन में एक निश्चित धारणा बना चुके होते हैं। तर्कातीत, रूढ़,और बद्धमूल धार्मिक-विश्वासों के साथ, प्रामाणिक होते हुए भी खिलवाड़ करना लेखक के लिए संकटजनक हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन लोकोत्तर पात्रों के चमत्कारपूर्ण कार्य-कलाप साधारणीकरण में भी बाधक होते हैं। इन्हीं सब दृष्टियों से मैंने एक अपेक्षाकृत अज्ञात-से, किन्तु प्रचुर सम्भावनाओं से सम्पन्न, बृबु जैसे पात्र को ही बहुतकुछ अपने प्रयोजन के अनुकूल गढ़ कर नायक बना देना उचित समझा है।

पाँच हजार वर्ष पूर्वका यह नायक बृबु भी सर्वथा मेरी कल्पना की उपज नहीं है। ऋग्वेद में उसका कई स्थानों में उल्लेख है। एक ऋषि ने तो उसकी उदारता की प्रशंसा उसे 'कक्षोन-गांग्य' कह कर की है। अन्य आर्येतर-पात्र कुयव, शुष्ण, पिप्रु आदि पुरुष, तथा विश्पला, अंजसी, कुलिशा, आदि स्त्री-पात्र भी वेद में उल्लिखित हैं। चूँकि वेद विजेता आर्यों की रचनाएँ हैं, अतः वहाँ इन्हें दस्यु, वेनकाट, अयज्विन, अव्रत, शिश्नदेव आदि अपकर्षार्थक विशेषणों से ही स्मरण किया गया है। उनके सामाजिक या पारिवारिक जीवन-दर्शन, व्यवस्था या सम्बन्धों के बारे में भी कहीं कोई संकेत नहीं है। वेदों में यदि कहीं किंचित इतिहास है तो, किसी पाश्चात्य-चिन्तक के अनुसार वह, 'ऐसा इतिहास है जो भ्रमों की एक रंगशाला हो और जहाँ घोरतम-उत्पीड़क भी शूरतम नायक के रूप में प्रस्तुत हुए हों।' किन्तु आर्यों के ऊपर उनकी प्रतिक्रिया से भी मूल-क्रिया का कुछ अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। इसी अनुमान, पुरातत्व तथा आधुनिक-जीवन के अ-वैदिक तत्वों के आधार पर मैंने इन्हीं पात्रों को पारस्परिक-सम्बन्धों के सूत्र में पिरोया है तथा तत्कालीन सामाजिक-परिवेश की संरचना प्रस्तुत की है। उनके नगर दुर्योण तथा हरयूपिया के भी वैदिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। विद्वानों का मत है कि आजकल का मोहन-जो-दड़ो, मुर्दों का टीला, ही वेदों का उल्लिखित दुर्योण है, तथा हरयूपिया में तो हड़प्पा की मूलध्वनि ही विद्यमान है।

बृबु के सम्बन्ध में मैंने कुछ कृच्छ-कल्पना का अधिकार भी लिया है; उसे मैंने रामायण और महाभारत में उल्लिखित महर्षि विभांडक का नामरूप दे दिया है। कहा गया है कि सरोवर में स्नान करते समय इस ऋषि का रेत-स्खलन होगया था, जिसे पीकर मृगी बनी हुई एक शापभ्रष्ट-उर्वशी एक अनचाहे सन्तान की माँ बन गई थी। महर्षि विभांडक को उसी अनचाहे पुत्र ऋष्यश्रृंग को, स्वयं अकेले ही पाल-पोस कर मनुष्य बनाना पड़ा था। यही ऋष्यश्रृंग थे, जिनसे, बड़े होने पर, अपने कुलगुरु वसिष्ठ की सलाह पर अयोध्या-नरेश दशरथ ने पुत्रेष्ठि-यज्ञ करवाया था, जिसके फलस्वरूप उन्हें राम-लक्ष्मणादि चार पुत्र प्राप्त हुए थे। यद्यपि

वेद में कहीं विभांडक का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु कहा जाता है कि उनके पुत्र ऋष्यश्रृंग-प्रणीत ऋग्वेद के दशम-मंडल में पर्जन्य-सम्बन्धी कतिपय सूक्त हैं। रामायण और महाभारत की कथानुसार ऋष्यश्रृंग का शैशव एकदम निर्जन में, स्त्री-मात्र की छाया से भी दूर, केवल अपने पिता की देख-रेख और शिक्षा-दीक्षा में बीता था। यह इन्हीं विभांडक द्वारा दी गई शिक्षा-दीक्षा का प्रताप था कि किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते ऋष्यश्रृंग एक ऐसे प्रभावशाली तपस्वी हो चुके थे कि उनके पदक्षेप से ही अकालग्रस्त अंग-राज्य में वृष्टि होगई थी। ऐसे तपोनिष्ठ और प्रचंड संकल्पशील ऋषि विभांडक का वेदों में किसी भी व्याज से उल्लेख न हो यह मुझे किंचित आश्चर्यजनक लगा। इसके अतिरिक्त विभांडक का स्त्री-विषयक व्यवहार मुझे जितना विचित्र लगा है, उतने ही विचित्र मुझे उन दोनों पिता-पुत्र के नाम भी लगे हैं। वेद-कालीन ऋषि-सम्प्रदाय में स्त्री वर्जित नहीं थी, बल्कि प्रायः सभी ऋषि अच्छी-खासी गृहस्थि के स्वामी होते थे। ऋषियों में ही विवाहेतर सम्बन्धों का अभाव नहीं था। विवाह-संस्था सामाजिक की अपेक्षा एक व्यक्तिगत प्रतिवद्धता ही अधिक प्रतीत होती थी ! स्वयम् देवराज इन्द्र किसी कौशिक नामधारी ग्रामपति के वीर्य से एक कुमारी-कन्या का कानीन पुत्र बताया गया है। देवगुरु बृहस्पति की पत्नी उनके शिष्य चन्द्र द्वारा भगा ली गई थी। एक देवासुर युद्ध के फलस्वरूप चन्द्र को वह पत्नी अपने गुरु को लौटा देनी पड़ी। तब वह पत्नी चन्द्र का गर्भ लिए हुए थी। बाद में उसे जो पुत्र हुआ, वह बुध था, और वह बृहस्पति का नहीं, चन्द्र का पुत्र प्रसिद्ध हुआ। ऐसी नमनीय-व्यवस्था में भी विभांडक को स्त्री से चिढ़ होने का अवश्य कोई विशेष कारण होना चाहिए। अपने अभिधार्थ में विभांडक शब्द का अर्थ भी किसी मृद्-भांड-निर्माता कुम्भकार के नाम के लिए ही सार्थक और उपयुक्त हो सकता है, किन्तु आर्यों में उस समय तक इस कला के प्रति रुचि या कुशलता के कोई प्रमाण नहीं मिलते। हाँ, तत्कालीन सिन्धु-संस्कृति के अन्तर्गत आर्येतरों के गण में यह कला अपने पूरे निखार पर थी। इसी तरह सींग का अर्थ-बोध देने वाले शब्द श्रृंग का भी आर्य-संस्कृति में कोई वैशिष्ट्य नहीं मिलता। सिन्धु-तट वासी पणिकों में तब सिर पर सींग वाले उष्णीश के प्रचार का अवश्य प्रमाण मिलता है। इसे स्त्री और पुरुष दोनों समान भाव से सिर पर धारण करते थे। विश्व की प्रायः सभी आदिम जातियों में कहीं-न-कहीं सिर पर प्रतिष्ठासूचक श्रृंगस्त्राण धारण करने की प्रथा रही है। सिन्ध और राजस्थान में अभी तक बनजारों की एक जाति थी, जो बैलों पर अनाज लादे 'बनज' के लिए गाँव-गाँव घूम कर अपना गुजर-बसर करती थी। उनकी स्त्रियों में सिर पर ओढ़ने के नीचे एक सींग जैसा पहनावा होता था। कई विद्वानों का विश्वास है कि ये बनजारे ही

सिन्धु-घाटी के उस युग की अवशिष्ट जाति हैं।–तो क्या तथाकथित ऋषि विभांडक और उनका पुत्र ऋष्यश्रृंग आर्य-वंशी न होकर मूलतः आर्येतर पणिक थे ?

ऋष्यश्रृंग के साथ जुड़ा 'ऋष्य' शब्द भी रहस्यमय है। 'ऋष्' धातु से बने 'ऋष्य' शब्द का एक अर्थ है 'वध्य'। पूरे ऋष्यश्रृंग पद का अर्थ हुआ 'वध्यमृग'। मृग-बोधक अर्थ के लिए 'श्रृंग' शब्द पर्याप्त है। तथाकथित मृगी के गर्भ से जन्म लेने के कारण शिशु को 'मृग' कहकर पुकारना संगत है, किन्तु तब अशुभ-सूचक और अनावश्यक इस 'ऋष्य' विशेषण की क्या आवश्यकता थी ? कौन माता-पिता अपने एकमात्र पुत्र का ऐसा अशुभ-सूचक नाम रखना चाहेगा ? यह पुत्र 'ऋष्य' क्यों था ?

भारतीय पुराण-कथाओं में ऐसे आख्यान प्रचुरता से मिलते हैं, जिनमें माताएँ सन्तान को जन्म देते ही नष्ट कर देती थीं, और यदि उनके पिता ने कुछ विरोध किया तो सन्तान वे पिता को सौंप कर पति को छोड़, स्वयम् भी विवाह-बन्धन से मुक्त हो जाती थीं। ऐसी माताएँ निर्विवाद और निरपवाद उर्वशियाँ ही हुआ करती थीं। ऋष्यश्रृंग की माता को भी एक शापभ्रष्ट उर्वशी बताया गया है। उर्वशियों का निवास-स्थान सदा स्वर्ग-लोक या इन्द्र का दरबार बताया जाता है, जहाँ वे नृत्य-गान से देवराज को प्रसन्न रख उसकी सभा की शोभा बढ़ाती थीं। यह भी कहा जाता है कि वे अत्यन्त सुन्दर और अक्षत-यौवना हुआ करती थीं। उनके सौंदर्य और दीर्घ-यौवन का रहस्य क्या यह तो नहीं था कि वे सन्तान को इसमें बाधक समझती हों, और इसलिए प्रथम तो गर्भ-धारण से ही बचती रही हों, और ऐसा सम्भव न होने पर नवजात-शिशु को ही नष्ट कर देती हों ? जैसा कि कहा जा चुका है, स्वर्गलोक हिमालय के पर्वतीय अंचलों के पार कहीं अवस्थित था। पुरातत्व का प्रमाण है कि उन दिनों दजला और फरात के संगम पर समुद्र-तट पर बसे 'उर' प्रदेश और नगर की ख्याति समृद्धतम अंचलों में गिनी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ये उर्वशियाँ उसी उर-प्रदेश की निवासिनी होने के कारण 'उर्वशी' कहलाती थीं। वाणिज्य-व्यवसाय के सम्पर्क से भारतीय भू-भाग के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का इन अंचलों से घनिष्ठ परिचय था। अपने अप्रतिम सौंदर्य के कारण ये उर्वशियाँ सहज ही इन भारतीयों को प्रभावित करती रही होंगी, किन्तु उनके प्रणय-पाश में तभी बँधती होंगी, जब वे इनकी सन्तान-विषयक विरक्ति स्वीकार कर लेते थे ! यदि ऋष्यश्रृंग की जननी को एक ऐसी ही उर्वशी मान लिया जाए तो ऊपर के सारे रहस्य स्वतः उच्छिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के समाधान के पर्याप्त संकेत हमारे पौराणिक-साहित्य में विद्यमान हैं। मैंने अपना अनुमान समर्थन के लिए स्व० पूज्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी के सम्मुख प्रस्तुत किया

था। उन्होंने न केवल मेरे अनुमान की पुष्टि की बल्कि तत्कालीन वात-रशना मुनियों के जन्म-रहस्य का भी यही कारण बताते हुए ऋष्यश्रृंग को एक ऐसा ही वात-रशना मुनि बताया। अपने दिनांक २२-११-१९७८ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था :

'इस पत्र से लगता है कि आप [ने] "वातरशना" मुनियों में श्रेष्ठ ऋष्यश्रृंग के बारे में काफी जानकारी संग्रह कर चुके हैं। मैं विशेष क्या बता सकता हूँ ? "वातरशना" कुछ दिगम्बर जैसा शब्द है। अर्थ है, हवा ही जिनकी रशना या मेखला है—नग्न। ये मुनयो वातरशनाः (जूति, देवजूति, विप्रजूति, कृषाणक, करिक्कव एतश ऋष्यश्रृंग) ऋग्वेद १०/११/८ के ऋषि हैं। ये अगस्त्य, वसिष्ठ आदि की भाँति "कुम्भज" हैं। "कुम्भ" स्त्री के गर्भाशय को कहते हैं। कोई स्त्री-प्रधान समाज (में) जो आर्य-सभ्यता के अन्तर्गत नहीं थे, और जहाँ पिता अज्ञात हुआ करते थे, ये उत्पन्न हुए होंगे ऐसा कुछ प्रामाणिक विद्वान मानते हैं। मोएन-जो-दड़ो में प्राप्त तालावों को देखकर अनुमान किया गया है कि ये किसी देवी के पवित्र सरोवर थे, और उस देवी की पुजारिनें ऐसी सन्तानों को जन्म देती थीं। "अप्सरस्" शब्द में तालाब की अधिष्ठात्री आराधिकाओं की स्मृति छिपी हुई है, ऐसा वे लोग मानते हैं। ..."ऋष्य" हिंसार्थक "ऋष्" धातु से बना है, अर्थ है वध्य, हिंस्य आदि। इस पर से कोई कल्पना की जा सकती है कि नहीं, यह आप सोचें।'

आचार्य द्विवेदीजी-जैसे भारतीयता के प्रकांड विद्वान का यह मत किसी औपन्यासिक-कल्पना के लिए दूर की कौड़ी नहीं कहा जा सकता। मैंने इसका लाभ उठाकर ही उर-देश की एक अप्रतिम सुन्दरी उर्वशी मृगम्मदा की कल्पना कर डाली है। उर्वशी के व्यंजनार्थ से तालमेल बैठाने के लिए मैंने उर-देश के निवासियों को भी उपन्यास में यत्र-तत्र उर्वश कह कर पुकारा है। इस तरह सरोवर, शापभ्रष्ट उर्वशी, वातरशना ऋष्यश्रृंग, पत्नी-प्रत्याख्यात और इसीलिए एक तरह से स्त्री-विद्वेशी महर्षि विभांडक, आदि सभी पद, शब्द और प्रसंग आर्येतर प्राग्वैदिक-संस्कृति से मेल खाते हुए और परस्पर सघन रूप से जुड़े प्रतीत होते हैं। महर्षि विभांडक का आश्रम भी सुदूर पूर्व में अंग-राज्य की सीमा के पास कौशिकी नदी के तट पर बताया जाता है। यही वह समय था जब सिन्धु-क्षेत्र में आर्यों के आक्रमण प्रारम्भ होगए थे। आर्येतरों के नगर के नगर जलाए जारहे थे। बीसवीं सदी के हिटलर की तरह देवराज इन्द्र का भी नारा था 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्', और जिन्होंने आर्य होना स्वीकार नहीं किया, सम्मुख-युद्ध में या तो वे मार डाले गए, या फिर उन्होंने सुदूर दक्षिण या पूर्व में भाग जा कर अपने प्राण बचाए। महर्षि विभांडक अवश्य ही एक प्रतिष्ठित अनार्य नेता रहे होंगे। कौशिकी

के तट पर एकान्त निर्जन विजन में जैसी शिक्षा-दीक्षा और उदात्त वातावरण उन्होंने अपने पुत्र को दिया, इससे प्रमाणित होजाता है कि उनका व्यक्तित्व काफी ऊँचा, उदार और गौरवशाली रहा होगा। अपने प्राणाधिक पुत्र की रक्षा के लिए ही उन्होंने न केवल अपनी सुन्दर प्रणयिनी पत्नी का त्याग किया, अपितु आर्यों के प्रचंड-आक्रमणों में अपनी मातृभूमि को भी त्रस्त छोड़ कर पूर्व में भाग आना स्वीकार किया। आर्य-संस्कृति से भी उनका घनिष्ठ परिचय रहा होगा, जो उन जैसे मेधावी युग-पुरुष के लिए असम्भव नहीं है, और उस संस्कृति का उज्वल-भविष्य और सम्भावनाएँ भी उनकी दूर-दृष्टि से छिपी न होंगी। इसीलिए स्वयम् छिपे रह कर भी उन्होंने अपने पुत्र को आर्य-संस्कारों से सम्पन्न कर दिया। अपनी इन्हीं उद्भावनाओं को औपन्यासिक-अधिकार मान कर मैंने विभांडक शब्द पर से संज्ञा का भार हटा कर विशेषण का भार लाद दिया और उसे विशेष्य बना दिया अनार्य नेता वृबु का, इस उपन्यास में वह प्रसिद्ध हुआ, भांडव्य-पुत्र विभांडक-वृबु।

इसी तरह उपन्यास के प्राय: सभी पात्र, भारतेतर भी, कम-अधिक ऐतिहासिक ही हैं। भारतेतर पात्रों को कहीं-कहीं मैंने भारतीय नाम दे देने का बचकाना प्रयत्न किया है। मुझे लगा कि इससे भाषा के प्रवाह में सौकर्य बना रहा है और भारतीयता की प्रकृति भी सधी रही है। कतिपय पात्र कल्पनाप्रसूत भी हैं, पर वे प्राय: पार्श्विक ही हैं। उनकी मानसिकता और चारित्रिक-गठन के लिए मैं स्वयम् जिम्मेदार हूँ, यद्यपि इसमें भी मैंने इतिहास की सनातन भावनाएँ बनाए रखने का प्रयत्न किया है। पचास शती पूर्व के तानाशाह देवराज इन्द्र और आधुनिक शती के आर्य-रक्ताभिमानी तानाशाह हिटलर की समान-मानसिकता भी कल्पना-विलास नहीं है। इसी तरह ऋग्वेद के सप्तम मंडल के उद्गाता महर्षि वसिष्ठ को आर्य-संस्कृति का नव्य-भाष्यकार तथा प्रवक्ता बना कर भी मैंने कोई नई बात नहीं की है। ऐसा ही प्रसंग महर्षि विश्वामित्र और उनके पिता गाधि का है। मुझे कहीं पढ़ा स्मरण आता है कि किसी बंगाली विद्वान को मध्य-एशिया के एक तान्त्रिक का हस्तलेख मिला था, जिसमें विश्वामित्र को चांडालराज कहा गया है। इस सम्बन्ध में 'अवदान-शतक' की वज्र-सूची का निम्नांकित श्लोक भी दृष्टव्य है :

चांडाली गर्भ सम्भूतो विश्वामित्रो महामुनि:।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तमाज्जाति कारणम्॥

एक उपन्यासकार को ले उड़ने के लिए इतना संकेत काफी होता है। गाधि को भारत के बाहर मध्य एशिया की उपज बनाने का साहस भी मुझे इसलिए हुआ कि सुमेरिया के उत्खनन में प्राप्त लगश-अंचल के प्रतिष्ठित पुरोहित की मूर्ति पर उत्कीर्ण

कीलाक्षरों में उसका नाम 'गुडिआ' बताया गया है। इस नाम-साम्य से मुझे अपनी कल्पना को स्फूर्ति और बल दोनों देने का साहस हुआ।

वसिष्ठ के जन्म के बारे में कहा जाता है कि वे एक उर्वशी के पुत्र थे, जिसे मित्र और वरुण दोनों ने अपनी सेवा में नियुक्त कर रखा था। इन दोनों में से वे किसके पुत्र थे, इसका निश्चय नहीं होने के कारण ही उन्हें मैत्रावरुण कह कर पुकारा जाता है। यह भी प्रवाद है कि उन्होंने अपनी सहोदरा-बहन अरुन्धति से ही विवाह किया था। मुझे यह प्रवाद भी अयौक्तिक नहीं लगा। प्रायः सभी प्राचीन देशों की आदिकालीन सभ्यताओं में भाई-बहन के ऐसे सम्बन्धों का प्रमाण मिलता है। वेद में ही यम और यमी का प्रसंग विद्यमान है। आदम और हव्वा की लोक-विश्रुत कहानी के अतिरिक्त, मिस्र के राजवंश में यही प्रथा प्रचलित थी। रक्त की शुद्धि पर तब विशेष बल दिया जाता रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्राचीन-साहित्य और संस्कृति में ऐसे कई रोचक और मार्मिक प्रसंग हैं, जिनमें विचरण का लोभ मैं संवरण नहीं कर सका हूँ—उस युग का सम्यक् चित्र प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक भी था, किन्तु अपनी कल्पना के स्वैर-अश्व को भटकने से मैंने यथा-साध्य बचाया ही है।

दुर्योण के महाश्रेष्ठि अर्बुद और उसके प्रीतिपात्र-चर वणि की उद्भावना अवश्य मेरी कल्पना की उपज है। उपन्यास की योजना में मुझे यह अनिवार्य प्रतीत हुई है। सिन्धु-तट के प्राग्वैदिक भारतीय मूलतः व्यवसायी थे, वेदों में उन्हें 'पणिक' या 'पणि' नाम से अभिहित किया गया है। वणिक शब्द शायद 'पणिक' शब्द से ही बना होगा। इस उपन्यास में मैंने पणिक संज्ञा से उन व्यापारियों का बोध लिया है जो विदेशों से व्यवहार करते थे, और वणि संज्ञा से उन लोगों का जो स्वदेश में ही बैलों पर गौणी लाद कर व्यवसाय-विनिमय में रत, ऊपर निर्देश किए हुए वनजारों के पूर्वजों का। जहाँ तक अर्बुद और वणि के विशिष्ट चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, वह युग-बोध से ही नहीं, व्यवसाय और धन से जुड़ी हुई सर्वकालीन-मानसिकता से भी है।

युग-बोध एक बड़ा ही भ्रामक शब्द है। सामान्यतः किसी भी प्रकार का बोध व्यक्ति, घटना या परिस्थिति-विशेष से उद्भूत होकर सामाजिक-व्यवहार का अंग हो जाता है। मानवीय प्रवृत्तियाँ और समस्याएँ प्रायः स्वभाव से सदा एक जैसी होती हैं, यद्यपि उनका ऊपरी रूप देश-काल के कारण कुछ-न-कुछ परिवर्तित दिखाई देता है। हमारे वर्तमान जीवन में जो प्रवृत्तियाँ और समस्याएँ सामने आई हैं या आ रही हैं, वे पहले भी प्रस्तुत हुई थीं, और उनके समाधान के प्रतिरूप उन युगों में भी आज के समाधानों के समान हो सकते थे। यह बात दूसरी है कि वे समाधान

सदा सही और निर्भ्रान्त ही हों। उदाहरण के लिए भागलपुर में कुछ ही दिनों पूर्व घटी वे घटनाएँ हैं, जिनमें अपराधियों को कानून के रक्षकों ने ही अन्धा बना देने का प्रयत्न किया था। इसी कांड से प्रेरणा लेकर मैंने प्रस्तुत उपन्यास में देवगण के एक अपराधी शंख की आँखों में तेजाब डाल कर उसे अन्धा बना देने की घटना आविष्कृत की है। किन्तु केवल कल्पना नहीं, इस घटना का वैदिक आधार भी है। इसी तरह आज स्त्रियों के स्वातन्त्र्य को लेकर 'वीमेन्स लिब' के नाम से जो आन्दोलन चल रहा है, वह कितना अपर्याप्त और केवल पुरुषों की भद्दी नकल मात्र है, यह मैंने उस युग की मुक्त-नारी के माध्यम से बताने का प्रयत्न किया है। इतिहास चाहे अपने आपको दुहराए या न दुहराए, मनुष्य इन गए कई हजार वर्षों में मूलतः नहीं बदला है। इस उपन्यास की तो विषय-वस्तु ही वह है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि मैं आज के सांस्कृतिक-सामाजिक-दार्शनिक, और कमोबेश वैज्ञानिक विचारों का भी प्राचीन किन्तु आर्ष-परिप्रेक्ष्य में विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करूँ। इसकी चरम कसौटी अवश्य सुधी पाठक ही हैं।

उपन्यास में प्रयुक्त भाषा के बारे में भी मुझे कुछ निवेदन आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वगम्य सरल भाषा का कोई विकल्प नहीं है, किन्तु सरल भाषा लिख सकना भी क्या उतना ही सरल है? मैं स्वयम् ही इस बारे में अपने आपको कम दोषी नहीं समझता! किन्तु इसके कारण भी हैं। उपन्यास में मैं सदा पात्रों, उनकी मानसिकता, परिवेश और सामान्य वातावरण के अनुकूल भाषा के पक्ष में रहा हूँ। मेरे पात्र प्रायः आधुनिक मध्यवित्त-समाज के पठित नागरिक रहे हैं, उनकी बोलचाल की स्वाभाविक हिन्दी-भाषा में संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के शब्दों के तत्सम रूप वर्जित नहीं होते। कम-से-कम, पात्रों के वार्तालाप में मैंने वैसी ही विषयानुकूल भाषा रखने का प्रयत्न किया है। अपने एक उपन्यास 'सर्वनाम' में तो मैं अंग्रेजी और बँगला के पर्याप्त प्रयोग के लिए कतिपय आलोचकों के कोप का भी शिकार हुआ हूँ। किन्तु शुद्ध संस्कृत-बहुल हिन्दी का पक्षधर होते हुए भी मैं इस दिशा में आग्रहशील नहीं हूँ; उर्दू को तो मैं हिन्दी ही की एक विशिष्ट-शैली मानता हूँ और हिन्दी की प्रवृत्ति में मैं निस्संकोच आम-फहम शब्दों का प्रयोग करता हूँ। प्रस्तुत उपन्यास के सन्दर्भ में मैं कुछ अतिरिक्त सतर्क रहा हूँ। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से भी इसके सहज ही तीन स्तर होजाते हैं। पाँच हजार वर्ष पूर्व के कथाभाग के लिए मैं संस्कृत-बहुल प्रांजल भाषा के प्रयोग में ही आग्रहशील और सतर्क रहा हूँ। यों संस्कृत भाषा कभी मेरे अध्ययन का विषय नहीं रही, उसे मैं आज भी अनुवाद के माध्यम से ही समझ पाता हूँ। मैं जानता हूँ कि प्राग्वैदिक सिन्धुतट-वासियों के व्यवहार या बोलचाल की यह भाषा भी नहीं थी। कौनसी भाषा थी, यह भी अभी

तक स्पष्ट नहीं है । कुछ भाषा-शास्त्रियों का मत है कि वह वैदिक-संस्कृत के अनुरूप ही थी, बल्कि उसने वैदिक संस्कृत को कुछ सीमा तक प्रभावित भी किया था ! कहते हैं, उसके अवशेष आज भी स्थानीय बोलियों में खोजे जा सकते हैं । जो हो, मुझे लगा कि पाँच हजार वर्ष पूर्व का वातावरण बनाए रखने में संस्कृत-बहुल भाषा ही उपयुक्त हो सकती है, और इसीलिए इस कथा-भाग से मैंने यथासम्भव उर्दू या अंग्रेजी के शब्दों को दूर ही रक्खा है । इससे भाषा कहीं दुरूह भी होगई हो सकती है । मैं यह भी तो चाहता था कि पाठक अपनी भाषा की शक्ति और समृद्धि का अनुभव भी प्राप्त करें ।

कथानक के दूसरे स्तर पर भाषा के लिए ऐसा बन्धन नहीं था, बल्कि देश-काल के अनुसार सम्बन्धित-पात्रों का कथोपकथन अंग्रेजी और जर्मन भाषा के शब्दों के प्रयोग से ही स्वाभाविक हो सकता था । ऐसे अवसरों पर मैंने पहले तो अंग्रेजी-शब्दों के साथ ही साथ जर्मन-शब्दों का भी प्रयोग किया था, किन्तु बाद में यह सोच कर कि पाठक इसे मेरे अधकचरे भाषा-ज्ञान का थोथा प्रदर्शन समझ सकते हैं, मैंने उन्हें आवश्यक होने पर भी बदल दिया है । अंग्रेजी के शब्द अवश्य रहने दिए हैं । मेरा विश्वास है, सुधी पाठकों को उससे कोई कठिनाई नहीं होगी, बल्कि सामान्य-पठित सुविज्ञ पाठक भी प्रसंगानुकूल उनका अर्थ समझ सकेगा ।

वैदिक और पौराणिक पात्रों के काल-निर्णय को लेकर मुझ पर स्वेच्छाचार का आरोप लगाया जा सकता है । इन पात्रों के सम्बन्ध में एक प्रश्न तो यह है कि इनमें ऐतिहासिकता का तत्व कितना है ? सभी देशों की पौराणिक गाथाएँ, चाहे वे श्रौत हों या स्मृत, अलौकिक-चमत्कारों से भरी मिलती हैं । एक तरह से उन्हें वैश्विक-संरचना के आद्यरूपक (आर्किटाइपल) मिथकों का विकसित-रूप ही कहना चाहिए । इनमें कितना उन जातियों का इतिहास और कितना उनका आदिम-विश्वास है, यह कह पाना बड़ा कठिन है । साहित्य में मिथकों का आश्रय सदा ही लिया जाता रहा है, वही तो पाठक के विश्वास की रीढ़ होता है ! किन्तु उनमें निहित इतिहास-तत्व तो निरपेक्ष इतिहास-तत्व नहीं होता । वह केवल भाषा-सापेक्ष्य और सहज विश्वास-सापेक्ष्य होता है ! इतिहास से सामान्यतः जो अर्थ लिया जाता है वह है अतीत की कथा का, 'इतिह+आस' अर्थात् 'ऐसा होता है ।' किन्तु यदि जरा गहराई से देखा जाए तो अतीत का अस्तित्व है कहाँ ? अतीत की वस्तु-सत्ता तो कहीं भी उपलब्ध नहीं है । अतः केवल वर्तमान के साक्ष्य पर ही उसका अवधारण किया जा सकता है । आधुनिक इतिहासकार 'आज' से प्रारम्भ कर उल्टे पैरों अतीत की ओर लौटने को विवश होते हैं । प्राचीनतम प्रस्तरित-अवशेष, मुद्राएँ, शिलालेख, धूलिसात कलाकृतियाँ, सन्धिपत्र, स्मारपत्र, अभिलेख, डायरियाँ, पत्र,

आदि की आलोचनात्मक-गवेषणा करते हुए, और जान-बूझ कर या अनजाने भी, वे उन प्रमाणों की उपेक्षा कर देते हैं जो उनकी समझ या पकड़ में नहीं आते। वस्तुतः इसीलिए अतीत की कथा या इतिहास को निरन्तर लिखते रहना होता है, इसलिए नहीं कि नए तथ्य उद्घाटित हुए हों, बल्कि इसलिए कि वह वर्तमान की दृष्टि से हमेशा गलत लिखा जाता रहा है ! अतीत वस्तुतः है क्या ? वह काल्पनिक-पुर्नर्निर्वचन और पुनर्निर्माण की एक अनवरत प्रक्रिया ही तो है, हम उसे आज के वर्तमान की चौखट में अर्थ-गर्भ जो देखना चाहते हैं ! हमारा दृष्टिकोण बदलता रहता है : कभी सामन्तवादी तो कभी जनवादी। हमारी धारणाएँ बदलती रहती हैं : कभी आर्थिक, तो कभी मनोवैज्ञानिक, और कभी औद्योगिक-तकनीकी ! हमारा युगबोध भी बदलता रहता है : कभी व्यक्ति-सापेक्ष्य तो कभी मूल्य-सापेक्ष्य। स्वयम् इतिहासकार के भी व्यक्तिगत मताग्रह-पूर्वाग्रह होते हैं। और इतिहास के पाठक भी अपनी मनोवृत्तियों के साथ बदलते रहते हैं जिनको ध्यान में रखकर घटनाओं का पुनर्गठन आवश्यक हो जाता है। मुसलिम शासन-काल में मुसलमान इतिहासकारों द्वारा लिखे गए इतिहास इसीलिए अंग्रेजी शासन-काल में मिथ्या होगए, और अंग्रेजी शासन-काल में अंग्रेजों द्वारा लिखे गए इतिहास स्वाधीन भारत में नई दृष्टि से और नए सिरे से इसीलिए लिखे जारहे हैं। यह अनिवार्य आवश्यकता है। वस्तुतः जो अतीत है, वह इस वर्तमान ही का तो अतीत है !

भारतीय-परिकल्पना इतिहास को एक प्रत्यावर्तक-चक्र के रूप में गत्यात्मक मानती है, सपाट सीधी अनावर्तक-रेखा के रूप में नहीं। सामाजिक-सांस्कृतिक तत्वों के प्रायः सभी बुनियादी रूपाकार संख्या में सीमित हैं, अतः वे ही अपने को बराबर दुहराते रहते हैं। इतिहास की एक मात्र समस्या है 'काल'; और 'काल' की प्रवृत्ति को भारतीय-चिन्तन बहुत पहले से चक्राकार (साइक्लिक) मानता आया है—दिन-रात का चक्र, मास-वर्ष का चक्र, कृत-त्रेता-द्वापर-कलि का चतुर्युगी चक्र, ब्रह्मा की दिवा-रात्रि, कल्प, सृष्टि प्रलय—एक के बाद एक ये सभी चक्राकार-प्रवाह के रूप में पुनः पुनः लौट कर आते हैं। अब तो विज्ञान ने भी स्पेस और टाइम की संयुति, इस अन्तरिक्ष को चक्राकार प्रमाणित कर दिया है, यह चाहे अभी विवाद का विषय हो कि वह खुला है या बन्द। एक गोल-घेरे में समान-रूपाकार की समानगति से घूमती हुई एकाधिक वस्तुओं में कौन आगे और कौन पीछे है, यह कह सकना तो असम्भव है ही, यह कह सकना भी असम्भव हो जाता है कि वह वस्तु एक ही है या अनेक ! अणु के नाभि-जगत में स्थान और काल, स्थिति और गति, कण और तरंग, इनमें कोई अलगाव या भेद नहीं रह जाता। भारत के महान् दार्शनिक शंकर का मायावाद यहाँ स्वतः प्रमाणित होजाता है।

पाश्चात्य-धारणा इतिहास को रेखाकार मान कर तद्वत उसे व्यक्ति या घटना की जन्म और मृत्यु-तिथियों में ही सीमित मानती है। इसके विपरीत भारतीय-धारणा व्यक्ति और घटना के स्थान पर उनके कृतित्व और प्रभाव को महत्व देती है, कृतित्व जबतक प्रभावशील और संजीवित है, तब तक कृती और कर्ता भी जीवित हैं। इसीलिए हमारे पुराण-पुरुषों की उम्र हजारों वर्षों में कही गई है। अग्नि, 'इन्द्र आदि देवता ही नहीं, कश्यप, मरीचि, अंगिरा, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि महर्षि भी युग-युग में विद्यमान हैं। यही नहीं, राम-रावण-कृष्ण जैसे महा-मानवों को भी उन्होंने हजारों वर्षों का आयुष्य प्रमाण दिया है। जैन-मनीषी और भी आगे बढ़ गए हैं: अपने तीर्थंकरों का आयुष्य और शरीर-प्रमाण उन्होंने खागोलिक-संख्याओं में व्यक्त किया है। कृतित्व एक व्यक्ति में सीमित नहीं होता, वह व्यक्तित्वों की शृंखला है। इसीलिए वसिष्ठ केवल दशरथ और राम के ही कुल-गुरु नहीं थे, वल्कि सारा रघुकुल ही उनकी गुरु-परम्परा का भागीदार था। राम की कई पीढ़ियों पूर्व उनके और विश्वामित्र के विग्रह के परिणाम-स्वरूप ही महाराज त्रिशंकु को अधर में लटके रहना पड़ा है। इस उपन्यास में यदि पाठकों को कालानु-क्रम (क्रॉनोलाजी) की असंगति दिखाई दे तो वह इसी भारतीय दृष्टि के अनुसरण का फल है। भारतीय पौराणिकों की इस दृष्टि में मैंने केवल एक छोटा-सा संशोधन किया है, यही कि कालानुक्रमिक-अवस्थिति की चिन्ता न करते हुए भी उन्हें एक ही पीढ़ी की कालावधि तक ही शारीरिक रूप में अस्तित्वशील रखा है!

मैं समझता हूँ इस पृष्ठभूमि में काल-विषयक चिन्तन का कुछ विवेचन अप्रासंगिक नहीं होगा। जन्म और मृत्यु का रहस्य इसी 'काल' से सम्बन्धित है, और इस उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु ही अपने प्रचलित अर्थ में जन्म और मृत्यु का अस्वीकार है।

'समय' या 'काल' हमारे सामान्य जीवन का ऐसा अविभाज्य अंग है कि अलग से इसे समझाया नहीं जा सकता, न ही इसकी आवश्यकता ही महसूस की जाती है। वस्तुतः समय का जन्म किसी अवयवी (आर्गेनिज्म) के जन्म के साथ ही, और विकल्प से इसीलिए सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही हुआ है। जिसे हम सामान्य रूप से 'समय' कह कर पहचानते हैं, वह समय नहीं, वह 'अवधि' (पीरियड) है, समय की एक इकाई मात्रा चाहे जितनी बड़ी इकाई ले ली जाए—वर्ष-युग-महा-युग-कल्प—वह उस सम्पूर्ण प्रतिज्ञप्ति का एक खंड ही हो सकती है। और उसका चाहे जितना बड़ा हिस्सा काट लिया जाए, वह अपने आपमें सदैव सम्पूर्ण, अविच्छेद्य है, 'पूर्णस्य पूर्णमिदं पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' —समय की कोई विशिष्ट गति

नहीं है। यह विशुद्ध भ्रम है कि वह एक सेकंड में तीन लाख किलोमीटर चल लेता है। वह चलेगा कहाँ? 'स्थान' से पृथक तो उसका अस्तित्व है नहीं, लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई की तरह वह भी तो एक आयाम मात्र है ! फिर कौन किसमें गतिशील होगा ? वस्तुतः द्रव्य भी क्या है ? वह भी तो अन्तरिक्ष के वलन(फोल्ड) और मोड़ों से उत्पन्न एक सघनता का प्रतिरूप है ! अन्तरिक्ष का यह सारा प्रपंच आधुनिक-भौतिकी की क्षेत्र-धारणा (फील्ड-कन्सेप्ट) के निकट का ही प्रतीत होता है। यदि हम विचार करें तो सामयिक-भविष्य (टेम्परल फ्यूचर) का कहीं कोई अस्तित्व नहीं है, सबकुछ अनन्त-समय तत्काल हमारे पास है, करतल-गत है, जो नित्य घटित हो रहा है और इस संघटन में ही व्यक्त होता जा रहा है ! जिसे हम समय का अन्तरण मानते हैं, वह केवल प्राकट्य का अन्तर है। हम चूँकि स्वयम् किसी प्राकट्य से बँधे हुए हैं, अतः हमें सब पृथक्-पृथक् भासमान होता है। प्रकट होने के पूर्व तो सभी कुछ निरायाम था । और जिसका कोई आयाम न हो, भूमिति में उसे कहते हैं 'बिन्दु'। किन्तु जहाँ 'मिति' ही नहीं, वहाँ भूमिति कैसी ?–बहुत ही स्थूल-उपमान का सहारा लिया जाए तो हम किसी दर्पण की सपाट-सतह ले सकते हैं, जिस पर प्रति-बिम्बित-छबि के आयामों की हमें निरी प्रतीति होती है। और यह प्रतिबिम्बन भी तो केवल प्रकाश-किरणों या कणों (फोटोन) का प्रक्षेपण-विलोड़न है, चाहे फिर उसे विज्ञान का निरायाम कॉस्मिक-एग (सार्ष्टिक अंडा) कह लिया जाए या निरायाम परब्रह्म ! नेपथ्य में वही परम-ऊर्जा अपनी आन्तरिक-ऊष्मा से उद्वेलित-आन्दोलित होकर, या भारतीय-चिन्तन के अनुसार लीला करने की लालसा से स-काम होकर, एक विकराल अट्टहास या प्रचंड 'बिग-बैंग के साथ विस्फुटित हुई-एकोऽहम् बहुस्याम् । उसी विस्फोट का, उसी प्राकट्य का छिटकाव और छितराव यह बृंहणशील ब्रह्मांड-निकाय या एक्स्पेंडिंग यूनिवर्स होगया है, और अनुक्षण होता जा रहा है। अपने फैलाव के प्रत्येक वलन पर वह चिन्मय प्राण-शक्ति ही सघन होकर स-भार-रूपाकार द्रव्य होजाती है और उसके लिए विराट-प्रहसन का स्टेज सज जाता है। यही है 'यहाँ-हुआ-है' इस रूप में भूगोल, और 'ऐसा-हुआ-है' इस रूप में इतिहास ! यदि हम एक कदम और आगे बढ़ें और कहें, 'यह-ऐसा-हो-रहा है' तो यह है जीवन, जीवन का प्रवाह !

तात्पर्य यह कि इस सारे प्रहसन का खलनायक है यह 'काल', जो किसी भी एक विशिष्ट-क्षण की अवधि में हमारे तीन-आयामी-अस्तित्व की पकड़ में नहीं आ पाता। अन्ततोगत्वा इसकी प्रतीति का आधार क्या हो सकता है ?-क्या हम किसी नितान्त शून्य अँधेरी-कोठरी में समय की अवधारणा कर सकते हैं ? यदि यात्रा में मील के पत्थर या पहचान के अन्य चिन्ह न हों तो क्या हम कह सकते हैं कि हम कितनी

दूर चल लिए हैं ? -जिस तरह स्थान या दूरी की हमारी अभिज्ञप्ति दो बिन्दुओं के बीच के व्यवधान पर निर्भर करती है, उसी तरह समय की अभिज्ञप्ति भी दो क्षणों या दो घटनाओं के बीच के अन्तर्काल पर निर्भर करती है। निरपेक्ष-बोध तो, न स्थान का सम्भव है, न समय का। घटना का प्रथम क्षण उसका जन्म है, और अन्तिम क्षण या दूसरा क्षण है उसकी मृत्यु; और इन दोनों के बीच की अवधि का नाम है जीवन। -जन्म और मृत्यु के बीच का सम्बन्ध हम पहचानते हैं, हमारी यह अभिज्ञप्ति इसी अवधि की जो है ! यदि इसी तरह मृत्यु और जन्म के क्षणों की मध्यवर्ती अवधि के सम्बन्ध को भी हम पहचान लें, तो मृत्यु भी हमारे लिए बेमानी होजाएगी, कम-से-कम उसका निषेधक-रूप तो हमें चिन्तित नहीं करेगा। क्योंकि तब हमें स्पष्ट होजाएगा कि मृत्यु के बाद जन्म एक अनिवार्य तत्व है। क्या यह सम्भव नहीं है कि मृत्यु के बाद जीव को ऐसी ही समानान्तर अभिज्ञप्ति हो जाती हो ? तब शायद आने वाले जन्म को ही हम निषेधक मान कर आतंकित हो जाते होंगे। अभी तो, बाह्य जगत के प्रभाव से अछूते शैशव में जो यदा-कदा पूर्वजन्म के संस्मरण प्रकट होते रहते हैं, उनके उद्‌गम ही कहाँ खोजे जा सके हैं ? कहते हैं कि एक चीनी दार्शनिक ने स्वप्न में देखा कि वह तितली बन गया है। स्वप्न-भंग होजाने पर वह बड़ा ही उद्‌विग्न और चिन्तातुर हो उठा। साथियों ने उसे समझाया कि स्वप्न की बात पर विश्वास करने का कोई अर्थ नहीं है, वे मिथ्या होते हैं। उसने उत्तर दिया कि यह तो वह भी भलीभाँति समझता है, किन्तु इसका क्या प्रमाण है कि जिस समय वह तितली बन कर उड़ रहा था, वही उसकी वास्तविक स्थिति नहीं थी, और इस समय जबकि वह मनुष्य दिखाई दे रहा है, उस वास्तविक तितली द्वारा देखा जा रहा स्वप्न नहीं है ?

विज्ञान की मान्यता है कि इस सृष्टि में जीव की उत्पत्ति सर्वप्रथम एककोशीय प्राणी के रूप में हुई थी। वह एक-कोशीय प्राणी मृत्यु-रहित था, स्वयम् वही विभाजन (मिटॉसिस) प्रक्रिया द्वारा एक से दो, दो से चार, इसी तरह उत्तरोत्तर विभक्त होता हुआ, द्वैत होता जाता था। उसके लिए 'काल' की कोई संज्ञा नहीं थी। उसके लिए केवल एक ही क्षण शाश्वत था, विभक्त होकर द्वैत होजाना, बस। विभाजन के साथ ही द्वैत की अपनी नई सत्ता में दो जीव अस्तित्व में आजाते। न किसी ने जन्म लिया, न कोई मरा। किन्तु गति के साथ ही उस पर आवरण चढ़ते गए, उतरते गए, बदलते रहे। विज्ञान कहता है, काल ने विकास की दिशा में प्रयोग किए। योग्यतमावशेष, प्राकृतिक-चुनाव आदि नियमों का अन्वेषण किया गया। किन्तु भारतीय-चिन्तक कहता है कि यह सब उस सच्चिदानन्द-परब्रह्म का लीला-विलास है, मात्र एक प्रहसन है। सच्चिदानन्द की

इस सर्वसमावेशक-ऊर्जा को ही भारतीय-चिन्तन में 'प्राण' की संज्ञा दी गई है। इस प्राण को ही प्राचीन ऋषि-मुनि असित साधना-तपस्या द्वारा नियन्त्रित करने की चेष्टा करते रहे हैं। प्राणायाम-साधन द्वारा इस द्रव्य-शरीर को ऊर्जा में परिणत कर यदि वे स्वयम् भार-हीन हो जाते रहे हों और हवा में उड़ लेते रहे हों, या द्रव्य-शरीर को यहाँ निष्क्रिय पड़ा रख कर तथा उससे अपने निरायाम चिदानन्द-अंश को पृथक कर अन्तरिक्ष की सैर कर लेते रहे हों, तो क्या आश्चर्य है? उस निरायाम भारहीन ऊर्जा के रूप में अवश्य ही वे कालातीत हो जाते रहे होंगे, और सम्भव है, उनकी अप्रतिहत-गति तब प्रकाशकणों की गति से भी तीव्रतर हो जाती रही होगी।

साम्प्रतिक पाश्चात्य-विज्ञान के अनुसार मनुष्य को 'मन' नामक कोई स्वतन्त्र इन्द्रिय या अन्य इन्द्रियों के स्वामी के रूप में कोई गोचर-सत्ता प्राप्त नहीं है। वे मन को एक प्रक्रियात्मक-तत्व, 'फंक्शनल एंटिटी' ही मानते हैं। यही तत्व मस्तिष्क के स्नायु-कोशों की सहायता से शरीर के समस्त ज्ञान और कर्म-केन्द्रों तथा इन्द्रियों के व्यापारों का समन्वय-संचालन करता है। भारतीय-दर्शन भी मन को, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से जुते शरीर-रथ का अमूर्त सत्ता वाला सारथी ही मानता है। इस तरह इन्द्रियों का निग्रह तो यह मन-सारथी कर लेता है, किन्तु इसके साथ ही इस सारथी का निग्रह करने वाले रथी की सत्ता भी मानी गई है, जिसे भारतीय-दर्शन 'आत्मा' कह कर पुकारता है। आत्मा मन से भी अधिक, न केवल अमूर्त है, वल्कि ततोधिक असंवेद्य भी है। प्रक्रियात्मक-मन को विज्ञान भी तो चरम-ऊर्जा से पृथक-तत्व मानता है! यह माने बिना उसका भी निस्तार नहीं है कि इस विश्व की किसी भी प्रकार की सक्रियता के लिए शक्ति का आदि-उद्गम वह निरायाम चरम-ऊर्जा ही है। शरीर-रथ का स्वामी रथी, यह आत्मन् भी मन का निग्रह प्रत्यक्षतः नहीं करता। लीला जो ठहरी! मन को वह स्वेच्छया खुल खेलने का अवसर देता है। पाश्चात्य-चिन्तन में भी यह भावना नितांत अपरिचित नहीं है। पन्द्रहवीं शती के प्रसिद्ध मानवतावादी इतालवी लेखक पिको डेला मिरेण्डोला के अनुसार, आदि-मानव आदम के निर्माण के वाद, सारे संसार का स्रष्टा-नियन्ता आदि-मानव को सम्बोधित कर कहता है :–

'The nature of all other beings is limited and constrained within the bounds of laws prescribed by us. Thou, constrained by no limits, in accordance with thine own free will, in whose hands we have placed thee, shalt ordain for thyself the limits of thy

nature........With freedom of choice and with honor, as though the maker and molder of thyself, thou mayest fashion thyself in whatever shape thou shalt prefer. Thou shalt have the power to degenerate into the lower forms of life, which are brutish. Thou shalt have the power, out of thy soul's judgment, to be reborn into the higher forms, which are divine'. (अन्य सब प्राणियों का स्वभाव हमारे द्वारा प्रचारित नियमों की सीमा में नियन्त्रित और सीमित है, किन्तु हे आदम, तू किसी भी सीमा से बद्ध नहीं है। तू अपनी स्वयम् की उस स्वतन्त्र-इच्छा के अनुकूल, जिसके हाथों हमने तुझको सौंपा है, अपने लिए अपने स्वभाव की सीमाएँ निर्धारित करेगा। अपने निर्माता और नियामक के समान, प्रतिष्ठा और पसन्द की स्वतन्त्रता के साथ, तू स्वयम् अपने आपको चाहे जैसे अविमान्य स्वरूप में गढ़ सकेगा। तुझे जीवन के निम्नतर पाशव-प्रकारों में अपकर्षण की, उतरने की छूट रहेगी। तुझे अपनी आत्मा के निर्णय से जीवन के उच्चत्तर दिव्य-प्रकारों में उत्कर्षण, पुनर्जन्म की सामर्थ्य रहेगी।)'

अर्थात् स्रष्टा के द्वारा इस मन को खुल खेलने की पूरी स्वाधीनता और अवसर मिलते ही हैं, और इसीलिए मन अस्थिर और चंचल रहता है। पथ-कुपथ जिधर भी जाए, थक कर या पिट कर भी, वह कुछ सीख ले तो गनीमत है। और जब वह अपने मूल स्वरूप को पहचान लेता है तो फिर सारथी नहीं, वह स्वयम् ही रथी होजाता है। सत्ता के इस स्वरूप में, रथी होजाने का चैतन्य-लाभ ही निखिलानन्द की स्थिति है, जिसे ऊपर सच्चिदानन्द कह कर पहचाना गया है। यह निरायाम-सच्चिदानन्द ही रूपाकार ग्रहण करके द्रव्य बनता है, शरीर बनता है, मस्तिष्क बनता है, और मन बनता है। वेश बदलने के लिए उसे प्रत्येक बार नेपथ्य में जाना पड़ता है, और नए वेश में पुनः रंगभूमि में लौटना होता है। यदि कोई मरता है तो वह केवल 'वेश' है, और अभिनेता ही तो सूत्रधार भी है!

सचमुच तो परम-सत्ता सूक्ष्मतम और अशरीरी सृजन-शक्ति का ही नामान्तर है। वेद का कथन है कि आदि में केवल 'निरवयव' (व्हॉयड) था, जिसे जैन-मत में 'कैवल्य' कहा जाता है। इसका अर्थ शून्यता या अनुपस्थिति नहीं है। उसे कहना चाहिए सबकुछ को सृष्ट करने की अनादि किन्तु अद्यापि अ-सृष्ट (अनक्रि-एटेड) सम्भावना। वेद के शब्दों में, '[आदि में केवल] अन्धकार था, और भी घने अन्धकार में लिपटा हुआ। वह अनादि-अरूप अपनी ही निरवयवता से घिरा हुआ था। अपने तप की ऊष्मा से वह प्रकट हुआ। यह सृष्टि कहाँ से

आई ? सर्वोच्च-व्योम से किसने इसको सजाया ? वस्तुतः वही जानता है, या [वह भी] नहीं जानता ।'

यदि हम बुद्धि और इन्द्रिय-बोध की सीमा में आयत्त-तथ्य को ही 'तत्-ता' (रिएलिटी) समझें, तो इस सीमा में अनायत्त और अप्रवेश्य वह परम सत्ता रहस्य ही रहेगी । यह एक अत्यन्त आश्चर्य का तथ्य है कि इस रहस्य का अधिदर्शन (विजन) तो युगों पूर्व अन्तःप्रज्ञा और प्रमा के पटल पर अनायास ही उद्भासित हो चुका था । तब शायद मानव-मन तर्क-जाल में उलझा नहीं था, और इसीलिए आत्मन् के अधिक निकट था । आज भी जो मन से तर्क का आश्रय नहीं लेते, वे सहज ही आत्मन् के अधिदर्शन को पा लेते हैं । आधुनिक-वैज्ञानिकों ने तर्क और प्रयोग का ही आधार ग्रहण कर इस स्वाभाविक अधिदर्शन की, कहना चाहिए, दुराग्रहपूर्वक उपेक्षा की है, जबकि एक रहस्यवादी और भौतिकतावादी के बीच अन्तर केवल दृष्टिकोण का ही है ! भौतिकतावादी इस सत्ता से असम्पृक्त रह कर दूर से ही इसकी तत्-ता को समझना चाहता है, जबकि रहस्यवादी उसे अपने से पृथक मानता ही नहीं । स्वीकार दोनों ही करते हैं कि बोध के उपकरण, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सीमाबद्ध हैं और स्थूल सामाजिक-शिक्षा ने उन पर ऐसे भारी परदे डाल दिए हैं कि, अस्तित्व के शरीरी-उपस्करों के परे भी कुछ हो सकता है, इसकी सामान्यतः हमें प्रतीति ही नहीं होती । स्वीकार दोनों ही करते हैं कि दृश्यमान पदार्थ भ्रम-मात्र ही हैं । आधुनिक-विज्ञान अब द्रव्य को वस्तुओं के विभिन्न-समुदायों में वर्गीकृत नहीं करता, बल्कि संयोजनों के ही विभिन्न समुदायों में वर्गीकृत करने लगा है । वस्तुतः द्रव्याणु हैं तो एक ही प्रकार के, किन्तु भिन्न-भिन्न संयोजनों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपाकार ग्रहण कर लेते हैं, और इसीलिए भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं । यों, जगत के सारे पदार्थ मात्र प्रक्रियाएँ हैं, पारस्परिक-संयोजनाए हैं । सबकुछ एक चिरंतन प्रवाह, 'फ्लक्स' में है, और यह फ्लक्स, आलोड़न, समय-समय पर द्रष्ट होजाता है । कहते हैं, समाधि की अवस्था में, या चरस-गाँजे जैसी नशीली वस्तुओं के सेवन से हुए नशे की अवस्था में, इन परदों को हटते हुए देखा जा सकता है । स्वप्न में भी ये परदे हटते हुए प्रतीत होते हैं और तब लगता है कि स्थूल पदार्थों के कगार पिघल रहे हैं । मानो सभी पदार्थ अपनी तट-सीमा खोकर एक दूसरे में पैठते हुए निर्बाध घुलमिल रहे हैं । मानों एक अनवरत पारमाण्विक-प्रवाह, एक सार्ष्टिक-ऊर्जा समान-रूप से पत्थर, फौलाद, और मान्सलता में सतत झिलमिला रही है !

द्रव्य और ऊर्जा के समीकरण की स्थापना के बाद, अब यह प्राचीन मत वैज्ञानिकों में भी मान्य होने लगा है कि 'देश' और 'काल' सहित सृष्टि के यावत्

पदार्थ केवल मन का प्रत्याभरण (क्रिस्टलाइजेशन) ही है । अभी गई शताब्दि तक मनुष्य अपनी पृथिवी को सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र, और अपने आप को ही उस सर्वोच्च-सत्ता का एकमात्र प्रतिनिधि मानता आया था । प्रायोगिक-विज्ञान ने ब्रह्मांड के संख्यातीत ज्योतिर्ष्पिडकों और नक्षत्र-निकायों का अनुसंधान करके मनुष्य के इस विश्वास को झुठलाना चाहा है । किन्तु उसका यह प्रयत्न रूढ़ और जड़तापरक ही है । स्थूल रूपाकार में चाहे यह पृथिवी और उस पर विकसित यह मानव क्षुद्रातिक्षुद्र हो, किन्तु मानव के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य किस तत्व या सत्व ने इस विश्व की महतोमहीयान और अणोरणीयान-संरचना और सत्ता को समझने का प्रयत्न किया है ? वैज्ञानिक-साधन जहाँ तक देख पाए हैं, इस सौर:मंडल में ही अन्य किसी ग्रह-पिंड पर किसी भी प्रकार के निम्न या उच्च जीवधारी का प्रमाण नहीं है । यही क्यों, सौर-मंडल के बाहर भी कल्पना के भीतर ऐसे किसी जीवधारी के अस्तित्व का विश्वास नहीं किया जा सकता । सौर-मंडल के बाहर हमारा निकटतम नक्षत्र ४.३ प्रकाश-वर्ष, अथवा लगभग सवा पच्चीस सहस्र अरब मील से भी अधिक दूर है । इस पैमाने पर यदि सूर्य का व्यास एक इंच मान लिया जाए तो इस निकटतम पड़ोसी-नक्षत्र को हमें २१६ मील की दूरी पर रखना होगा । यदि यह भी मान लिया जाए कि इस पड़ोसी-नक्षत्र के सौर-मंडल में हमारी पृथिवी–जैसे किसी वनस्पति और जीवधारी ग्रह का अस्तित्व हो, तब भी सवा पच्चीस सहस्र अरब मील के अर्द्धव्यास वाले इस अकल्प्य-क्षेत्र में ही धरित्री के समान शस्य-श्यामल, स्पन्दनशील, प्राणस्फूर्त-ग्रह, तथा अपनी सृष्टि ही को चुनौती देने की क्षमता वाला चैतन्य, मानव-जैसा प्राणी अन्यत्र कहाँ है? और फिर इस क्षुद्राति-क्षुद्र-मानव में ही कितनी विविधताएँ हैं ? इस पृथिवी-तल पर लगभग चार अरब व्यक्ति निवास करते हैं । आकार-प्रकार की संकीर्ण-सीमा में ही प्रत्येक-व्यक्ति एक-दूसरे से कैसे विशिष्ट-व्यक्तित्व (अविभक्तित्व) वाला अद्वितीय (यूनीक) व्यष्टि है ? निश्चयपूर्वक तब कैसे कहा जा सकता है कि इस विराट् प्रकृति में चिन्तनशील ऐसा व्यक्ति एक महत्वहीन इकाई है ?

सच तो यह है कि आज पुनः निखिल ब्रह्मांड के केन्द्र में इस पृथिवी और मानव की सत्ता का मत चक्रनेमि के शीर्ष पर आना चाह रहा है । विराट्-विस्फोट के सिद्धान्तानुसार यह सार्ष्टिक-विकीरण चारों ओर से इस पृथिवी को समान-रूपेण आक्रान्त कर रहा है । इसका यही अर्थ हो सकता है कि या तो यह पृथिवी ही इस ब्रह्मांड का केन्द्र है, या फिर इस ज्ञात-ब्रह्मांड का कोई केन्द्र ही नहीं है । अनवरत फैलते-फूलते जारहे बैलून (गुब्बारे) का केन्द्र कहाँ हो सकता है ? उस पर तो जहाँ जहाँ से देखे, उसके लिए वही उसका केन्द्र होजाता है, अर्थात् जो द्रष्टा या ज्ञाता

है वही इस सृष्टि का केन्द्र है ! यहाँ पर भी हमें पुनः अपने भारतीय-चिन्तन की ओर दृष्टि निक्षिप्त करनी होगी, न केवल चैतन्य-मय द्रष्टा को, प्रत्युत समस्त चर-अचर दृश्य को भी उस चिरन्तन-परब्रह्म का चिद्विलास और उसका ही प्रतिबिम्बन मानता आया है ! पश्चिम में यहूदियत और ईसाइयत ने मनुष्य को ईश्वर की केवल अनुकृति में गढ़ा मान कर, शेष-प्रकृति के ऊपर उसकी सर्वोच्चता का उद्घोष किया था । इसका एक निश्चित-परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य, अपने से हीनतर, इस प्रकृति के मूल्य पर अपनी तकनीकी-प्रगति सम्पन्न करता जा रहा है । अपनी सुविधा और सेवा के लिए उसने पृथिवी की खनिज और वनस्पति-सृष्टि ही को नहीं, बल्कि मनुष्येतर प्राणी-सृष्टि को भी अन्धाधुन्ध नष्ट किया है । तकनीकी-प्रगति की अन्धी दौड़ में जंगलों के नाश से ऋत्विक-असंतुलन के अतिरिक्त मरुस्थलों को भी विस्तृत होने की सुविधा मिली है । पृथिवी की उर्वरा-शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है, और अत्यन्त पुरा-काल से संचित ऊर्जा के स्रोत जिस तरह सूखते चले जा रहे हैं, वह किसी से छिपा नहीं है । आज की इस पर्यावरणीय (एकॉलॉजिकल) समस्या के लिए मानव-केन्द्रित मानसिकता ही तो जिम्मेदार है !

इसके विपरीत भारतीय तत्व-चिन्तन ने प्रकृति को कभी हीन नहीं माना । वह तो प्रकृति को उस परम-पुरुष का अभिन्न-अंग ही मानता आया है । मनुष्य यदि विशिष्ट है तो अपने इस क्षयमाण शरीर के कारण नहीं, वह विशिष्ट है अपने अक्षर-आत्मन के चिरन्तन-चैतन्य के कारण । यह चैतन्य अपने अनन्त आयामों में जड़-प्रकृति के साथ भी सदा सर्वदा एकात्म है । भारत-भूमि ही नहीं, वस्तुतः विश्व की सभी प्राचीनतम निष्कलुष-मन प्रजातियाँ इसी भाव से प्रेरित होकर सूर्य-चन्द्रादि आकाशीय ज्योतिर्ष्पिडों, नदी-सागर-पर्वत-वृक्ष-पत्थरादि जड़ पदार्थों तक को पूजा का पात्र समझती आई हैं । धरित्री को तो सभी संस्कृतियों ने समान-भाव से माता मानकर अपना आराध्य स्वीकार किया है । ऐसे रहस्यमय अधिदर्शन में यह समस्त ब्रह्मांड, इसका उद्भव, इसका केन्द्र, और 'मैं'—सहित मेरा समस्त आसपास, सबकुछ सम-सामयिक हमारेभीतर ही अवस्थित है, एकात्म होकर,—एकोऽहम् द्वितीयोनास्ति । इसीलिए एक पाश्चात्य-रहस्यवादी ईवान्स वेंट्ज ने कहा है : 'मैं सर्वत्र और सबमें व्याप्त हूँ । मैं ही सूर्य हूँ, नक्षत्र हूँ । मैं ही 'काल' हूँ और 'स्थान' भी । मैं ही 'वह' भी हूँ, तत्वमसि !—जब मैं सर्वत्र ही हूँ, तो कहाँ जाऊँ ? जब भूत या भविष्य नहीं है और मैं ही अनाद्यन्त-अस्तित्व हूँ, तो काल कहाँ है ?'

पुरा-काल से चली आरही चिन्तन की अन्तःप्रज्ञा से निसृत आत्मन की इस अमरता का उत्तराधिकार पाकर भी मैं यदि विज्ञान की वहिर्प्रज्ञा की भूलभुलैया में भटकता रहता तो ही आश्चर्य होता । प्रमाण नहीं होने से ही क्या कोई तथ्य

असत्य हो जाता है ? प्रमाण की अनुपस्थिति को तो कभी भी अनुपस्थिति का प्रमाण नहीं माना जा सकता ! आत्मन की यह अविनश्वरता और सर्वसमावेशिकता ही इस उपन्यास का प्रस्थान-बिन्दु है । कालानुगतिकता का इसमें इतना ही आग्रह है, जितना अस्तित्व-बोध के लिए अनिवार्य था । स्थूल-अर्थ में यही कहना चाहता हूँ कि यह उपन्यास है, इतिहास नहीं ।

मुझे खेद है कि दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में मुझे बारम्बार पाश्चात्य और पौर्वात्य विचार धाराओं के भेद की बात कहनी पड़ी है । क्या सचमुच वैसा कोई विभेद है ? यदि विभेद मान लिया जाए तो चिन्तन की प्रामाणिता के लिए कसौटी क्या होगी ? मनुष्य तो पाश्चात्य या पौर्वात्य होकर पैदा नहीं होता । वह नवीन और प्राचीन भी नहीं है । लगभग दस हजार वर्ष पहले से, जब से बौद्धिक-मानव, होमो सेपिअन्स, का उद्‌भव हुआ है, मानव-शिशु उसी रूपाकार में जन्म लेता आ रहा है । वातावरण और संस्कार तो मनुष्य-कृत हैं, जिनमें वह जन्म के बाद विकास करता है । आगे चल कर यदि वह किसी एकांगी विचार-धारा का पोषक या अनुगामी बन जाए तो यह तो उसकी शिक्षा और संस्कार की अपूर्णता का प्रमाण है !

और, एक बार और मैं साहित्य के क्षेत्र में द्वैध की प्रवृत्ति पैदा करने के प्रयत्नों की अवैधता रेखांकित करना चाहता हूँ । अपने 'सहितता' के मूल-अर्थ में साहित्य तो सब प्रकार की विचार-धाराओं का दोहन करके ही अपना नित्य-नवीन अस्तित्व सजाए रखता है । एक बेमानी द्वैध को आधार मान कर निरर्थक फतवादेने और ऐसी एकांगी रचना प्रस्तुत करने वाला साहित्यकार अपंग ही कहला सकता है । ऐसी कृति कम-से-कम वैश्विक-साहित्य में तो परिगणनीय कदापि नहीं हो सकती । आर्ष-चिन्तन और विचार किसी एक ही देश, काल या व्यक्ति की धरोहर बन कर नहीं रह सकते । साहित्य-चिन्तकों में ही क्या पश्चिम में होमर, विर्जिल, ओविड, दान्ते, गेटे, शीलर, रिल्के, हेस्स, मिल्टन, रोम्याँ रोलाँ, शेक्सपीयर, यीट्स आदि मानव-मात्र के आध्यात्मिक-स्वरूप के कुशल चितेरे नहीं होगए हैं ? यदि पश्चिम के विश्लेषणात्मक-पुरोगम को एकांगी कहा जाता है तो पूर्व के नितांत संश्लेषणात्मक-पुरोगम को क्या एकांगी नहीं कहा जाना चाहिए ?—दर्शन और विज्ञान चाहे तो अपनी क्षेत्रीयता बनाए रख सकते हैं, किन्तु साहित्य तो दोनों ही को नहीं, अन्य सभी प्रकार की विचार-धाराओं को अपने में समाहित करके ही सार्थक हो सकता है । पश्चिम के निरे भौतिकतावादी की तरह आज का, अपनी आध्यात्मिकता का ढोल पीटने वाला औसत-भारतीय भी, जो आत्मा की खोज में भटकता बताया जाता है, वह क्या इस एकांगिता की ओर इंगित नहीं करता ? सच तो यह है कि किसी भी सत्य का प्राकट्य द्वन्द्व के बिना असम्भव है । मैं यहाँ द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद का

उल्लेख करने नहीं जा रहा हूँ, मैं उसे केवल एक पक्ष के रूप में ही रख रहा हूँ। अपने एकान्तक स्वरूप में वह भी एकांगी और अपंग है। इस उपन्यास के लिए मैं कोई दावा नहीं करता, किन्तु मैंने इसमें सचिन्त्य भाव से पौर्वात्य-ऋषियों के साथ-साथ, पाश्चात्य-ऋषियों के विचारों को भी, मानवता के सर्वांगीण विकास में अनिवार्य और सार्थक मान कर, सम्मान और श्रद्धा के साथ आत्मसात किया है। सब दिशाओं से आते हुए ज्ञान के प्रकाश को निरविच्छिन्न-भाव से ग्रहण करना भारतीयता की एक समृद्ध परम्परा रही है, और पाश्चात्य-धारणाओं के समाहार के बावजूद, भारतीय साहित्य की यही कसौटी होनी चाहिए। देखा जाए तो दर्शन और विज्ञान, दोनों का मूल-उत्स मनुष्य की एक ही जिज्ञासा-भूमि में है. जिसे सभ्यता के आदि-काल में 'धर्म' के नाम से पहचाना गया था, और जिसका प्रारम्भ बड़ी ही बचकानी दृष्टि तथा विचित्र धारणाओं से भरे मिथकों में हुआ था। किन्तु निजी-अनुभवों पर आधारित होने के कारण वे धारणाएँ स्थानीय समाज में अर्थपूर्ण थीं। सभी आदिम-समाज, घटनाओं के मूल में अज्ञात दैवी-प्ररणा मानते थे, और उनके प्रतीक सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिर्पिण्डकों को भौतिक नहीं, दैविक शक्तियाँ माना जाता था। अब यदि ये धारणाएँ स्थानीय-आग्रहों तथा भ्रामक-तथ्यों से मुक्त होकर अनुपेक्षण-विश्लेषण-संश्लेषण एवम् चिन्तन के द्वारा अधिक सूक्ष्मता और शुद्धता का ऊँचा स्तर प्राप्त करती जा रही हैं, तो क्या इसीलिए इनका बहिष्कार कर दिया जाना उचित होगा कि ये पौर्वात्य न होकर पाश्चात्य हैं, या कि औदीच्य न होकर दाक्षिणात्य हैं।

कतिपय विचारों की ये ही सरणियाँ हैं, जिनमें मैंने पाँच हजार वर्ष पूर्व के प्राग्वैदिक और आद्य-वैदिक समाज की संरचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, तथा संसृति के सीमित रूपाकारों के प्रत्यावर्तन, सम्भवामि युगे-युगे—स्थले-स्थले, की प्रतीति पर उस समाज को वर्तमान शताब्दि के पटल पर प्रक्षेपित किया है। उपन्यास के इस भाग की कथा, प्रोफेसर मुरारीलाल का उपाख्यान, तो मेरी कल्पना की ही उपज है। पाँच हजार वर्ष पूर्व की कथा के लिए मुझे एक स्वयमेतर प्रवक्ता चाहिए था जो उस कथा की विश्वसनीयता की प्रतीति दे सके। इतिहास के विवादास्पद स्रोतों के लिए मैं जिम्मेदार नहीं होना चाहता था, अतः किसी ठोस जमीन की तलाश ही मुझे पुरातत्व की ओर खींच लाई जो अनायास वस्तुनिष्ठ ही होता है। वहीं मुझे प्रो० मुरारीलाल के रूप में एक पुरातत्वान्वेषी मिल गए, जो न केवल उस प्राचीन उपाख्यान के प्रस्तोता, प्रत्युत् द्रष्टा, और उससे भी आगे बढ़ कर अनायास उस उपाख्यान के भोक्ता भी बन गए। इतिहास केवल व्यक्तिनिष्ठ ही नहीं होता, वह व्यक्ति की कहानी ही होता है। एक इतिहास-दर्शन के विद्वान लेखक ने कहा

है 'देअर इज नो सच थिंग एज हिस्टरी (History)। देअर इज ओनली हिज स्टोरी (His story)। एन एक्ट इज विदाउट सिग्निफिकन्स अनलेस, वी नौ दी एक्टर।' (अर्थात् इतिहास-जैसी कोई वस्तु नहीं है। वहाँ केवल 'उसकी कथा' है। कर्म का कोई महत्व नहीं है, जबतक कि हम कर्ता को नहीं जान लेते।) इसीलिए सम्पूर्ण उपन्यास की परियोजना में इतिहास को पार्श्व में ढकेल कर मुरारीलाल की कथा इस उपन्यास का एक अनिवार्य अंग बन गई है। उन्हें अलग करके देखने से उपन्यास की आत्मा ही खंडित होजाएगी। इस सदी के प्रारम्भिक वर्षों में, ठीक-ठीक सन् १९२२ ई० में, जब सर जॉन मार्शल के नेतृत्व में सिन्धु-घाटी की पुरातात्विक खुदाई का काम चल रहा था, तब सत्रह-अठारह वर्ष की उम्र का एक निराश्रित युवक मुरारीलाल उनकी गैंग में एक मजदूर बनकर भरती हुआ था। उससे भी लगभग पचास वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम में मेसोपोटामिया के निनेवेह नगर की खुदाई में प्राप्त मृद्-पट्टिकाओं पर उत्कीर्ण गिलगमेश महाकाव्य की ख्याति फैल चुकी थी। उससे प्रेरणा लेकर मैंने सिन्धुघाटी के उत्खनन से भी मुरारीलाल के माध्यम से ऐसी ही अनेक मृद्-पट्टिकाओं का उद्धार करवा दिया, जिन पर वहाँ की विशिष्ट कीलाक्षर-लिपि में कथा-नायक विभांडक बृबु का आख्यान उत्कीर्ण था। मैंने उन पट्टिकाओं को यहाँ 'किरचियाँ' कह कर अभिहित किया है। वस्तुतः यह अंग्रेजी के शब्द तपाई हुई 'क्ले-टेब्लेट्स' का अपर्याप्त अनुवाद ही है। ठीकरियाँ कहना मुझे उपयुक्त नहीं जँचा, और पट्टिका से तो एकदम जुदा वस्तु का ही बोध होता है। चूँकि ये किरचियाँ मेरे मस्तिष्क के गहरे पर्त से खोद कर चुरा ली गई थीं, और उन्हें तर्क के गेस्टापो का भय बराबर बनाहुआ था, अतः मैंने उनके उद्धारक द्वारा ही उनको नष्ट करवा दिया। यहाँ जो प्रस्तुत है वह मूल-भाषा के अनुवाद का भी अनुवाद है। इस तरह में अनायास भाषा की प्राचीनता के प्रेत से भी बच गया हूँ।

मुरारीलाल के इस सहभोग को व्याप्ति देने के लिए अन्तरराष्ट्रीय-पृष्ठभूमि आवश्यक थी। पुरातत्व के कारण वह उन्हें सहज ही मिल गई। और आर्य-रक्ताभिमानी हिटलर की अपेक्षा में, जिसे मैंने इन्द्र का आधुनिक संस्करण कहा है,एक तथाकथित अनार्य यहूदी-कन्या मार्गरेट का अवतरण भी दूर की कौड़ी नहीं कहा जा सकता। यह संयोग ही है कि यहूदियों का पूर्व-पुरुष इब्राहिम भी उर-प्रदेश का ही मूल निवासी था, और इस तरह मार्गरेट भी सहज ही एक उर्वशी होगई। कथा तत्व के बारे में मुझे विशेष कुछ नहीं कहना है, अपनी बहुतकुछ बातें, शंकाएँ आदि मैंने उपन्यास के कलेवर में ही प्रस्तुत कर दी हैं। प्रो० मुरारीलाल की मनस्विता का भार-वाहक गधा बनने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सका। धर्मराज युधिष्ठिर का साथी कुत्ता यदि छद्मवेश में न होता, तो मैं अपने आपको वह भी

बना डालता, क्योंकि मुरारी-दा के संग-लाभ से मुझे भी तो सदेह स्वर्ग की झलक की किंचित प्रतीति हो सकी है।

प्रस्तुत उपन्यास में मैंने धर्म, युद्ध, राजनीति, अर्थनीति, कला, संस्कृति, सेक्स आदि के व्यूहों और इनसे सम्बन्धित मूल्यों का विवेचन, बीसवी सदी की मानसिकता से ही प्रस्तुत किया है। यह सहज ही पूछा जा सकता है कि क्या पाँच हजार वर्ष पूर्व भी ये समस्याएँ ऐसी ही थीं? मैं समझता हूँ कि यदि पाँच हजार वर्ष पूर्व मानव भी ऐसा ही था जैसा कि वह आज है—और वह ऐसा ही था यह ऊपर बताया जा चुका है—तो कोई कारण नहीं कि ये समस्याएँ तब भी विद्यमान न रही हों। हम तो उस युग की सन्पदाओं का ही नहीं, विपदाओं और व्यूहों का भी उत्तराधिकार भोगने को बाध्य हैं। मानव पुरुषार्थ की धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की चार सरणियाँ प्राचीनतम हैं। युगप्रवाह में इन्हें दक्षिण और बाम, दोनों ओर से आने वाले युग-प्रवाहों को अन्तर्मुक्त करना पड़ा है। दाहिनी ओर से यदि नीति, व्यवसाय, सदाचार स्वाधीनता की बाढ़ें आईं तो बायीं ओर से कूट-कौशल, लूट-खसोट से सम्पोषित लोभ, व्यभिचार और निरंकुशता के नाले भी आ मिले। एक लेखक के लिए इन प्रवाहों को पहचानना आवश्यक है। लिखने के पहले उसे अपने युग-बोध से ऊपर उठकर आगे देखने के साथ ही साथ, पीछे भी देखना होता है। पीछे देखकर ही वह अपने अनुभव के क्षेत्र में खोए हुए अवसरों को ऐसी जिज्ञासा के साथ देख सकता है मानों वह उन्हें पहली बार देख रहा हो। मैं अंग्रेजी के प्रख्यात कवि समालोचक टी० एस० एलियट की निम्न पवितयां उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता, जो उनके प्रसिद्ध काव्य 'फोर क्वार्टेटे से ली गई हैं' :—

वी शैल नॉट सीज फ्रॉम एक्स्प्लोरेशन,
एंड दी एंड ऑफ ऑल अवर एक्स्प्लोअरिंग
विल बी टु अराइव व्हेयर वी स्टार्टेड
एंड नौ दी प्लेस फॉर दी फर्स्ट टाइम! *

(हम अपनी खोज से कभी विरत नहीं होंगे
और हमारी सम्पूर्ण खोज का लक्ष्य
वहाँ पहुँचना है जहाँ से हम चले थे
और उस स्थान को हम पहली ही बार जानेंगे।)

---

* (We shall not cease from exploration
And the end of all our exploring
Will be to arrive where we started
And know the place for thefirst time.)

उपन्यास के इस अभियान में मैं आज की समस्याओं से आक्रान्त होकर ही, उस स्थान में पहुँचा हूँ, जहाँ इन समस्याओं के बीज पाए जा सकते हैं, ताकि उनको नई दृष्टि से पहचाना-परखा जा सके। उनको परखने के लिए धर्मान्धता, पोंगा-पन्थ, पाखंड या अबौद्धिकता के प्राचीन-प्रतिमान काम नहीं दे सकते थे। इसलिए समय-समय पर पूर्व और पश्चिम में समान रूप से, धर्म-दर्शन-विज्ञान की त्रिपुटी ने जो नए और प्रत्यायक प्रतिमान उपलब्ध किए हैं, उन सब का आधार लेकर मैंने बुद्धि के गूढ़ व्यापारों, मानवीय-सम्बन्धों और स्थूल-सूक्ष्म ऐन्द्रिक-संस्पर्शों को बिना किसी पूर्वाग्रह के समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। सफलता का मैं कोई दावा नहीं कर सकता, क्योंकि यहाँ मंजिल कहाँ है ? - सबकुछ यात्रा ही यात्रा तो है, प्रवाह ही प्रवाह है ! कई यात्रियों की इस भीड़ में मैं भी एक अदना-सा यात्री हूँ। सहसा पैर लड़खड़ा न जाएँ, इसलिए आगे बढ़ कर जब अपने साथी के लिए हाथ बढ़ाता हूँ तो उससे मुझे भी सहारा मिल जाता है।

पाँच हजार वर्ष पूर्व के इस आख्यान में भी मैंने मनुष्य को ही सबके ऊपर प्रतिष्ठित रखा है। मनुष्य का ध्यातव्य वह सच्चिदानन्द-परब्रह्म, स्वयम् मनुष्य को छोड़ कर अन्य और कौन हो सकता था ? मनुष्य ही यदि उस परब्रह्म की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है, तो मनुष्य की श्रेष्ठतम अनुभूति भी तो वह सचिदानन्द-परब्रह्म ही है ! मनुष्य को छोड़ कर और किसने उसको अनुभूत और आत्मसात किया है? सत्, चित् और आनन्द के उसके क्रमिक-प्रस्फुटन में किसी अलक्ष्य दैवी-शक्ति का हाथ नहीं था। यदि कोई दिव्य-शक्ति है तो वह मनुष्य की स्वयम् की शक्ति है। और यदि वह अलक्ष्य है तो इसलिए कि वह अस्तित्व के गहनतम गर्भ में बीज बनकर अवस्थित है,—वही, सबकुछ को सृष्ट करने की अनादि किन्तु अ-सृष्ट (अनक्रिएटेड) सम्भावना ! अपने आंतरिक-स्रोतों से ही वह निरायाम-बीज अंकुरित होकर क्रमशः सच्चिदानन्द हुआ है। यह 'होना' मनुष्य की अनिवार्य नियति है। मनुष्य ही की नियति इसलिए कह रहा हूँ कि मैं मनुष्य हूँ, और मनुष्य के स्तर पर विकसित होकर ही यह लिख पा रहा हूँ। वरन् नियति तो यह पदार्थ मात्र की है। यदि ऐसा न होता तो सत्व के स्तर से आगे जड़-प्रकृति को विकास करने की क्या आवश्यकता थी ? चन्द्रमा- जैसे जड़-पिंडों से ही नहीं, यह अन्तरिक्ष न्यूट्रन-नक्षत्रों और कृष्ण-कोटरों (ब्लैक होल्स), जैसे केवल अपने अस्तित्व का असीम-भार ढोने वाले असंख्य-जड़ पिंडों से भरा पड़ा है, उनके निष्प्राण, शून्य-शव उसी नियति की प्रतीक्षा में पड़े हुए हैं।—सत्व के एक कदम आगे चिति के स्तर पर भी दैत्याकार प्राणियों ने पृथिवी-तल को अपनी भीषण पद-चापों से रौंधा है। विकास की अग्रतर सीढ़ी पर यह वौद्धिक-मानव अपनी प्रस्तर-युग की भूमिका में ही कहाँ अपूर्ण था ?

बाह्य प्रकृति से संतुलन साध कर उसने अपने अस्तित्व की शर्तें पूरी कर ही ली थीं। आबादी का नियंत्रण प्रकृति स्वयम् ही करती जा रही थी। पृथ्वी के सम-शीतोष्ण कटिबन्धों की अनुकूल-जलवायु में शिकार और कन्द-मूल-फलादि की वनस्पतियों पर ही वह क्यों नहीं निर्वाह करता रह सकता था ? आहार-निद्रा-भय और मैथुन के सिवा शरीर को चाहिए ही क्या ? अपने सच्चिन्मय-शरीर के रूपाकार में वह क्यों परम सुखी और संतुष्ट नहीं रह सका ? शरीर के सभी साधन तो उसे अवर्जित और सुलभ थे। प्रख्यात कलाकार लियोनार्डो डा विंची अपनी नोट-बुक में एक स्थान पर पूछता है, 'जब पशुता में सहज ही शारीरिक-सुख मिल जाते हैं, तो इतना कष्ट क्यों उठाया जाए ?'–वह कष्ट उठाता है, क्योंकि वह केवल शरीर ही नहीं है जो दीखता है, बल्कि बहुतकुछ वह है जो दिखाई नहीं देता !

केवल सत् और चित् ही मनुष्य की पूर्णता नहीं है। सुख ही नहीं, उसे आनन्द भी चाहिए। उसी आनन्द की खोज में, वह अपने मन के द्वारा मनन-चिन्तन में प्रवृत्त होकर, पशुओं से पृथक और शरीर से आगे की यात्रा में सभ्य बनता चल रहा है ! चिन्तन-मनन का 'मन' का यह आयाम, प्रकृति ने और किसी प्राणी को नहीं दिया। इस अगम्य दुरारोह-यात्रा में वह गिरता रहा है, फिसलता रहा है, शरीर-सुखों को स्वेच्छा से त्याग कर कष्टों का वरण कर रहा है, पर निष्कम्प-पद बढ़ता चला जारहा है भीतर ही भीतर अपने हृदय की गूढ़तम, पवित्रतम गुहा की ओर।—दूर भी कहाँ है वह प्राप्तव्य ?—झलक तो वह अपने उस दिव्यात्मन की बराबर ही पाता रहा है। एक कदम आगे, हाथ बढ़ा कर ही तो छुआ जा सकता है उसे ! पा भी लिया जाता है। करनी होती है हमें केवल प्रतीति !–अँधेरे में ही सही, हाथ बढ़ाने का मेरा यह प्रयत्न उसी प्रतीति की दिशा में है।

एक ऐसे गूढ़, दुर्गम और व्यापक विषय को लेकर इतने विशद-फलक पर उपन्यास-प्रणयन की स्पर्द्धा मुझ जैसे अ-संस्कृत, अनधीत और अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए शायद धृष्टता ही है। कह चुका हूँ, लिखने मैं कुछ और ही चला था, किन्तु चौराहे पर पैर ही ऐसी राह पर पड़ गए कि लोभ ने आ घेरा, ठग तथा लुब्धक कदम-कदम पर लुभा कर प्रेरित करते रहे। भयभीत मैं कम नहीं हुआ था, पर लोभ ही बलवत्तर होता गया और शीघ्र ही लौटने की राह नहीं रह गई। मैं मानता हूँ. अन्य किसी भी समृद्ध लेखक के हाथ में यह विषय पूरा न्याय पा सकता था—मेरे पास तो साधनों का ही अभाव रहा है। चाहता था कि जिन भौगोलिक स्थानों का उल्लेख कर रहा हूँ उनकी प्रत्यक्ष प्रतीति तो करूँ ! किन्तु विदेश की बात दूर, स्वदेश में ही किसी गरीब लेखक के लिए यह कहाँ सहज है ? इन व्यक्तिगत सीमाओं को छोड़ भी दिया जाए, तब भी मैं चाहता रहा कि लिखे

जारहे अंशों पर अधिकारी-विद्वानों के बीच चर्चा हो, ताकि न केवल उनकी सम्मतियों का, बल्कि उनकी समीक्षाओं-आलोचनाओं का लाभ और कसौटी भी मुझे मिल सके। किन्तु एक तुच्छ और अनाम-लेखक के लिए कौन विद्वान या विद्वानों की सभा अपना समय बरबाद करेगी ? सौभाग्य से ऋषिकल्प आचार्य हजारी प्रसादजी द्विवेदी ने मेरे पत्र का उत्तर देकर मुझे उत्साहित किया था, तो मेरे दुर्भाग्य से वे भी काल-कवलित होगए, और केवल उनका आशीर्वाद ही मेरा पथ-प्रदर्शक रह गया। ले-दे कर जो कुछ भी तत्सम्बन्धी-साहित्य मैं जुटा सका, उसी पर सन्तोष मान कर तथा उनमें व्यक्त-तथ्यों पर ही अपनी धारणाएँ आरोपित कर उन्हें यथावत प्रस्तुत करने के सिवा मेरे पास कोई चारा नहीं था।

यह अवश्य सच है, कि प्रत्येक रचनाकार का अनुभव–जगत उसका निजी और इसीलिए अद्वितीय होता है। इसी अद्वितीयता के बल पर वह अपने पात्रों की अपूर्व-विशेषताओं से पाठक को परिचित करके सम्वेदित कर सकता है। एक अच्छे साहित्य की शर्त यही है कि वह पाठक की सम्वेदना को विकसित करे। और यह तभी सम्भव है जब पाठक पात्र की सभी व्यक्त-स्थितियों से तादात्म्य अनुभव कर ले, यह अनुभव करे कि यही तो मैं हूँ, और मुझे प्रयत्न करना चाहिए कि मैं ऐसा ही बनूँ, या कि ऐसा न बनूँ। केवल मनोरंजन, विस्मय, कुतूहल, या आतंक पैदा करके धाक जमाने वाला साहित्य दीर्घजीवी नहीं हो सकता। मैं नहीं जानता, पाठक प्रस्तुत-कृति की मूल-सम्वेदना से तादात्म्य स्थापित कर सकेगा या नहीं। प्रयत्न तो मेरा यही रहा है कि अपने समाज के सांस्कृतिक-राजनैतिक-आर्थिक-मनोवैज्ञानिक आदि क्षेत्रों की, और केवल आज ही की नहीं, बल्कि युग-युग की विषम समस्याओं को सम्पूर्ण-मानवता के प्रशस्त-परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करूँ, और उनके मूल प्रेरक कारणों का अनुसन्धान करूँ, ताकि उनके सम्यक-समाधान की दिशा में प्रभावशाली-सूत्र पाए जा सकें। जहाँ तक मेरा स्वयम् का प्रश्न है—और अपनी भूमिका में मैं एक तटस्थ पाठक और दर्शक भी हूँ—मेरी अपनी सम्वेदना झंकृत ही नहीं, विकसित और विवर्धित भी हुई है, ऐसा मेरा विश्वास है।

मेरी खोज पूरी होगई हो, ऐसा मैं तनिक भी नहीं मानता। जहाँ यात्रा ही अपने आप में लक्ष्य हो, वहाँ मंजिल कैसी ? - इस यात्रा की विशेषता तो यह है कि चलने से यहाँ क्लान्ति नहीं, स्फूर्ति मिलती है, आगे-ही-आगे बढ़ते रहने का उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। कामना यही रहती है कि अकस्मात् प्रकट होकर मंजिल कहीं प्रगति न रोक दे। और यदि मंजिल आ ही जाए तो भय क्या है ? -विश्राम के बाद या तो फिर चल देना है या फिर उन्हीं पूर्वोक्त वेंट्ज महोदय

के स्वर में स्वर मिला कर यही तो कहना होगा, 'जब मैं सर्वत्र ही हूँ, तो कहाँ जाऊँ ? - जब भूत या भविष्यत् नहीं है और मैं ही अनाद्यन्त-अस्तित्व हूँ, तो जाने के लिए कहाँ है दिक् और कहाँ है काल ?'

मैं नहीं जानता कि इस प्रकार के साहित्य-सृजन के लिए किसी संस्थागत-परियोजना का कोई औचित्य है। ऐसे प्रयत्नों को विशुद्ध-शोध की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती, यद्यपि ऐसे सृजन में शोध की भूमिका किसी शोध-वस्तु से तनिक भी कम नहीं है। मूलतः यह एक सृजन-कर्म है, जिसका उद्योक्ता व्यक्ति ही हो सकता है। एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा मिल कर भी साहित्य-रचना हो सकती है और हुई है। प्राचीनतम काव्य-ग्रन्थ वेद इसका प्रमाण हैं, किन्तु वेदों के सूक्त भिन्न-भिन्न देवताओं के स्तव-गान हैं, और उनके साथ उनके रचयिता ऋषियों का स्पष्ट उल्लेख है। रामायण तथा महाभारत में विद्वानों ने अपनी प्रतिभा के बल पर क्षेपकों को पृथक से पहचान ही लिया है। निकट-अतीत में भी एकाधिक व्यक्तियों द्वारा उपन्यास-रचना हुई है, पर वे प्रयोग बन कर ही रह गए हैं। यह सबकुछ होने पर भी स्वयम् व्यक्ति भी समाज का अंग होता है। सर्जन-प्रक्रिया के अन्तर्गत उसकी कृति चाहे जितनी व्यक्तिगत-प्रचेष्टा हो, सृष्ट होकर तो वह समाज की ही वस्तु बन जाती है। अतः यदि सर्जना की अवधि में भी उस पर अधिकारी आलोचकों और विद्वानों द्वारा विचार-विमर्श होता रहे तो रचना के अधिक समर्थ, स्वस्थ और निर्दोष होने की सम्भावना बढ़ जाती है और लेखक का उत्साह भी बना रहता है। इस उपन्यास की रचना के समय मैंने इस आवश्यकता को बराबर महसूस किया है। समुचित मात्रा में वह सौभाग्य न मिलने पर भी, इसकी समाप्ति पर तृप्ति ही अनुभव कर रहा हूँ। मुझे कम-से कम यह सन्तोष तो है ही कि इसी व्याज से मैं 'स्थान' ही में नहीं, 'काल' के आयाम में भी अनायास काफी घूम-फिर लिया हूँ, और विश्व की महान-विभूतियों से मिलने का तथा उनका विश्वास पा लेने का अवसर और सौभाग्य भी मुझे मिल गया है। आश्चर्य तो यह है कि यह सबकुछ मेरे भीतर ही विद्यमान है। इन सब को पहचानने की दृष्टि मिल जाए, यह कम महत्व की उपलब्धि नहीं है, चाहे वे विभूतियाँ और उनके कर्म-क्षेत्र दृष्टि से ओझल ही रहें। पाठकों को भी यह लाभ मिले तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी। मेरा प्रयत्न तो यही रहा है।

८/ए, नन्दन रोड, भवानीपुर,

कलकत्ता -७०००२५

कन्हैयालाल ओझा



लेखक

मध्य प्रदेश की भूतपूर्व होलकर रियासत के एक सामान्य से कस्बे मनासा में जन्मे श्री ओझा की शालीय-शिक्षा पारिवारिक परिस्थितियों के कारण प्रवेशिका से आगे नहीं हो सकी और जीविका के लिए उन्हें नौकरी में जुट जाना पड़ा। किन्तु पठन और अध्ययन की दुर्निवार इच्छा के कारण सेवारत रहकर ही उन्होंने कालेज की सर्वोच्च परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। पहले देशी रियासत की रेलवे में और स्वातन्त्र्योत्तर विलयन के बाद पश्चिम रेलवे तथा कलकत्ता की मार्टिन बर्न कम्पनी के रेलवे विभाग में प्रशासनिक पदों पर चालीस वर्ष तक काम कर वे सेवा निवृत्त हुए। अवकाश प्राप्ति के बाद उन्होंने कलकत्ता की शीर्षस्थ स्वयंसेवी संस्थाओं में व्यवस्थापकीय सेवाओं के साथ भारतीय भाषा परिषद की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'सन्दर्भ भारती' का तीन वर्ष तक संपादन किया और देश की सभी भाषाओं के स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य के विशेषांक सम्पादित किए। अपने दीर्घ और व्यस्त सेवाकाल में भी वे बराबर साहित्यसर्जन करते रहे।

सम्प्रति वे अपने परिवार में रहकर अपना सारा समय अध्ययन और लेखन में ही बिताते हैं।

आवरण मुद्रक :- जौहरी प्रिन्टिंग प्रेस
गदौलिया, वाराणसी • फोन 66816